प्रकाशक : चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०३७
मूल्य : रु० २५-००

हमारे प्रकाशनों की एकमात्र वितरक सस्था
**चौखम्भा ओरियन्टालिया**
प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक तथा वितरक
पो० आ० चौखम्भा, पो० वा० नं० ३२
गोकुल भवन, के ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ ( भारत )
टेलीफोन : ६५८८९ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव
शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली-११०००७ फोन : २२१६१७

अन्य प्राप्ति स्थान
**चौखम्भा विश्वभारती**
पो० बाक्स नं० १३९
चौक ( चित्रा सिनेमा के सामने )
वाराणसी
फोन : ६५४४४

THE
V. AYURVEDA SERIES
38

# KĀYA CHIKITSĀ

*( Principles of Ayurvedic Medicine and their applied aspects )*

By

Vidyābhāskara, Āyurveda Brihaspati, Āyurvedāchārya

KAVIRAJ RAM RAKSHA PATHAK

G A. M. S , F A. I M , D Sc

*( Director, Central Institute of Research in Indigenous Systems of Medicine, Jamnagar )*

**( Vol. I )**

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

*Publisher and Distributor of Monumental Treatises of East*

Gokul Bhawan, K 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI ( INDIA )

*Also can be had of*
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Post Box No. 139
Chowk ( Opposite Chitra Cinema )
VARANASI-221001
Phone : 65444

© *Chaukhambha Bharati Academy, Varanasi*

Second Edition 1980
Price : Rs ६5-00

*Sole Distributors.—*
**CHAUKHAMBHA ORIENTALIA**
A House of Oriental and Antiquarian Books
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 ( India )
Telephone . 65889 Telegram . Gokulotsav

---

**Branch**—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar,
DELHI-110007 ( India ) [ Phone : 221617 ]

# प्राक्कथन

'नहि सर्वे व्याधयो भवन्त्युपायसाध्याः, न चोपायसाध्यानां व्याधीनामनुपायेन सिद्धिरस्ति, न चासाध्यानां व्याधीनां भेषजसमुदायोऽयमस्ति, न ह्यल ज्ञानवान् भिषड्मुमूर्षुमातुरमुत्थापयितुं, परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति, यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमस्यन्नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यं, तथा भिषक् स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्मारभमाण साध्यरोगमनपराध, सपादयत्येवातुरमारोग्येण ।' ( च. सू. अ. १०।५ )

आचार्य पुनर्वसु आत्रेय के उपर्युक्त उपदेश प्रत्येक चिकित्सक के लिये परमोपादेय ही नहीं अपितु अनिवार्य रूपेण ज्ञातव्य हैं । 'सभी व्याधियाँ उपायसाध्य नहीं होतीं तथा उपायसाध्य व्याधियों की सफल चिकित्सा उपाय के बिना सभव नहीं' यह एक सर्वविदित तथ्य है । चिकित्सक को इस तथ्य का ज्ञान होना कि 'शास्त्रोपदिष्ट भेषजसमुदाय असाध्य व्याधियों के लिये निर्दिष्ट नहीं है तथा मुमूर्षु आतुर की मृत्यु से रक्षा करने के लिये चिकित्सक का ज्ञानवान् होना मात्र पर्याप्त नहीं' परमावश्यक है । 'इन सभी तथ्यों के ज्ञानानन्तर परीक्ष्य भावों की परीक्षा कर चिकित्सा कार्य करने वाला वैद्य ही कुशल वैद्य कहलाता है । जिस प्रकार योगज्ञ एव नित्याभ्यासी धनुर्धर अपने लक्ष्यवेध में सदा, बिना किसी त्रुटि के सफल होता है उसी प्रकार अपने गुणों से सम्पन्न अर्थात् शास्त्रज्ञ एव कर्माभ्यासी वैद्य ( चिकित्सक ) चिकित्सा के उपकरणों से युक्त होने पर जब सभी परीक्ष्य भावों की परीक्षा कर चिकित्साकर्म प्रारम्भ करता है तो वह सभी साध्य रोगों को निरपराध दूर कर आतुर के आरोग्य सम्पादन में समर्थ होता है ।'

इन उपर्युक्त उपदेशों में चिकित्सक का अपने गुणों से सम्पन्न होना तथा परीक्ष्यकारी होना, ये दो तथ्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं । शेष का अन्तर्भाव इन दोनों में ही हो जाता है । कहा भी है—

'चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद्वैद्यव्यपाश्रय ।
तस्मात् प्रयत्नमातिष्ठेद्भिषक् स्वगुणसम्पदि ॥'

( च. सू १०–२५ )

चिकित्सक को अपने गुणों से सम्पन्न होने के लिये परम प्रयत्नशील होना आवश्यक है । अत चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों

अस्तु—

प्रस्तुत पुस्तक का लेखक उपर्युक्त दोनों प्रकार की परिस्थितियों का साक्षी ही नहीं अपितु भुक्तभोगी है। लेखक के स्नातकोत्तर काल के अनुभव तथा शिक्षणकाल की कठिनाइयों को सानूदित संहिताओं से सुलझाने का सफल प्रयत्न ही इस पुस्तक के प्रणयन का मूल है। उपलब्ध आर्ष संहिताओं एवं परवर्ती तदुपजीवी साहित्य में विकीर्ण चिकित्सा के सिद्धान्तों तथा उनके दुर्बोध क्रियात्मक स्वरूपों का ज्ञान कितना कठिन है यह तो लेखक के समान भुक्तभोगी ही समझ सकेगा। व्यावहारिक ज्ञानशून्य विद्यार्थी परीक्षा में प्रश्नों का उत्तर लिख तथा सफलता प्राप्त कर जब क्रियात्मक क्षेत्र में उतरता है तो उसकी अवस्था का चित्रण कितना कौतूहलपूर्ण होता है इसे सुश्रुत के ही शब्दों में ठीक-ठीक आँका जा सकता है।

जैसे—

'यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥'

(सु. सू. ३-४८)

इतना ही नहीं, सैद्धान्तिक विषयों के उपलब्ध शास्त्रों में विकीर्ण होने से तथा अनुभवी एवं सद्गुरु के अभाववश उनका भी ज्ञान अविरल नहीं हो पाता। आज के आयुर्वेद महाविद्यालयों के अधिकसंख्यक शिक्षक भी इसके अपवाद नहीं। ऐसी परिस्थिति में चिकित्सासम्बन्धी ऐसे साहित्य का सङ्कलन, यथाक्रम नियोजन तथा उनका विशदीकरण कितना आवश्यक है यह सभी सहृ-

चारक अनुभव कर सकते हैं। इन सिद्धान्तों के व्यावहारिक स्वरूप का प्रदर्शन भी परमावश्यक है। कारण, सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप में प्रदर्शन अन्योन्याश्रित होने पर भी एक पृथक कला एवं विज्ञान है। इसीसे आचार्य ने कहा भी है—

'अधिगतसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कारयेत्। × × × × सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्य: कर्मस्वयोग्यो भवति।'

( सु. सू. ९–३ )

सफल चिकित्सक के लिये विकृति का ज्ञान परमावश्यक है। विकृति के ज्ञान बिना उसका निराकरण तथा उसे प्रकृत रूप में लाना सम्भव नहीं। विकृति का अविकल ज्ञान प्रकृति-ज्ञानानन्तर ही सम्भव है। चक्रपाणि दत्त ने इसका स्पष्टीकरण ग्रहणी रोग के वर्णन में किया है जैसे—'तत्र ग्रहणीदोषनिर्दिष्टाग्निदोषे वक्तव्ये प्रकृतिज्ञानानन्तरत्वाद्विकृतिज्ञानस्य प्रथमं तावदविकृतस्याग्ने रूपमाह।' इत्यादि (च. चि. अ. १५–२ पर चक्र:)। अतः किस रोग में किस दोष, दूष्य तथा अधिष्ठान आदि की विकृति होती है तथा उस दोष, दूष्य तथा अधिष्ठान आदि के किस प्रकृत कर्म का ह्रास, वृद्धि या विकृति हुई है इसका ज्ञान चिकित्सा-सौकर्य एवं रोग-निदान के लिये परमावश्यक है। ग्रहणी रोग की चिकित्सा में तथा राजयक्ष्मा की चिकित्सा में विकृतिसम्बन्धी प्रकृत व्यापार ( Pathogenic Physiology ) का वर्णन इसकी आवश्यकता का प्रबल एवं पुष्ट प्रमाण है। ग्रहणी रोग में ग्रहणी की आकृति ( रचना ), प्रकृति ( व्यापार ) आदि का सुन्दर वर्णन चरक ने किया है। इसी प्रकार राजयक्ष्मा रोग में स्रोतोरोध, धात्वग्नियों के व्यापार की मन्दता तथा शारीर धातुओं के क्षय के अविकल ज्ञान के लिये स्रोतोव्यापार, धात्वग्निव्यापार तथा धातुओं के व्यापार का भी सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार के वर्णन अन्यत्र भी सूत्ररूपेण प्राप्त होते हैं। परन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में यह इतना अपर्याप्त है कि उसमें जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का समाधान नहीं हो पाता। प्रस्तुत पुस्तक में इस त्रुटि की पूर्ति का प्रयास किया गया है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा में 'कायचिकित्सा' का स्थान सर्वाधिक महत्त्व का है। कायचिकित्सा का क्षेत्र कितना व्यापक है इसका वर्णन छठे अध्याय में किया गया है। प्रथम अध्याय में 'कायचिकित्सा' इस पारिभाषिक पद की निरुक्ति बतलाकर यह दर्शाया गया है कि काय, देह तथा शरीर इन तीन शब्दों में ही किस प्रकार गागर में सागर की तरह शरीर में अहर्निश अन-

वरत होने वाले त्रिविध जैव व्यापारों का क्रियाकलाप अन्तर्हित है। पुन: काय के भेदों के ज्ञान की उपादेयता बतलाकर चिकित्स्य पुरुष का निरूपण किया गया है।

चिकित्स्य पुरुष का विचार आयुर्वेद वाङ्मय में अपना वैशिष्ट्य रखता है। अन्यत्र इतना व्यापक एवं विस्तृत विवरण चिकित्स्य पुरुष का प्राप्त नहीं होता। आयुर्वेद की यह दृढ़ धारणा है कि चिकित्स्य पुरुष ( रोगी ) के विचार के बिना चिकित्सा के किसी भी अङ्ग का विचार कोई अर्थ नहीं रखता अर्थात् चिकित्सा का विचार अपूर्ण ही रहता है। अत चिकित्सा की सफलता के लिये चिकित्स्य पुरुष का विचार अनिवार्य है। रोग की सत्ता रोगी ( चिकित्स्य पुरुष) में ही होने से रोगी के विविध स्वरूपों, मुख्य घटकों तथा उसकी प्रकृति प्रभृति का विचार सर्वप्रथम एवं सर्वप्रधान है। आचार्य ने चिकित्स्य पुरुष का निरूपण कर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—'तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्' अर्थात् चिकित्सा के सभी-क्रियाकलाप उस चेतनपुरुष या कर्मपुरुष या चिकित्स्य पुरुष—रोगी में ही प्रतिष्ठित हैं। आयुर्वेद का प्रकाश उस रोगी के रोग को दूर करने तथा उसके स्वास्थ्य के संरक्षण के लिये ही हुआ है।

मानव सदा नानाविध आधि-व्याधियों से घिरा रहता है। अत उनका प्रभाव मानव के शरीर तथा मानस पर होना स्वाभाविक है। इस परिस्थिति के होने पर भी मानव स्वस्थ बना रहता है और कभी-कभी परिस्थितियों से पराभूत हो अस्वस्थ भी होता है। ये घटनायें प्रेक्षकों का ध्यान उस तथ्य की ओर आकृष्ट करती हैं जिसको आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए कहा है, यथा—'नहि सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति' ( च. सू. अ. २८–७ ) अर्थात् सभी जीवित शरीर व्याधियों के प्रभाव का सामना करने में समर्थ नहीं होते। यहाँ 'क्षमता' शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। चक्रपाणि दत्त ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'क्षमता' का अर्थ व्याधिबल का विरोध तथा व्याधि को उत्पन्न न होने देने की शक्ति ( व्याधिक्षमत्वं व्याधिबलविरोधित्वं व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत् ) है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवशरीर के अन्दर कोई ऐसी शक्ति है जो स्वत चिकित्सा का कार्य करती है। यह शक्ति 'क्षमता' है। इसी को आधुनिक विज्ञान इम्युनिटी (Immunity) कहता है। चिकित्सक के लिये इसका विशद ज्ञान परमावश्यक है। क्षमता चिकित्सा का प्रमुख सहायक अङ्ग है। इसे अनेक संज्ञाओं द्वारा आयुर्वेद वाङ्मय में दर्शाया गया है। प्रथम अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही चिकित्सा

के अन्य सहायक अङ्गों का, जैसे गुणवत् चतुष्पाद, भेषज तथा पथ्य-व्यवस्था प्रभृति का भी आलोचनात्मक वर्णन किया गया है।

चिकित्सा के लिये व्याधि का ज्ञान परमावश्यक है। अतः व्याधि की सामान्य सम्प्राप्ति का दिग्दर्शन कराते हुए उसके कारण आदि का सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक विवेचन किया गया है। व्याध्युत्पत्ति में दोषों की विविध अवस्थाओं का ( सञ्चय आदि का ) तथा उपयुक्त क्रियाकालों एवं तात्कालिक प्रतिकार-सूत्रों का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय में सामान्यरूपेण चिकित्सा( कायचिकित्सा )सम्बन्धी पृष्ठभूमि का विशद निरूपण किया गया है। प्रथम अध्याय के विषयों का विस्तृत विवरण विषयानुक्रमणिका में दिया गया है।

द्वितीयाध्याय चिकित्सा के परमोपादेय विषय साम-निराम का वर्णन करता है। रोग की साम-निराम अवस्थाओं के ज्ञान के विना रोगप्रतिकार कथमपि सफल नहीं होता। रोग तथा रोगोत्पादक दोष साम है या निराम, इसका ज्ञान चिकित्सा-साफल्य के लिये परम आवश्यक है। साम दोष तथा दूष्य, निराम दोष तथा दूष्य एवं रोगों की सामावस्था तथा निरामावस्था का ज्ञान चिकित्सा-सौकर्य के लिये अत्यावश्यक है। आम, आमोत्पत्ति, आम से दोषों तथा दूष्यों का सम्पृक्त होना एवं उनसे नानाविध रोगों की उत्पत्ति प्रभृति का वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

आयुर्वेद वाङ्मय में रोगोत्पत्ति के कारणों में वायु का अन्य दोषों तथा दूष्यों से आवृत होना भी एक मुख्य कारण माना गया है। वायु का अन्योन्यावरण भी रोगोत्पादक होता है। अतः इस अध्याय में आवरणों का वर्णन भी किया गया है। आयुर्वेद वाङ्मय में आवरणों का वर्णन एक विशिष्ट वर्णन है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। दोष तथा दूष्य क्षीण अथवा वृद्ध एवं प्रकुपित होकर ही रोगोत्पादक होते हैं। अतः दोष, धातु तथा मल के क्षय-वृद्धि की मूल धारणा तथा उनके लक्षणों का वर्णन भी इस अध्याय में किया गया है। चिकित्सा में दोष तथा दूष्यों की क्षीणावस्था एवं वृद्धावस्था का ज्ञान परमावश्यक है, क्योंकि क्षीण को बढ़ाना, वृद्ध को कम करना तथा सम अवस्था का पालन करना ही चिकित्सा का मूल सूत्र है।

स्रोतोदुष्टि ( ख-वैगुण्य ) व्याधि की सम्प्राप्ति में एक अपरिहार्य विकृति है। अतः व्याधि के सम्यग् ज्ञान के लिये स्रोतोदुष्टि का ज्ञान परमावश्यक है। इस पुस्तक के तृतीय अध्याय में स्रोतोदुष्टि तथा उससे रोगोत्पत्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। दोष-धातु-मलों का स्थानान्तर-गमन ( आशया-

पकर्ष ) तथा उनके लक्षणों का वर्णन एवं दोषों के रसादि धातुओं में प्रकुपित होने पर जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उनका विशद वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

चतुर्थ अध्याय सामान्य चिकित्सासूत्रों का वर्णन करता है। दोषों के उपक्रम तथा उपक्रम-काल का निर्देश भी इस अध्याय में किया गया है। स्थानान्तरगत दोषों की चिकित्सा के सूत्र, आमदोषों के चिकित्सासूत्र, दोष-धातु तथा मलों के क्षय-वृद्धि के चिकित्सासूत्र तथा आवरणों की चिकित्सा के सूत्रों का विशद वर्णन भी इस अध्याय में किया गया है। स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा तथा उपक्रम के भेदों का दिग्दर्शन भी इसी अध्याय में किया गया है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा का चमत्कारपूर्ण अङ्ग शोधन-चिकित्सा है। अत इसका वर्णन पाँचवें अध्याय में किया गया है। इसमें पञ्चकर्म की परिभाषा को बतलाकर इसके पूर्वकर्म—स्नेहन तथा स्वेदन का पहले वर्णन किया गया है तदनन्तर प्रधान कर्म ( पञ्चकर्म ) का और संसर्जन का विस्तृत वर्णन किया गया है। छठे अध्याय में कायचिकित्सा के क्षेत्र का वर्णन है जिसका संकेत पहले किया जा चुका है।

इस प्राक्कथन के प्रारम्भ में ही यह निर्देश किया गया है कि विकृति-सम्बन्धी प्रकृति-ज्ञान ( Knowledge of pathogenic physiology ) के बिना विकृति अथवा रोग का ज्ञान अविकल रूप में होना सम्भव नहीं। अतः इस परमावश्यक विषय के विशद ज्ञान के लिये इस विषय को परिशिष्ट में दर्शाया गया है। परिशिष्ट के स्रोतोविवेचन नामक प्रकरण में यथाशक्य उपलब्ध आयुर्वेदीय संहिताओं से स्रोतसम्बन्धी साहित्य का सङ्कलन कर उनकी विशद व्याख्या की गई है। द्वितीय परिशिष्ट पञ्चकर्म पर है। इसमें पञ्चकर्मार्थ प्रयोज्य योगों का सङ्कलन है। तृतीय परिशिष्ट आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त त्रिदोष पर है। त्रिदोष क्या हैं, शरीर में इनका कहाँ स्थान है, किस प्रकार ये अपने स्थानों पर रह कर तथा स्रोतों में विचरण करते हुए अपने कर्मों का सम्पादन करते हैं और विकृत होने पर किस प्रकार ये रोगों के उत्पादक होते हैं इत्यादि विषयों का इस परिशिष्ट में विशद वर्णन संक्षेप रूप से किया गया है। अन्त में रोगी तथा रोग परीक्षा का संक्षिप्त वर्णन कर इस पुस्तक के प्रथम भाग को समाप्त किया गया है।

चिकित्साशास्त्र समुद्र के समान गम्भीर एवं अगाध है। अतः इसका निःशेष वर्णन इस लघुकाय ग्रन्थ में सम्भव नहीं। सुश्रुत ने कहा है—

'समुद्र इव गम्भीर नैव शक्यं चिकित्सितम् ।
वक्तुं निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि ॥'
( सु उ. अ. १९-१७ )

फिर भी इस लघुकाय ग्रन्थ में एक चिकित्सकबुभूषु के लिये कम से कम जितना ज्ञान होना आवश्यक है उतने का वर्णन सर्वसुबोध भाषा में करने का प्रयास किया गया है। सम्प्रति आयुर्वेद-महाविद्यालयों से निकले स्नातक बहुसंख्यक रूप में आयुर्वेद के प्रति उदासीन दृष्टिगोचर होते हैं। परिणाम-स्वरूप आयुर्वेदीय चिकित्सकों का दिनानुदिन ह्रास होता जा रहा है। आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में भी, आयुर्वेदीय चिकित्सा के दृष्टिकोण को दर्शाने वाले सर्वसुबोध तथा सर्वसुलभ साहित्य के अभाव में आधुनिक चिकित्सा के अनुवाद ग्रन्थों की ही भरमार होती जा रही है। अध्यापकगण भी परिश्रम भय से आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों की ही सहायता ले असमन्वयात्मक साहित्य द्वारा छात्रों के अपरिपक्व मानस पर विपरीत भावना की ही छाप देते हैं जिसका परिणाम आयुर्वेद-स्नातक होने पर भी उनकी मनोवृत्ति आयुर्वेद-विमुख होती है। ये परिस्थितियाँ ही इस पुस्तक के प्रणयनार्थ लेखक को प्रेरित करने में सर्वाधिक कारण हुई है। अत इस पुस्तक के द्वारा यदि थोड़ा भी आयुर्वेद के शिक्षकों को तथा जिज्ञासुओं को इस दिशा में साहाय्य प्राप्त हो सका तथा उनकी मनोवृत्ति आयुर्वेद की ओर झुकी तो लेखक अपने प्रयास को सफल मानेगा।

इस पुस्तक के प्रणयन में सर्वत्र आर्ष संहिताओं को ही आधार रूप में रखने का प्रयास किया गया है। परवर्ती साहित्य तथा उनके लेखकों का भी उपकार लेखक पर है जिसके लिये उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाश मेरा प्रथम कर्त्तव्य है। दिवंगत आचार्य यादवजी त्रिकमजी लेखक के उन आराध्य देवों में हैं जिनकी सतत अनुकम्पा तथा आशीर्वचन निःसकोच प्राप्त करने का सौभाग्य लेखक को प्राप्त हुआ है। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' सूक्ति प्रसिद्ध है। अतः मित्र रणजीत राय देसाई भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अपनी लेखनी इस दिशा में उठाई है और जिनके लेखों ने भी इस ग्रन्थ के प्रणयन में साहाय्य प्रदान किया है वे मेरे सभी सहकर्मी मित्र जिन्होंने समय-समय पर इस पुस्तक के कलेवर को सँवारने में मेरी सहायता की है, धन्यवादार्ह हैं। विशेषरूपेण प० ब्रह्मदत्त शर्मा जी तथा मेरे परमप्रिय शिष्य सम्प्रति सहकर्मी श्री ज्ञानभास्कर पाण्डेय, जिन्होंने इस पुस्तक की शब्दानु-क्रमणिका तैयार कर मेरी सहायता की है, शतशः धन्यवाद के पात्र हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशक तथा चौखम्बा विद्याभवन एवं चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी के अध्यक्ष श्री बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त भी मेरे धन्यवाद-भाजन हैं जिन्होंने इसका प्रकाशन कर इसे पाठकों एवं जिज्ञासुओं के समक्ष उपस्थित करने में मुझे समर्थ किया है।

'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥'

इस परम पुनीत उपदेश का स्मरण करते हुए मैं सभी विद्वानों से सानुरोध प्रार्थना करता हूँ कि इस पुस्तक में जहाँ भी कोई त्रुटि उन्हें दृष्टिगोचर हो उसकी सूचना कृपाकर तत्काल लेखक को देवें, जिससे दूसरे संस्करण में उसका लाभ उठाया जा सके

अन्त में वाग्भटाचार्य के—

'श्रुतचरितसमृद्धे कर्मदक्षे दयालौ,
भिषजि निरनुबन्धं देहरक्षां निवेश्य ।
भवति विपुलतेजःस्वास्थ्यकीर्तिप्रभावः,
स्वकुशलफलभोगी भूमिपालश्चिरायुः ॥

(वा. सू. ७-७६)

इस वाक्य का स्मरण करता हुआ मैं हूँ आप सभी मित्रों का कृपाकांक्षी—

रामरक्ष पाठक

# विषयानुक्रमणिका

४. द्वितीय अध्याय— १०४—१६२

साम निरामविवेचन-आमोत्पत्ति-साममलों के शरीर में उपस्थिति के लक्षण-सामवात, सामपित्त तथा सामकफ के लक्षण-निरामवात, निरामपित्त तथा निरामकफ के लक्षण-जाठराग्निव्यापार-द्रव्यों की प्रकृति-करण-संयोग-राशि-देश-काल-उपयोगसंस्था-उपयोक्ता-धात्वग्निव्यापार-दोषों का सामत्व निरामत्व-दूष्य का सामत्व निरामत्व-सामरसधातु के विकार-सामरक्त धातु के विकार-साममांस धातु के विकार-साममेद के विकार-साम अस्थि धातु के विकार-साममज्ज धातु के विकार-सामशुक्र धातु के विकार-साम तथा निराम पुरीष के लक्षण तथा विकार-साममूत्र के लक्षण तथा विकार-आमवात-चिकित्सा में सामनिराम विचार की उपादेयता-वायु का अन्य दोषों तथा द्रव्यों से आवरण-पित्त तथा कफ से आवृत प्राणवायु के लक्षण-पित्तावृत वायु के लक्षण-कफावृत वायु के लक्षण-रक्तावृत वायु के लक्षण-मांसावृत वायु के लक्षण-मेद से आवृत वायु के लक्षण-अस्थ्यावृत वात के लक्षण-मज्जावृत वात के लक्षण-शुक्रावृत वात के लक्षण-अन्नावृत वात के लक्षण-मूत्रावृत वात के लक्षण-पुरीषावृत वात के लक्षण-सर्वधात्वावृत वात के लक्षण-पित्त तथा कफ से आवृत उदान वायु के लक्षण-पित्त तथा कफ से आवृत अपान वायु के लक्षण-पित्त तथा कफ से आवृत व्यान वायु के लक्षण-वायुओं का परस्पर आवरण—अन्योन्यावरण और उनके लक्षण-अनुक्त आवरणों का ज्ञान-वायुओं के परस्पर आवरण का अभिप्राय-आवरणों की उपेक्षा से हानि-दोषधातु मलों के क्षय तथा वृद्धि और उनका रोगोत्पादकत्व-क्षय वृद्धि के परिचय के सामान्य नियम-वात क्षय तथा वात वृद्धि विज्ञान-वात क्षय के लक्षण-वात वृद्धि के लक्षण-वात वृद्धि तथा वात क्षय के कारण-वात प्रकोप के कारण-पित्तक्षय के लक्षण-पित्त वृद्धि के लक्षण-प्रकुपित पित्त के लक्षण-**पित्त प्रकोप** के कारण याकृत पित्त का स्वरूप-श्लेष्म के क्षय तथा वृद्धि का **ज्ञान**—कफक्षय के लक्षण-श्लेष्म वृद्धि के लक्षण-श्लेष्म के नानात्मज विकार—श्लेष्म प्रकोपजन्य विकार-श्लेष्म प्रकोपक कारण-दोषों की वृद्धि के सामान्य नियम-धातुओं के क्षय तथा वृद्धि-धातुक्षय के कारण-रसक्षय के लक्षण-रक्तक्षय के लक्षण-मांसक्षय के लक्षण-मेद क्षय के लक्षण-अस्थिक्षय के लक्षण-मज्जाक्षय के लक्षण-शुक्रक्षय के कारण तथा लक्षण-ओज क्षय के कारण तथा लक्षण-रसवृद्धि के लक्षण-रक्त वृद्धि के लक्षण-रक्तप्रकोप के कारण-रक्तप्रकोपजन्यरोग-मांसवृद्धि के लक्षण-मेदवृद्धि के लक्षण-मेदोज रोग के कारण-अस्थिवृद्धि के लक्षण-मज्जावृद्धि के लक्षण-शुक्रवृद्धि के लक्षण-मलों **की वृद्धि** तथा क्षय-पुरीषक्षय के लक्षण-पुरीषवृद्धि के लक्षण-मूत्रक्षय के लक्षण-



# काय-चिकित्सा

## प्रथम अध्याय

'कायस्य चिकित्सा कायचिकित्सा' अर्थात् काय की चिकित्सा को **'काय-चिकित्सा'** कहते है। 'काय' शब्द 'चिञ्-चयने' धातु से बना हुआ है।[१] इसका अर्थ देह है। 'देह' शब्द 'दिह्-वर्धने तथा उपचये' से बना हुआ है।[२] इसका दूसरा नाम **'शरीर'** है, जो 'शॄ-हिंसने' से बना है।[३]

यह शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है। इसके घटक अवयव अर्थात् 'देहाणु' ( Cells ) सदा नष्ट तथा क्षीण होते रहते है। अतः इसे 'शरीर' कहते हैं।[४] इन प्रतिक्षण क्षीयमाण शरीर की अन्नादि से पूर्त्ति या पोषण होता रहता है, अतः इसको 'काय' कहते हैं।[५] क्षीयमाण देहाणुओ का अन्नादि से पोषण होकर वृद्धि होती है, अतः यह देह कहलाता है।[६]

**काय-शब्द के पर्याय**—कलेवर, गात्र, वपु, संहनन, शरीर, वर्ष्म, विग्रह, काय, देह, मूर्ति, तनु एवं तनू ये १२ पर्याय अर्थात् एकार्थवाची शब्द हैं।[७]

---

१. काय—पु० चीयतेऽन्नादिभिः, चिञ्+घञ् - नि०। देहे। (शब्दस्तोम)

२ देह—पु० न० - दिह्+घञ्। दिह् - वर्धने, दिह् - उपचये सर्जने च (")

३. शरीरम्—न० सृज् - विसर्गे, शॄ+ईरन्। प्रतिक्षण क्षीयमाणत्वात्।
शॄ - हिंसने। (")

४ शीर्यतेऽनेनेति शरीरम्। (")

५ चियतेऽन्नादिभिः—इति कायः। (")

६. स्थूलसूक्ष्मकार्यकारणरूपे शरीरे। प्रतिक्षण वर्धमानत्वात्। (")

७ 'कलेवरम्, गात्रम्, वपुः, संहननम्, शरीरम्, वर्ष्म, विग्रहः, कायः, देहः
क्लीबपुंसो, स्त्रियाम् मूर्त्तिस्तनुस्तनूः'। (अमर)

(i) कलेवरम्—न० कले = शुक्रे वरम् = श्रेष्ठ तदुत्पन्नत्वेऽपि शुचिः। (शब्दस्तोम)

(ii) गात्रम्—न० गा+ष्ट्रन्। देहे। गा-गतौ। (")

(iii) वपुः—वपुम् न० उप्यन्ते देहान्तरभोगसाधनबीजीभूतानि
कर्माणि अत्र। वप्-उसि। शरीरे। (वप्-बीजवपने)। (")

(iv) संहननम्—न० संहन्यते-परार्थं संहन्यते। सम्+हन्+ल्युट्। (")

(v) वर्ष्म—न० - वृष्+मनिन्। देहे। वृष - प्रजननसामर्थ्ये। (")

(vi) विग्रहः—पु० वि+ग्रह्+अच्। (")

काय, शरीर तथा देह ये तीनों शब्द शरीर में अहर्निश, प्रतिक्षण होनेवाले चय ( सर्जन ), अपचय ( संहार ) तथा उपचय ( वर्धन ) की व्यवस्था के सूचक हैं।

**काय**—मानव-शरीर के अन्दर चय ( सर्जन ) तथा अपचय ( संहार ) की व्यवस्था सदा अबाध रूप से चलती रहती है। सर्जन-व्यवस्था को आधुनिक-विज्ञान एनाबोलिज्म ( Anabolism ) कहता है। इसे रचनात्मक धातुसमवर्त्त या धातुपाक ( Constructive metabolism ) भी कहते हैं। सर्जन के साथ-साथ संहार की व्यवस्था भी चलती रहती है, जिसे आधुनिक-विज्ञान केटाबोलिज्म ( Catabolism ) कहता है। वस्तुतः यह शरीर-धातुओं में अहर्निश होनेवाला विपरीत रासायनिक परिवर्त्तन ( Retrograde chemical changes ) है। इन दोनों अहर्निश होनेवाली व्यवस्थाओं को अक्षुण्ण रखने के लिए शरीर में शरीर का उपादान अन्नादि से सदा सञ्चित होता रहता है। इन चयन-व्यवस्था के सदा शरीर में होते रहने से ही इसका दूसरा नाम 'काय' है। आधुनिक-विज्ञान इसी व्यवस्था को मेटाबोलिज्म ( Metabolism ) कहता है। इस प्रकार एनाबोलिज्म तथा केटाबोलिज्म, इन दोनों की सम्मिलित व्यवस्था मेटाबोलिज्म कहलाती है। मेटाबोलिज्म शरीर में होनेवाला वह परिवर्त्तन है, जो शरीर-धातु में प्रतिक्षण होनेवाले चय ( सर्जन ) और अपचय ( संहार ) का परिणाम है ( A change in the intimate condition of cell, constructive or destructive )।

भोज्य-पदार्थों का ग्रहण ( Ingestion ), उनका पचन अर्थात् क्लिष्ट-द्रव्यों ( Complex substances ) का सरल द्रव्यों के रूप में परिणमन, उनका आत्मसात्करण ( Assimilation ) अर्थात् सरल द्रव्यों के रूप में परिणत हुए द्रव्यों को अपने शरीर के अनुरूप आकार-प्रकारवाले द्रव्यों के रूप में पुनः परिवर्त्तन करके उन्हें अपना अङ्ग बना लेना, श्वसन द्वारा प्राप्त ओषजन ( Oxygen ) के साथ इनका संयोग कराकर उनके दहन ( Oxidation ) द्वारा उष्णता का उत्पादन, कर्म आदि शक्तियों के रूप में (Energy) ऊर्जा का उपयोग करना, इस उपयोग के परिणामरूप मलों को पृथक् करना, इन सब क्रियाओं का सम्मिलित नाम **'धात्वग्निपाक'** या **'धातुसमवर्त्त'** ( Metabolism ) है। यह ( धात्वग्निपाक की ) व्यवस्था मानव-शरीर में जिस ( अग्नि ) के द्वारा सम्पन्न होती है, उसे **'कायाग्नि'** कहते हैं।

**कायाग्नि**—इसका दूसरा नाम जाठराग्नि भी है। जाठराग्नि सभी अग्नियों में प्रधान मानी जाती है, कारण अन्य अग्नियों को भी जाठराग्नि से ही बल

प्राप्त होता है। जाठराग्नि की दीप्ति से उनकी दीप्ति और जाठराग्नि की क्षीणता से उनकी क्षीणता होती है।[1]

मुख्य अग्नियाँ तीन अथवा तेरह हो हैं। यथा ३ अग्नियाँ—(१) दोषाग्नि, (२) मलाग्नि और (३) धात्वग्नि या (१) जाठराग्नि, (२) भूताग्नि तथा (३) धात्वग्नि।[2]

१३ अग्नियाँ—(१) दोषाग्नियाँ तीन हैं, जैसे—(१) वाताग्नि, (२) पित्ताग्नि और (३) कफाग्नि। मलाग्नियाँ भी दोषों के सदृश तीन हैं, जैसे—(१) पुरीषाग्नि, (२) मूत्राग्नि तथा (३) स्वेदाग्नि। धात्वग्नियाँ सात हैं, जैसे—(१) रसाग्नि, (२) रक्ताग्नि, (३) मांसाग्नि, (४) मेदोऽग्नि, (५) अस्थ्यग्नि, (६) मज्जाग्नि (७) शुक्राग्नि। भौतिकाग्नियाँ पाँच हैं, यथा—(१) नाभसाग्नि (२) वाय्वग्नि, (३) तेजोऽग्नि, (४) जलाग्नि और (५) पृथिव्यग्नि।

इन सभी अग्नियों में जाठराग्नि प्रधान है, क्योंकि जाठराग्नि से ही अन्य अग्नियों को बल प्राप्त होता है। जाठराग्नि की इस प्रतिष्ठा के कारण ही आयुर्वेद के आठ अङ्गों में प्रधान अङ्ग कायचिकित्सा के पूर्वपद 'काय' का अर्थ अग्नि और **'कायचिकित्सा'** का अर्थ अग्नि के विकारों की अर्थात् अवस्थापाक तथा धातुपाक के विकारों की चिकित्सा माना गया है।[3]

'काय' शब्द सम्पूर्ण शरीरवाची भी है, अतः कायचिकित्सा का अर्थ सम्पूर्ण शरीरगत व्याधियों की चिकित्सा भी है।[4] कायचिकित्सा की परिभाषा करते हुए

---

१. (i) अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः॥ (च. चि. अ. १५-३९)

(ii) सर्वाग्निषु जाठराग्नेः प्राधान्यमाह—अन्नस्येत्यादि। प्राधान्ये हेतुमाह—तन्मूला इत्यादि। तन्मूलत्वे हेतुगर्भविशेषणमाह—तद्वृद्धीत्यादि। तस्य जाठराग्नेः वृद्ध्या वृद्ध्यात्मकाः क्षयेण च क्षयात्मकाः यस्माद्धिहाग्नयस्तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां विधायित्वात्तन्मूला इत्यर्थः। (चक्र०)

२ (i) दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम्। (अ. हृ. शा. ३-४९)

(ii) भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। (च. चि. १५-१३)

(iii) सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥ (च. चि. १५-१५)

३ (i) कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा। (च. सू. ३०-२८ पर चक्रपाणि)

(ii) कायोऽत्राग्निरुच्यते, तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा।
अथवा कायो देहः, तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा॥ (सु. सू. १-७ पर डल्हण)

४ 'कायः सकलं शरीरम्, तस्य चिकित्सा, प्रायेण रसादेः सर्वाङ्गव्यापकस्य दोषादेव ज्वरातिसाररक्तपित्तादयः सम्भवन्ति, किं वा कायति शब्दं करोति इति कायो जाठराग्निः।........उक्तं च भोजेन—जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते। यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥ (शिवदाससेन)

आचार्यों ने कहा है कि 'कायचिकित्सा उस चिकित्सा का नाम है, जिसमें सर्वांग-संश्रित व्याधियों यथा—ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, मेह, अतिसार आदि रोगों, के शमन के लिए चिकित्सा वर्णित हो।'[1]

'काय' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि अन्नादि से शरीरोपादान का सदा चयन होते रहने के कारण ही इसका ( शरीर का ) नाम काय है। अन्यत्र भी कहा है कि यह शरीर सदा अन्नादि से पुष्ट होते रहने के कारण आहार से उत्पन्न हुआ माना गया है। चूँकि यह शरीर आहार से उत्पन्न हुआ है, अतः उसके रोग भी आहार-संभव ही हैं। इसलिए हित-आहार सुख ( आरोग्य ) का और अहित-आहार दुःख ( रोग ) का विशिष्ट कारण है।[2] चरक, सूत्रस्थान, २५वें अध्याय ( यज्जःपुरुषीयाध्याय ) में इस तथ्य को बड़े ही रोचक ढंग से समझाने का प्रयत्न किया गया है।

प्राचीन काल में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के सभापतित्व में एक परिषद् हुई थी, जिसका वर्णन चरक के यज्जःपुरुषीय अध्याय में प्राप्त होता है। इस परिषद् में काशीपति वामक मुख्य प्रस्तावक के रूप में तथा आत्मवादी पारीक्षि मौद्गल्य, सत्यवादी शरलोमा, रसवादी या त्रिधातु-सिद्धान्तवादी राजर्षि वार्योविद, षड्धातुवादी या आद्यमात्स्यवादी हिरण्याक्ष कुशिक, परम्परावादी कौशिक, कर्मवादी भद्रकाप्य, स्वभाववादी या धातुपञ्चकवादी भरद्वाज, प्रजापतिवादी वाह्लीक भिषक् काङ्कायन, कालवादी भिक्षु आत्रेय और त्रिभागात्मक सिद्धान्त से उनका समन्वय करनेवाले अध्यक्ष पुनर्वसु आत्रेय के पट्ट-शिष्य अग्निवेश भी उपस्थित थे। इस परिषद् में सर्वप्रथम शिष्टाचार के अनुसार काशीराज वामक ने प्रश्न उपस्थित किया कि पुरुष जिन कारणों से उत्पन्न हुआ है, क्या उसके रोग भी उन्हीं कारणों से उत्पन्न होते हैं?[3] इस प्रश्न के उत्तर में उपर्युक्त सभी ऋषियों ने अपने-अपने विचारों को उपस्थित किया। सभी ऋषियों के विचार परस्पर ( एक का दूसरे से ) विरोधी थे। अतः ऋषियों के विचार को देखकर भगवान् आत्रेय यह कहते हुए कि—

'मैवं वोचत, तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात्।
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव॥

1. 'कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वर-रक्तपित्त-शोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातीसारादीनामुपशमनार्थम्' ( सु. सू. १-३ )
2. 'आहारसम्भवं वस्तु रोगाश्चाहारसम्भवाः।
हिताहितविशेषाच्च विशेषः सुखदुःखयोः॥' ( च. सू. २८-४५ )
3. 'किं नु स्यात्पुरुषो यतस्तज्जास्तस्यामयाः स्मृताः।' ( च. सू. अ. २५ )

पक्षान्त नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतो ।
मुक्त्वैव वादसङ्घट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ॥
नाविधूते तम स्कन्धे ज्ञेये ज्ञान प्रवर्त्तते ।'

अनुशासन किया—

'येषामेव हि भावाना सम्पन् सजनयेन्नरम् ।
तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत् ॥' ( च० सू० २५ )

अर्थात् जिन भावो की सम्पदा से पुरुष उत्पन्न होता है, उनकी विपदा ( विपन्नता ) से ही उसके रोग उत्पन्न होते हैं ।

निष्कर्ष यह निकला कि कायचिकित्सा उस चिकित्सा को कहते है, जिसमे जाठराग्नि के विकारो तथा सर्वाङ्गसश्रित उपर्युक्त व्याधियो की चिकित्सा का वर्णन हो । अवस्थापाक तथा धातुपाक ( Metabolism ) का सकेत पहले कर चुके है, अत उक्त अवस्थापाक तथा धातुपाक की सभी प्रक्रियाओ मे उत्पन्न विकृतियो की चिकित्सा कायचिकित्सा के क्षेत्र मे आ जाती है । ( देखें—कायचिकित्सा का क्षेत्र ) ।

**चिकित्सा**—चिकित्सा शब्द 'कित्–रोगापनयने' धातु से बना हुआ है ।[1] और रोग शब्द 'रुज् व्याधौ' अथवा 'धातुवैषम्यजाते' मे घञ् प्रत्यय लगाने से बनता है । तात्पर्य यह कि रोग या व्याधि के अपनयन ( दूर करनेवाली ) विधि ( उपाय ) को ही चिकित्सा कहते हैं । अमरसिंह ने भी 'चिकित्सा रुक्-प्रतिक्रिया' अर्थात् रोग के प्रतीकार का नाम चिकित्सा है, ऐसी परिभाषा बतलायी है । भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के 'या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते तथा 'याभि क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातव समा । सा चिकित्सा विकाराणा कर्म तद् भिषजा मतम् ॥' इन वाक्यो से भी इसका समर्थन होता है । 'वैद्यक-शब्द-सिन्धु' मे चिकित्सा का अर्थ रोग-निदान-प्रतीकार किया है । 'राजनिघण्टु'कार रोग के प्रतीकार को चिकित्सा कहते हैं ।[2]

'रोगापनयन' तथा 'रुक्-प्रतिक्रिया' दोनो शब्दो का एक ही अर्थ है । दोनो का तात्पर्य यह है कि ऐसे उपाय, जो रोग को दूर या शान्त करे, उन्हे चिकित्सा कहते हैं । परन्तु 'रोगनिदान-प्रतीकार' अपना विशिष्ट अर्थ रखता है । यह रोग के कारण को नष्ट करने का आदेश करता है । कहा भी है—'सक्षेपत क्रिया-

---

१ चिकित्सा–स्त्री० कित्–रोगापनयने, भ्वादि पर० सक० सेट् । ('शब्दस्तोम')

२ ( i ) 'चिकित्सा रुक्-प्रतिक्रिया ।' ( अमर )
( ii ) चिकित्सा रोगनिदानप्रतीकारे । ( वै श सि )
( iii ) चिकित्सा तत्प्रतीकार । ( राजनिघण्टु )

योगो निदानपरिवर्जनम् ।' ( सु० उ० अ० १–२५ ) अर्थात् संक्षेप में निदान का परिवर्जन ही चिकित्सा है ।

दोष तथा धातुओ के वैषम्य का ही नाम रोग है । अत आचार्य ने चिकित्सा के मूलतत्त्व को समझाते हुए कहा है कि भिषक् आदि चिकित्सा के चार पादो का, धातु-वैषम्य या प्रशस्त धातुओ के विकृतियों की अवस्था को उन्हे साम्यावस्था मे लाने का जो प्रयत्न है, वही चिकित्सा है तथा वही वैद्य का कर्म ( कर्त्तव्य ) है ।[1]

चिकित्सा के दो मूलतत्त्वो अर्थात् ( १ ) निदान-परिवर्जन तथा ( २ ) धातु-साम्यार्थ प्रवृत्ति वा उपाय—पर यहा ध्यान आकृष्ट कर आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि रोगोत्पादक निदान के परिवर्जनमात्र से ही चिकित्सा का कार्य समाप्त नही हो जाता, अपि तु विषम धातुओ को साम्यावस्था मे लाना भी परमावश्यक है । इसीसे आचार्य ने भिषक् के कर्त्तव्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि शारीर-धातुओ को साम्यावस्था मे लाने के लिए जिन-जिन क्रियाओ का उपयोग किया जाता है, वे सब चिकित्सा है ।[2] चिकित्सा के इस अर्थ को सिद्ध करने के लिए गुणवत् चतुष्पाद की आवश्यकता होती है । इस चतुष्पाद का वर्णन यथास्थल किया जायगा ।

निदान-परिवर्जन के साथ-साथ प्रकृतिविघात और अपकर्षण भी चिकित्सा के मुख्य अङ्ग है । आचार्य ने कहा है कि सर्वप्रथम कृमि ( रोग के कारण ) का अपकर्षण करना आवश्यक है । तदनन्तर प्रकृतिविघात और निदानपरिवर्जन करना चाहिए ।[3] अपकर्षण का तात्पर्य तत्तद् उपायो से कृमियो को बाहर निकालना है । प्रकृतिविघात का अर्थ कृमियो की उत्पत्ति और वृद्धि के मूल-कारण का विघात करना है । तात्पर्य यह कि आम-पक्वाशय आदि मे विद्यमान कृमि के कारणों को उनके विरुद्ध गुणवाले द्रव्यो के सेवन से नष्ट करना । इसे संशमन भी कहते हैं । निदान-परिवर्जन का अभिप्राय उन आहार-विहारो से परहेज है, जिनसे कृमि उत्पन्न होते हैं ।

कृमियो के प्रसग से कहे गये इस त्रिविध उपचारो का उपदेश रोगमात्र की

---

१ चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते ।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ ( च सू. म. ९।५ )

२ विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।
सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च ॥ ( च सू. ९ ४ )

३ 'तत्र सर्वक्रिमीणामपकर्षणमेवादितः कार्यं, ततः प्रकृतिविघातः, अनन्तर निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनम् । ( च वि ७–१४ )

चिकित्सा के लिए भी तन्त्रकार ने किया है। जैसे 'कृमियो को दृष्टि मे रखकर उपचार के जो तीन प्रभेद यहाँ बतलाये हैं, रोगमात्र के उपशमन के भी ये ही तीन प्रभेद समझने चाहिए।'[1] आगे चलकर इन तीन प्रभेदो के दूसरे पर्याय बतलाते हुए कहते है कि 'प्रत्येक रोग मे वैद्य को विधिपूर्वक तीन कार्य करने चाहिए—( १ ) संशोधन, ( २ ) संशमन तथा ( ३ ) निदान-परिवर्जन।'[2]

इसका तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम कृमिरोग मे कृमि का तथा अन्य कीटाणुजन्य रोगो मे भी कीटाणुओ का अपकर्षण करे, अर्थात् शरीर से बहिर्निष्कासन की व्यवस्था करे। बाद मे तज्जन्य धातुवैषम्यरूप रोग-प्रकृति ( मूलकारण ) का विघात करे और रोगी को निदान से अर्थात् रोगोत्पादक कारणो से वर्जन की व्यवस्था करे।

**सत्त्वानुरूप काय के भेद**—कायचिकित्सा के लिए सर्वप्रथम काय का ज्ञान आवश्यक है। आयुर्वेद-वाङ्मय मे तीन प्रकार के कायो का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे—( १ ) सात्त्विक, ( २ ) राजस और ( ३ ) तामस। सात्त्विक काय सात प्रकार का, राजस छ प्रकार का और तामस काय तीन प्रकार का होता है।

काय

| सात्त्विक | राजस | तामस |
|---|---|---|
| १. ब्राह्म या दैव काय | १ आसुर काय | १ पाशव काय |
| २ माहेन्द्र ,, | २ सार्प ,, | २ मात्स्य ,, |
| ३ वारुण ,, | ३ शाकुन ,, | ३ वानस्पत्य ,, |
| ४ कौवेर ,, | ४ राक्षस ,, | |
| ५ गान्धर्व ,, | ५ पैशाच ,, | |
| ६ याम्य ,, | ६ प्रैत ,, | |
| ७. आर्ष ,, | | |

'काय' का यह विभाग सत्त्व के अनुसार किया गया है। शरीर तथा सत्त्व अन्योन्याश्रय होता है। अत सत्त्वानुरूप शरीर तथा शरीरानुरूप सत्त्व का स्वरूप

१. अयमेव हि विकाराणां सर्वेषामपि निग्रहे।
विधिर्दृष्टस्त्रिधा योऽय कृमीनुद्दिश्य कीर्तितः॥
२ संशोधन संशमन निदानस्य च वर्जनम्।
एतावद्भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि॥ ( च. वि ७ )

होता है। यदि सत्त्व शुद्ध हो, तो देवादिशरीर बनते हैं और यदि वह राजस होता है, तो आसुरादि शरीरों का निर्माण होता है तथा तामस सत्त्व से पाशव आदि शरीरों का निर्माण होता है। इनमें शुद्ध सात्त्विक शरीर को कल्याणांश-बाहुल्य होने से अदोष कहा गया है। दोषांश के अधिक होने से राजस शरीर को सदोष कहा है तथा मोहांशाधिक्य होने के कारण तामस को भी सदोष कहा है। इसका उपसंहार करते हुए आचार्य ने कहा है कि देव-शरीर सात्त्विक, मानव-शरीर राजसिक तथा पशु-शरीर तामसिक होता है।[1] मन शरीर का तन्त्रक (प्रेरक) है। ब्राह्मादि कायों वाले क्रमशः निम्नलिखित गुणवाले होते हैं—

## शुद्ध सत्त्वकाय

| १. ब्राह्मकाय[2] | | २. आर्षकाय[3] | |
|---|---|---|---|
| शुचि (पवित्र) | (च॰ शा॰ ४, सु॰ शा॰ ५) | इज्याप्रिय | (च॰ शा॰ ४) |
| सत्याभिसन्ध (सत्यवादी) | ,, | अध्ययनप्रिय | ,, |
| जितात्मा (जितेन्द्रिय) | ,, | व्रतप्रिय | ,, |
| संविभागी (सम्यक् फलविभजनशील) | ,, | होमप्रिय | ,, |
| ज्ञानसम्पन्न | ,, | ब्रह्मचर्यप्रिय | ,, |
| विज्ञानसम्पन्न | ,, | अतिथिप्रिय | ,, |
| वचनसम्पन्न | ,, | व्रतोपवासप्रिय | ,, |
| प्रतिवचनसम्पन्न | ,, | मदरहित | ,, |
| स्मृतिमान् | ,, | अभिमानरहित | ,, |
| कामापेत (कामरहित) | ,, | रागरहित | ,, |
| क्रोधापेत (क्रोधरहित) | ,, | द्वेषरहित | ,, |
| लोभरहित | ,, | मोहरहित | ,, |
| मान-(अभिमान)-रहित | ,, | लोभरहित | ,, |
| मोहरहित | ,, | (रो) दोषरहित | ,, |
| ईर्ष्यारहित | ,, | प्रतिभानसम्पन्न | ,, |
| अमर्षरहित | ,, | वचनसम्पन्न | ,, |
| सबप्राणियों में समभाव | ,, | विज्ञानसम्पन्न | ,, |
| आस्तिक (सु॰ शा॰ ५) | ,, | मेधासम्पन्न | ,, |

१ (i) त्रिविधं खलु सत्त्वम्—शुद्धम्, राजसम्, तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं दोषांशत्वात्। तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्। शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम्। (च॰ शा॰ ४-३६)
(ii) 'सत्त्वं मनः', तच्छरीरस्य तन्त्रकम्। (च॰ वि॰ अ॰ ८)

२. च॰ शा॰ ४, सुश्रुत शा॰ ४।

३. च॰ शा॰ ४, सुश्रुत शा॰ ४।

वेदाभ्यासी ( सु० शा० ५ )
गुरुजन-पूजक ,,
अतिथिप्रिय ,,
इज्या-(यज्ञ)-प्रिय ,,

जपप्रिय ( सुश्रुत शा० ४ )

### ३. माहेन्द्रकाय[1]

ऐश्वर्यवान् ( च० शा० ४ )
आदेयवाक्य ( सब के अनुमन वाक्य का करनेवाला ) ,,
यज्वा ( यज्ञ करनेवाला ) ,,
शूर ,,
ओजस्वी ,,
तेजोयुक्त ,,
अक्लिष्टकर्मा (क्षुद्र कर्म न करनेवाला),,
दीर्घदर्शी ( दूरदर्शी ) ,,
धर्मरत ,,
अर्थरत ,,
कामरत ,,
महात्मा ( महाशय ) ( सु० शा० ४ )
आज्ञावान् ,,
सतत-शास्त्र-बुद्धि ,,
भृत्यभरण ,,

### ४. याम्यकाय[2]

लेखास्थवृत्ति(कर्त्तव्याकर्त्तव्य मर्यादावान्) ( च० शा० ४
प्राप्तकारी ,,
असम्प्रहारी ( अशक्य का वारण करनेवाला ) ,,
उत्थानवान् ,,
स्मृतिमान् ,,
ऐश्वर्यवान् ,,
अलोभी ,,
रागरहित ,,
ईर्ष्यारहित ,,
द्वेषरहित ,,
मोहरहित ,,
दृढोत्थानवान् ( सुश्रुत शा० ४ )
निर्भय ,,
शुचि ,,
मदरहित ,,

### ५ वारुणकाय[3]

शूर ( च शा ४ )
धीर ,,
शुचि ,,
अशुचिद्वेषी ,,

### ६ कौबेरकाय[4]

स्थानसम्पन्न ( च शा ४ )
मानसम्पन्न ,,
उपभोगसम्पन्न ,
परिवारसम्पन्न ,,

---

१. च शा ४, सुश्रुत शा ४।
२ च शा ४, सुश्रुत शा ४।
३ च शा ४, सुश्रुत शा. ४।
४. च शा ४, सुश्रुत शा ४।

| | |
|---|---|
| यज्वा | ( च० शा ४ ) |
| अम्भोविहार-रति | ,, |
| अक्लिष्टकर्मा | ,, |
| स्थानकोपी | ,, |
| स्थानप्रसादी | ,, |
| शीतसेवी | ,, |
| नातिघृष्णु | ,, |
| पिङ्गलाक्ष | ,, |
| | ,, |
| हरिकेश | ,, |
| प्रियवादी | ,, |

| | |
|---|---|
| धर्मनित्य | ( च० शा० ) |
| कर्मनित्य | ,, |
| अर्थनित्य | ,, |
| शुचि | ,, |
| सुखविहारी | ,, |
| व्यक्तकोपी | ,, |
| व्यक्तप्रसादी | ,, |
| मध्यस्थ | ,, |
| सहिष्णु | ,, |
| अर्जनचयी | ,, |
| महाप्रसव-शक्ति | ,, |

७ गान्धर्वकाय[1]

| | |
|---|---|
| नृत्यप्रिय | ( च शा ८ ) |
| गीतप्रिय | ,, |
| वादित्रप्रिय | ,, |
| उल्लापक ( श्लोकपाठी ) | ,, |
| श्लोक-कुशल | ,, |
| आख्यायिका-कुशल | ,, |
| इतिहासप्रिय | ,, |
| पुराणप्रिय | ,, |
| गन्धप्रिय | ,, |
| माल्यप्रिय | ,, |
| अनुलेपनप्रिय | ,, |
| वसनप्रिय | ,, |
| स्त्रीविहार कामनित्य | ,, |
| अनसूयक | ,, |

इस प्रकार शुद्ध-सत्त्वकाय के उपर्युक्त सात भेद तथा उनके लक्षण हैं। इनमें भी ब्राह्म सत्त्ववान सर्वश्रेष्ठ है।[2] इसे देव-काय भी कहते हैं।

## राजससत्त्व काय

### १. आसुरकाय

| | |
|---|---|
| शूर | (च शा. ४) |
| चण्ड | ,, |
| असूयक | ,, |
| ऐश्वर्यवान् | ,, |
| औपधिक ( छद्मवेशी ) | ,, |
| रौद्र ( भयकर ) | |
| अननुक्रोश ( निर्दय ) | ,, |
| आत्मपूजक | ,, |
| एकाशी | (सु शा ४) |
| औदरिक ( बहुभोजी ) | ,, |

### २. राक्षसकाय

| | |
|---|---|
| अमर्षि | (च शा ४) |
| अनुबन्धकोपी | ,, |
| छिद्रप्रहारी | ,, |
| क्रूर | ,, |
| आहारगत-मात्ररुचि | ,, |
| आमिषप्रिय | ,, |
| स्वप्नप्रिय | ,, |
| आयास-बहुल | ,, |
| ईर्ष्यु | ,, |
| एकान्तग्राही | (सु शा ४) |
| रौद्र | ,, |
| असूयक | ,, |
| धर्मबाह्यतायुक्त | ,, |
| भृशमात्मनमोगुणी | ,, |

### ३. पैशाचकाय

| | |
|---|---|
| महाशी | (च शा ४) |
| स्त्रैण | ,, |
| स्त्रीरहस्कामी | ,, |
| अशुचि | ,, |
| शुचिद्वेषी | ,, |
| भीरु | ,, |
| भीषयिता ( डरानेवाला ) | ,, |
| विकृताहारशील | ,, |
| विकृतविहारशील | ,, |
| उच्छिष्टाहारी | (सु शा ४) |
| तीक्ष्ण | ,, |
| साहसप्रिय | ,, |
| स्त्रीलोलुप | ,, |
| निर्लज्ज | ,, |

### ४. सार्पकाय

| | |
|---|---|
| क्रोधी | (च शा ४) |
| शूर | ,, |
| अक्रुद्धभीरु | ,, |
| तीक्ष्ण | ,, |
| आयासबहुल | ,, |
| सत्रस्त | ,, |
| गोचर | ,, |
| आहारप्रिय | ,, |
| विहारप्रिय | ,, |
| चण्ड | (सु शा ४) |
| मायावी | ,, |
| विहारचपल | ,, |
| तथा आचारचपल | ,, |

### ५. प्रेतकाय

| | |
|---|---|
| आहारकामी | (च शा. ४) |
| अतिदुःखशील | ,, |
| असूयक | ,, |
| अनविभागी | ,, |
| अतिलोलुप | ,, |
| अकर्मशील | ,, |
| आलसी | (सु शा ४) |
| अदाता | ,, |

### ६. शाकुनकाय

| | |
|---|---|
| अनुषक्तकामी | (च शा. ४) |
| अजस्राहारप्रिय | ,, |
| अजस्रविहारप्रिय | ,, |
| अनवस्थित | ,, |
| अमर्षी | , |
| असञ्चयी | ,, |
| प्रवृद्धकामसेवा | (सु शा ४) |
| होना है। | |

## तामस सत्वकाय

### १. पाशवकाय

| | |
|---|---|
| निराकरिष्णु | (च शा. ४) |
| अमेधस | ,, |
| जुगुप्सिताचारी | ,, |
| जुगुप्सिताहारी | ,, |
| मैथुनप्रिय | ,, |
| स्वप्नशील | ,, |
| दुर्मेधा | (सु शा ४) |
| मन्द | ,, |

### २. मात्स्यकाय

| | |
|---|---|
| भीरु | (च शा ४) |
| अबुध | ,, |
| आहारलोभी | ,, |
| अनवस्थित | ,, |
| अनुषक्तकाम | ,, |
| अनुषक्तक्रोध | ,, |
| सरणशील | ,, |
| तोयकामी | (सु. शा ४) |
| मूर्ख | ,, |
| परस्पराभिमर्द | ,, |

### ३ वानस्पत्यकाय

| | |
|---|---|
| आलसी | (च शा. ४) |
| केवलमभिनिविष्टाहारी | ,, |
| सर्वबुद्ध्यङ्गहीन | ,, |
| एकस्थानरति | (सु शा. ४) |
| सत्वहीन | ,, |
| धर्महीन | ,, |
| कामवर्जित | . |
| अर्थवर्जित | ,, |

उपर्युक्त विविध कार्यों के लक्षण चिकित्सकों को जानना परमावश्यक है। इनके ज्ञान से रोग-निदान में, उसके साध्यासाध्य-विवेचन में तथा चिकित्सा की रूपरेखा निश्चित करने में सहायता मिलती है। कारण आयुर्वेदीय चिकित्सा के सिद्धान्त शरीर, इन्द्रिय, मन तथा आत्मा के संयोगस्वरूप पुरुष की सर्वतोभावेन समीक्षा कर निर्णीत किये गये हैं। चिकित्सा के स्वरूप का निर्णय करने के लिए हमारे आचार्यों ने सर्वप्रथम चिकित्स्य पुरुष का निरूपण किया है, क्योंकि आयुर्वेद चिकित्सा की व्यवस्था रोग की दृष्टि से न कर रोगी की दृष्टि में करता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा की यही विशेषता है कि वह चिकित्सक का ध्यान सर्वप्रथम इस तथ्य पर आकृष्ट करता है कि चिकित्सा रोग की नहीं, रोगी की की जाती है। यहाँ तक कि जब कभी किसी औषध की व्यवस्था का उपदेश करता है, तब चिकित्स्य व्यक्ति या पुरुष की सर्वतोभावेन परीक्षा करने का आदेश देता है। जैसे —

योगमासां तु यो विद्याद् देशकालोपपादितम्।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः॥

(च सू १।१२४)

महर्षि व्यास ने चिकित्सा-शास्त्र को 'चतुर्व्यूह' कहा है। जैसे—(१) रोग, (२) रोग-हेतु, (३) आरोग्य और (४) भैषज्य। अतः चिकित्सा-शास्त्र के के इन चारों व्यूहों का भेदन करना चिकित्सक के लिए आवश्यक है। आयुर्वेद में चिकित्सा-शास्त्र को त्रिसूत्र तथा त्रिस्कन्ध भी कहा है।[2]

**त्रिसूत्र आयुर्वेद**—स्वस्थातुरपरायण हेतुसूत्र, लिङ्गसूत्र तथा औषध-सूत्र (आयुर्वेद में) वर्णित होने से इसे त्रिसूत्र कहा गया है। ये तीनों सूत्र ही आयुर्वेद के तीन स्कन्ध अर्थात् स्थूलावयव या प्रविभाग हैं। अतः इसे त्रिस्कन्ध भी कहा गया है।[3]

**स्वस्थ परायण सूत्र**—ऐसे सूत्र, जिनमें स्वस्थवृत्त का वर्णन हो, उन्हें स्वस्थ परायण सूत्र कहते हैं। आधुनिक विज्ञान इसे हाइजिनिक (Hygienic) तथा प्रतिषेधात्मक चिकित्सा (Preventive or pro-

---

१ 'यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगः, रोगहेतुः, आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्। तद्यथा—संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः, मोक्षोपाय इति।' व्यासभाष्य

२ हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्। त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः। यथावदचिरात् सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः॥
(च सू. अ. १)

३ 'त्रयो हेत्वादयः स्कन्धरूपा यस्य स त्रिस्कन्धः। स्कन्धश्च स्थूलावयवः प्रविभागो वा।'
(चक्र०)

phylactic measures या medicine ) कहता है। ये सूत्र तीन विभागों में विभक्त हैं। जैसे—हेतुसूत्र, ( २ ) लिङ्गसूत्र और ( ३ ) औषधसूत्र। हेतुसूत्र के अन्तर्गत स्वस्थवृत्त के वे विषय तथा नियम प्रतिपादित होते हैं, जिनसे स्वास्थ्य अक्षुण्ण रहता है। लिङ्गसूत्र के अन्दर स्वास्थ्य तथा स्वस्थ पुरुष के लक्षण वर्णित हैं। औषधसूत्र के अन्तर्गत विकृत स्वास्थ्य को प्रकृत अवस्था में लाने का विधान रहता है और ऐसे औषधों का वर्णन है, जिनसे स्वास्थ्य अक्षुण्ण बना रहे। तात्पर्य यह कि स्वस्थ पुरुष का स्वास्थ्य सुरक्षित रखने का विधान स्वस्थ-परायण सूत्र में रहता है।

**आतुर परायण सूत्र**—आतुर का अर्थ है, रोगी। रोगी के रोग को दूर करने की व्यवस्था जिन सूत्रों में होती है, वे आतुर-परायण सूत्र कहलाते हैं। इन सूत्रों को भी ( १ ) हेतु, ( २ ) लिङ्ग और ( ३ ) औषध के विभाग से तीन भागों में विभक्त किया गया है। हेतुसूत्र में रोग के हेतुओं ( कारणों ) का वर्णन रहता है। रोग के लक्षणों का प्रतिपादन करनेवाला सूत्र लिङ्गसूत्र कहलाता है। इसी प्रकार जिन सूत्रों में रोग तथा रोगी की चिकित्सा प्रतिपादित होती है, उन्हें औषधसूत्र कहते हैं।[1]

हेतु में सभी प्रकार के हेतुओं का ग्रहण होता है। जैसे—( १ ) सन्निकृष्ट ( २ ) विप्रकृष्ट, ( ३ ) व्यभिचारी और ( ४ ) प्राधानिक, ( १ ) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग ( २ ) प्रज्ञापराध और ( ३ ) परिणाम, ( १ ) दोष हेतु, ( २ ) व्याधि हेतु तथा ( ३ ) उभय ( दोष-व्याधि ) हेतु, ( १ ) उत्पादक हेतु और व्यञ्जक हेतु तथा ( १ ) बाह्य हेतु और ( २ ) आभ्यन्तर हेतु। ये सभी हेतु स्वस्थ तथा आतुर दोनों से सम्बद्ध हैं।[2]

इसी प्रकार लिङ्ग से स्वस्थ तथा आतुर दोनों के लक्षणों का ग्रहण है। जैसे, संक्षेप में स्वस्थ का लक्षण—'समदोष, समाग्नि, समधातु-क्रिया, सममल-क्रिया जिस पुरुष में हो और जिसकी आत्मा, इन्द्रियाँ तथा मन प्रसन्न हों, वह स्वस्थ पुरुष है।[3] सम शब्द का अर्थ समावस्था अर्थात् प्रकृतावस्था ( Normal state ) है। धातुक्रिया से शरीर में अहर्निश होनेवाली धातुपाक-

---

१. ( i ) 'स्वस्थातुरयोः परमुत्कृष्टमयन मार्गो इति स्वस्थातुरपरायणम्'। ( चक्र० )
( ii ) त्रीणि हेत्वादीनि सूच्यन्ते यस्मिन् येन वा तत्त्रिसूत्रम्। ( चक्र० )
( iii ) हेत्वादीनि ज्ञायन्तेऽनेनेति हेतुलिङ्गौषधज्ञानम्। ( चक्र० )
२ ( i ) हेतुग्रहणेन सन्निकृष्टविप्रकृष्टहेत्वादिग्रहणम्। ( चक्र० )
( ii ) लिङ्गग्रहणेन च व्याधेरारोग्यस्य च कृत्स्नं लिङ्गमुच्यते। ( चक्र० )
३ समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ ( सु. सू. अ. १५ )

क्रिया ( Metabolism ) और मलक्रिया से शरीर में होनेवाली मलनिष्कासन-क्रिया ( Excretory function ) का ग्रहण है।

औषध में पथ्य-व्यवस्था तथा चिकित्सा दोनों का ग्रहण है। स्वस्थ पुरुष के लिए स्वास्थ्य को अक्षुण्ण रखनेवाले आहार-विहार की व्यवस्था तथा आतुर ( रोगी ) के लिए रोगापनयन की व्यवस्था का वर्णन औषधसूत्र में रहता है। इसके अन्तर्गत, रसायन, वाजीकरण तथा दैव-व्यपाश्रय, युक्ति-व्यपाश्रय तथा सत्त्वावजय आदि चिकित्सा के सभी प्रकारों का ग्रहण हो जाता है।[1]

इनका विस्तृत वर्णन यथास्थल किया जायगा।

## चिकित्स्य पुरुष

'चिकित्स्य पुरुष' का शाब्दिक अर्थ है, चिकित्सायोग्य पुरुष। अर्थात् वह पुरुष, जिसकी चिकित्सा की जा सके अथवा चिकित्सा का विषयरूप पुरुष, यानी जीवित पुरुष। इस पुरुष का विवेचन चिकित्सा-मीमांसा में परमावश्यक है, क्योंकि चिकित्सा की सम्पूर्ण व्यवस्था उस पुरुष के अनुरूप ही करनी पडती है। चिकित्सा की दृष्टि से रोग रोगी से भिन्न नहीं होता और रोगी ( चिकित्स्य पुरुष ) के विवेचन के अन्तर्गत रोग तथा रोग के निदानादि स्वत आ जाते हैं। तात्पर्य यह कि रोग तथा रोग के निदानादि का विवेचन चिकित्स्य पुरुष के बिना कोई महत्त्व नहीं रखता, कारण रोग की सत्ता रोगी में ही होती है। चिकित्सा में रोगी का विचार आयुर्वेद की विशेषता है। आयुर्वेद का यह दृढ सिद्धान्त है कि एक ही रोग विभिन्न पुरुषों में उनकी प्रकृति आदि के अनुसार देश-काल की विभिन्नता से विभिन्न रूप प्रकट कर सकते हैं और करते हैं। अत चिकित्स्य पुरुष की प्रकृति आदि पर ही चिकित्सा की व्यवस्था निर्भर है।

मानव का अध्ययन एक बडा ही जटिल विषय है। कारण वह न केवल भौतिक–पाञ्चभौतिक ( Physical ) है, न भौतिक-रासायनिक-परिणाम ( Physico chemical product ) मात्र ही है। जगत् के अन्य जड ( अचेतन ) पदार्थों के समान इसका भौतिक संगठन नहीं, अत इसके स्वभाव में भी उनसे भिन्नता है। मानव एक परिपूर्ण चेतन-सृष्टि (Well-developed biological entity ) है। इसके संगठन में शारीरिक ( Physical ), मानसिक ( Mental ) तथा आत्मिक या चेतन ( Spiritual ) तत्त्व लगे

१ औषधग्रहणेन च सर्वपथ्यावरोध‌। चक्र० ( च सू० अ १ )

हुए हैं। इस प्रकार इसकी सत्ता शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक है। अतः इसके रोगों या विकारों का अध्ययन भी इन तीनों दृष्टियों से करना आवश्यक है।

आधुनिक विज्ञान 'मानव' को उसके भौतिक संगठन ( Physical constitution ) की दृष्टि से देखता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य के शारीरिक, जैव तथा मानसिक व्यापारों की सन्तोषजनक व्याख्या उसके भौतिक संघटकों के आधार पर की जा सकती है। वह भौतिक नियमों ( Physical laws ) को उक्त व्याख्या के लिए पर्याप्त समझता है। वह कहता है कि जगत् सम्पूर्ण भौतिक व्यापार एवं भौतिक नियमों से ही नियन्त्रित है। अतः उसके विचार से जगत् के सभी जड़ तथा चेतन-व्यापार या घटनाएँ उपर्युक्त भौतिक नियमों पर ही आधारित हैं।

जीव-विज्ञानी ( Biologist ), जिनका सम्बन्ध केवल जीवित या चेतन द्रव्यों के व्यापार से है, इन जैव व्यापारों का सम्बन्ध भौतिक शरीर से किस प्रकार है—यह बतलाने में सदा प्रयत्नशील रहते हैं। उनका कहना है कि किसी प्रकार की जैव घटना ( Biological event ) का, चाहे वह प्राणी के अन्दर होती हो अथवा उसके आस-पास, सम्बन्ध उसी प्रकार उस जीव से है, जिस प्रकार भौतिक घटनाओं का भौतिक द्रव्यों तथा भौतिक नियमों से होता है।

उपर्युक्त दोनों विचारधाराएँ मनुष्य के इस विशिष्ट तथा अपूर्व स्वरूप को भूल जाती हैं कि वह एक जीवमात्र नहीं, अपितु भौतिक ( Physical ), जैव ( Biological ) तथा मानसिक ( Mental ) घटनाओं का एक जटिल ( Complex ) समुदाय है। ये विविध घटनाएँ मानव के अन्दर अन्योन्याश्रित हैं और मानव उस परिस्थिति पर भी अपना प्रभाव जमाता है, जिसमें वह निवास करता है। ऐसे विचारक इस तथ्य का भी ध्यान नहीं रखते कि यह जीवित शरीर जीव ( चेतन ) का अधिष्ठान है। शरीर तो पाञ्चभौतिक विकारों का समुदाय है, जो समयोग-वाही कहा गया है[1]। प्राणी-शरीरों ( जीवित शरीरों ) में सम्पूर्ण क्रियाएँ या प्रयत्न किसी लक्ष्यविशेष से होते हैं। इन प्रयत्नों का लक्ष्य उनके अन्त से होनेवाले जीवन के साक्षी स्वरूप-वृद्धि, पूरण आदि से स्पष्ट होता है। ये प्रक्रियाएँ, जितने उच्च प्राणियों में होती हैं, उतने ही स्पष्ट रूप से वहाँ देखी जाती हैं।

प्राणधारियों में, विशेषकर उच्चवर्गीय प्राणधारियों—यथा मनुष्य में, यह स्पष्ट देखा जाता है कि वह अपने अभीष्टप्राप्त्यर्थ प्रयत्नशील होता है और इस

प्रयत्न मे उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त होती है। इन प्रयत्नो मे दो प्रयत्न मुख्य होते है—१ जैव व्यापार और २ अभीष्टान्वेषण। ये द्विविध प्रयत्न उन दो, स्वरूपों का सकेत करते हैं, जो अनेक प्रक्रियाओ का समुदाय होता है और जिन्हें हम केवल शारीरिक, मानसिक तथा शारीर-मानसिक नही कह सकते।

उपर्युक्त आलोचनात्मक विचारो से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त उभयविध आधुनिक विचारधारा मनुष्य की सर्वतोभावेन समीक्षा करने मे सफल नही है।

कर्मपुरुष का निरूपण करते समय भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने स्पष्ट किया है कि सत्त्व, आत्मा और शरीर ये तीनो तिपाई के सदृश हैं। इनके सयोग पर सचेतन सृष्टि स्थित है और इसी सयोग पर सब कुछ अवलम्बित है। 'इस सयोग मे सयुक्त को ही पुरुष, कर्म का समुदाय होने से कर्मपुरुष और २४ तत्त्वो की राशि होने से राशि-पुरुष कहते हैं। चेतन तथा अधिकरण भी इसीको कहते हैं। इसको जानने के लिए ही आयुर्वेद का प्रकाश हुआ है। इस वर्णन का बाह्यस्वरूप यद्यपि त्रिभागात्मक है, तथापि इसके तात्त्विक स्वरूप मे एकमात्र आत्मा ही मूलभूत एव स्वत सिद्ध पदार्थ है। यह अपनी त्रिपाद अमृतत्व अर्थात् पर-अवस्था मे निर्विकार है और एकाश प्रजापति-अवस्था मे इससे सत्त्व तथा शरीर संज्ञक भावो का आविर्भाव होता है। तात्त्विक भाषा में सत्त्व और शरीर शब्द ज्ञान और कर्म के वाचक हैं। ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनो ही आत्मनिष्ठ भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं। इनको चित्तवृत्ति तथा प्रवृत्ति भी कहते हैं। आत्मा के ज्ञाता और कर्त्ता होने के कारण सृष्ट्युत्पत्ति के समय वृत्तियाँ ही सत्त्व और शरीर मे परिणत होती हैं। यहाँ ज्ञातृत्व सर्वप्रथम तीन प्रकारो मे परिणत होता है। उन प्रकारो को शुद्ध, राजस और तामस कहते हैं। विशुद्ध व कल्याणयुक्त ज्ञान को शुद्ध, किञ्चित् अशुद्ध व दोषयुक्त ज्ञान को राजस और अशुद्ध तथा मोहाशयुक्त ज्ञान को तामस कहते हैं।[1] यही कर्तृत्व सर्वप्रथम त्रिधातुओ मे परिणत होता है। यद्यपि षड्धातुवाद के अनुसार चेतना-धातु का कर्तृत्व भूतगुणो मे अर्थात् अप्रतिघातकत्व, चलत्व, उष्णत्व, द्रवत्व और खरत्व मे परिणत होता है तथापि इस विषय मे पुनर्वसु आत्रेय प्रजापति-वाद के ही अनुयायी मालूम होते हैं। साथ ही यह भी मालूम होता है कि वे इन भूतगुणो का त्रिवृत्तकरण त्रिधातुओ मे ही करते हैं। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य विषय है कि इस सिद्धान्त मे आत्मा को और सत्त्व तथा शरीर के ज्ञातृत्व और कर्तृत्व को अर्थात् उक्त (त्रिगुण तथा त्रिधातु) प्रकारो को प्राण शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। जैसे—"अग्निर्वायु सोम , सत्त्वं रजस्तमः

१. 'तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्; तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्।' (च. शा. अ. ४)

( पञ्चेन्द्रियाणि ) भूतात्मेति प्राण." ( सु० शा० अ० ४ )। शरीर के प्रत्येक कर्म में ये प्राण ही रहते हैं।' इनका अन्यत्र भी 'प्राणा यत्र प्रतिष्ठिता' तथा प्राणाश्चाप्यवलम्बते' आदि पदों में समर्थन प्राप्त होता है। आगे चलकर यह भी कहा गया है कि इन प्राणों के सम्बन्ध को ही 'आयु' अथवा 'अनुबन्ध' कहा जाता है।[2] तात्पर्य यह कि पुनर्वसु आत्रेय के इस त्रिभागात्मक सिद्धान्त में आत्मा, सत्त्व और शरीर इन तीन शब्दों में आत्मा से प्राण, सत्त्व शब्द से त्रिगुण तथा शरीर शब्द से त्रिधातु अभीष्ट है। पुनर्वसु आत्रेय के अनुसार आत्मनिष्ठ ज्ञान व कर्म की वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होने के कारण इनमें अथवा त्रिगुण व त्रिधातुओं में जन्यजनक सम्बन्ध नहीं माना जाता है। अनात्मवादी ज्ञान अथवा सत्त्व को धातुपञ्चक का अथवा त्रिधातुओं का परिणाम कहते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि आत्मवादियों में भी एक सम्प्रदाय ऐसा था जो त्रिधातुओं से मन की उत्पत्ति मानता था। जैसे—श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि—"अग्निर्यत्राभिमथ्यते, वायुर्यत्राभियुज्यते, सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः"। ( श्वे० उ० अ० २, म० ६ ) इस मन्त्र से सिद्ध होता है कि यह सम्प्रदाय ज्ञान की वृत्तियों को जन्य और कर्म की वृत्तियों को जनक मानता था।

ठीक इसके विपरीत अर्थात् कर्म को जन्य तथा ज्ञान को जनक मानने वाले सम्प्रदाय भी थे। इनके मत से कर्तृत्व चेतना से भिन्न नहीं। अतः ये सृष्ट्युत्पत्ति का आरम्भ ज्ञान से अर्थात् त्रिगुणात्मिका बुद्धि से करते थे और त्रिगुणात्मक अहङ्कार से आकाशादि की उत्पत्ति का विधान करते थे। किन्तु पुनर्वसु आत्रेय को षड्धातुवाद का और प्रजापतिवाद का ही मत मान्य था। अतः ये त्रिगुण और त्रिधातु में जन्यजनक सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते। प्रायः इसी हेतु से इन्होंने एक तरफ ( गर्भावक्रान्ति में ) सत्त्व को केवल 'औपपादुक' सिद्ध किया तो दूसरी तरफ ( वातकलाकलीय परिषद् में ) त्रिधातुओं का जगदुत्पादकत्व स्वीकार करते हुए उनके सत्त्वजनकत्व का 'सर्व एव भवन्तः सम्यगाहुरन्यत्रैकान्तिकवचनात्' इस वचन से निषेध भी किया। सत्त्व और शरीर का पृथक्-पृथक् उल्लेख करना और धातु-प्रकृति व महाप्रकृति के भिन्न-उत्पादक कारणों का विवेचन करना भी यही अर्थ रखता है कि पुनर्वसु आत्रेय सत्त्व और शरीर में जन्यजनक भाव स्वीकार नहीं करते हैं।

त्रिभागात्मक-सिद्धान्तानुसार त्रिगुण व त्रिधातुओं में यद्यपि जन्यजनक सम्बन्ध

---

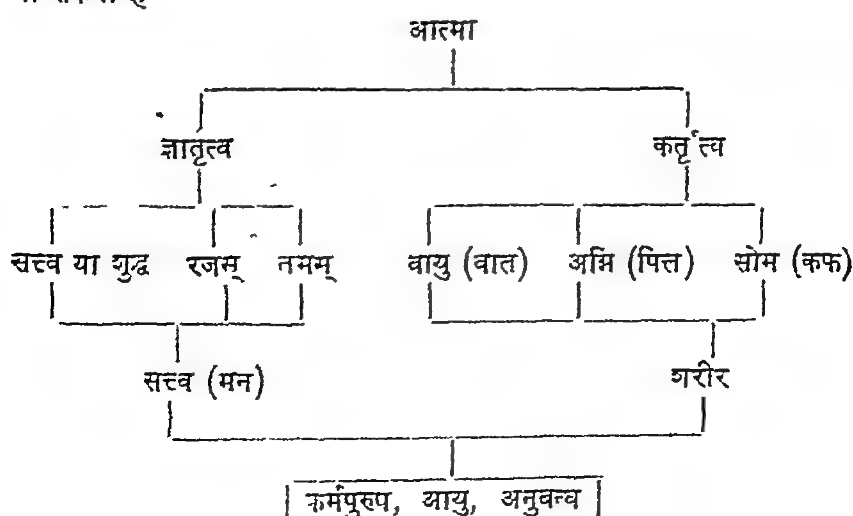
१. 'सोमसमाग्नितेजांसि रजः सत्त्व तमांसि च।
सर्वेषु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते॥' ( सु. शा. अ. ६ )

२. 'अनुबन्धस्तु खल्वायुः, तस्य लक्षणं प्राणैः सह संयोगः।' ( च. सू. अ. १२ )

स्वीकार नहीं किया जाता तथापि उनमें 'अन्योऽन्यानुविधायित्व' स्वीकार किया ही जाता है। क्योंकि त्रिगुणों के असंख्य प्रकारों पर विचार करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि—"तेषां तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदानामपरिसंख्येय तरतमयोगात्, शरीरयोनिविशेषेभ्यश्च, अन्योऽन्यानुविधानत्वाच्च शरीरमपि सत्त्व-मनुविधीयते सत्त्व च शरीरम् ।" ( च० शा० अ० ४ ) अर्थात् शरीर सत्त्व का अनुविधान करता है। सत्त्व और शरीर के इस अन्योऽन्यानुविधायित्व (Psycho-Somatic Parallition ) के कारण भिन्न-भिन्न योनिविशेष, अवयवरचना अथवा इन्द्रियरचनाविशेष तथा वयविशेष के अनुसार सत्त्व के प्रकारों में भी अनेक विशेषता उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त तरतम भाव से भी सत्त्व के अनेक प्रकार होते हैं। इसी प्रकार सत्त्व के अनुविधान से शरीर में भी अनेक विशेषतायें उत्पन्न होती हैं।

इस उपर्युक्त सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए ही आचार्य ने कहा है कि 'निर्विकार परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेष सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धि ।' ( च० शा० अ० ४ ) अर्थात् प्राणियों में जो विभिन्नता देखी जाती है वह सत्त्व और शरीर की विविधताओं तथा अन्योऽन्यानुविधान के कारण होती है। किन्तु आत्मा अपने परस्वरूप के कारण निर्विकार और एक सा रहता है। षड्धातुवादियों ने भी कहा है कि निर्विकार और पर-आत्मा नित्य होने से चैतन्य में कारण है और वह सत्त्वगुण, भूतगुण तथा इन्द्रियों के द्वारा सब व्यापारों को देखता है अर्थात् द्रष्टा है।[१]

इस त्रिभागात्मक सिद्धान्त को निम्ननिर्दिष्ट सारणी द्वारा अधिक समझा जा सकता है —




१ 'निर्विकार. परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियै.।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रिया ॥" ( च. सू. अ. १ )

पुनर्वसु आत्रेय ने जिन भावो की 'सम्पद्' तथा 'विपद्' को क्रमश पुरुष के आरोग्य तथा रोग का कारण या उत्पादक कहा है वे उनकी तात्त्विक भाषा मे त्रिगुण और त्रिधातु ही हैं। इनके अन्योऽन्यानुविधान से पाञ्चभौतिक द्रव्यों की, उनमे सूर्यादिलोको की, उन्हीं मे ऋतुओ की तथा ऋतुओ से रस ( षड्रस ), रस मे अन्न तथा ओषधि की, पुन अन्न से रेतस् ( शुक्र की ) तथा रेतस् से पुरुष की क्रमश उत्पत्ति होती है।

काशीपति वामक के प्रश्न का उत्तर देते हुए पुनर्वसु आत्रेय ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया है। यथा—हितकारक आहार का सेवन पुरुष के सुख ( आरोग्य ) की अभिवृद्धि मे, और अहितकारक आहार का सेवन पुरुष के रोग की अभिवृद्धि मे कारण है तथा आहार की सम्पदा-विपदा अर्थात हिताहितत्व मुख्यत आहारगत रसो व गुणो पर अवलम्बित है।[1]

**चिकित्स्य पुरुष का निरूपण**—आयुर्वेद-वाङ्मय मे सत्त्व ( मन ), शरीर ( पाञ्च-भौतिक सेन्द्रिय ) और शरीरी ( आत्मा ), इन तीनो के त्रिदण्ड ( तिपाये ) के समान सयोग से लोक या पुरुष का सगठन माना है। इस लोक पुरुष को ही चिकित्स्य पुरुष तथा कर्मपुरुष कहते हैं। यही चिकित्सा का अधिकरण माना गया है। कहा है कि चिकित्सा के सभी विषय इसी मे प्रतिष्ठित है और आयुर्वेद का प्रकाश भी इसी का आधार लेकर हुआ है।[2] सुश्रुत ने पंचमहाभूत और शरीरी ( आत्मा ) के समवाय को पुरुष ( कर्मपुरुष ) कहा है। उसी मे चिकित्सा की क्रिया सम्पन्न होती है क्योकि वही चिकित्सा का अधिष्ठान है।[3] इन्हे क्रमश त्रिधातुज पुरुष तथा षड्धातुज पुरुष भी कहा है। चतुर्विंशतिक पुरुष तथा राशिपुरुष भी इसे कहते हैं क्योकि—मन, दशेन्द्रियाँ, अर्थ = शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध अर्थात् पञ्चमहाभूत और अष्टधातुक ( पञ्चतन्मात्रा, अव्यक्त, महान् और अहकार ) प्रकृति मिलकर २४ तत्त्वो से यह बना या सयुक्त होता है।[4]

---

१ च सू. अ २५।

२ 'सत्त्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति सयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतन तच्च तच्चाधिकरण स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥' ( च. सू. अ. १ )

३. 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय. पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्।' ( सु. सू अ. १ )

४. ( i ) 'खादयश्चेतनाषष्ठा धातव पुरुष. स्मृतः।' ( च. शा १ )
( ii ) पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥

इस चतुर्विंशतिक राशिपुरुष या कर्मपुरुष मे ही कर्म, कर्मफल, ज्ञान, मोह, सुख, दुःख, जीवन, मरण आदि सभी प्रतिष्ठित हैं। जो इसको तात्त्विक रूप मे जानता है तथा इनकी शरीर-परम्परा, चिकित्सा तथा अन्य जो ज्ञातव्य हैं उनका ज्ञान रखता है वही वस्तुत प्रलय और उदय को जानने वाला ज्ञानी है।[1]

त्रिधातुक इस चिकित्स्य पुरुष के दो घटक अर्थात् शरीर और मन ही व्याधि के आश्रय हैं। आत्मा तो निर्विकार है, वह रोग का आश्रय नही। अत. रोगाश्रय, शरीर और मन का ज्ञान चिकित्सक के लिए परमावश्यक है।[2]

शरीर का शाब्दिक अर्थ पहले किया जा चुका है तथा यह भी बतलाया गया है कि इस शब्द से शरीर मे अहर्निश होने वाली सहार-व्यवस्था का सकेत होता है। शरीर क्या है ? इसकी रचना किस प्रकार हुई है ? इसके प्रकृत व्यापार क्या हैं ? ये प्रकृत कर्म या व्यापार किस प्रकार अबाधरूप से चलते रहते हैं ? तथा इसमे किसी प्रकार की विकृति क्यो और कैसे आती है ? तथा इन विकृतियो का क्या प्रतिकार है इत्यादि बातो की जानकारी चिकित्सक के लिए एक परम आवश्यक है। इनके साथ साथ मन की रचना, स्थिति और इसके स्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मन शरीर मे किस प्रकार रहता है, इसका शरीर तथा शरीर के विविध अवयवो के व्यापार के साथ कैसा सम्बन्ध है ? मन की सहायता बिना इन्द्रियाँ तथा अन्य शरीरावयव अपने व्यापार को सम्पन्न करने मे समर्थ हैं या नही ? इनका व्यापार स्वतन्त्र है या मन के अधीन ? मन किस प्रकार विकृत होता है और मन की विकृति से शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है ? शरीर और मन का तथा शारीर और मानस व्याधियो का किस प्रकार निर्णय किया जा सकता है, और इनके प्रतिकार मे क्या विशेषता है ? इत्यादि बातो का विवेचन करना परमावश्यक है। आचार्य ने कहा भी है कि जो चिकित्सक सर्वदा सब प्रकार से शरीर के सम्पूर्ण गति-

---

(iii) बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विपायोगधर परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसज्ञक ॥ (च शा १)

१. अत्र कर्मफल चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुख दुःख जीवित मरण स्वत ॥
एव यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ।
पारम्पर्यं चिकित्साञ्च ज्ञातव्य चात्र किञ्चन ॥ (च. शा. १)

२ शरीर सत्त्वसज्ञ च व्याधीनामाश्रयो मत.।
निर्विकार. परस्त्वात्मा ... ॥ (च सू १)

विधियो को जानता है वही ससार को सुख देनेवाले आयुर्वेद को सम्पूर्णतया जानता है।[1] आगे चलकर आचार्य ने कहा है कि जो तत्त्वज्ञानी चिकित्सक ज्ञानबुद्धिरूप दीपक को लेकर रोगी की अन्तरात्मा मे प्रवेश नही करता, वह रोगो की चिकित्सा मे सफल नही हो सकता। अत चिकित्सा के जिज्ञासुओ को प्रथम शरीर और मन की रचना तथा उसके विविध प्रकृत-व्यापारो तथा विकृतियो की जानकारी परमावश्यक है। शरीर की रचना तथा प्रकृत-व्यापार इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय नही, अत. उसका सकेत मात्र ही पर्याप्त है। इसका ज्ञान चिकित्सक को आकर-ग्रन्थ मे करना चाहिए।

**चिकित्सा भेद**—चिकित्स्य-पुरुष के निरूपण के पश्चात् चिकित्सा के सामान्य स्वरूप का विवेचन किया जायगा। आयुर्वेद मे सर्वप्रथम काय-चिकित्सा के दो विभाग किये गये हैं, जैसे (१) स्वस्थस्योर्जस्कर और आर्त्तस्य रोगनुत्।[2] स्वस्थस्योर्जस्कर चिकित्सा को प्रतिषेधात्मक-चिकित्सा (Parphalactic treatment), स्वास्थ्य-विधान तथा स्वस्थवृत्त (Hygiene) भी कहते हैं। इस विधान मे दो प्रकार के कार्य होते है। (१) शरीर को इस प्रकार बनाये रखना जिससे उसकी प्रकृति-रक्षिणी (Immunity) तथा जीवनी-शक्ति (Vitality) अक्षुण्ण बनी रहे और उसके प्रकृत-कार्य (Normal function), अनवरत अबाधरूप से चलते रहे। यह कार्य स्वस्थ आहार-विहार के अनुसरण से होता है। स्वस्थ आहार-विहार स्वास्थ्यप्रद होने से हमे सदा आरोग्य प्रदान करता है तथा भाविरोगो से बचने की हममे क्षमता उत्पन्न करता है। यह कार्य रसायन-सेवन से भी सम्पन्न होता है। शारीर-धातुओ के लाभ के उपाय का नाम रसायन है।[3] अर्थात् शरीर के जो प्रशस्त (साम्यावस्था मे स्थित) रस प्रभृति धातुये है उनके लाभ (पुष्टि) के उपाय को ही 'रसायन' कहते हैं। शारीर-धातुओ की पुष्टि होने से 'दीर्घायु' प्राप्त होता है।

---

१ (i) 'सर्वदा सर्वथा सर्वं शरीर वेद यो भिषक्।
आयुर्वेद स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥
(ii) ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो ना विशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मान न स रोगांश्चिकित्सति॥'

२ च चि. अ १।

३. (i) 'भेषज द्विविध मतम्। स्वस्थस्योर्जस्कर किञ्चित्, किञ्चिदार्त्तस्य रोगनुत्।' (च. चि अ. १)
(ii) 'लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्।' (च. चि अ. १)
(iii) स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्य तद्रसायनम्। (च चि अ. १)

संहिता-ग्रन्थो के अवलोकन से यह ज्ञात होगा कि अनेक ऋषियो ने रसायन का सेवन कर 'दीर्घायु' या 'दीर्घजीवन' प्राप्त किया। दीर्घायु से युग-प्रमाणोचित आयु का ग्रहण है।[1] दूसरे स्वस्थस्योर्जस्कर विधान को 'वृष्य विधान' कहते हैं। इस विधान मे मनुष्य के पुंस्त्व-शक्ति को परिपुष्ट एव परिवृद्ध करने के उपाय वर्णित हैं। ससार को समृद्ध करने के लिए प्रजनन कार्य का अबाध रूप मे चलते रहना भी आवश्यक है। यह कार्य मानव-समाज मे शुक्र और शोणित ( वीर्य तथा रज ) के ऋतुकाल मे तथा शुद्ध-गर्भाशय मे सयोग से होता है। उक्त शुक्र तथा शोणित पुरुष तथा स्त्री के प्रजननेन्द्रियो के द्वारा उक्त गर्भाशय तक पहुँचता है। शुक्र तथा शोणित का निर्माण पुरुष तथा स्त्री के प्रजननेन्द्रियो अथवा प्रजननावयवो मे एक विशिष्ट स्थान पर होता है। जिन स्थानो पर ये पुंबीज तथा स्त्रीबीज निर्मित होते हैं उनका भी पोषण हमारे आहार-रस से ही होता है। यदि उनका पोषण उपर्युक्त रूप से न हो तो ये अवयव पोषण के अभाव मे उक्त वीर्य तथा रज को बनाने मे समर्थ नही हो सकते। अत उनका उचित रूप मे पोषण होते रहना परमावश्यक है।

प्रजननार्थ जब स्त्री-पुरुष मिथुनकर्म मे प्रवृत्त होते हैं तथा उनके परस्पर सम्पर्क मे आने से काम-प्रवृत्ति होती है और उस कामोत्तेजन से सम्पूर्ण शरीर मे स्थित पोषक वीर्य ( शुक्र ) रक्त द्वारा परिवाहित होकर उक्त प्रजननावयवो मे प्राप्त होता है और वे वहाँ पुंबीज तथा स्त्रीबीज से सम्पन्न होकर प्रजननेन्द्रियो द्वारा उपर्युक्त गर्भाशय-मुख मे क्षरित होते हैं। यहाँ इस तथ्य पर ध्यान रखना परमावश्यक है कि स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्पर्क मात्र से ही सुरत-कर्म सम्पन्न नही हो जाता। इस सम्पर्क मे कामुकता तथा प्रहर्ष का होना परमावश्यक है। वृष्य विधान मे यह बतलाया गया है कि किस प्रकार या किन उपायो से कामुकता तथा प्रहर्ष होता है। इसके अतिरिक्त क्षरित शुक्र के पूर्ति तथा पोषण के विधान भी वर्णित हैं। अर्थात् वृष्यविधान मे शुक्रवर्धक, कामोत्तेजक, प्रहर्षजनक तथा शुक्ररेचक आहार एवं औषधो का वर्णन है। मानव-समाज मे सन्तान-हीन होना मनुष्य के लिए अति अपमानजनक माना गया है। शास्त्रकारो ने सन्तान-हीन की बडी भर्त्सना की है। अत सन्तानवान् होना भी मानव के लिए परमावश्यक

---

१. 'यथाऽमराणाममृत यथा भोगवतां सुधा।
तथाऽभवन्महर्षीणा रसायनविधि· पुरा ॥
न जरा न च दौर्बल्य नातुर्यं निधन न च।
जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपरा· पुरा ॥'
( च. चि. अ. १ )

है।[1] इस प्रकार स्वस्थस्योर्जस्कर चिकित्सा के (१) रसायन और (२) वृष्य (वाजीकरण) विधान का संक्षेप मे दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया गया है। विस्तारपूर्वक यथास्थल वर्णन किया जायगा।

चिकित्सा का दूसरा विभाग 'आर्त्तस्य रोगनुत्' है। इसे रोगनिवारक, रोगप्रशमक तथा रोगोन्मूलनात्मक चिकित्सा (Curative Treatment) भी कहते हैं। यह चिकित्सा पुनः तीन विभागो मे विभक्त है, यथा—(१) दैवव्यपाश्रय, (२) युक्तिव्यपाश्रय और (३) सत्त्वावजय। इनमे दैवव्यपाश्रय चिकित्सा वह है जिसमे मणि, मंगल, बलि, उपहार, मन्त्र, होम, जप आदि विधानो से रोग को दूर करने का विधान रहता है। युक्ति-व्यपाश्रय चिकित्सा मे आहार, औषध एवं अन्य आभ्यन्तरिक तथा बाह्य प्रयोगो द्वारा रोगोन्मूलन तथा रोगशमन का विधान होता है। ज्ञान, विज्ञान धी, धैर्य, समाधि के द्वारा मन पर नियन्त्रण करने तथा अहित अर्थ से उसे बचाये रखने के विधान को सत्त्वावजय चिकित्सा कहते हैं।[2] सत्त्वावजय चिकित्सा को आधुनिक विज्ञान मनोवैज्ञानिक-चिकित्सा (Psycho-therapy) कहता है। इस विषय पर आजकल पाश्चात्त्य देशो मे पर्याप्त अनुसंधान हो रहा है।

युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के तीन उपविभाग हैं, यथा—(१) अन्तःपरिमार्जन, (२) बहिःपरिमार्जन और (३) शस्त्रप्रणिधान। धन्वन्तरि-सम्प्रदाय वालों ने युक्ति-व्यपाश्रय चिकित्सा को चार भागो मे विभक्त किया है, यथा—(१) आचार, (२) आहार, (३) संशोधन और (४) संशमन।[3] इन दोनों विभागो मे कोई वास्तविक भेद नही—केवल दृष्टिकोण का भेद है। यह भेद अधोनिर्दिष्ट सारिणी से स्पष्ट हो जायगा :—

---

१. अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः॥
चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसंनिभः।
निष्प्रजस्तृणपूलीति मन्तव्यः पुरुषाकृतिः॥
अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना।
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते॥
(च. चि अ. २-१)

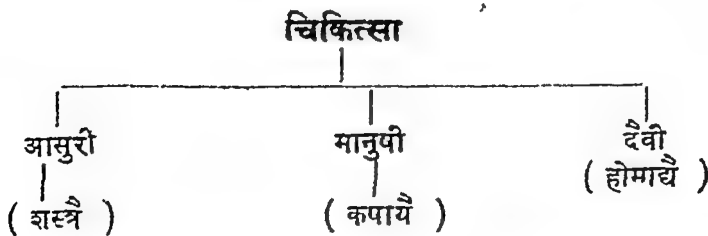
२ 'त्रिविधमौषधमिति-दैवव्यपाश्रयम्, युक्तिव्यपाश्रयम्, सत्त्वावजयश्च। तत्र दैवव्यपाश्रयम्-मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि, युक्तिव्यपाश्रय-पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना, सत्त्वावजयः-पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः।' (च. सू. अ. ११।५४)

३. 'तेषां संशोधनसंशमनाहाराचाराः सम्यक् प्रयुक्ता निग्रहहेतवः।'
(सु. सू. अ. १)

**भेषजं द्विविधं मतम्**

- स्वस्थस्योर्जस्करम्
  - वृष्यम्
  - रसायनम्
- आर्तस्य रोगनुत्
  - दैवव्यपाश्रय
  - युक्तिव्यपाश्रय
    - आचार
      - कायवाङ्मन कर्म
        - चेष्टा च दृष्टफला
    - आहार
      - षड्रसादि
        - आहारद्रव्य
    - संशोधन
      - पञ्चकर्म
        - अन्त परिमार्जन
      - शस्त्रकर्म
        - शस्त्रप्रणिधान
    - संशमन
      - दीपन पाचनादि
      - आलेपन ( स्नेहनादि )
      - मणिधारणादि
        - (आलेपन, मणिधारणादि) वहि परिमार्जन
  - सत्त्वावजय

पुन: उक्त सभी चिकित्सा विधानो को उनके कर्मो की दृष्टि से तीन भागो मे विभक्त किया गया है, जैसे —




यह विभाजन बौद्ध-कालीन प्रतीत होता है क्योकि इसमे शस्त्रक्रिया को आसुरी चिकित्सा कहा है।

**चिकित्सा के पर्याय**—चरक संहिता मे ( १ ) व्याधिहर, ( २ ) पथ्य, ( ३ ) साधन ( ४ ) औषध, ( ५ ) प्रायश्चित्त, (६) प्रशमन, (७) प्रकृतिस्थापन

तथा ( ८ ) हित, चिकित्सा के पर्याय कहे हैं।[१] इनमें चिकित्सा की व्याख्या कर चुके है। व्याधिहर का अर्थ है रोग को नष्ट करने वाले उपाय।[२] पथ्य का शाब्दिक अर्थ है पथ ( स्रोतो ) के लिए हितकर अर्थात् स्वास्थ्य के लिए हितकर।[३] साधन का अभिप्राय वे उपाय हैं, जिनसे रोग तथा रोग के कारणों को दूर किया जाता है।[४] औषध का शाब्दिक अर्थ है ओषधियों से निष्पन्न तथा रोग को निगल जानेवाला।[५] पाप ( रोग ) के शोधन को प्रायश्चित्त कहते हैं।[६] जिससे रोग शान्त हो उसे प्रशमन कहा जाता है।[७] विकृत दोषों को प्रकृतावस्था में लाना प्रकृतिस्थापन कहलाता है।[८] जो शरीर का पोषक हो उसे हित कहते हैं।[९] इस प्रकार इन सभी पर्यायों का एक ही अर्थ है[१०] भेषज का शाब्दिक अर्थ रोगरूपी भय को जीतनेवाला है।

चिकित्सा के सामान्य स्वरूप का दिग्दर्शन कराकर चिकित्सा के द्वितीय विवेच्य विषय पर विचार करना आवश्यक है अर्थात् चिकित्स्य पुरुष के विवेचनानन्तर 'व्याधि' पर विचार करना आवश्यक है।

**व्याधि**—इसका शाब्दिक अर्थ बन्धन है। इसका निर्वचन करते हुए कहा है कि इसके प्रतिकारार्थ मन विशेष रूप से प्रयत्नशील होता है अत इसका नाम व्याधि है।[११] बन्धन मे जब मनुष्य आ जाता है तब वह नानाप्रकार के दु खो से घिर जाता है। चक्रपाणिदत्त ने इस अर्थ के द्योतन करने के लिए ही इसका निर्वचन "विविध दु खमादधातीति व्याधि" ऐसा किया है। सुश्रुत में दु ख के सयोग को अर्थात् जब पुरुष ( कर्मपुरुष ) का दु ख के साथ

---

१ 'चिकित्सित व्याधिहर पथ्य साधनमौषधम्।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापन हित तत् ॥' ( च. चि अ. १-३ )

२. व्याधिहरम्-व्याधिं हरति-इति व्याधिहरम्।

३ ( i ) पथ्यं पथोऽनपेत यद्यच्चोक्त मनसः प्रियम्। ( च. सू अ १५ )
( ii ) पथ्य पथिषु स्रोत सु हितम्। ( गंगाधर. )

४ साधन-प्रकरणाद् रोगा- साध्यन्ते निर्वर्त्यन्तेऽनेन-इति साधनम्।

५ ओषध्यादिभि' निष्पन्नमभिहित यत् तत् औषधम्।

६. प्रायस्य पापस्य चित्त शोधन यस्मात् तत् प्रायश्चित्तम्।

७ प्रकर्षेण शमयति येन तत् प्रशमनम्।

८. प्रकृतौ स्थापनमिति प्रकृतिस्थापनम्।

९ हित पोषकत्वात्। १०. भेष रोगभय जयतीति भेषजम्।

११ ( i ) व्याधि. ( वि+आ+धा+कि ) विशेषेण आधीयते अभिनिवेश्यते प्रतिकाराय मनोऽनेनेति व्याधि। बन्धने ( शब्दस्तोमः )
( ii ) 'विविध दु खमादधातीति व्याधि।' ( चक्र. च. नि. १-५ )

सयोग होता है तो उसे व्याधि कहते है ऐसा वर्णन उपलब्धहोता है।[1] योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने प्रतिकूलवेदना को दुःख कहा है।[2] व्याधि का दूसरा नाम रोग है जो 'रुज्' धातु मे 'घञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है। 'रुज्' धातु कष्टोत्पादन के अर्थ मे व्यवहृत होता है। इस प्रकार व्याधि, दुःख, प्रतिकूलवेदना, और रोग ये सब पर्याय है। इनके पर्याय मे विकार, आमय, गद, आतङ्क, ज्वर और यक्ष्मा शब्द भी कहे गये हैं।[3]

विकार शब्द से शरीर तथा मन के विकार का ग्रहण है। शरीर और मन जब अपने प्रकृत अवस्था का अनुभव नहीं करते अर्थात् अस्वस्थता का अनुभव करते हैं तब उसे विकार कहा है।[4] रोग प्रायः आम दोष से उत्पन्न होते हैं अतः उन्हें 'आमय' कहते हैं।[5] 'गद' शब्द रोगवाची है। जीवित को दुःखी करने मे अर्थात् कृच्छ्रजीवन करने मे इन्हें 'आतङ्क' कहते है। 'आ' पूर्वक तकि-कृच्छ्रजीवने से घञ् प्रत्यय लगाने पर आतङ्क शब्द बनता है। देह तथा मन को सन्तप्त करने मे यह ज्वर कहलाता है। यक्ष्म शब्द रोग-समूह का वाचक है।[6]

आयुर्वेद-वाङ्मय मे दोषवैषम्य अर्थात् दोषो की विषमावस्था का नाम 'रोग' है। दोष से यहाँ शारीर तथा मानस दोनो दोषो का ग्रहण है। शारीर दोष—वात, पित्त और कफ है। मानस दोष रज और तम है —

> वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
> मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥ (च० सू० १)

ये (वात पित्त, कफ) शारीरदोष तथा (रज और तम) मानसदोष जब समावस्था मे अर्थात् प्रकृतरूप मे रहते हैं तो शरीर को धारण करने से धातु कहलाते हैं और शरीर इस अवस्था मे स्वस्थ तथा रोगरहित रहता है।[7] स्वस्थ पुरुष के लक्षण मे भी इसका संकेत किया गया है। चिकित्सा की परिभाषा मे भी कहा

---

१. व्याधि—तद्दुःखसंयोगो व्याधय इति (सु. सू. १)
२ ,, तत्र प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् (योगदर्शन)
३ ,, तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्। (च. नि, अ. १)
४. ,, विकारो धातुवैषम्यम् 'विकारो दुःखमेव वा' (च. सू. अ. ९-४)
५ ,, प्रायेणामसमुत्थत्वेनामय इत्युच्यन्ते' चक्र (च. नि. १)
६. आतङ्क इति दुःखयुक्तत्वेन कृच्छ्रजीवनं करोति—'आतङ्क कृच्छ्रजीवने' (च. नि. १)
७ (i) 'शरीरधारणाद् धातवः', 'धातवो देहधारणात्' (शा. पू. अ. ५)
(ii) 'साम्यं प्रकृतिरुच्यते' (च. सू. अ. (९-४)

है कि दोषो तथा धातुओ को साम्यावस्था मे लाना ही चिकित्सा है। अत. धातु तथा दोषो की विषमावस्था का नाम रोग या व्याधि है।

**व्याधि की सम्प्राप्ति**—रोगोत्पत्ति की पाँच अवस्थाएँ होती है। अर्थात् रोग को उत्पन्न करने मे इन उपर्युक्त दोषो को सामान्यत पाँच अवस्थाओ मे पार होना होता है। शरीर मे जब अपने कारणो मे दोषो का सञ्चय होता हैं और उनका प्रतिकार नही होता तो व प्रकोपावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। पुन प्रतिकार के अभाव मे ये प्रकुपित दोष शरीर के विविव स्रोतो मे परिधावन ( प्रसर ) कहते हैं। स्रोतो मे जहाँ वैगुण्य होता है वहाँ उनका उक्त वैगुण्य-वश सग ( स्थानसश्रय ) हो जाता है। यह रोगाभिव्यक्ति की पूर्वरूपावस्था होती है। इसके प्रतिकार न होने मे रोगाभिव्यक्ति अर्थात् दोष तथा स्रोतो के वैगुण्यानुसार रोग या व्याधि की अभिव्यक्ति हो जाती है।[1] इन उपर्युक्त रोगोत्पत्ति की अवस्थाओ को 'क्रियाकाल' अर्थात् चिकित्सा या प्रतिकार का काल ( समय ) कहा गया है। इस क्रियाकाल का वर्णन यथास्थल किया जायगा। ये व्याधि या रोग तीन प्रकार के होते हैं, जैसे ( १ ) आध्यात्मिक, ( २ ) आधिदैविक और ( ३ ) आधिभौतिक। पुन उत्पत्ति के अनुसार ये सात प्रकार के हैं·—

**तच्च दुःखं त्रिविधम्**[2]

- आध्यात्मिकम् (Pertaining to Spirit)
  - आदिवलप्रवृत्तम्
  - जन्मवलप्रवृत्तम्
  - दोषवलप्रवृत्तम्
- आधिदैविकम् (Provdential)
  - कालवलप्रवृत्तम्
  - दैववलप्रवृत्तम्
  - स्वभाववलप्रवृत्तम्
- आधिभौतिकम् (Bodily)
  - सघातवलप्रवृत्तम्

१. **आदिवलप्रवृत्त** ( Hereditory )—ये शुक्र-शोणित के विकार से उत्पन्न होने वाले हैं जैसे कुष्ठ, अर्शप्रभृति ये भी पुन दो प्रकार के होते हैं—( १ ) मातृज और ( २ ) पितृज। अर्थात् माता-पिता के शोणित ( रज ) और शुक्र ( वीर्य ) के विकार से उत्पन्न। माता के रजकोपाणु ( Ovum )

---

१. कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र सङ्गः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते॥' ( सु. सू. अ. २४ )

२. सु सू. अ. २४।

तथा पिता के शुक्रकोषाणु ( Spermatozoa ) अपने अन्दर आनुवंशिक रोग के दोष साथ लाते हैं। कोशापुञ्जों ( Cells ) के अन्दर जो केन्द्रक ( Nucleus ) होते हैं, उन्हें आयुर्वेद-वाङ्मय में बीजभाग कहा गया है। इस बीजभाग ( केन्द्रक ) के जो घटक हैं उसे 'बीजभागावयव' या क्रोमोसोम ( Chromosom ) कहते हैं। ये माता-पिता के गुण-दोष के वाहक होते हैं।[1]

२. जन्मबलप्रवृत्त ( Congenital )—ये माता-पिता के अपचार ( गर्भकालीन अपचार ) से उत्पन्न होने वाले सहज विकार हैं, जैसे—पंगु, जात्यन्धप्रभृति। ये भी दो प्रकार के होते हैं, जैसे—( १ ) रसकृत और ( २ ) दौहृदापचारकृत्। रसकृत वे होते हैं जो माता के मिथ्या आहार-विहार के कारण उत्पन्न होते हैं। गर्भिणी के गर्भकाल में जो इच्छायें ( आहार-विहार सम्बन्धी ) उत्पन्न होती हैं उन्हें 'दौहृद' कहते हैं। इस इच्छा की पूर्ति न होने से तथा उनका आहत होना 'दौहृद' का अपचार कहलाता है। इस अपचार के प्रभाववश जो विकृति गर्भस्थ शिशु पर होती है उन्हें दौहृदापचारज कहते हैं।[2]

३. दोषबलप्रवृत्त ( Functional )—यह भी शारीर और मानस के भेद से दो प्रकार का होता है। जो शारीर-दोषों के वैषम्य से उत्पन्न होते हैं उन्हें शारीर व्याधि तथा जो मानस दोषों के वैषम्य से उत्पन्न होते हैं उन्हें मानस व्याधि कहते हैं। शारीर व्याधियाँ पुनः ( १ ) आमाशयसमुत्थ और ( २ ) पक्वाशयसमुत्थ के भेद से दो विभागों में विभक्त हो जाती हैं और मानस व्याधियाँ भी ( १ ) राजस और ( २ ) तामस के भेद से दो प्रकार की होती हैं।[3]

४. कालबलप्रवृत्त ( Seasonal )—जो व्याधि दिन, रात, मास, ऋतु, अयन तथा सम्वत्सर के प्रभाव से उत्पन्न होती है उसे 'कालबलप्रवृत्त

---

१ ( i ) 'तत्र आदिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः, तेऽपि द्विविधा—मातृजाः, पितृजाश्च' ( सु. सू. अ. २४-५ )

( ii ) 'यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे, बीजभागावयवे वा, दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, न तमवयवं विकृतिराविशति।' ( च. शा. ४-३० )

२. 'जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पङ्गु-जात्यन्ध-बधिर मूक मिन्मिन वामनप्रभृतयो जायन्ते। तेऽपि द्विविधाः—रसकृताः, दौहृदापचारकृताश्च।' ( सु. सू. २४-५ )

३. ( i ) दोषबलप्रवृत्ता ये आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारकृताश्च तेऽपि द्विविधा, आमाशयसमुत्थाः, पक्वाशयसमुत्थाश्च। पुनश्च द्विविधाः—शारीरा मानसाश्च।' ( सु. सू. अ. २४-५ )

( ii ) 'मानसा अपि द्विविधाः—राजसाः तामसाश्च, त एते आध्यात्मिकाः।' ( सु. सू. अ. २४ )

व्याधि' कहते है। अर्थात् ऋतुकृत शीतोष्ण वर्षा के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली व्याधियो को कालबलप्रवृत्त कहा गया है। ये भी दो प्रकारो मे विभक्त हो जाती है, जैसे—( १ ) व्यापन्नऋतुकृत और ( २ ) अव्यापन्नऋतुकृत। विकृत ऋतुओ के प्रभाव से उत्पन्न व्याधियां व्यापन्नऋतुकृत कहलाती है तथा अव्यापन्न ( प्रकृत ) ऋतुओ के प्रभाव से स्वाभाविक रूप मे दोषो का सञ्चय प्रकोपादि हो जो व्याधियां उत्पन्न होती है उन्हे अव्यापन्नऋतुकृत कहते है।[1]

५. दैवबलप्रवृत्त ( Providential )—व्याधियां वे है जो देवता प्रभृति के अभिद्रोह के कारण अभिशापो से एवं अथर्वणकृत उपसर्गों के कारण होती हैं। ये भी दो प्रकार की होती है। जैसे—( १ ) विद्युदशनिकृत तथा ( २ ) पिशाचादिकृत। पुनः ये दो प्रकार की होती है, जैसे—( १ ) संसर्गज और ( २ ) आकस्मिक।[2]

६ स्वभावबलप्रवृत्त ( Natural or Habitual )—जो व्याधियां मानव शरीर मे स्वभाव से ( शरीर मे बिना किसी विकृति के उत्पन्न हुए ) उत्पन्न होती है, जैसे—क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रा, प्रभृति इन्हे स्वभावबलप्रवृत्त कहते हैं। ये भी पुनः दो प्रकार की होती है, जैसे—( १ ) कालकृत और ( २ ) अकालकृत। इनमे परिरक्षणार्थ प्रयत्न करने पर भी उचित समय पर उत्पन्न होने वाली क्षुधाप्रभृति कालकृत तथा अपरिरक्षण से अनुचित या असमय पर होने वाली अकालकृत कहलाती है।[3]

७. संघातबलप्रवृत्त (Accidental or Traumatic)—ये व्याधियां आगन्तुक होती हैं। जब दुर्बल मनुष्य अपने से बलवान् पुरुष के साथ विग्रह करता है तब प्रहार आदि से उत्पन्न होती हैं। ये भी दो प्रकार की होती हैं, जैसे—शस्त्रकृत और ( २ ) व्यालादिकृत।[4]

---

१ 'कालबलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षातपप्रभृतिनिमित्ताः तेऽपि द्विविधाः—व्यापन्नर्तुकृता, अव्यापन्नर्तुकृताश्च। ( सु सू अ २४-७ )

२ 'दैवबलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिशप्तका अथर्वणकृता उपसर्गजाश्च। तेऽपि द्विविधा—विद्युदशनिकृताः पिशाचादिकृताश्च। पुनश्च द्विविधाः—संसर्गजाः, आकस्मिकाश्च।'
( सु. सू अ २४-७ )

३ 'स्वभाव-बलप्रवृत्ता ये क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः। तेऽपि द्विविधाः—कालजाः, अकालजाश्च। तत्र परिरक्षणकृताः कालजाः अपरिरक्षणकृता अकालजाः। एते आधिदैविकाः' ( सु सू २४-७ )

४ 'संघातबलप्रवृत्ता'—ये आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात्; तेऽपि द्विविधाः—शस्त्रकृता व्यालकृताश्च, एते आधिभौतिकाः।' ( सु सू अ २४-६ )

१— आदिबलप्रवृत्ता

- मातृजा
- पितृजा

२— जन्मबलप्रवृत्ताः

- रसकृता
- दौहृदापचारजा

३— दोषबलप्रवृत्ताः

- शारीरा
  - आमाशयसमुत्था
  - पक्वाशयसमुत्था
- मानसा
  - राजसा
  - तामसा

४— कालबलप्रवृत्ताः

- अव्यापन्नर्तुकृता
- व्यापन्नर्तुकृता

५— दैवबलप्रवृत्ताः

- विद्युदशनिकृता
- पिशाचादिकृता

६— स्वभावबलप्रवृत्ताः

- कालकृता
- अकालकृता

७— संघातबलप्रवृत्ताः

- शस्त्रकृता
- व्यालकृता

इस प्रकार सभी व्याधियाँ उपर्युक्त सात प्रकारो मे सगृहीत हो जाती है। इन सातो प्रकारो में, प्रथम दो प्रकार अर्थात् आदिबल प्रवृत्त और जन्मबल-प्रवृत्त, जन्म के पूर्व विकारो के होने से प्राग्-जन्मज ( Antinetal ) कहलाती हैं। शेष पाँच जन्मोत्तरकालीन होने से जन्मोत्तरज ( Post-netal )

कहलाती हैं। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञों ने भी इस प्रकार का वर्गीकरण किया है जो अत्रोनिर्दिष्ट है —

Descases ( व्याधियाँ )

- Antinetal ( प्राग्जन्मज )
  - Heriditory ( आनुवंशिक )
  - Congenital ( सहज )
- Post-Netal ( जन्मोत्तरज )
  - Chemical or Due to Metabolic Disturbances ( रासायनिक या धातुपाक विकारज )
  - Mechanical ( यान्त्रिक )
  - Physical ( भौतिक )
  - Parasitic ( कीटाणुजन्य )

ये सभी व्याधियाँ पुन तीन भागों में विभक्त की गई हैं। जैसे—( १ ) दृष्टापचारज—ये दोषोत्थ ( अर्थात् शारीर तथा मानस दोषों के वैषम्य से उत्पन्न ) होती हैं। ( २ ) पूर्वापराधज—ये पूर्वजन्मकृत अपराधों के परिणाम-स्वरूप इस जन्म में होती हैं और ( ३ ) संकरज अर्थात् जो दोनों प्रकार के कर्मों का परिणामस्वरूप हो।[1] पुन. इन्हें चार भागों में विभक्त किया है। जैसे—

व्याधयश्चतुर्विधाः

- आगन्तव ( अभिघातनिमित्ता )
- अन्नपानमूला वात-पित्त-कफ शोणित-सन्निपातवैषम्य-निमित्ताः।
- मानसा क्रोध-शोक-भय-हर्ष-विषादेर्ष्याऽभ्यसूया-दैन्य-मात्सर्य-काम-लोभ-प्रभृतय इच्छा-द्वेष-भेदैर्भवन्ति।
- स्वाभाविका क्षुत्पिपासा-जरा-मृत्यु-निद्राप्रभृतय.।

---

१ 'दृष्टापचारजः कश्चित् कश्चित्पूर्वापराधजः।
तत्संकराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा स्मृत.॥
यथा निदानं दोषोत्थः कर्मजो हेतुभिर्विना।
महारम्भोऽल्पके हेतावन्यको दोषकर्मज ॥' ( म ह. सू. १२-५६, ५७ )

'ये व्याधियाँ पुन सामान्यज और नानात्मज के भेद से दो प्रकार की होती हैं। सामान्यज व्याधियाँ वे हैं जो वातादि दोषो से पृथक्-पृथक् तथा मिलित ( वात-पित्त, वात-कफ, पित्त-कफ तथा सन्निपात ) दोषो से उत्पन्न होती है। नानात्मज व्याधियाँ किसी एक दोष से ही उत्पन्न होती है। इनकी उत्पत्ति मे अन्य दोष का आरम्भकत्व नही होता है। जैसे—सक्षेप मे ८० वातविकार ४० पित्तविकार और २० श्लेष्मविकार जिनका दिग्दर्शन चरक के सूत्रस्थान महारोगाध्याय मे किया गया है। यहाँ आविष्कृततम व्याधियो का ही वर्णन है।'[1]

'यो तो रुक्-सामान्य से सभी व्याधियाँ एक ही प्रकार की हैं। फिर भी कारणो के अनुसार इनके चार भेद होते हैं। जैसे—( १ ) आगन्तुज, ( २ ) वातज, ( ३ ) पित्तज और ( ४ ) श्लेष्मज। इनमे वात-पित्त-कफ से उत्पन्न व्याधियो को निज और दूसरे को आगन्तुज कहते हैं। इनके दो अधिष्ठानो का अर्थात् मन और शरीर का पहले संकेत कर चुके हैं। इस प्रकार अधिष्ठान भेद से ये दो प्रकार की होती है। जैसे—मानस और शारीर व्याधियाँ। ये व्याधियाँ प्रभाव भेद से दो प्रकार की होती हैं—(१) साध्य और (२) असाध्य। साध्य के भी दो भेद होते हैं—( १ ) सुखसाध्य और ( २ ) कृच्छ्रसाध्य। याप्य और प्रत्याख्येय भेद से असाध्य भी दो प्रकार के होते हैं। बलभेद से रोग-समूहों को दो भागो मे विभक्त किया गया है। जैसे—( १ ) मृदु और दारुण। पुन आशय भेद से रोगसमूहो को दो भागो मे विभक्त किया गया है। जैसे—( १ ) आमाशयसमुत्थ और ( २ ) पक्वाशयसमुत्थ।' मार्ग भेद से पुन रोगो के

---

१. ( i ) 'तत्र विकारा. सामान्यजा, नानात्मजाश्च ।' ( च. सू अ २०-१० )
'सामान्यजा इति वातादिभि. प्रत्येक मिलितैश्च ये जन्यन्ते। नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासंपृक्तैर्जन्यन्ते ।' ( च टी )

( ii ) सामान्यजा पूर्वमष्टोदरीये व्याख्याता', नानात्मजास्त्विहाध्याये ऽनुव्याख्यास्याम' । तद्यथा अशीतिर्वातविकारा , चत्वारिंशत् पित्तविकारा , विंशतिः श्लेष्मविकारा. ।' ( च सू अ २० )

२ ( i ) 'चत्वारो रोगा भवन्ति-आगन्तु-वात-पित्त-श्लेष्मनिमित्ता । तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविध भवति रुक् सामान्यात्। द्विविधा' पुन. प्रकृतिरेषाम् आगन्तुनिजविभागात् ; द्विविध चैषामधिष्ठान, मन शरीरविशेषात् ।' ( च. सू. अ. २० )

( ii ) 'द्वे रोगानीके भवत , प्रभावभेदेन-साध्यम् , असाध्य च । द्वे रोगानीके बलभेदेन-मृदु दारुण च । द्वे रोगानीके अधिष्ठानभेदेन मनोऽधिष्ठान शरीराधिष्ठान च । द्वे रोगानीके निमित्तभेदेन स्वधातुवैषम्यनिमित्तम् , आगन्तु निमित्त च । द्वे रोगानीके आशयभेदेन-आमाशयसमुत्थ, पक्वाशयसमुत्थ चेति 'एकत्वं तावदेकमेव रोगानीक-दु खसामान्य त ।' ( च वि अ. ६ )

स्रोतों का तीन विभागों में विभक्त किया गया है। आयुर्वेद में रोग के तीन मार्ग कहे हैं जैसे—शाखा, मर्मास्थिसन्धियाँ और कोष्ठ। इनमें शाखा से अभिप्राय रक्तादि धातुओं तथा त्वचा से है। इसे बाह्य रोगमार्ग भी कहा है। मर्मों से तात्पर्य वस्ति हृदय और मूर्धा (सिर) का ग्रहण होता है। अस्थिसन्धियों से अस्थिसन्धियाँ तथा उनमें उपनिबद्ध स्नायुकण्डरा आदि सन्धियों का भी ग्रहण है। इसे मध्यम रोगमार्ग कहा है। कोष्ठ से महास्रोत तथा [illegible] शरीरमध्यस्थ स्कन्धों का ग्रहण है। यह आभ्यन्तर रोग मार्ग कहलाता है।[1]

व्याधि या रोग के कारण—व्याधि के बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों का संक्षिप्त चिकित्सा की व्याख्या में किया जा चुका है। यहाँ उसका विस्तार से वर्णन किया जाता है।

बाह्यहेतु—ये वे हैं जो शरीर के बाहर होते हैं और शरीर के सम्पर्क में आने पर शरीर में नानाविध रोगों को उत्पन्न करते हैं।—जैसे आहार विहार, काल, जीवाणु, आघात, दंशकीटों के विष, विद्युत् तथा अन्य इस प्रकार के पदार्थ जिनके सेवन से तथा सम्पर्क में आने से शरीर विकृत होता है। ये यथोचित तथा दोष-प्रकोपणपूर्वक शरीर में विकारोत्पत्ति के हेतु होते हैं। [illegible]चार्य ने प्रत्येक दोष को प्रकुपित करनेवाले बाह्य हेतुओं की सूची संक्षेप रूप से दी है जो निम्नलिखित है।

| वातप्रकोपक हेतु | पित्तप्रकोपक हेतु | | कफप्रकोपक हेतु | |
|---|---|---|---|---|
| १ अति व्यायाम | १ कटु | ( पदार्थ सेवन ) | १ गुरु | ( पदार्थ सेवन ) |
| २ अपतर्पण | २ अम्ल | ,, | २ मधुर | ,, |
| ३ लंघन | ३ लवण | ,, | ३ स्निग्ध | ,, |
| ४ प्रपतन | ४ उष्ण | ,, | ४ द्रव | ,, |
| ५ भग्न (अवयवभग्न) | ५ विदाही | ,, | ५ इक्षुविकार | ,, |
| ६ क्षय ( धातुक्षय ) | ६ तीक्ष्ण | ,, | ६ द्रव पदार्थ | ,, |
| ७ रात्रि-जागरण | ७ क्रोध | ,, | ७ दही | ,, |
| ८ वेग-विधारण | ८ उपवास | ,, | ८ दिवास्वप्न | ,, |
| ९ अतिशोक | ९ आतपसेवन | ,, | ९ अपूपसेवन | ,, |
| १० शीत | १० स्त्री प्रसंग | ,, | १० घृतपक्वसेवन | ,, |
| ११ अधिक भय | ११ तिल-सेवन | ,, | ११ हेमन्त | ऋतु |
| १२ क्षोभ | १२ कांजी | ,, | १२ शिशिर | ,, |

१. च. सू. अ. ११-४८।

| वातप्रकोपक हेतु | पित्तप्रकोपक हेतु | कफप्रकोपक हेतु |
|---|---|---|
| १३ रूक्ष (पदार्थ सेवन) | १३ दही (सेवन) | १३ प्रात काल |
| १४ कषाय ,, | १४ सुरा ,, | १४ भोजन के तत्काल बाद |
| १५ कटु ,, | १५ सिरका तथा कांजी ,, | १५ वसन्त ऋतु |
| १६ तिक्त ,, | १६ भोजनोत्तर काल | १६ अव्यायाम (सु मु २१) |
| १७ वर्षा ऋतु | १७ भोजनपचनकाल | १७ आलस्य ,, |
| १८ भोजन परिपाक के बाद | १८ शरद् ऋतु | १८ अम्ल ,, |
| १९ सायंकाल | १९ ग्रीष्म ,, | १९ लवण ,, |
| २० बलवद्विग्रह (सु मू ) | २० मध्याह्न | २० शीत ,, |
| २१ अनिव्यवाय ,, | २१ अर्धरात्रि | २१ पिच्छिल ,, |
| २२ अत्यच्ययन ,, | २२ शोक (सु मू २१) | २२ अभिष्यन्दि ,, |
| २३ प्रधावन ,, | २३ भय ,, | २३ हायनक ,, |
| २४ प्रपीडन ,, | २४ आयाम ,, | २४ यवक ,, |
| २५ अभिघात ,, | २५ तैल ,, | २५ नैषध , |
| २६ प्लवन (लाघना) | २६ पिण्याक ,, | २६ इत्कट ,, |
| २७ प्रतरण ,, | २७ कुलत्थ ,, | २७ माष ,, |
| २८ भारहरण ,, | २८ सर्षप ,, | २८ महामाष ,, |
| २९ गजातिचर्या ,, | २९ हरित शाक ,, | २९ गोधूम ,, |
| ३० तुरगातिचर्या ,, | ३० गोधामास ,, | ३० तिलविकृति ,, |
| ३१ रथातिचर्या ,, | ३१ मत्स्यमास ,, | ३१ पिष्टविकृति ,, |
| ३२ पदातिचर्या ,, | ३२ आजमास ,, | ३२ कृशरा ,, |
| ३३ लघु द्रव्य ,, | ३३ आविकमास ,, | ३३ पायस ,, |
| ३४ शुष्क शाक ,, | ३४ तक्र ,, | ३४ आनूपमास ,, |
| ३५ वल्लूर ,, | ३५ कूर्चिका ,, | ३५ औदकमास ,, |
| ३६ वरक ,, | ३६ मस्तु ,, | ३६ वसा ,, |
| ३७ उद्दालक ,, | ३७ सौवीरक ,, | ३७ बिस ,, |
| ३८ कोरदूषक ,, | ३८ सुराविकार ,, | ३८ मृणाल ,, |
| ३९ श्यामाक ,, | ३९ अम्लफल ,, | ३९ कसेरुक ,, |
| ४० नीवार ,, | ४० कट्वर ,, | ४० शृंगारक ,, |
| ४१ मुद्ग (सु मू २१) | ४१ उष्णकाल ,, | ४१ मधुरफल ,, |
| ४२ मसूर ,, | ४२ क्षार (अ स नि १) | ४२ वल्लीफल ,, |
| ४३ आढकी ,, | ४३ शुक्त ,, | ४३ समशन ,, |
| ४४ चणक (हरेणु) ,, | ४४ शाण्डाकी ,, | ४४ अध्यशन ,, |

| वातप्रकोपक हेतु | पित्तप्रकोपक हेतु | कफप्रकोपक हेतु |
|---|---|---|
| ४५ कलाय (सु सू २१) | ४५ मद्य (अ म. नि. १) | ४५ नवान्न (अ म नि. १) |
| ४६ निष्पाव ,, | ४६ धान्याम्ल ,, | ४६ इक्षुरा ,, |
| ४७ अनशन ,, | ४७ निष्पाव ,, | ४७ स्थूलमत्स्या ,, |
| ४८ विषमाशन ,, | ४८ तिलाम्ल ,, | ४८ शष्कुली , |
| ४९ अध्यशन ,, | ४९ आम्रातक ,, | ४९ आमक्षीर ,, |
| ५० विषमोपचार(च चि २१) | ५० अम्लिका ,, | ५० किलाट ,, |
| ५१ दोषातिस्रवण ,, | ५१ पीलु ,, | ५१ मोरट , |
| ५२ रक्तातिस्रवण ,, | ५२ भल्लातकास्थि ,, | ५२ कूर्चिका ,, |
| ५३ चिन्ता ,, | ५३ नाड्निका ,, | ५३ तक्रपिण्डक , |
| ५४ शोक ,, | ५४ अग्नि ,, | ५४ पीयूष ,, |
| ५५ रोगातिकर्षण ,, | ५५ मरिच ,, | ५५ दध्युत्तर ,, |
| ५६ दुःखशय्या ,, | ५६ रज , | ५६ खर्जूर ,, |
| ५७ दुःखासनम् ,, | ५७ धूम ,, | ५७ भक्ष्य ,, |
| ५८ क्रोध ,, | ५८ ईर्ष्या ,, | ५८ नारिकेल ,, |
| ५९ दिवास्वाप ,, | ५९ अजीर्ण मैथुन ,, | ५९ निशाम्बुपान ,, |
| ६० भय , | ६० वर्षा ऋतु ,, | ६० अत्यम्बुपान ,, |
| ६१ आम ,, | ६१ क्षुद्रोध ,, | ६१ अतिसन्तर्पण ,, |
| ६२ मर्माभिघात ,, | ६२ तृषारोध ,, | ६२ कालातिस्वप्न ,, |
| ६३ मार्ग विचरण | | ६३ हर्ष ,, |
| ६४ विष्टम्भि (पदार्थसेवन अ मं नि १) | | ६४ छर्दिविघात |
| ६५ विरूढान्न ,, | | ६५ विरेचनाद्ययोग |
| ६६ तृणधान्य ,, | | ६६ आस्यासुख |
| ६७ करीर ,, | | ६७ अजीर्ण |
| ६८ तुम्ब ,, | | ६८ मन्दाग्नि |
| ६९ कालिङ्ग ,, | | ६९ अवश्याय |
| ७० चिर्भट (चिभरा) | | |
| ७१ बिस (कमलनाल) | | |
| ७२ शालूक | | |
| ७३ जाम्बव | | |
| ७४ तिन्दुक | | |
| ७५ हीनभोजन | | |
| ७६ शुष्कभोजन | | |

**वातप्रकोपक हेतु**

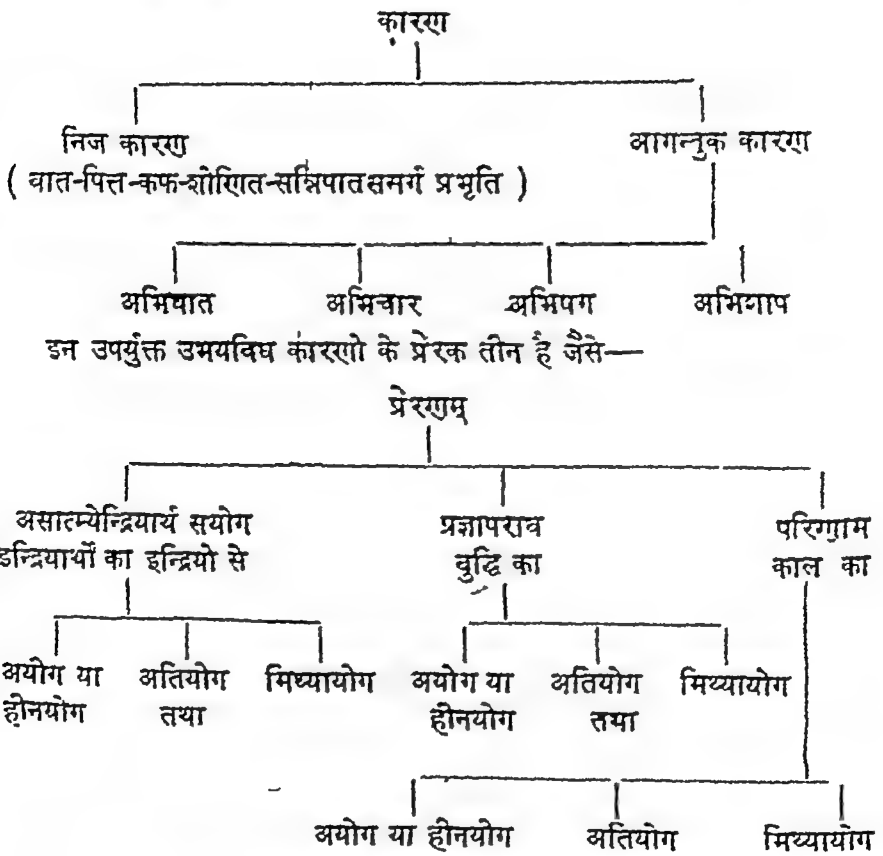
७७ तृषिताशन
७८ क्षुधिताम्बुपान
७९ विरेचनाद्यतियोग
८० वेगोदीरण
८१ विक्षेपण
८२ भ्रमण
८३ चालन
८४ क्रियातियोग
८५ पराघातन
८६ साहस
८७ अत्युच्चभाषण
८८ गाढोत्सादन

**आभ्यन्तर हेतु**—शरीरस्थ दोष और दूष्य ही आभ्यन्तर हेतु हैं। इनमें शरीरस्थ दोष ( १ ) वात, ( २ ) पित्त और ( ३ ) कफ हैं। मानस-विकारो की उत्पत्ति मे मानस दोष ( १ ) रज और ( २ ) तम हेतु हैं। दूष्य सात धातुएँ यथा—( १ ) रस, ( २ ) रक्त, ( ३ ) मास, ( ४ ) मेद, ( ५ ) अस्थि, ( ६ ) मज्जा और ( ७ ) शुक्र हैं। धातु-ग्रहण से उपधातुओ का भी ग्रहण हो जाता है। शरीर-मल भी दूष्य होता है। इनमे प्रधान पुरीष, मूत्र तथा स्वेद हैं। इस प्रकार सात धातुएँ, ओज आदि उपधातुएँ तथा मल दूष्य हैं।

उपर्युक्त दोष ( वात–पित्त–कफ ) जब प्रकृतावस्था मे रहते हैं तो देह का धारण करने से धातु कहलाते हैं। मल भी प्रकृतावस्था मे देह का धारण करने से धातु कहलाता है। ये दोष तथा दूष्य जब वैषम्य को प्राप्त होते हैं तभी रोग के आभ्यन्तर कारण या हेतु बनते हैं। साम्यावस्था मे ये सदा आरोग्य के हेतु हैं।

दोषो का वैषम्य तथा प्रकोप दो प्रकार से होता है। जैसे—(१) स्वभाव से—उदाहरणरूप—वसन्त ऋतु मे कफ का, शरद् ऋतु मे पित्त का तथा वर्षा में वात का स्वभाव मे ही प्रकोप होता है। अत इन प्रकुपित दोषो को भी 'प्राकृत' कहते हैं। परन्तु वसन्त ऋतु मे पित्त या वायु का, वर्षा ऋतु में पित्त व कफ का तथा शरद् ऋतु मे वायु व कफ का प्रकुपित होना 'वैकृत दोष' कहलाता है। 'प्राकृत दोष' तथा 'वैकृत दोष' का ज्ञान साध्यासाध्य के विचार मे सहायक होता है। इसका विस्तृत वर्णन यथास्थल किया जायगा।

रोगो के कारणो को पुन दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। जैसे—ऐसे कारण जो वात, पित्त, कफ तथा शोणित को पृथक्-पृथक् प्रकुपित कर, संसर्ग अर्थात् दो को मिलाकर प्रकुपित कर तथा सभी को मिलाकर ( सन्निपात ) प्रकुपित कर दोषो मे वैषम्य उत्पन्न कर रोगोत्पादक होते हैं। ऐसे कारणो को 'निजकारण' कहा गया है। दूसरे कारण आगन्तुक होते है जैसे—(१) अभिघात, ( २ ) अभिचार, ( ३ ) अभिषङ्ग और ( ४ ) अभिशाप। ये दोषो को प्रकुपित किये विना तथा दोषवैषम्य उत्पन्न किये विना दु खोत्पादक होते हैं।




१—असात्म्येन्द्रियार्थ तथा संयोग[1]—श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों का

---

[1]. च सू अ. ११, मधुकोषव्याख्या-मा. नि.

( i ) 'द्वयोस्तु खल्वागन्तुनिजयोः प्रेरणमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति' ( च. सू. अ. २०-५ )

( ii ) 'त्रीण्यायतनानीति-अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगमिथ्यायोगाः। तत्राति-प्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमतियोगः, सर्वशोऽदर्शनमयोगः, अतिश्लिष्टातिविप्रकृष्टरौद्रभैरवाद्भुतद्विष्टबीभत्सनविकृतवित्रासनादिरूपदर्शनं मिथ्यायोगः; तथाऽतिमात्रस्तनितपटहोत्क्रुष्टादीनां शब्दानामतिमात्रं श्रवण-

( ज्ञानेन्द्रियों का ) शब्दादि पाँच विषयों के साथ अयोग या हीनयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग होना या करना 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' कहलाता है। जैसे— किसी रूप का चक्षुरिन्द्रिय से बिल्कुल सम्पर्क न होना अयोग और कम होना हीनयोग कहलाता है। इसी प्रकार अति भास्वर स्वरूप का अधिक काल तक देखना चक्षु इन्द्रिय का अतियोग और अतिदूरस्थ, भयकर, बीभत्स तथा गन्दी वस्तुओं के रूप का देखना मिथ्यायोग कहलाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के अर्थ का अयोग या हीनयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग को समझ लें।

२—**प्रज्ञापराध**—प्रज्ञा का अर्थ बुद्धि है। बुद्धि स्वभावत सदसद्-विवेकिनी होती है। जब मनुष्य विवेकहीन हो अयथार्थ को यथार्थ समझने लगता है तो वह उसका अपराध है। इस अपराध को प्रज्ञापराध कहते हैं। अर्थात् प्रज्ञापराध मे उचितानुचित का विवेक नष्ट हो जाता है। बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति, तथा धैर्य भी नष्ट हो जाते हैं। परिणामस्वरूप यथार्थज्ञान का अयोग तथा हीनयोग, अहितकर का योग तथा अतियोग और अयोग्य का योग या मिथ्या होने लगता है। तात्पर्य यह कि कर्म, वाणी, मानस तथा शारीर प्रवृत्तियों का अयोग, हीनयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग होने लगता है।

३—**परिणाम**—काल को कहते हैं। ऋतुओं का जो स्वाभाविक गुण है उनका प्रकट न होना या न्यून होना अयोग या हीनयोग कहलाता है। इसी प्रकार उन स्वाभाविक गुणों का अधिक प्रकट होना अतियोग और विपरीत होना मिथ्यायोग कहलाता है। जैसे वर्षाऋतु मे वर्षा का न होना या न्यून होना क्रमश अयोग और हीनयोग है। वर्षा का उचित से अधिक होना अतियोग है और जिस ऋतु मे वर्षा नही होती उसमे वर्षा का होना मिथ्यायोग है। इसी

---

मतियोग, सर्वशोऽश्रवणमयोग, परुषेष्टविनाशोपघातप्रधर्षणभीषणादि शब्दश्रवण मिथ्यायोग:; तथाऽतितीक्ष्णोग्राभिष्यन्दिनां गन्धानामतिमात्र घ्राणमतियोग., सर्वशोऽघ्राणमयोग:, पूतिद्विष्टामेध्य क्लिन्नविषपवनकुणप गन्धादिघ्राण मिथ्यायोग., तथा रसानामत्यादानमतियोग: सर्वशोऽनादानमयोग, मिथ्यायोगो राशिवर्ज्येष्वाहारविधिविशेषायतनेषूपदेक्ष्यते, तथाऽतिशीतोष्णाना स्पृश्याना स्नानाभ्यङ्गोत्सादनादीनां चात्युपसेवनमतियोग, सर्वशोऽनुपसेवनमयोग स्नानादीना शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामनानुपूर्व्योपसेवन विषमस्थानाभिघाताशुचिभूतसंस्पर्शादयश्चेति मिथ्यायोग·।' ( च सू. अ. ११-३७ )

( iii ) कालबुद्धीन्द्रियार्थाना योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणा व्याधीना त्रिविधो हेतुसग्रह.॥ ( च सू अ १-५४ )

( iv ) कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रका·।
सम्यग् योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्॥ ( अ हृ सू १-१९ )

प्रकार हेमन्त आदि ऋतुओं के गुण का अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग समझे।

चरक के विमान स्थान तृतीयाध्याय ( जनपदोद्ध्वंसनीयाध्याय ) में 'अधर्म' को ही सभी रोगों का मूल कारण माना गया है। भट्टार हरिश्चन्द्र ने इसका अन्तर्भाव परिणाम में ही कर लिया है क्योंकि अधर्म ही कालान्तर में परिणत होकर ऋतु आदि में व्यापन्नता उत्पन्न कर व्याधि को उत्पन्न करता है। परन्तु चक्रपाणिदत्त-ब्रह्महत्या आदि अधर्म का भी कारण प्रज्ञापराध ही मानते हैं। अतः इनका अन्तर्भाव प्रज्ञापराध में करते हैं।[1]

सुश्रुत ने वात, पित्त, कफ को ही सभी रोगों का कारण माना है। उनका कहना है कि मानस तथा शारीर विकार जितने भी होते हैं वे सभी दोषों के विकृतिवश ही होते हैं। मानस रोगों में मानस दोष ( रज और तम ) तथा शारीर रोगों में शारीर दोष ( वात, पित्त कफ ) की विकृतियाँ प्रधानरूप में होती हैं। अतः इन उभयविध दोषों की अंशांश-कल्पना कर ही चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिए। जहाँ किसी रोग में दोषों का उल्लेख न हो वहाँ भी उनके लक्षणों से दोषों का विचार कर उनकी चिकित्सा-व्यवस्था करनी चाहिए क्योंकि दोषों की विकृति के बिना किसी रोग का प्रादुर्भाव संभव नहीं।[2] चरक ने आगन्तुक रोगों की इसमें विशेषता बतलाई है। परन्तु साथ ही इनका *अन्योन्याश्रयत्व* भी प्रतिपादन किया है।[3]

---

१. ( i ) 'सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम्; तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव।'

( ii ) 'अधर्मस्य च रोगहेतोरत्रैवान्तर्भावः' इति भट्टारहरिश्चन्द्रः। तस्यापि कालान्तरपरिणतस्य दुःखकर्तृत्वात्। चक्रस्तु प्रज्ञापराधे तस्यान्तर्भावमाह। मिथ्याज्ञानकृतब्रह्मवधादिजन्मनोऽधर्मस्य प्रज्ञापराध एव मूलम्; ( मधुकोष-व्याख्या )।

२. ( i ) 'सर्वेषामेव रोगाणां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्। तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च।' ( सु. सू. २४ )

( ii ) 'यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते।' ( सु. सू. २४ )

( iii ) 'नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद् विचक्षणः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत्॥' ( सु. सू. ३५–१९ )

३. ( i ) 'स्वधातुवैषम्य-निमित्तजा ये, विकारसङ्घा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य, आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः॥
आगन्तुरन्वेति निजं विकारं, निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्, ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत॥' ( च. सू. १६ )

( ii ) 'दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्' ( वाग्भट )

ये दोष अनुबन्ध्य तथा अनुबन्ध के भेद से दो प्रकार से रोगोत्पादन में कारण होते हैं। अनुबन्ध्य का अर्थ प्रधान या स्वतन्त्र होता है। अनुबन्ध का अर्थ अप्रधान या परतन्त्र होता है। जो दोष स्वतन्त्ररूप से या प्रधान रूप से रोगोत्पादक होते हैं उसमे ( उस रोग या विकार में ) उनके लक्षण स्पष्टरूप मे प्रतीयमान होते हैं और उनका प्रकोप या प्रशमन शास्त्र मे वर्णित इनके प्रकोपणो से तथा प्रशमनो से होता है। ठीक इसके विपरीत अर्थात् जो दोष परतन्त्ररूप से अथवा गौण ( अप्रधान ) रूप से रोगोत्पादक होते हैं उसमे ( उस रोग या विकार मे ) उनके लक्षण स्पष्ट तथा उनका प्रकोप या प्रशमन प्रधान के अधीन होता है। तात्पर्य यह कि प्रधान के प्रकोप मे उनका प्रकोप और प्रशमन से उनका प्रशमन होता है।[१]

रोगी की प्रकृति तथा विकृति हेतुभूत दोष की दृष्टि से भी दोष का ज्ञान आवश्यक होता है। प्रकृति सात प्रकार की होती है। इनका वर्णन यथास्थल किया जायगा। इनका ज्ञान रोग के साध्यासाध्यविचार मे आवश्यक होता है। इसी प्रकार आशयापकर्ष भेद से भी दोषभेद का ज्ञान करना आवश्यक होता है। सर्वशरीर-व्यापक होते हुए भी इन दोषो का स्थान नियत है। अत दोषो का अपने नियत स्थान से स्वय प्रकुपित न होते हुए भी प्रकुपित वायु से प्रेरित होकर अन्यत्र जाना 'आशयापकर्ष' कहलाता है। इस आशयापकर्ष के कारण भी 'दोष' रोग का कारण होता है। अत इसका ज्ञान चिकित्सक के लिए आवश्यक है। जब वृद्ध दोष ( वायु ) मान एव स्थान मे स्थित किसी अन्य दोष को उद्रिक्त करता है तथा लेकर अन्यत्र जाता है तो शरीर मे उचित मानमे होते हुए भी उस दोष के कारण उस स्थान पर विकारोत्पत्ति होती है। जैसे—श्लेष्मा के क्षीण होने पर बढी हुई वायु उचित मात्रा एव स्थान मे स्थित पित्त को उसके प्रधान स्थान से आकृष्ट करके जिस भाग मे लेकर घूमती है वहाँ वहाँ भेदनवत् पीड़ा, दाह, श्रम आदि लक्षणो को उत्पन्न करती है। यहा पित्त का लक्षण 'दाह' पित्त के प्रकृतिस्थ होने पर भी आशयापकर्षवश होता है। यहाँ पित्त के लक्षण होते हुए भी वायु की चिकित्सा अभीष्ट है।

गतिभेद से दोषभेद भी होता है। चरक ने दोषो की तीन गतियो का वर्णन किया है, जैसे—( १ ) क्षय, ( २ ) स्थान और ( ३ ) वृद्धि। ये गतियाँ दोषो की विशिष्ट अवस्थाओ की सूचक हैं। ऊर्ध्व, अध और तिर्यक् भेद से

---

१ 'स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्य., तद्विपरीतलक्षण-स्त्वनुबन्ध.।' ( च. नि अ ६ )

२. ( च सू अ १७ )

भी दोषों की तीन गतियों का वर्णन उपलब्ध होता है। इसमें दोषों की दिशा का बोध होता है। रोगों के तीन मार्गों का पहले संकेत कर चुके हैं। ये दोष जब अपनी समावस्था में, अपने स्थान में ही रहते हैं तो उन्हें 'स्थान' अर्थात् अपने स्थान में स्थित स्वाभाविक गति कहते हैं। जब वे वृद्धि को प्राप्त होते हैं तो अपने लक्षणों को वृद्धरूप में प्रकट करते हैं। जब ये क्षीण होते हैं तो अपने लक्षणों को हीन रूप में प्रकट करते हैं।[1]

साम तथा निराम भेद से भी दोष-भेद होता है। अतः इस दृष्टिकोण से भी दोषों के सामत्व का विचार करना आवश्यक है। जाठराग्नि के दुर्बल होने से आदि धातु रस का निर्माण उचित रूप में नहीं होता अर्थात् अपक्वरूप में होता है। यह अपक्व रस 'आम' कहलाता है। यह आमाशय में रहता है। जब इस आम रस से दोष (वातादि) तथा दूष्य (रसादि धातु और पुरीषादि मल) संयुक्त होते हैं तो वे साम कहलाते हैं।[2] दोषों की सामता एवं निरामता के लक्षण निम्न प्रकार होते हैं :—

ये उपर्युक्त हेतुएँ पुन चार प्रकार की होती हैं, जैसे—( १ ) सन्निकृष्ट ( २ ) विप्रकृष्ट, ( ३ ) व्यभिचारी और ( ४ ) प्राधानिक।

**सन्निकृष्ट हेतु**—वय, दिन, रात्रि तथा भोजन के अन्त, मध्य और आदि काल मे क्रमश वायु, पित्त तथा कफ का प्रकोप होता रहता है। इस प्रकोप मे दोषो के सञ्चय की आवश्यकता नही होती। क्योकि इसका यही स्वभाव है। ये प्रकोप हेतु मानव शरीर के अतिसन्निकट होने से सन्निकृष्ट हेतु कहलाते हैं।[1]

**विप्रकृष्ट हेतु**—दूरस्थ हेतु को विप्रकृष्ट हेतु कहते हैं, जैसे—हेमन्त ऋतु मे सञ्चित हुआ कफ वसन्त ऋतु मे कफज रोग को उत्पन्न करते है। इसी प्रकार वर्षा मे सञ्चित हुआ पित्त शरद् ऋतु मे पित्तज विकार तथा ग्रीष्म मे सञ्चित वायु वर्षा ऋतु मे वातज विकार को उत्पन्न करते हैं। इनके अतिरिक्त ज्वर का सन्निकृष्ट हेतु रूक्षान्न-पान सेवन और विप्रकृष्ट हेतु रुद्रकोप है। जीवाणुजन्य रोग निश्चित सञ्चय काल के पश्चात् होते हैं, अत उन्हें भी विप्रकृष्ट कारणो के अन्तर्गत ग्रहण कर सकते हैं। आघातजन्य सम्पूर्ण रोग सन्निकृष्ट हेतुज होते हैं।[2]

**व्यभिचारी हेतु**—जो हेतु दुर्वल होने से रोग को उत्पन्न करने मे असमर्थ होता है उसे व्यभिचारी हेतु कहते है।[3] चरक ने कहा है कि निर्बल दोष और दूष्य का सयोग ( सम्मूर्च्छन ) होने पर भी रोगोत्पत्ति नही होती। रोग की उत्पत्ति वाह्य-निदान तथा उनसे प्रकुपित दोष और दूष्य की शक्ति पर निर्भर होती है। यदि निदान अल्प है तो दोष-दुष्टि भी मृदुरूप की होती है फलस्वरूप दूष्य भी अल्पप्रमाण मे दूषित होगे। इसी प्रकार शरीरस्थ प्रत्यनीक वल या रोग-प्रतिरोधक्षमता ( Immunity ) के वली होने पर रोगाक्रमण नहीं होता अथवा मृदुरूप मे होता हैं। जव निदान वलवान् होता है तो दोष का प्रकोप भी उग्ररूप मे तथा दूष्य की दुष्टि भी प्रवल रूप मे होती है और रोगाक्रमण भी अवश्य होता है।

प्रतिदिन अनेक असात्म्य एवं रोगोत्पादक जीवाणुओ तथा खाद्य-पेयादि का शरीर से निकटतम सम्पर्क होने पर भी रोगोत्पत्ति का होना शारीरिक रोग-प्रतिरोध-क्षमता तथा निदान की दुर्वलता का द्योतक है।

चरक ने व्यभिचारी हेतुओ के सम्बन्ध मे सुन्दर विवेचन किया है। जैसे—"( रोगोत्पत्ति मे ) रोग के निदानो ( कारणो ) तथा उनसे प्रकुपित दोषो

---

१. माधवनिदान-पञ्चलक्षण-मधुकोष व्याख्या।

२. सु उ. अ. ६४, च. नि. अ ४,

३. माधवनिदान पञ्चलक्षण-मधुकोष व्याख्या।

एव प्रकुपित दोषो से दूषित दूष्यो मे रोगोत्पत्ति, रोगविघानक या विकार विघातक भावो की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति पर निर्भर करती है। जब ये निदानादि त्रय (निदान, दोष और दूष्य) परस्पर अनुबद्ध नही होते अथवा कालप्रकर्ष से अबलरूप मे अनुबद्ध होते है तब विकारोत्पत्ति नही होती अथवा विलम्ब से होती है अथवा अति क्षीण रूप मे होती है और उनके लक्षण भी यथोक्त रूप मे प्रकट नही होते।[1]"

**प्राधानिक हेतु**—उग्र स्वभाव के कारण शीघ्र ही दोषो को प्रकुपित करके रोगो को उत्पन्न करने वाला हेतु प्राधानिक कहलाता है। जैसे—विष मारक होने से इस श्रेणी मे आता है। यह हेतु अपना प्रभाव मानव शरीर मे निश्चितकाल मे अवश्य उत्पन्न करते हैं। उग्रता एव शीघ्रता तथा निश्चितता के आधार पर आगन्तुक कारणो को भी इनके अन्तर्गत ग्रहण कर सकते हैं।[2]

हेतुओ के पुन तीन और भेद किये गये है। यथा—(१) दोषहेतु, (२) व्याधिहेतु और (३) उभय अर्थात् दोष और व्याधि दोनो।[3]

**दोषहेतु**—दोष प्रकोपकहेतु ही दोषहेतु है। ऋतुओ के अनुसार दोषो के सञ्चय, प्रकोप तथा प्रशम करनेवाले स्वभावत उत्पन्न मधुरादि रस दोष-हेतु कहे जाते हैं।

**व्याधि हेतु**—दोष निरपेक्ष जो हेतु निश्चितरूप मे किसी व्याधि विशेष के उत्पादक होते हैं उन्हे व्याधिहेतु कहते हैं। जैसे—मृद्भक्षण पाण्डु रोग का ही उत्पादक होने से व्याधिहेतु है। यद्यपि मृद्भक्षण से दोषो का प्रकोप होता है तथापि उससे पाण्डुरोग ही उत्पन्न होता है अत वह[4] व्याधि-हेतु है। जैसे—श्वसनक ज्वर के जीवाणु श्वसनक ज्वर का इत्यादि।

**उभयहेतु**—विशिष्ट दोष का प्रकोपक होते हुए विशिष्ट व्याधि का उत्पादक हेतु कहलाता है, जैसे—हाथी, ऊँट आदि वाहनो की सवारी पर चलने से वायु का प्रकोप होता है तथा विदाही अन्न के सेवन से पित्त और रक्त की दुष्टि होती है। परन्तु उक्त वाहन और विदाही अन्न के सम्मिलित सेवन से वातरक्त नामक रोग उत्पन्न होता है अत इन्हे उभयहेतु कहते है।[5]

---

१. च. नि. ४-५
२. माधवनिदान-पञ्चलक्षण मधुकोष
३ माधवनिदान-पञ्चलक्षण-मधुकोष
४ माधवनिदान पञ्चलक्षण मधुकोष
५. माधवनिदान पञ्चलक्षण मधुकोष

हेतु के पुनः दो भेद किये गये हैं यथा—( १ ) उत्पादक हेतु और ( २ ) व्यञ्जक हेतु।[1]

**उत्पादक हेतु** ( Predisposing causes )—यह वह हेतु है जो रोग तथा रोग के कारण दोषो को उत्पन्न तो कर देता है पर तत्काल रोगाभिव्यक्ति नहीं करता। जैसे—हेमन्त मे उत्पन्न मधुर रस कफ का उत्पादक होते हुए भी, वर्षा मे उत्पन्न अम्ल रस पित्त का उत्पादक होते भी और ग्रीष्म मे उत्पन्न तिक्त रस वायु का उत्पादक होते हुए भी तत्काल रोगोत्पादक नहीं होता। इन रसो से तत्तद् ऋतुओ मे दोष का सञ्चय मात्र होता है।[2]

**व्यञ्जक हेतु**—शरीर मे सञ्चित होते हुए उत्पादक दोषो को प्रकुपित कर रोगो को प्रकट करनेवाले हेतु को व्यञ्जक हेतु ( Exciting causes ) कहते हैं। जैसे—हेमन्त मे सञ्चित हुए कफ को वसन्त ऋतु मे सूर्य का सन्ताप द्रुत कर कफज रोगो की अभिव्यक्ति का हेतु होता है। अत वसन्तकालीन सूर्य-सन्तापव्यञ्जक हेतु है।[3]

इन उपर्युक्त कारणो के विवेचनानन्तर व्याधि के समवायि, असमवायि तथा निमित्त कारणो का विवेचन भी आवश्यक है। असमवायि कारण के नाश से कार्य का नाश हो जाता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध तथ्य है। घट के असमवायि कारण कपालमाला-सयोग तथा पट के असमवायि कारण तन्तु-सयोग के नाश से क्रमश घट तथा पट का नाश हो जाता है। यह दृष्ट प्रत्यय है। इसी प्रकार दोष-वैषम्य तथा धातु-वैषम्य के नाश होने से रोग या व्याधि का नाश हो जाता है। यही कारण है कि चिकित्सा की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि विषम दोष तथा धातुओ को समावस्था मे लाने का जो प्रयत्न किया जाता है उसे चिकित्सा कहते हैं। दोष तथा धातु व्याधि के समवायि कारण हैं। जो स्वय समवेत होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं उन्हे समवायि कारण कहते हैं। ये दोष और धातु समवेत होकर ही रोगोत्पादक होते हैं अर्थात् दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना मे ही व्याधि की उत्पत्ति होती है। मिथ्याहार-विहार व्याधि के निमित्त कारण हैं क्योकि ये रोगरूपी कार्य को उत्पन्न कर स्वय पृथक् हो जाते हैं। निदान-परिवर्जन जो चिकित्सा का एक अङ्ग माना गया है उसका तात्पर्य यह है कि रोग की वृद्धि न होने पावे।

**व्याधि और दोष ( वात-पित्त-कफ )**—सामान्य व्यावहारिक भाषा

१. माधवनिदान-पञ्चलक्षण मधुकोष

२. माधवनिदान पञ्चलक्षण मधुकोष

३. माधवनिदान पञ्चलक्षण मधुकोष

में 'देह' को पाञ्चभौतिक कहा जाता है। परन्तु आयुर्वेद-वाङ्मय में इसे त्रिस्थूण कहा गया है। कहा है कि वात-पित्त-कफ ही 'देहोत्पत्ति' के हेतु हैं। ये तीनों अव्यापन्नावस्था में क्रमश शरीर के अधोभाग, मध्यभाग तथा ऊर्ध्व-भाग में सन्निविष्ट हो शरीर को उसी प्रकार धारण करते हैं जिस प्रकार तीन खम्भे (स्थूणें) घर (अगार) को धारण करते हैं। इन तीन स्थूणों से धारण किये जाने के कारण ही इनका नाम 'त्रिस्थूण' है।[1] आगे चलकर और भी कहा है कि 'यह देह कफ से अतिरिक्त नहीं, पित्त से अतिरिक्त नहीं, वात से अतिरिक्त नहीं तथा शोणित (रक्त) से अतिरिक्त नहीं। यह शरीर इन वात-पित्त-कफ तथा रक्त से ही धारण किया हुआ है अर्थात् इन पर ही अवलम्बित है। जिस प्रकार सोम, सूर्य और अनिल अपने विसर्ग, आदान और विक्षेप गति से इस विश्व को धारण किये हुए हैं उसी प्रकार कफ, पित्त और वायु भी अपने उपर्युक्त गुणों से शरीर को धारण किए हुए हैं।[2] ये वात, पित्त, कफ, तीनों दोष प्रकृत अवस्था में शरीर के उपकारक होते हैं और जब विकृत होते हैं तब नानाविध विकारों से शरीर को उपतप्त (दुःखी) करते हैं।[3]

इस सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं कि वात, पित्त, कफ अपनी प्रकृत अवस्था में पुरुष को, जिनकी इन्द्रियाँ अव्यापन्न (अविकृत) हैं तथा बल, वर्ण और सुख (आरोग्य) से उपपन्न (समृद्ध) हैं उसी प्रकार बड़ी आयु प्रदान करते हैं, जिस प्रकार धर्म, अर्थ और काम सम्यक् आचरित होने पर इस लोक में तथा परलोक में पुरुष को महान् निःश्रेयस अर्थात् परम-कल्याण से सम्पन्न करते हैं। ये ही जब विकृत होते हैं तब ठीक इसके विपरीत भावों से उसी प्रकार युक्त कर देते हैं जिस प्रकार विकृति प्राप्त हुए तीनों ऋतुएँ संसार को अशुभ भावों से युक्त कर उनका घात करती हैं।[4]

---

१ 'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीर-मिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव व्यापन्नाः प्रलयहेतवः, तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः सम्भव-स्थिति प्रलयेष्वविरहितं शरीरं भवति।' (सु सू. २१–३)

२. (i) 'नर्ते देहः कफादस्ति, न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते॥' (सु. सू. २१–४)
(ii) विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा॥' (सु सू. २१–८)

३. 'दोषाः पुनस्त्रयो वात पित्त श्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति॥' (च. वि. १–५)

४. 'सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्णसुखोप-पन्नमायुषा महतोपपादयन्ति, सम्यगेवाचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महता

पुन: कहते हैं कि सम्पूर्ण शरीर मे विचरनेवाले ये वात, पित्त, कफ अपनी अकुपितावस्था मे शरीर के अन्दर शुभ भावो को अर्थात् स्वास्थ्यकर भावो को उत्पन्न करते हैं और कुपितावस्था मे अशुभ भावो को अर्थात् नानाप्रकार की विकृतियो को उत्पन्न करते हैं।[1]

वाग्भट ने भी कहा है कि ये वात, पित्त, कफ तीनो दोष अविकृतावस्था मे शरीर का पोषण या वर्त्तन करते हैं और विकृतावस्था मे शरीर का घात करते हैं। आगे चलकर कहते हैं कि ये दोष (वात-पित्त-कफ), धातु (रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र) और मल (पुरीष, मूत्र और स्वेदादि) देह के मूल हैं। ये जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सदा शरीर मे वर्त्तमान रहते हैं।[2]

उपर्युक्त वर्णन मे यह स्पष्टरूपेण ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वात-पित्त-कफ ही शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और संहार (नाश) के कारण हैं। शरीर की उत्पत्ति यद्यपि शुक्र (पुबीज) और शोणित (स्त्रीबीज) के सयोग से होती है तथापि जब तक वात-पित्त-कफ का सहकार न हो शरीर की उत्पत्ति तथा पुष्टि नही हो सकती। ये शरीररूपी आगार के तीन स्तम्भ हैं और आहार, निद्रा तथा युक्तियुक्त ब्रह्मचर्य इनके सहायक तीन उपस्तम्भ हैं।[3] इनके अविकृत रहने मे शरीर का प्रकृत व्यापार अबाधगति मे चलता रहता है और शरीर मे पुष्टि, बल, वर्ण, प्रसाद (मन की प्रसन्नता तथा इन्द्रियो का अपने-अपने काम करने का सामर्थ्य), सुख इत्यादि आरोग्य के लक्षण बने रहते हैं। ये ही विकृत हो तो शरीर मे विभिन्न विकार या रोग उत्पन्न करते हैं।

बाह्यसृष्टि मे जैसे—चन्द्र, सूर्य और वायु अविकृत रहते हुए चराचर को धारण करते हैं अर्थात् चन्द्र अपने विसर्ग गुण से स्थावर, जङ्गम प्राणियो मे बल और पुष्टि प्रदान करते हैं, सूर्य अपने आदान गुण से बल तथा पुष्टि का शोषण करता है तथा वायु दोनो के प्रभाव को सर्वत्र सृष्टि मे विक्षेपण (प्रसृत)

---

पुरुषमिह चामुष्मिश्च लोके, विकृतास्त्वेन महता विपर्ययेणोपपादयन्ति, ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इति।' (च सू. १२)

१ 'सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति; प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवर्णप्रसादादीनि अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकारसञ्ज्ञकानि॥' (च सू २०-९)

२. (i) 'वायुः पित्त कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।
विकृताविकृता देह घ्नन्ति ते वर्त्तयन्ति च॥ (अ. हृ. सू. १)

(ii) 'दोषधातुमला मूल सदा देहस्य'... ... ।(अ. हृ. सू १)

३ 'त्रय उपस्तम्भा इति, आहार' स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति।' (च सू. ११)

करता हुआ स्थावर-जङ्गम को उनके प्रभाव का लाभ पहुँचाता है, उसी प्रकार चन्द्र स्थानीय कफ, शरीर मे बल और पुष्टि प्रदान करके सूर्यस्थानीय पित्त, पाचनादि प्रक्रियाओ एव शरीरावयवो के स्नेह का शोषण करके तथा वायु कफ एव पित्त को सम्पूर्ण शरीर मे सर्वत्र पहुँचाकर शरीरावयवों को उनका लाभ पहुँचाता हुआ शरीर को धारण करता है। परन्तु ये चन्द्र, सूर्य और वायु कुपित होने पर जिस प्रकार सृष्टि मे अनेक विघ्नो की उत्पत्ति के कारण बनते है उसी प्रकार कफ, पित्त, वात जब शरीर मे कुपित होते है तब अनेक रोगो को उत्पन्न करते है तथा अधिक प्रकोप होने पर शरीर का नाश करते है।

ये वात-पित्त-कफ शरीर के प्रत्येक स्थूल तथा सूक्ष्म अवयव मे विद्यमान रहते है। शरीर के प्रत्येक स्रोत मे ये सचार करते है। प्राकृत अवस्था मे इन तीनो की प्राकृत क्रियाये शरीर के प्रत्येक अवयव मे होती है। जब ये विकृत या प्रकुपित होते है तब शरीरावयवो मे इनकी विकृत क्रियाओ के होने से अनेक प्रकार के विकारो की उत्पत्ति होती है।

दोष ( वात-पित्त-कफ ), धातु ( रस-रक्तादि ), उपधातु ( ओज आदि ), मल ( पुरीषादि ) तथा इन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान मे पहुँचाने वाले स्रोत जब अविकृत ( सम ) अवस्था मे ( यथोचित प्रमाण मे ) हो तथा इनकी क्रिया भी सम हो तब शरीर निरोग रहता है। ये ही विकृत हो तब शरीर तत्तद् रोगो से आक्रान्त होता है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि धातु आदि की विकृति तथा अविकृति दोषो की विकृति और अविकृति पर ही आश्रित है। ये ( वात-पित्त-कफ ) दोष ही दुष्ट होकर धातु आदि को भी दूषित करते है। ये जब स्वय अदुष्ट रहते है तो धातु आदि को भी अदूषित या समावस्था मे रखते हैं।[१]

दोषो की दुष्टि या विकृति दो प्रकार से होती है ( १ ) उनके प्रमाण मे अपने-अपने कारणो से अधिकता होना तथा ( २ ) क्षयकारी कारणो से उनमे न्यूनता होना।

रोगो के नानाविध भेदो के भी कारण ये दोष ही है। कारण—दोषो का संसर्ग जिस धातु, उपधातु या मल के साथ होता है उसके अनुसार दोषो मे

१ ( i ) 'वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांसि अयनभूतानि' ( च वि. ५ )

( ii ) 'तेषां ( स्रोतसां धातूनां च ) सर्वेषामेव वात पित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावादिति।' ( च वि. ५ )

( iii ) 'तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावात्।' ( च. शा. ६–१८ )

रोगोत्पत्ति तत्तद् अवयवो या स्थानो मे होती है। रोगो के कारणभूत जो एक या अनेक दोष अथवा आघात आदि आगन्तुक कारण होते हैं, उनके भेदानुसार लक्षणो तथा चिकित्सा मे यत्किंचित् भिन्नता होती है। धातु आदि के इस भेद को लक्ष्य मे रखकर ही रोगो को रसज, रक्तज इत्यादि नाम दिये जाते हैं। परन्तु उनके लिए ये नाम गौण ही समझना चाहिए। वस्तुत ये सभी रोग दोषज ही हैं। उनकी चिकित्सा में मुख्यकर दोषो पर ही दृष्टि रहनी चाहिए। जैसे तप्त घृत मे दग्ध होने पर भी वस्तुस्थित्या दग्ध का करण घृतगत अग्नि होती है।[1]

शरीर के सभी निजरोग वात-पित्त-कफ के वैषम्य से ही उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार कोई पक्षी सारे दिन सारी दिशाओ मे उडता रहे, तो भी उसकी छाया उससे वियुक्त नही हो सकती, इसी प्रकार निज शारीररोग वात-पित्त-कफ के वैषम्य के विना नही हो सकते। किं वहुना, सृष्टि के सम्पूर्ण स्थावर जङ्गमात्मक द्रव्य जैसे—सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणो के ही विकार हैं उसी प्रकार सभी निज रोग वात-पित्त-कफ के ही विकार हैं।[2]

जिस प्रकार निज शरीरव्याधियाँ वात-पित्त-कफ, इन शारीर दोषो के वैषम्य हुए विना नही हो सकती उसी प्रकार मानसव्याधि भी रज-तम इन मानस दोषो के वैषम्य हुए विना नही हो सकती। परन्तु शारीर-विकारो का मन पर तथा मानसविकारो का शरीर पर प्रभाव पडता है। अत मानसरोगो मे भी गौणरूप से शारीरदोषो का वैषम्य होकर शारीरविकृतियाँ उत्पन्न होती हैं तथा शारीररोगो मे भी मानसविकृतियाँ गौणरूप मे दिखाई पडती है।

चक्रपाणिदत्त ने तो कहा है कि आगन्तुक तथा मानसरोगो का मूल भी वातादि है। परन्तु मानसरोगो मे शारीरदोषो का अनुबन्ध पीछे से होता है। मानस तथा आगन्तुरोगो मे भी दोषो का अनुवन्ध होता ही है। तत् तद् आगन्तु कारणो से शरीर का क्षोभ होने पर पीछे से तत्तत् शारीर दोष का भी प्रकोप होता है। इसी प्रकार मानसरोगो मे भी पीछे से दोषो का प्रकोप होकर परिणामस्वरूप अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। यथा—काम, शोक और भय मे वायु का, क्रोध मे पित्त का और देव, ऋषि आदि आठ प्रकार के भूतो के आवेश से तीनो दोषो का प्रकोप होता है।

संक्षेप मे निज रोगो मे दोषो का वैषम्य प्रथम होता है, पश्चात् विभिन्न अव्यक्त या व्यक्त लक्षण ( चिह्न ) या वेदनायें प्रादुर्भूत होती हैं। इसके विपरीत

---

१. सु. सू. २४।२८ पर डल्हण, ( च सू २८।७-८ )

२ ( च. सू. १९-५ )

आगन्तु रोगो मे वेदना प्रथम होती है, पश्चात् तज्जनित क्षोभ से शारीर या मानस दोषो का प्रकोप होता है। परिणामस्वरूप उनमें भी बाद में उत्पन्न रोगो की विषमता चिकित्सा का विषय बन जाती है। आगन्तु और निज रोगो मे यही भेद है।[1]

मानस रोगो मे भी पश्चात् काल मे शारीरदोषो का प्रकोप होने से शारीर-दोषो की विषमता भी चिकित्सा का विषय बन जाती है। काश्यप ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि मानसरोगो की भी चिकित्सा शारीररोगो के समान ही करनी चाहिए।[2]

**आगन्तुक तथा निज रोगों का परस्पर अनुबन्ध**—पहले यह संकेत कर चुके है कि शारीररोगो का अन्य शारीर तथा मानस रोगो से तथा मानस रोगो का अन्य मानस और शारीररोगो से अनुबन्ध अर्थात् पश्चात् काल मे सम्बन्ध होता है। इस अनुबन्ध मे रोग एक दूसरे के बल में वृद्धि करते है। शारीर तथा मानसरोगो के समान आगन्तु और निज रोगो मे भी परस्पर अनुबन्ध होता है[3]—

निज रोग पहले से ही विद्यमान हो तो आगन्तु भी कभी-कभी पीछे से उसका साथ देता है। जैसे दोषज ज्वर या उन्माद हुआ तो पश्चात् काल मे भूतावेश भी हो जाता है। इसी प्रकार आगन्तु-अभिघातज ज्वर किं वा भूतज उन्माद किसी रोगी मे पहले से विद्यमान हो तो कारण उपस्थित होने पर शारीरदोष भी प्रकुपित होकर निज रोग को प्रकट करते हैं। इसी प्रकार निज रोग मे अन्य निज रोग का अनुबन्ध होता है और आगन्तुक रोग मे अन्य आगन्तु रोग का अनुबन्ध होता है।

---

१. ( i ) 'आगन्तुकारणे मानसे च कथ वातादिमूलत्वमित्याह—तद्धि हत्वादिति। आगन्तावपि हि वातादिलिङ्ग शरीरक्षोभादवश्य भवति × × × यदुक्त तत्राभिघातजो वायु. प्रायो रक्त प्रदूषयन्' ( च चि. ३-११३ ) इत्यादि। तथा 'आगन्तुरन्वेति निज विकार ( च. सू १९ ) इति। मानसेऽपि कामादौ दोषकोपणो भवत्येव, यदुक्त—'कामशोकभयाद्वायु' ( च चि. ३-११५ ) इत्यादि।

( ii ) 'कामशोकभयाद्वायु, क्रोधात् पित्त त्रयोमला।
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति··· ··· ··। ( च चि अ ३ )

( iii ) '× × × सत्त्वरजस्तमसामेव हि प्रकृतिरूपाणां महदादिसर्वपरिणाम इति सांख्यनय.।' ( चक्र )

२. 'मानसानां च रोगाणां कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम्' ( का सू २७-५ )

३ 'आगन्तुरन्वेति निज विकार निजस्तथागन्तुमपि प्रवृद्ध।
तत्रानुबन्ध प्रकृतिं च सम्यग् ज्ञात्वा तत. कर्म समाचरेत्' ( च सू. अ १९ )

निज तथा आगन्तुज रोगो के इस अनुवन्ध का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि एक ही रोगी मे अनेक रोग उपस्थित देख कर प्रथम यह निदान करना उचित है कि इसमे कौन रोग अनुवन्ध्य ( पहले से वर्त्तमान ) है तथा कौन अनुवन्ध अर्थात् पीछे से हुआ है। इसी प्रकार यह भी जान लेना आवश्यक है कि कौन स्वतन्त्र है तथा कौन परतन्त्र है अथवा कौन उपद्रवभूत है। ऐसा विवेचन कर चिकित्सा करने से सफलता मिलती है।

**चारों प्रकार के रोगों में परस्परानुवन्ध**—निज, शारीर, मानस तथा आगन्तुक इन सभी रोगो मे परस्पर अनुवन्ध प्राय जीर्ण तथा वृद्धिगत होने पर ही होता है।[1] तात्पर्य यह है कि रोगो का दोषो से अविनाभाव सम्बन्ध है। निज शारीर और निज मानस रोगो मे तो दोषो की कारणता स्पष्ट ही होती है। आगन्तुक रोगो मे भी चक्रपाणि के अनुसार दोषो का वैषम्य पहले से होता है परन्तु उसका प्रमाण इतना नही होता कि वह कोई तत्काल लक्षण प्रकट कर सके अत उसे प्राधान्य नहीं दिया जाता।[2]

**व्याधि और दूष्य ( धातु तथा मल )**—रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सातो को धातु कहते हैं। इनका नाम धातु इसलिए है क्योकि ये शरीर का धारण करते हैं। वातादि दोषो, उपधातुओ तथा मलो की अपेक्षा शरीर का धारण तथा पोषण-कार्य, शरीर के रूप-निर्माण का कार्य-इनसे विशेष या मुख्य रूप मे होता है।[3] समावस्था मे दोष तथा मन भी शरीर का किसी न किसी रूप मे धारण करते हैं, परन्तु उनका यह कार्य गौण रूप मे होता है। उनका मुख्य कार्य शरीर तथा शरीर-धातुओ को दूषित तथा मलिन करना होने से क्रमश. दोष तथा मल उनकी प्रधान संज्ञा हुई है।[4]

उपधातु भी शरीर का धारण करते हैं परन्तु पोषण नही करते। अत उन्हें धातु नही कहा गया है। धातुओ के साथ शरीर के धारण करने मे सहायक होने से इन्हे 'उपधातु' कहा गया है। उपर्युक्त रसादि धातु, उपधातु तथा मल कुपित हुए दोषो से दुष्ट होकर विभिन्न रोगो की उत्पत्ति करते हैं, अत इन्हे दूष्य कहा है।[5]

---

१ २ 'सर्वेऽपि खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगा परस्परमनुबध्नन्ति, न चान्योऽन्येन सह सन्देहमापद्यन्ते ॥' ( च सू २०-६ )

३ ( i ) 'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव । सप्त दूष्या ( अ ह. सू. १ )

( ii ) 'वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्या ' ( अरुणदत्त )

( iii ) 'त एते ( रसादय ) शरीरधारणाद् धातव इत्युच्यन्ते' ( सु सू १४ )

४ ( सु सू १४-२० ) पर डल्हण तथा चक्रपाणि )

५ अ ह सू १ पर अरुणदत्त

इन उपर्युक्त धातुओं की अन्नपान रस से पुष्टि होती है।[1] अन्नपान का जाठराग्नि की क्रिया से इसका पाक होता है। पाक होने पर उसका सार तथा किट्ट भाग में विभाजन होता है। सार भाग से देह धातुओं का तथा किट्ट भाग से मलों का पोषण होता है। जाठराग्नि द्वारा पाक होने के पश्चात् अन्न रस का भूताग्नि तथा धात्वग्नियों द्वारा पुनः परिपाक होता है। इस परिपाक में भी दो प्रकार का अर्थात् प्रसाद भाग का तथा किट्ट भाग का निर्माण होता है। प्रसाद भाग से धातुओं का तथा किट्ट भाग से मलों का पोषण होता है। इस पाक तथा परिपाककाल में जाठराग्नि तथा धात्वग्नि की दुर्बलतावश आम रस की उत्पत्ति होती है। यह आम जब शरीर के धातु प्रवाह में संचरण करता है तो स्रोतोरोधादि पूर्वोक्त आम के लक्षणों को उत्पन्न कर दोष, धातु तथा स्रोतों के अनुसार व्याधि ( रोग ) उत्पन्न करता है

अन्न रस से धातुओं तथा मलों की उत्पत्ति सभी आचार्यों को अभिमत है। उत्पत्ति के प्रकार में थोड़ा मतभेद है। इसमें तीन मत उपलब्ध होते हैं ( १ ) क्रमपरिणाम या क्षीरदधिन्याय, ( २ ) केदारीकुल्या न्याय और ( ३ ) खलेकपोत न्याय ( इसका वर्णन लेखक के 'त्रिदोष तत्त्वविमर्श' में देखें )।

**उपधातु तथा उनके पोषक धातु**—जिस प्रकार पूर्व-पूर्व धातु के प्रसाद भाग से उत्तरोत्तर धातु की पुष्टि होती है इसी प्रकार तत्तद् धातु के प्रसादांश से तत्तद् उपधातु के भी पोषण होते हैं। उपधातुओं का वर्णन चरक ने इस प्रकार किया है—

रस के प्रसादांश से स्तन्य तथा आर्त्तव इन दो उपधातुओं का पोषण होता है। रक्त के प्रसादांश से कण्डराओं तथा सिराओं का पोषण होता है। मांस के प्रसादांश से वसा तथा त्वचाओं का पोषण होता है। मेद के प्रसादांश से स्नायु तथा सन्धियों का पोषण होता है। इस प्रकार उपर्युक्त स्तन्य, आर्त्तव, कण्डरा, सिरा, वसा, त्वचायें और स्नायु ये सात उपधातु हैं।[2]

रस से शुक्र पर्यन्त सात धातुओं में व्याप्त तथा उनके परम सारभूत स्नेह को 'ओज' कहते हैं। यह बल का परम कारण होने से 'बल' भी कहलाता है।

---

१. 'तत्रैषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता' ( सु. सू. अ. १४-११ )

२ ( i ) रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवाः॥ ( च. चि. १५-१४ )

( ii ) 'ते च स्तन्यादयो धात्वन्तरापोषणाच्छरीरधारका अपि उपधातुशब्देनोच्यन्ते।' ( चक्र )

( iii ) सिरास्नायुरजःस्तन्यत्वचोगतिविवर्जिताः।
धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्ते उपधातवः॥' ( भोज'-चक्रः )

कोई-कोई आचार्य इसे भी उपधातु मे ग्रहण करते हैं। इसे शुक्र का उपधातु मानते हैं।[1]

**मल तथा उनके उत्पादक धातु**—पुरीष, मूत्र, अधोवायु, कफ, पित्त, कर्ण-नासिका-नेत्र-मुख और जननावयव-इनके मल, स्वेद, केश श्मश्रु (दाढीमूछ), रोम, नख, नेत्र तथा त्वचा का मल—ये सब मल शब्द से ग्रहण किये जाते हैं। ये मल इसलिए कहे जाते है क्योकि ये आहार के मल ( किट्ट ) भाग से उत्पन्न होते हैं तथा शरीर को मलिन करते हैं।[2]

इनमे पुरीष, मूत्र तथा अधोवायु अन्नपान के मल हैं। पित्त रक्त का मल है। रस का मल कफ है। मास का मल—कर्ण-नासिका-नेत्र-मुख तथा बाह्यजननेन्द्रियो मे रहने वाले, कर्णगूथ, सिंघाणक, नेत्रकीच, निष्ठ्यूत आदि हैं। स्वेद मेद का मल है। केश-श्मश्रु, रोम तथा नख अस्थि के मल हैं। नेत्र तथा त्वचा का स्नेह मज्जा का मल है। कुछ आचार्यों का मत है कि शुक्र का मल श्मश्रु ( दाढी-मूछ ) है। परन्तु अधिक लोगो का मत है कि शुक्र सुवर्ण के समान निर्मल होता है।[3]

जिस प्रकार धातुएँ वातादि द्वारा दूषित होती हैं उसी प्रकार मल भी वातादि द्वारा दूषित होते हैं। अत इन्हे भी 'दूष्य' कहते हैं। तात्पर्य यह कि दोष ( वातादि ) जिस प्रकार धातुओ को दूषित कर रोगो को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार मलो का भी दूषित कर रोग उत्पन्न करते हैं।

यद्यपि रोग के प्रकरण मे चिकित्सा-सौकर्य तथा स्पष्ट बोध के लिए रोगो के वातजादि दोषज, रसजादि धातुज तथा पुरीषज आदि मलज प्रभृति विभेद किये गये हैं तथापि वस्तुस्थित्या ये सब रोग दोषज ही हैं।

रोग जितने भी हैं, उन सब का मूल वात-पित्त-कफ हैं। परन्तु रोगो के जो नाना भेद देखे और बतलाये जाते हैं उसका तात्पर्य यह है कि दोषो का ससर्ग जिस धातु, उपधातु या मल के साथ होता है उसके अनुसार रोगो की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि दोषो से रोगोत्पत्ति मुख-नेत्रादि जिन-जिन अवयवो मे अथवा रसादि स्थानो में होती है उनके अनुसार एवं रोग के कारणभूत एक

---

१. ( i ) 'रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्पर तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते' ( सु. सू. १५ )

( ii ) · · तथैवोजश्च सप्तमम् । इति धातुभवा ज्ञेयाः सप्तैव उपधातवः (शा पू. ५)

२. च. चि. १५, सु सू. अ. ४६

३. च. सू अ. २८, अ. हृ. सू १

या अनेक दोष अथवा आघात आदि आगन्तुक कारणों के अनुसार रोगों के लक्षणों तथा चिकित्सा में भेद होता है।[1]

व्याधि ( रोग ) में धातुओं का विचार परमावश्यक है। कारण—दोष तथा तज्जन्य विकार जब धातुगत हो जाते हैं तो वे क्रमशः उपचित हो जड़ पकड़ लेते हैं और उनका उन्मूलन कठिन हो जाता है। जिस प्रकार दुष्ट ग्रह मन्त्रों के प्रभाव को नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार धातुगत विकार उपेक्षा से जड़ पकड़ लेने पर वृद्ध वृक्ष के समान हो जाते हैं और औषधों के प्रभाव को भी निष्फल कर देते हैं।[2]

दोष-धातु और मल शरीर के मूल अर्थात् उपादान ( समवायि ) कारण हैं। जिस प्रकार घट मृत्तिका से तथा पट तन्तुओं से बना होता है उसी प्रकार यह शरीर भी दोष, धातु और मल के योग से बना होता है। उद्भिज्जों में जो स्थान मूल का है वही स्थान शरीर में दोष-धातु-मल का है। जिस प्रकार उद्भिज्जों की वृद्धि, क्षय किं वा आरोग्य और अनारोग्य मूल पर ही अवलम्बित रहता है, उसी प्रकार शरीर की वृद्धि, क्षय तथा आरोग्य एवं अनारोग्य शरीर के मूल हेतु दोष, धातु और मल पर अवलम्बित है। पथ्य सेवन करने से जब ये अविकृत रहते हैं तब शरीर भी अविकृत अर्थात् स्वस्थ रहता है। ये ही अपथ्य-सेवन से विकृत हो शरीर को भी विभिन्न प्रकार से विकृत या रुग्ण करते हैं।[3]

शरीर में पाये जाने वाले द्रव्यों के ये उपर्युक्त तीन वर्ग हैं। ये वर्गीकरण इनके मुख्य व्यापारों के आधार पर किये गये हैं। दोष स्वभाव होने से अर्थात् शरीर को दूषित करने का मुख्य स्वभाव होने से -वात-पित्त-कफ दोषवर्ग में कहे गये हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र मुख्य रूप में शरीर-धारण स्वभाव वाले होने से धातु वर्ग में रखे गये हैं। उपधातुयें इनके उक्त कार्य में सहायक होती हैं। शरीर को मलिन करने का स्वभाव होने से पुरीष, मूत्र

१. ( i ) सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्। ××× दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः। ( सु. सू. २४ )

( ii ) त एव वातपित्तश्लेष्माणः स्थानविशेषे प्रकुपिता व्याधिविशेषान् अभिनिर्वर्त्तयन्ति। तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् स्थाने ये व्याधयः सम्भवन्ति तांस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः॥ ( च. सू. २८ )

२ 'क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः।
न शक्योन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्राणि दुष्टग्रहो यथा॥' ( सु. सू. २३ )

३ ( i ) 'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्।' ( सु. सू. १५ )

( ii ) 'त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च।
देहं संधारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः॥' ( सु. उ. ६६ )

तथा स्वेदादि को मलवर्ग मे कहा गया है। इनकी उत्पत्ति भी आहार के तथा धातुओ के मलभाग से होती है अत इन्हे मल कहते हैं। इनका दूसरा नाम किट्ट है। जिस का मूलार्थ वहिर्गमन होता है। अत. ये वहिर्गमन स्वभाव वाले होते हैं।[1]

इन तीन वर्गों मे भी दोष वर्ग का ही प्राधान्य रहता है। कारण—शरीर के सम्पूर्ण जीवनोपयोगी व्यापार के मूलसाधक ये दोष ही हैं। ये अपनी सम या प्रकृत अवस्था मे शरीर के सभी व्यापारो का सम तथा प्रकृत ( Normal condition ) अवस्था मे अवाध रूप से सञ्चालन करते हैं। इनके प्रकृतिस्थित या समावस्थास्थित रहने से धातुक्रिया ( Metabolic funciton ) तथा मलक्रिया ( Exc1etory function ) भी प्रकृत ( Normal ) रूप मे चलती रहती है। परिणामस्वरूप स्वास्थ्य अक्षुण्ण वना रहता है। जब ये विकृत होते हैं तो इनकी क्रिया तथा धातु और मलक्रिया भी विकृत हो जाती है और शरीर मे नानाविध रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

जिस प्रकार वाह्यसृष्टि मे वायु, सूर्य और चन्द्र की गति दुर्विज्ञेय है उसी प्रकार शरीर मे उनके प्रतिनिधि रूप वात, पित्त और कफ की गति भी दुर्विज्ञेय है। प्राणधारियो के देह मे ये नित्य ( सदा वने रहनेवाले ) वात, पित्त, कफ. तीनो प्रकृतरूप मे या विकृतरूप मे रहते हैं। अव चिकित्सक को इनके प्रकृत-रूप का तथा विकृतरूप का ज्ञान होना परमावश्यक है। जिज्ञासुओ को सतर्कता से इनको उभयविध अवस्थाओ का ज्ञान करना चाहिए।[2]

**व्याधि की अभिव्यक्ति मे दोषों की विभिन्न अवस्थायें**—दोषो की विषमावस्था का ही नाम रोग या व्याधि है, यह पहले कहा जा चुका है। अत दोषो के वैषम्य की जो अवस्थायें हैं वे ही व्याधि की भी अवस्थायें हैं। दोष-वैषम्य की उत्तरोत्तर छ अवस्थायें होती हैं। इन अवस्थाओ का ज्ञान प्रत्येक सिद्धैषी-चिकित्सक के लिए परमावश्यक है। ये छ अवस्थायें इस प्रकार हैं —( १ ) सञ्चय, ( २ ) प्रकोप, ( ३ ) प्रसर, ( ४ ) स्थानसश्रय,

---

१ ( i ) 'धातवो रसरक्तमासमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि स्वेदविन्मूत्राणि वातपित्तकफाश्चोच्यन्ते तेषामपि शरीरधारकत्वात्' × ×। (सु चि. ५।२९ पर डल्हण)

( ii ) 'धातवो हि देहधारणसामर्थ्यात् सर्वे दोषादय उच्यन्ते।'
( अ. स सू. १० में इन्दु

२ ( i ) लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गति।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च॥ ( च. चि अ. २८ )

( ii ) नित्या॰ प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रय।
विकृता॰ प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डित॥ ( च. सू. १८ )

( ५ ) व्यक्ति और ( ६ ) भेद। दोषों की इन उपर्युक्त ६ अवस्थाओं का ज्ञान रखने वाला ही वैद्य या भिषक् कहलाने का अधिकारी है।[1]

इन उपर्युक्त अवस्थाओं का ज्ञान, चिकित्सक को उन-उन अवस्थाओं मे प्रतिकारार्थ सतर्क करता है। चिकित्सक की यह सतर्कता व्याधि को आगे बढ़ने मे रोकती है। इन विभिन्न अवस्थाओं मे क्रिया ( प्रतिकार की अवस्था ) की उपस्थिति होने मे आचार्यो ने इसे 'क्रियाकाल' भी कहा है। क्रियाकाल का वर्णन यथास्थल करेंगे। आचार्य ने सतर्क तथा सचेत किया है कि इन क्रियाओं की उपस्थिति होने पर उसकी उपेक्षा न करे।[2]

**१. सञ्चयावस्था**—सञ्चय का अर्थ एकत्र होना है। दोषों का अपने-अपने स्थान पर वृद्ध होना सञ्चय कहलाता है। दोषों के अपने धाम ( स्थान ) मे वृद्धि होने मे उस दोष के ( जो सञ्चय होता है ) वृद्धि हेतु मे द्वेष ( अनिच्छा ) उत्पन्न होती है और उसके ( उस दोष के ) विपरीत गुणों ( गुणवाले आहार-विहार ) मे इच्छा होती है।[3]

प्रत्येक दोष का शरीर के विभिन्न अवयवों मे स्थान नियत है। यद्यपि ये दोष सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है तथापि 'व्यपदेशस्तु भूयसा' के अनुसार जो दोष शरीर के जिस अवयव मे अधिक रूप ( द्रव्यरूप या व्यापार रूप ) से निवास करता है वह उसका स्थान माना गया है।

**दोषों का स्थान**—सर्व शरीरचर होते हुए भी दोषों का कोष्ठ मे एक-एक विशिष्ट स्थान माना गया है। जैसे—हृदय और नाभि के अधो भाग मे वायु का, मध्य भाग मे पित्त का और ऊर्ध्व भाग ( ऊपर के भाग ) मे कफ का स्थान माना गया है। इसी प्रकार वस्ति, हृदय और मूर्धा ( शिर ) भी क्रमश. वायु, पित्त और कफ का स्थान माना गया है।[4] दोषों का दूष्यों मे आश्रयाश्रयि भाव सम्बन्ध भी है। अत अस्थि धातु वायु का, स्वेद और रक्त धातु पित्त

---

१. 'सञ्चय च प्रकोप च प्रसर स्थानसंश्रयम्।
व्यक्ति भेद च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्॥' ( सु सू २१ )

२. 'प्रयोनयेत् क्रियां प्राप्तां, क्रियाकाल न हापयेत॥'

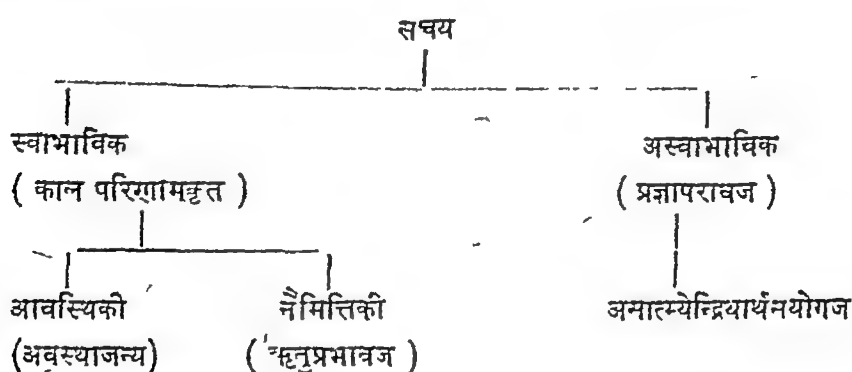
३ ( i ) 'चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव, प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा च ... ... . ... ॥' ( अ. हृ. सू. १२ )
( ii ) तत्र सञ्चितानां दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता, पीतावभासता, मन्दोष्मता च, अङ्गानां गौरवमालस्यम्, चय कारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति। तत्र प्रथमः क्रियाकाल॰।' ( सु. सू. अ. २१ )

४. ( i ) 'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रया।' ( अ. हृ. सू. १ )
( ii ) 'वातपित्तकफा नृणां वस्तिहृन्मूर्धसंश्रयाः'॥ ( च. चि. २८ )

का तथा शेष रस-मास-मेद-मज्जा-शुक्र-मूत्र-पुरीष आदि कफ का आश्रय कहा गया है।[1] इनके अतिरिक्त इन दोषो के भेदानुसार भी इनके विभिन्न स्थानो का वर्णन शास्त्र मे उपलब्ध होता है।

इन उपर्युक्त स्थानो मे वातादि दोषो की अपने-अपने समान गुण-कर्म वाले आहार-विहार के सेवन से अपने-अपने स्थानो मे जो वृद्धि होती है, तथा शरीर मे बाहर से प्रविष्ट विषजीवाणु प्रभृति की शरीर मे अनुकूल अवस्था पाने पर जो वृद्धि होती है उसको 'चय' या 'सञ्चय' कहते है। जिन कारणो से वातादि दोषो का सञ्चय हुआ होता है उनके ( उन आहार-विहारो के ) प्रति द्वेष ( सेवन की अनिच्छा ) तथा उन ( आहार विहार ) से विपरीत गुणवाले आहार-विहार के सेवन की इच्छा होना, यह सामान्य लक्षण सब दोषो के सचय होने पर होता है। जैसे वायु का सचय होने पर उदर जकडा सा और वायु से भरा हुआ प्रतीत होता है, पित्त का संचय होने पर शरीर मे कुछ पोलापन और उष्णता तथा कफ के सचय होने पर शरीर मे भारीपन और आलस्य का अनुभव होता है।

यह सचय दो प्रकार का होता है जैसे—( १ ) स्वाभाविक और ( २ ) अस्वाभाविक।




**१—आवस्थिकी**—बाल्यावस्था मे कफ, युवावस्था मे पित्त और वृद्धावस्था मे वात का स्वभाव से ही सचय होता है। यह सचय अवस्था के प्रभाव मे होने के कारण 'आवस्थिकी सचय' कहा जाता है।

**२—परिणामकृत**—ग्रीष्म ऋतु मे वायु का, वर्षा ऋतु मे पित्त का तथा शिशिर ऋतु मे कफ का सचयकाल ( ऋतु ) स्वभाव से होता है। यह नियम है कि रूक्षादि गुण जब उष्णता से युक्त होते है तब उनसे वायु का सचय होता

---

१ 'तत्रास्थिनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः।
श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः॥' ( अ. हृ. सू. ११ )
'शेषेषु—रसमांसमेदोमज्जाशुक्रमूत्रपुरीषप्रभृतिषु' ( अरुणदत्त )

है। ग्रीष्मकाल में ऋतु का स्वभाव उष्ण होता है और भगवान् सूर्य के उत्तरायण में होने से (भारतीयों के) शरीर में (आदानकालवश) स्नेहांश की कमी और रूक्षभावों की वृद्धि होती रहती है। अत कालप्रभाववश ये ग्रीष्मकाल में लघु रूक्षादि ओषधियों के सेवन से वर्द्धमान रूक्षादि शारीरभाव ग्रीष्म के उष्णप्रभाव से ग्रीष्म ऋतु में शरीर के अन्दर वायु का सञ्चय स्वभाव से ही करते हैं।[1] ग्रीष्म ऋतु के उष्णप्रभाव से वायु का प्रकोप नहीं होने पाता। इसी प्रकार तीक्ष्णादि पित्तप्रकोपक गुण शीत के साथ होने पर पित्त का सञ्चय करते हैं। अर्थात् वर्षा ऋतु में जल तथा ओषधियों के अम्ल विपाक होने से तथा शरीर के अन्दर तीक्ष्ण आदि भावों की पूर्णरूप में शान्ति न होने से, तथा अम्लविपाकी ग्रीष्मकालीन औषधों के सेवन से तथा वर्षा-कालीन शीत के प्रभाव से शरीर के अन्दर पित्त का प्रकोप न होकर संचय ही होता है। इस काल में भगवान् आदित्य दक्षिणायन हो जाते हैं, अतः प्राणियों के शरीर में स्नेहांश का सञ्चय प्रारंभ हो जाता है। अम्लरस वनस्पतियों में वृद्धि पाते हैं परन्तु ग्रीष्मकालीन वृद्ध तीक्ष्णादि गुण पूर्णरूपेण शान्त नहीं हुए रहते, अपितु वर्षाकालीन शीत से युक्त होकर शरीर के अन्दर अम्लविपाकी ओषधियों के सेवन से पित्त का सञ्चय करते हैं।[2] इसी प्रकार स्निग्धादि कफप्रकोपक गुण शीत के साथ होने पर कफ का सञ्चय ही करते हैं। हेमन्त ऋतु का प्रभाव शीत है और उस ऋतु में भगवान् सूर्य के दक्षिणायन होने से ऋतु का विसर्गकाल रहता है। जिससे शरीर के अन्दर स्निग्धभावों की पुष्टि होती है और मधुरादि स्निग्धरसों की वनस्पतियों में वृद्धि होती है।[3] हेमन्तकाल में उदक तथा ओषधियों के शीत और स्निग्धगुणविशिष्ट होने से तुल्यकाल में तुल्यगुणवाले शरीर में स्कन्दनभाव के कारण कफ का प्रकोपन

---

१. (i) 'ग्रीष्मे सञ्चीयते वायुः, वर्षासु चीयते पित्तम्; हेमन्ते चीयते श्लेष्मा।' (अ. हृ सू १२)

(ii) 'चयप्रकोप प्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु।
वर्षादिषु तु पित्तस्य, श्लेष्मण शिशिरादिषु॥' (अ. हृ सू १२)

(iii) 'उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायो कुर्वन्ति सञ्चयम्।
चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभि, समीरण॥
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति॥' (अ हृ सू. १२)

२. (i) 'शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते।'

(ii) 'अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम्।
पित्त याति चय, कोप न तु कालस्य शैत्यत॥' (अ हृ सू. १२)

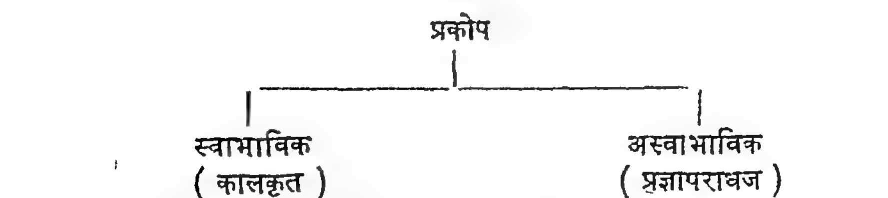
३ 'शीतेन युक्ता स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मसञ्चयम्।' (अ. हृ सू १२)

होकर संचय ही होता है ।[१] यह स्वाभाविक ( कालकृत ) सचय का वर्णन है । तात्पर्य यह कि, अस्वाभाविक दोषो का सचय हमारे प्रज्ञापराधजन्य मिथ्या-आहार-विहार के कारण हुआ करता है । यह काल की अपेक्षा नही करता । जब हम अपने मिथ्या आहार-विहार से सचय की परिस्थिति उत्पन्न कर लेते हैं तब दोषो का सञ्चय प्रारम्भ हो जाता है ।[२]

सचयकाल चिकित्सा करने का प्रथम अवसर है । सचयकाल मे ही दोषो का निर्हरण कर देने से प्रकोपादि उत्तर अवस्थायें उत्पन्न नही होने पाती ।[3]

**२. प्रकोपावस्था**—संचयावस्था मे जब दोषो का प्रतिकार ( निर्हरण आदि ) नहीं किया जाता तो दोष अर्थात् सचित ( अपने स्थान मे वृद्ध ) दोष उन्मार्गगामी हो जाते हैं । उन्मार्ग गामी से अभिप्राय दोषो का उफनना, उमडना तथा प्रसराभिमुख होना है । इस अवस्था को आयुर्वेद-वाङ्मय मे 'प्रकोप' कहते हैं । ये प्रकुपित दोष अपने लक्षणो का प्रदर्शन करने लगते हैं । जैसे वायु का प्रकोप होने पर पेट मे सूई चुभने सी वेदना और उदर मे वायु का सञ्चार ये लक्षण होते हैं । जब पित्त का प्रकोप होता है तब खट्टी डकार, प्यास और दाह ( जलन ) ये लक्षण होते हैं । इसी प्रकार जब कफ का प्रकोप होता है तब अन्नग्रहण मे अरुचि, अन्नद्वेष और जी मचलाना ये लक्षण होते हैं ।[४] यह चिकित्सा करने का द्वितीय अवसर है । इस समय चिकित्सा नहीं करने से दोष उत्तरगति को प्राप्त हो प्रसरावस्था मे चले जाते हैं । वातादि दोषो के प्रकोपणो का वर्णन पहले किया जा चुका है ।

यह प्रकोप भी स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेद से दो प्रकार का होता है ।




१. 'चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधाभि. कफ ।
तुल्येऽपि देहे काले च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ॥' ( अ हृ सू १२ )
२ इति कालः स्वभावोऽयम् , आहारादिवशात् पुनः चयादीन् यान्ति सद्योऽपि ।'
( अ हृ सू १२ )
३ 'सचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरागती' ।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तरा ॥' ( सु सू अ २१ )
४ 'कोपस्तून्मार्गगामिता । लिङ्गाना दर्शन स्वेषामस्वास्थ्य रोगसम्भव ।'
( अ हृ. सू. २१ )

**स्वाभाविक प्रकोप**—प्रावृट् तथा वर्षाकाल में ऋतुस्वभाव से ही वायु का प्रकोप होता है। रूक्षादिगुण जब शीत के साथ संयुक्त होते हैं तो उनसे वायु का प्रकोप होता है अतः ग्रीष्मकाल (जो आदानकाल है) में ऋतु के प्रभाव से शरीर के अन्दर बढ़े हुए रूक्षादि गुण वर्षाकाल में ऋतुगतज अर्थात् वर्षाजन्य शीत से संयुक्त होकर वायु का प्रकोप करते हैं।[1]

इसी प्रकार शरद् ऋतु में ऋतुस्वभाव से ही पित्त का प्रकोप होता है। तीक्ष्ण आदि गुण जब उष्ण के साथ संयुक्त होते हैं तो पित्त का प्रकोप करते हैं। प्राणिशरीर में वर्षाकालीन सञ्चित हुआ पित्त शरद्काल में 'सहसा सूर्य किरणों की ऊष्मा से प्रकुपित हो जाता है।'

इसी प्रकार वसन्त ऋतु में ऋतुस्वभाव से ही कफ का प्रकोप होता है। स्निग्ध आदि कफवर्द्धक गुण जब उष्ण के साथ संयुक्त होता है तब वह कफ का प्रकोप करता है। हेमन्त ऋतु में सञ्चित हुआ कफ जब वसन्त में सूर्य की किरणों से पिघलता है तब उसका प्रकोप होता है।[3] इस प्रकार दोषों का प्रकोप स्वभाव से ही उक्त ऋतुओं में हुआ करता है।

---

तत्र प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लिकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। तत्र द्वितीयः क्रियाकालः। (सु. सू. अ. २१)

१ (i) 'वायुः प्रावृट्काले, वर्षाकाले वा प्रकुप्यति।'
(ii) 'शीतेन युक्ता रूक्षाद्याः कोपं (वायो) कुर्वन्ति।' (अ. हृ. सू. १२)

(iii) 'आदानदुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बलः।
स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः॥' (च. सू. अ. ६)

२ (i) 'पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति।'
(ii) 'उष्णेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याः कोपं पित्तस्य कुर्वते।' (अ. हृ. सू. १२)

(iii) 'वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः।
तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति॥' (च. सू. ६)

३ (i) 'श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति'
(ii) 'उष्णेन युक्ता स्निग्धाद्याः कोपं कुर्वन्ति श्लेष्मणः।' (अ. हृ. सू. १२)

(iii) 'हेमन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥' (च. सू. ६)

**अस्वाभाविक प्रकोप**—मिथ्याहार-विहार के कारण दोषो का अस्वाभाविक प्रकोप होता है। यह प्रकोपावस्था चिकित्सा का दूसरा अवसर अर्थात् दूसरा क्रियाकाल कहलाता है। यदि इस काल मे इसका प्रतिकार नही किया गया तो दोष उत्तरगति को प्राप्त हो प्रसरावस्था मे पहुच जाता है।

प्रसगवश दोषो की स्वाभाविक प्रशमावस्था का भी वर्णन कर देना आवश्यक है। दोषो का प्रशम भी सचय-प्रकोप की तरह स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे—स्वभाव से ही शरद् ऋतु मे वायु का, वसन्त ऋतु मे पित्त का और प्रावृट् या वर्षाऋतु मे कफ का प्रशमन होता है। इसका कारण यह है कि स्निग्ध आदि गुण उष्ण से सयुक्त हो वायु का, मन्दादिगुण शीत से सयुक्त हो पित्त का और रूक्षादिगुण उष्ण से सयुक्त हो कफ का प्रशमन करते हैं।

शरद्ऋतु विसर्ग के मध्य मे पडता है अत उस समय प्राणियो के शरीर मे स्नेहांश की वृद्धि होती है तथा वनस्पतियो मे लवणरस की वृद्धि होती है। अत स्निग्ध गुण तथा लवणरसविशिष्ट द्रव्यो के सेवन से स्निग्ध प्राणी-शरीर मे जब शरद् ऋतु के अर्क-रश्मियो का उष्ण-प्रभाव सहसा पडता है, तब परिणामस्वरूप उष्ण से युक्त हो स्निग्धादि गुण वायु को शान्त करने लगते हैं। इसी प्रकार वसन्त ऋतु के आदानमध्य होने से प्राणी शरीर के अन्दर स्नेहांश की कमी और रूक्षांश की मध्यम प्रमाण मे वृद्धि होती है। वसन्त ऋतु मे शैत्य भी रहता है। अत ऋतु के शैत्यप्रभाववश तथा प्राणियो के तत्कालीन वृद्ध कषाय रसवाले वनस्पतियो के सेवन से शरीर के अन्दर मन्दादि गुणो की वृद्धि हो तथा उक्त ऋतुज-शैत्य से सयुक्त उक्त मन्दादि गुण स्वभाव से ही पित्त की शान्ति करते हैं। पुन प्रावृट् तथा वर्षा ऋतु मे रूक्षादि गुण उष्ण से सयुक्त होकर प्राणी-शरीर मे स्वभाव से ही कफ को शान्त करते हैं। किसी-किसी आचार्य ने ग्रीष्म ऋतु को कफ का प्रशमकाल माना है। ग्रीष्म ऋतु मे भगवान् भास्कर उत्तरायण रहते है अत यह ऋतु का आदान काल होता है। फलस्वरूप प्राणीशरीर मे स्नेहांश की कमी तथा रूक्षादिभावो की वृद्धि होती है। वनस्पतियो मे कटुरस की वृद्धि होती है। अत. ग्रीष्म की उष्णता से युक्त रूक्षादिगुण प्राणी-शरीर मे स्वभाव से ही कफ का प्रशमन करते हैं। यहाँ पर यह तथ्य सदा ध्यान मे रखना चाहिए कि भगवान् सूर्य का यह प्रभाव केवल भारतवर्ष ( India ) मे ही होता है, क्योकि भारतवर्ष भूमण्डल के उत्तरी गोलार्ध मे स्थित है।[1]

---

१. च सू अ ६, सु सू अ ६, अ हृ सू अ. ३ तथा १२।

| अवस्था | वात | पित्त | कफ |
|---|---|---|---|
| सञ्चय | ग्रीष्मऋतु ( मेष + वृष ) वैशाखख—ज्येष्ठ | वर्षा ऋतु ( सिंह + कन्या ) भाद्रपद—आश्विन | हेमन्त ऋतु ( धन + मकर ) पौष—माघ ( शिशिर )* |
| प्रकोप | वर्षा ऋतु या प्रावृट्* ( मिथुन + कर्क ) आषाढ—श्रावण | शरद् ऋतु ( तुला + वृश्चिक ) कार्त्तिक—मार्गशीर्ष | वसन्त ऋतु ( कुम्भ + मीन ) फाल्गुन—चैत्र |
| प्रशम | शरद् ऋतु ( तुला + वृश्चिक ) कार्तिक—मार्गशीर्ष | वसन्त ऋतु या हेमन्त ऋतु* ( पौष—माघ ) शिशिर ऋतु | प्रावृट् ऋतु या ग्रीष्म ऋतु वैशाख—ज्येष्ठ |

पित्त का प्रशम हेमन्त मे और कफ का ग्रीष्म ऋतु मे भी आचार्य मानते हैं—"तत्र पैत्तिकाना व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लैष्मिकाणा निदाघे, वातिकाना घनात्यये च स्वभावत एव।" ( सुश्रुत ), इसी प्रकार शिशिर ऋतु माननेवाले कफ का सचय और पित्त का उपशमन शिशिर मे मानते हैं तथा वर्षा मे वायु का प्रकोप मानते हैं।

## संचय-प्रकोप तथा प्रशम के लक्षण :—

| संचय के लक्षण | प्रकोप के लक्षण | प्रशम के लक्षण |
|---|---|---|
| १—अपने स्थानो मे दोषो की वृद्धि। | १—उन्मार्ग, गमन | १—अपने स्थान मे स्थिति |
| २—वृद्धि-हेतुओ मे द्वेष | २—अपने लक्षणा का प्रदर्शन | २—समता |
| ३—विपरीत-गुणेच्छा | ३—अस्वास्थ्य | ३—विकार शान्ति तथा विकारानुत्पत्ति |
| | ४—राग सभव | |

प्रशमावस्था मे दोष अपने स्थान पर आ जाते है तथा अपनी प्रकृत मात्र मे ही प्रकृतिस्थ हो जाते हैं। जिससे विकार की उत्पत्ति रुक जाती है।

दोषो के चय-प्रकोप-प्रशम आदि के ऋतुनिर्देश मे जो मतभेद दृष्टिगोचर होता है वह दृष्टिकोण का ही मतभेद है वास्तविक भेद कोई नही है। किसी आचार्य ने ऋतु प्रभाव के प्रारम्भ का ग्रहण किया तो किसी ने ऋतु प्रभाव के मध्य या अन्त की दृष्टि से वर्णन किया है।

**दोषवृद्धि की दो अवस्थायें** —उपर्युक्त संचय तथा प्रकोप दोनो ही दोषो की वृद्धावस्था हैं। इनकी वृद्धि साक्षात् रूप से, स्थानान्तर गमन से, अथवा विरोधी दोष के क्षय मे भी हो सकती है। इस वृद्धि की सक्षेप मे दो अवस्थायें या भेद माने गये हैं। यथा ( १ ) चय या सचय ( २ ) कोप या प्रकोप। इन्ही वृद्धियो के दो प्रकारो के पुन विस्तार मे ६ भेद किये गये हैं।

प्रत्येक दोष उत्पन्न होकर अपने-अपने नियत स्रोत या मार्ग से शरीर के बाहर निकलता रहता है। इससे शरीर मे उसकी समता बनी रहती है। वृद्धि और तज्जन्य-विकार नही होते। परन्तु सचयावस्था का प्रतिकार न किया जाय तो अनुकूल कारणो की उपस्थिति मे दोषो का प्रकोप होता है। इस अवस्था मे दोष अपने मार्ग से न निकलकर शरीर मे फैलने (प्रसृत होने) लगते है। इस प्रकार शरीर मे फैलकर ( प्रसृत होकर ) विभिन्न अवयवो मे पहुँचकर रोगो की उत्पत्ति करते हैं।

परन्तु यह बात भी ध्यान मे रखना चाहिए कि दोषो का प्रकोप केवल उनके सचय मात्र से नही होता। सचय के बिना भी प्रकोपानुकूल कारण उपस्थित होने पर उनका प्रकोप और उसके परिणामस्वरूप विकारोत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रकोप के दो भेद अर्थात् ( १ ) चयपूर्वक प्रकोप और ( २ ) अचय प्रकोप होते हैं।[1]

सहतिरूपा वृद्धि को चय कहते हैं और विलयनरूपा वृद्धि को प्रकोप कहते है। इनमे विलयनरूपा वृद्धि से बढे हुए दोषो का सशोधन द्वारा निर्हरण अपेक्षित है। इसी प्रकार चयपूर्वक कोप म भी सशोधन विधान से उनका सशमन करना होता है। परन्तु अचय प्रकोप में दोषो का सशमन ही किया जाता है।[2]

अचय-प्रकोप का तात्पर्य यह है कि दोषो के अपने स्थान मे सचय हुए बिना ही स्वप्रकोपणो से प्रकोप हो जाना जैसे—बली के साथ विग्रह करने से वायु का प्रकोप, क्रोध से पित्त का प्रकोप तथा दिवा-स्वाप मे कफ का प्रकोप होना।

---

१ 'वृद्धिर्हि द्विविधा—चयलक्षणा, प्रकोपलक्षणा च। तत्र सहतिरूपा वृद्धिश्चय, विलयनरूपा वृद्धि॰ प्रकोपः।' ( सु चि ३३।२ पर डल्हण )।

२ ( १ ) 'तयोर्विलयनरूपवृद्धया वृद्धा दोषा सशोधनेन निर्हर्तव्या। कुपिता इति कोपोऽत्र द्विविध—चयपूर्वकोऽचयपूर्वकश्च। तत्र चयपूर्वक कोपगता सशोधनविधानेनैव शमयितव्या॥' ( सु चि अ ३३।२ पर डल्हण )।

अचय प्रकोप को न्यूनभावज या पथ्यनिमित्तज और चय प्रकोप को अपथ्य निमित्तज तथा काठिन्यज भी कहते हैं। अपथ्य निमित्तजप्रकोप में संशोधन-चिकित्सा तथा पथ्य निमित्तजप्रकोप में संशमन चिकित्सा का विधान है।[१]

अपथ्य निमित्तज तथा काठिन्यज का अर्थ है अपथ्यसेवन अर्थात् ऋतुचर्या के विरुद्ध आहार-विहार के सेवन से उत्पन्न तथा काठिन्य अर्थात् दोषों के सञ्चय या घनत्व से उत्पन्न हुआ प्रकोप। न्यूनभावज का अर्थ है दोषों की न्यूनता अर्थात् सञ्चयाभाव से उत्पन्न प्रकोप। पथ्यनिमित्तज का तात्पर्य है कि ऋतुचर्या के अनुसार पथ्य के सेवन करने पर भी दोषों का प्रकोप होना अर्थात् स्वस्थवृत्त के विधानानुसार आहार-विहार करने पर भी दोषों का प्रकोप पथ्यनिमित्तज तथा अचयप्रकोप या न्यूनभावज प्रकोप कहलाता है। इन प्रकोप के भेदों का ज्ञान चिकित्सा के लिए परमावश्यक है।

**३. प्रसरावस्था**—सञ्चय और प्रकोप की अवस्था में यदि सञ्चित तथा प्रकुपित दोषों का प्रतिकार न किया जाय तो दोष प्रसरावस्था में इस प्रकार पहुँच जाते हैं जैसे पात्र में रखा (सन्धानार्थ) सुराबीज पिष्ट और जल में कुछ समय के बाद अभिषव-उत्सेचन (Fermentation) उत्पन्न होता है और वह (पिष्ट और जल) उफन कर अर्थात् अपना स्थान छोड़कर बाहर फैलने लगता है। अर्थात् वातादि दोष भी प्रतिकार नहीं करने पर अपना स्थान छोड़कर सम्पूर्ण शरीर में फैलने लगते हैं। इस अवस्था को 'प्रसर' कहते हैं। जिस प्रकार तालाब आदि की जलवृद्धि होने पर बाँध को तोड़कर दूसरे जल के

---

(११) 'काठिन्यादूनभावाद्वा दोषोऽन्तः कुपितो महान्॥' (च. चि. ३०-३२९)
'काठिन्यादिति दोषचयरूपसङ्घातात्। ऊनभावादचयप्रकोपात्। अचयेऽपि च दोषाणां प्रकोपो भवत्येव; यथा बलवद्विग्रहादिभिर्वायोः, पित्तस्य क्रोधादिभिः, श्लेष्मणश्च दिवास्वप्नादिभिः अयं चाचयप्रकोपो घनावयवोपचयाकर्तृत्वात् 'ऊनभावात् प्रकोप' इत्युच्यते। दोषोऽन्तः कुपितो महानित्यत्र काठिन्यात् कुपित ऊनभावाच्च कुपितो महान् भवतीति व्यवस्था।' (चक्रपाणिः)

१. सा च (ऋतुचर्या) द्विविधा शोधनी शमनी च। तत्र चयपूर्वके प्रकोपे शोधनी, अचयपूर्वके शमनी। तत्र, अष्टनाया पूर्वर्तुचर्यायां पूर्वर्तुना चितस्य दोषस्योत्तरेण यः प्रकोपः स चयपूर्वकः। स एवापथ्यजः पूर्वर्तुसेविनापथ्यजातत्वात्। कृतायां तस्यां पूर्वेणाचितस्योत्तरेण यः प्रकोपः सोऽचयपूर्वकः। स एव पथ्यजः, पूर्वर्तुसेवितपथ्यजातत्वात्। उक्तं च—

'दोषप्रकोपो द्विविधः पथ्यापथ्यनिमित्तजः।
तत्रापथ्यनिमित्तो यः स संशोधनमर्हति॥
पथ्यजः शमनीयश्च प्राय आगन्तुजश्च यः॥' (अ. हृ. सू. ३।१८ पर हेमाद्रि)

साथ मिलाकर जल भूमि पर फैलता है उसी प्रकार अत्यन्त कुपित दोष भी एक-दो या सब मिलकर आकाश में बादल की भाँति सम्पूर्ण शरीर में, आधे शरीर में अथवा उसके एक अवयव में फैलता है और वहाँ विकार ( रोग ) उत्पन्न करता है। परन्तु जो दोष अधिक प्रकुपित नहीं हुआ रहता और उसकी यदि चिकित्सा नहीं की जाय तो वह शरीर के स्रोतों में लीन होकर ( दबकर या छिपकर ) पड़ा रहता है और कालान्तर में जब अपने प्रकोपक कारणों को पाता है तो पुनः प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रकुपित होकर फैलते हुए वायु के विमार्ग गमन ( अपना स्वाभाविक मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग में जाना ) तथा उदर में अफारे के साथ गुड़गुड़ शब्द करना ( आटोप ) के लक्षण होते हैं। पित्त के प्रसर होने पर गर्मी, चूसे जाने की सी वेदना, दाह और धुआँ उठने की सी पीड़ा ये लक्षण होते हैं। कफ के प्रसर होने पर अरुचि अपचन, अङ्गों की थकावट और उल्टी आना ये लक्षण होते हैं। यह चिकित्सा करने का तीसरा अवसर है।'

उपर्युक्त प्रसर के वर्णन में सधानजन्य उद्रेक या उफान का उदाहरण इस तथ्य को बतलाता है कि जिस प्रकार सधान में सुराबीज कारण होता है उसी प्रकार प्रसर में वायु कारण होता है। यद्यपि वायु अचेतन है तथापि रजोभूयिष्ठ होने से सब भावों का प्रवर्त्तक होता है।

दोषों के प्रसर १५ प्रकार से होते हैं यथा ( १ ) वात, ( २ ) पित्त, ( ३ ) कफ, ( ४ ) रक्त, ( ५ ) वात पित्त, ( ६ ) वात कफ, ( ७ ) पित्त-कफ, ( ८ ) वातशोणित, ( ९ ) पित्तशोणित, (१०) कफशोणित, (११)

---

१ ( i ) 'अत ऊर्ध्वं प्रसरं व्याख्यास्यामः—तेषामेभिरातङ्कविशेषैः प्रकुपितानां किण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति। तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः। × × ×। स हि रजोभूयिष्ठ, रजश्च प्रवर्त्तकं सर्वभावानाम्। यथा—महानुदकसञ्चयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति।' ( सु सू अ २१ )

( ii ) 'कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वाऽपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत्तत्र कुर्वति॥
नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति॥'
एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति। तत्र तृतीयः कालः॥ ( सु सू २१ )

वात-पित्त-शोणित, (१२) वात-कफ-शोणित, (१३) पित्त-कफ-शोणित, (१४) वात-पित्त-कफ और (१५) वात-पित्त-कफ-शोणित का।[1]

चरक ने दोषों के प्रसर का वर्णन करते हुए कहा है कि व्यायाम बाह्य या आभ्यान्तर ऊष्मा, तीक्ष्ण आहार या औषध, अहित आहार-विहार का सेवन तथा स्वयं वायु का चाञ्चल्य, इन हेतुओं से दोष कोष्ठ से शाखाओं में अर्थात् रस रक्तादि धातुओं में प्रसृत होते हैं तथा परिस्थिति के अनुकूल होने पर तत्काल अथवा पश्चात् रसज, रक्तज आदि पूर्व निर्दिष्ट रोगों को उत्पन्न करते हैं।[2]

पुनः वे बढ़कर विलयन को प्राप्त होने पर तथा परिपक्व होने पर, स्रोतोमुख की शुद्धि हो जाने पर तथा अवरोधक कारण के दूर हो जाने पर और वायु के वेग का निरोध होने से रसादि धातुओं को छोड़कर कोष्ठ में आ जाते हैं।[3]

**४—स्थानसंश्रयावस्था**—प्रसरावस्था में भी यदि दोषों की चिकित्सा न की जाय तो प्रकुपित दोष स्रोतों द्वारा शरीर में फैलते हुए सम्पूर्ण शरीर में अथवा स्रोतो-वैगुण्यवश शरीर के किसी स्थान या अवयव विशेष में जहाँ रुकते हैं वहाँ एक या एक से अधिक धातुओं और मलों को (दूष्यों को) दूषित कर तथा उनके साथ मिलकर स्थानानुरूप विकार-रोग उत्पन्न करते हैं इस दोष-दूष्य के मिलन को 'दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छनावस्था' कहते हैं। इस अवस्था में भविष्य में होने वाले व्याधि के बोधक रूप उत्पन्न होते हैं। यह चिकित्सा करने का चौथा अवसर है। जब ये दोष उदर प्रदेश में स्थानसंश्रयी होते हैं तब गुल्म, विद्रधी, उदररोग, अग्निमांद्य, आनाह, विसूचिका, अतिसार प्रभृतिरोगों को उत्पन्न करते हैं।[4]

---

1 × × × तद्यथा—वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानीति एवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥ (सु. सू. २१)

2 'व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्यादहितस्यानवचारणात्।
कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिताः।
नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ॥' (च. सू. २८)

3 'वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥' (च. सू. २८)

4 'अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वक्ष्यामः। एवं कुपितास्तांस्तान् शरीरप्रदेशानागत्य तांस्तान् व्याधीन् जनयन्ति। तेषामेव सन्निविष्टानां पूर्वरूपप्रादुर्भावः। तत्र पूर्वरूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः। ते यदोदरसन्निवेशं कुर्वन्ति तदा गुल्मविद्रधि-उदराग्निसङ्गानाहविसूचिकातिसारप्रभृतीन् जनयन्ति ॥' (सु. सू. अ. २१)

जब वे वस्ति मे स्थानसश्रय करते हैं तब प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रदोष प्रभृतिरोगो को उत्पन्न करते हैं। जब मेढ्र मे पहुँचते हैं तब निरुद्धप्रकर्ष, उपदश, शूकदोष प्रभृतिरोगो को उत्पन्न करते हैं। गुदप्रदेश मे स्थानसश्रयी हो भगन्दर, अर्शप्रभृति रोगो को, वृषण मे जाकर वृद्धिरोग को, ऊर्ध्वजत्रु प्रदेश मे स्थानसश्रयी हो जत्रूर्ध्व विकारो को, त्वड्मास शोणित मे स्थित हो तो क्षुद्ररोग, कुष्ठ तथा विसर्प आदि रोगो को उत्पन्न करते हैं। मेद मे जाने पर ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी प्रभृति रोगो को उत्पन्न करते हैं। अस्थि मे जाकर विद्रधि, अनुशयी प्रभृति को, पाद मे जाकर श्लीपद, वातशोणित, वातकण्टक प्रभृतिरोगो को तथा सर्वाग मे सश्रित हो ज्वर, वातव्याधि पाण्डुरोग, शोष प्रभृति सर्वाग सश्रित व्याधियो को उत्पन्न करते हैं।[1]

पूर्वरूप की व्याख्या करते हुए आचार्य ने स्पष्ट किया है कि क्रुद्ध अर्थात् प्रकुपित हुए दोष जब स्थानसंश्रयी हो जाते हैं। तब भावि व्याधि प्रबोधक लक्षणो को प्रकट करते हैं। ये लक्षण भावि-व्याधि के बोधक होने से 'पूर्वरूप' कहलाते हैं।[2]

व्याधि की सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए पहले कह चुके हैं कि स्थान विशेष की रसायनियो या स्रोतो के किसी विकार के कारण प्रसृत होते हुए ( प्रधावन करते हुए ) प्रकुपित दोषो का यदि उस स्थान पर अवरोध हो जाय तो वे (दोष) वही रोगो की उत्पत्ति प्रारम्भ कर देते हैं। उस स्थान के रस, रक्त आदि धातुओ या अवयवो के साथ दोषो के समागम का नाम ही 'स्थानसश्रय' है।[3]

५—**व्यक्तावस्था**—यह व्याधिदर्शनावस्था है। स्थानसश्रयावस्था या पूर्व रूपावस्था मे यदि चिकित्सा न की जाय तो शोफ-व्रणशोथ, अर्बुद, ग्रन्थि,

---

१. 'वस्तिगता॰ प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूत्रदोषप्रभृतीन् , मेढ्रगता 'निरुद्धप्रकशोपदश-शूकदोषप्रभृतीन् , गुदगता भगन्दरार्श'प्रभृतीन् , वृषणगता वृद्ध , ऊर्ध्वजत्रु ता-स्तूर्ध्वजत्रुजान् ; त्वङ्मांसशोणितस्था: क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि विसर्पांश्च। मेदोगता ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डालजीप्रभृतीन् , अस्थिगता विद्रध्यनुशयीप्रभृतीन् , पादगता: श्लीपद-वातशोणित-वातकण्टकप्रभृतीन् , सर्वाङ्गगता ज्वरसर्वाङ्गरोगप्रभृतान् ।' ( सु. सू अ २१ )

२ 'स्थानसश्रयिण: क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम् ।
दोषा॰ कुर्वन्ति यल्लिङ्ग पूर्वरूप तदुच्यते ॥' ( च नि १।८ पर चक्रपाणि )

३. 'सु॰ सू २४,' । 'क्षिप्यमाणस्तु वैगुण्याद् रस॰ सज्जति यत्र स: ।
तस्मिन् विकार कुरुते खे वर्षमिव तोयद॰ ॥
दोषाणामपि चैव स्यादेकदेशप्रकोपणम् ।' (च. चि. १५)
'प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिन॰ ।
रसायनी॰ प्रपद्याशु दोषा देहे प्रकुर्वते ॥' ( अ हृ॰ नि १ )

विद्रधि, विसर्प, ज्वर, अतिसार प्रभृति रोगो के लक्षण व्यक्तरूप मे प्रगट होते हैं। इस अवस्था को 'व्यक्ति' तथा 'व्याधिदर्शन' कहते हैं। चिकित्सा करने का यह पाँचवां अवसर है।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि दोष कालस्वभाववश अथवा आहार-विहारादिवश पहले शरीर मे अपने २ धाम ( नियतस्थान ) मे सचित होते हैं और पूर्वोक्त सचय के लक्षण उत्पन्न करते हैं। जब इन लक्षणो को देखकर भी उक्त सचय के उदाहरण का उपाय नहीं होता तो दोष उन्मार्गगामी होकर प्रकोपावस्था मे पहुँच जाते हैं और अपने-अपने लक्षण को प्रकट करते हैं। यहीं से व्याधि-बीज का वपन प्रारंभ हो जाता है। इस अवस्था मे यदि व्याधिबीज के उन्मूलन का कोई उपाय नही किया गया तो प्रकुपित दोष शरीर मे स्रोतो द्वारा प्रसर ( फैलने या प्रधावन ) करने लगते हैं। इस अवस्था मे भी प्रसरोक्त लक्षणो को प्रकट करते हैं। फिर भी यदि-उसका प्रतिकार न हुआ तो स्रोतोवैगुण्यवश तत्तत् स्थानीय धातुओं तथा मलो ( दूष्यो ) से मिलकर ( दोष-दूष्य सम्मूर्च्छन होकर ) तत्तद् अवयवो मे स्थानसश्रयी ( अर्थात् जड जमा लेते है ) हो जाते हैं। इस ( जड जमने ) पर भी यदि उसका ( जड न जमने देने का तथा उन्मूलन का ) कोई उपाय ( प्रतिकार ) नहीं किया गया तो दोष, धातु तथा स्थानानुरूप रोग की अभिव्यक्ति ( व्याधिदर्शन ) होती है। व्याधिदर्शन या व्यक्ति से अभिप्राय है तत्तद् रोगो के लक्षणो की अभिव्यक्ति, जिन लक्षणो के आधार पर शोफ, अर्बुद, ज्वर, अतिसार प्रभृति रोगो का ज्ञान होता है।

परन्तु यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सभी व्याधियो का नामकरण होना दुष्कर है। अत उपलब्ध शास्त्रो मे रोग के नाम न होने से चिकित्सक को घबराना नहीं चाहिए क्योकि सभी विकारो का निश्चित नामकरण सम्भव नहीं।[2] यही कारण है कि यहाँ भी दोषो की अवस्था के वर्णन से ही व्याधि की अवस्था का सकेत किया गया है।

एक ही दोष कुपित होकर भिन्न २ कारणो से अलग-अलग स्थानो मे जाकर अनेक प्रकार के रोगो को उत्पन्न करते हैं। इसलिए ऐसे रोगो की प्रकृति, स्थान-भेद तथा कारण विशेष को जानकर चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये।[3]

---

१. अत ऊर्ध्वं व्याधिदर्शनं वक्ष्यामः। शोथार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता ज्वरातिसारप्रभृतीनाञ्च। तत्र पञ्चम॰ क्रियाकाल॰॥ ( सु सू २१ )

२ 'विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कथञ्चन।
नहि सर्वविकाराणा नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥' ( च॰ सू॰ १८ )

३. च॰ सू अ १८

६—भेदावस्था—ये ही प्रव्यक्त व्याधियाँ प्रतिकार के अभाव मे ( शल्य-प्रकरण मे अर्थात् व्रणशोथ आदि के पक्ष मे ) अवदीर्ण होकर व्रणभाव को प्राप्त हो जाती है तो उसे भेदावस्था कहते हैं। इसी प्रकार ज्वरादि रोग के पक्ष में, जब ये दीर्घकालानुबन्धी ( जीर्ण ) हो जाते हैं तो भेदावस्था में आ जाते हैं। इस अवस्था में आने पर यदि उनका उचित प्रतिकार नही हुआ तो असाध्य हो जाते हैं। यह भेदावस्था चिकित्सा का छठवाँ अवसर ( काल ) है।[1]

भेदावस्था सम्प्राप्ति के अनन्तर की अवस्था है, अत सम्प्राप्ति की पाँच अवस्थाओ मे भेद की अवस्था की गणना नही हो सकती, परन्तु किसी-किसी आचार्य ने भेदावस्था को वातजादि से भिन्न-अवस्था, ऐसा अर्थ किया है। ( डल्हण टीका )।

दोषो के सचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसश्रय, व्यक्ति और भेद, इन अवस्थाओ को जो जानता है वही वास्तव में वैद्य हो सकता है। सञ्चयावस्था मे ही हटाये गये दोष-प्रकोपादि उत्तरोत्तर अवस्थाओ को प्राप्त नही हो सकते हैं। अत दोषो के उत्तरोत्तर अवस्था मे प्राप्त होने के पहले ही उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। क्योकि उत्तरोत्तर अवस्था मे पहुँचने पर दोष अधिकाधिक बलवान् हो जाते हैं।[2]

वृद्धवाग्भट्ट और वाग्भट्ट ने सम्प्राप्ति को दो ही अवस्थायें अर्थात् सञ्चय और प्रकोप, बतलाई हैं। वाग्भट्ट के प्रसिद्ध टीकाकार हेमाद्रि ने प्रकोप मे ही प्रकोप-प्रसर स्थानसश्रय और अभिव्यक्ति तथा भेद इन पाँच अवस्थाओ का अन्तर्भाव किया है।

क्रियाकाल—क्रियाकाल का शाब्दिक अर्थ है क्रिया अर्थात् चिकित्साक्रिया का काल ( अवसर )।[3] यहाँ काल शब्द चिकित्सा के सम्बन्ध मे व्यवहृत होने मे विकार की अपेक्षा रखता है। काल दो प्रकार का होता है जैसे—( १ ) नित्य और ( २ ) आवस्थिक। आवस्थिक का सम्बन्ध इस प्रकरण मे विकार से है। लोक मे भी हम इस प्रकार का विचार करते हैं कि रोग की इस अवस्था

---

१. 'अत ऊर्ध्वमतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः। ज्वरातिसार-प्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः। तत्राप्रतिक्रियमाणोऽसाध्यतामुपयाति।'
( सु सू अ. २१ )

२. 'सचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥' ( सु सू २१ )

३ ( i ) 'क्रियाकाल इति कर्मावसरः, चिकित्सावसरश्च।' ( डल्हण सु सू २१ )
( ii ) 'कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च, तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः।' ( च वि ८ २२, ६ )

मे भेषज देना चाहिए अर्थात् अमुक अवस्था मे अमुक भेषज का काल है। इन औषधकालो मे औषध देने मे अनेक बातो का विचार वैद्य को करना पड़ता है। चरक ने आतुरावस्था का विचार करते हुए कहा है कि 'आतुर की विभिन्न अवस्थाओ मे चिकित्सक का क्या कार्य ( कर्तव्य ) है तथा क्या अकार्य ( करना उचित नही ) है इसको भी काल तथा अकाल संज्ञा दी गई है।'[1] इसी प्रकार के साम-निराम, मृदु, मध्य, तीक्ष्णादि का विचार भी औषधप्रयोग के लिए आवश्यक होता है। अरुणदत्त ने इसकी व्याख्या करते समय आम, पच्यमान, पक्व, नव ( तरुण ) तथा पुराण के विचार की भी आवश्यकता बतलाई है।[2]

**क्रियाकाल और उसकी उपादेयता**—पाठकों को स्मरण होगा कि व्याधियो तथा दोषो की विभिन्न अवस्थाओ का वर्णन करते समय 'क्रियाकाल' का संकेत किया गया है। क्रियाकाल का अर्थ है चिकित्सा का अवसर। उपर्युक्त व्याधियो की ६ अवस्थायें ही ६ क्रियाकाल हैं। यदि इन क्रियाकालो की उपेक्षा की गई तो व्याधि या दोष अपनी उत्तरोत्तर अवस्थाओं को प्राप्तकर प्रतिकार-सौष्ठव की अवस्था मे प्रतिकार-गौरव की अवस्था मे चले जाते हैं। इसलिए इन क्रियाकालो का ज्ञान आवश्यक है। क्रियाकाल ( चिकित्सा के अवसर ) के व्यतीत हो जाने पर तथा क्रियाकाल मे पूर्व ही औषध का प्रयोग लाभप्रद नहीं होता। क्योंकि काल ( उचित अवसर ) ही औषध प्रयोग की सिद्धि प्रदान करता है।[3]

अत व्याधियों की विभिन्न अवस्थाओ का ज्ञान कर तत्काल प्राप्त क्रिया ( चिकित्सा ) की व्यवस्था श्रेयस्कर है। तात्पर्य यह कि जिस क्रियाकाल मे जो चिकित्सा योग्य हो करनी चाहिये। जैसे ज्वर की आमावस्था में लङ्घनादि द्वारा पाचन ( आमपाचन ) की व्यवस्था उपयुक्त है। इस समय शोधन करने का उचित काल नहीं। इसीसे कहा है कि काल के व्यतीत होने पर तथा काल के पहले प्रयोग हुआ औषध लाभ नहीं करता। चिकित्सा काल के उपस्थित नहीं होने पर चिकित्सा करने से तथा चिकित्सा काल के उपस्थित होने पर चिकित्सा नहीं करने से तथा हीन एव अतिरिक्तचिकित्सा करने से साध्यरोग भी अच्छे

---

१ 'आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा, तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्य कालः, कालः पुनरन्यस्येति, एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण, तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा।' ( च. वि ८–१२८ )

२ ( i ) 'व्याध्यवस्था आमपच्यमानपक्वनवपुराणतीक्ष्णमृदुत्वादयः।'
( अरुणदत्त अ. हृ सू. १ )
( ii ) व्याध्यवस्था सामनिराममृदुमध्यतीक्ष्णत्वात्तत्तद्योग्या (हेमाद्रि अ. हृ सू. १)

३ 'न ह्यतिपतितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति। कालो हि प्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति।' ( च. वि ८–१२७ )

नहीं होते।[1] शीत में शीत का प्रतिकार तथा उष्ण में उष्णता का निवारण कर प्राप्त-चिकित्साकाल में चिकित्सा की व्यवस्था अवश्य करनी चाहिए। चिकित्सा के उपस्थित अवसर (क्रियाकाल) की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए।[2]

**क्रिया (चिकित्सा) के सहायक अङ्ग**—व्याधि की विभिन्न अवस्थाओं के तथा उनके क्रियाकालों के वर्णन के पश्चात् चिकित्सा का वर्णन स्वाभाविक है। परन्तु चिकित्सा के ज्ञान के पूर्व चिकित्सा के सहायक अङ्गों का ज्ञान भी आवश्यक है। चिकित्सा के मुख्य सहायक अङ्ग चार हैं यथा—

१—क्षमता या देह प्रकृतिरक्षिणी या प्रत्यनीकबल।

२—गुणवत् चतुष्पाद।[3]

३—भेषज।

४—पथ्यव्यवस्था।

**क्षमता या देहप्रकृतिरक्षिणी** (Immunity)—इस संसार में मानव सदा रोग के कारणों में घिरा रहता है। थोड़ी भी असावधानी उसे रोग के फन्दे में डाल देती है। ऐसी परिस्थिति में जब कि मानव सदा रोग-कारणों में घिरा पड़ा रहता है अर्थात् अहर्निश रोग-कारणों के सम्पर्क में आता है, फिर भी वह उन रोगों से आक्रान्त नहीं होता, इसका कारण उसकी देह-क्षमता या प्रकृति-रक्षिणी ही है। यह 'देह-क्षमता' या शक्ति यावच्छरीर नित्य बनी रहती है। यह वह शक्ति है जो हमें सदा सब प्रकार के संक्रमणों से रक्षा करती है इसे आधुनिक विज्ञान इम्युनिटी (Immunity) कहता है। हमारे चारों ओर नाना प्रकार के असंख्य रोगोत्पादक जीवाणु फैले रहते हैं और श्वासादि क्रियाओं द्वारा हमारे शरीर के अन्दर प्रविष्ट होते रहते हैं। हमारे रस तथा रुधिर में इनको तथा इनके विषों को नष्ट करने की शक्ति होती है, जिससे शरीर इन जिवाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोगों से रक्षित रहता है। इस स्वाभाविक शक्ति का ही नाम 'प्रकृतिरक्षिणी' या 'क्षमता' या 'प्रतिबल' या 'प्रत्यनीकबल' या 'विकार विघात भाव' है। क्षमता शब्द प्राचीन है जैसे 'न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति।' (च. सू. २८)। चक्रपाणिदत्त ने इसकी व्याख्या करते

---

१ 'अप्राप्ते वा क्रियाकाले प्राप्ते वा न कृता क्रिया।
क्रिया हीनातिरिक्ता वा साध्येष्वपि न सिध्यति॥'

२ 'शीते शीतप्रतीकार उष्णे चोष्णनिवारणम्।
कृत्वा कुर्यात्क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्॥' (सु. सू. ३५)

३ 'भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये॥' (च. सू. अ. ९-३)

हुए स्पष्ट रूप मे कहा है कि 'व्याधिक्षमत्व व्याधिबलविरोधित्व व्याध्युत्पाद-प्रतिबन्धकत्वमिति यावत्।' इसी प्रकार प्रतिबल या 'प्रत्यनीक बल' का प्रयोग भी संहिता ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर हुआ है।[1]

शरीर मे जीवाणुओ का प्रतिरोध अनेक प्रकारो से होता है। इनको हम २ भागो मे विभक्त कर सकते है। (१) स्वाभाविक (Natural) और (२) कृत्रिम (Artificial)। इसमे 'स्वाभाविक क्षमता' या 'देह प्रकृतिरक्षिणी' का मुख्य प्रकार जीवाणुओ का साक्षात् 'कवलन' है। रुधिर मे ल्युकोसाइट नाम के जो क्षत्रकण है वे जीवाणुओ का ग्रासकर उन्हे नष्ट किया करते है। यही कारण है कि जीवाणुओ के उपसर्ग होने पर इनकी संख्या रुधिर मे प्रभूतराशि मे हो जाती है। ये जीवाणुओं का 'कवलन' निम्न प्रकार से करते है। क्षत्रकणो का कार्य जीवाणुओं का भक्षण करना एवं संहार करना है। अत. जब जीवाणु इनके समीप आते है तब उनको ग्रास करने के लिए क्षत्रकणो मे शुण्डिकाये निकल आती है। जीवाणुओ के इन शुण्डिकाओ के मध्य मे आ जाने पर उसके शुण्डशिखर परस्पर मिल जाते हैं और क्षत्रकण के शेष अंश भी सरककर शुण्डिकाओ से मिल जाते है। इस प्रकार क्षत्रकणो मे स्वतन्त्र रूप से भी 'सर्पण' होता है। उनकी आकृति भी प्रतिक्षण इसी कारण बदलती रहती है। सामान्यत ये किञ्चित् गोलाकार होते है। इन कणो की इस क्रिया के कारण ही 'क्षत्रकण' संज्ञा हुई है। क्षत से त्राण करते है अत ये 'क्षत्रकण' कहलाते है।[2]

सामान्यत इन कणो को आधुनिक विज्ञान वाले (White blood corpuscles) श्वेतकण या 'ल्युकोसाइट' कहते है। इन कणो के आकार प्रकार तथा कर्मों से हम इन्हे कफवर्ग के द्रव्य कह सकते है। प्राकृत कफ को

---

१. (i) 'जीवदेहेषु सर्वेषु शक्तिः प्रकृतिरक्षिणी। अनिर्वाच्यादमुना नित्या बीज संसारशालिनः॥ जीवयत्यनिशं जीवान् वर्त्तते सहरत्यपि। सात्म्यग्रहण्य-सात्म्यापसारिण्येकैव सा द्विधा॥ सा सात्म्यग्रहण देहे यया गृह्णाति सात्म्यकम्। ख्याता साऽन्या यया चायमपसारयतातिवत्॥ अनयैवानर्था जीव- शक्त्या जपति सन्ततम्। बुभुक्षा च पिपासा च जायते ह्यत एव हि॥ स्वेदमूत्र-पुरीषाणि देहादपसरन्ति च। भनियुक्ते विषे पीते छर्दिश्चाशु प्रजायते॥ आममन्तर्गतं मौल्यं वहिर्यात्यनयैव हि॥ औषधेन विना व्याधिरनयैव प्रशाम्यति॥ (आ. वि.)

(ii) च. चि. ३-६९, च. नि. ४-४

२ क्षत्र—पु० क्षण+क्विप् = क्षत्—ततस्त्रायते त्रै+क।
'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र. क्षत्रस्य शब्दः।' 'इति रघुवंश' (शब्दस्तोम म नि.)

बल' तथा 'ओज' भी कहा गया है और 'बल' तथा ओज के कर्मों मे 'रोगनिग्रह' भी वर्णित है।[1]

ये उपर्युक्त श्वेतकण ( ल्युकोसाइट ) अकारण ही जीवाणुओ के 'कवलन' के लिए उत्सुक नही होते। परीक्षणो मे सिद्ध हो चुका है कि रुधिर किसी अज्ञात मत्र से इन जीवाणुओ को स्वादु बना देता है जिससे श्वेतकण सहज ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। रुधिर की इस क्रिया को 'कल्पन' ( Opsonin ) कहते है। 'ऑप्सोनीन' मूलत ग्रीक शब्द से बना हुआ है जिसका अर्थ ज्यानार ( भोजन ) की तैयारी है। इस अर्थ का द्योतन करने मे 'कल्पना' शब्द का व्यवहार प्राचीन साहित्य मे उपलब्ध होता है जैसे—'सातत्यात् स्वाद्वभावाद् वा पथ्य द्वेष्यत्वमागतम्। कल्पना विविभिस्तैस्तै प्रियत्व गमयेत् पुन ' ( च चि ३०–३२१ )। जिस मनुष्य के रक्त मे यह कल्पन शक्ति जितनी अधिक होती है उसके श्वेतकण की 'कवलन' शक्ति या 'कवलन क्रिया' उतनी ही अधिक होती है। फलस्वरूप वह जीवाणुओ के आक्रमण से उतना ही अधिक बचा रहता है। यह शक्ति उत्तम आहार और शुद्ध वायु के सेवन से प्राप्त होती है। जीवनीय युक्त आहार द्रव्यो का सेवन इस शक्ति को बढाता है। यह शक्ति कृत्रिम उपाय से भी बढाई जाती है। क्षमता के अन्य कारण भी कल्पन तथा कवलन के सहायक होते है।

रक्त के द्रवांश मे भी जीवाणुओ के सहार की शक्ति होती है। इनमे स्थित जो द्रव जीवाणुओ के सहार करते हैं उनका नाम 'जीवाणसूदन' है। इसके स्वरूप या मूल का अभी तक पता नही लग सका है।

जीवाणुओ से शरीर मे जो विकार उत्पन्न होते हैं उनका मुख्य कारण जीवाणुओ मे उत्पन्न 'विष' होता है। इन्हे निष्क्रिय करने के लिए रुधिर 'प्रतिविष' ( Anti-toxin ) उत्पन्न करता है। इस प्रतिविष के प्रभाव से जीवाणुओ द्वारा उत्सर्जित विष उदासीन हो जाता है जिससे विष का प्रभाव शरीर पर नही होता।

इनके अतिरिक्त जीवाणुओ के प्रतिरोध का अन्य साधन रक्त की 'संगमनी' शक्ति है। जीवाणुओ का प्रवेश होने पर रुधिर से 'समशन' नाम का द्रव्य उत्पन्न होता है। इनके सम्पर्क मे जीवाणु गतिशून्य होकर एक दूसरे से जुड जाते है। ल्युकोसाइट के अतिरिक्त लिम्फोसाइट मे भी जीवाणुओ के प्रतिरोध की शक्ति होती है। इनकी उत्पत्ति रसग्रन्थियो, गलग्रन्थियो, पच्यमानाशयो के अन्त मे स्थित 'पायर्स पायचेज' नामक ग्रन्थिसमूहो से तथा प्लीहा मे होती है। अनेक रोगो मे इनकी सख्या कई गुणा बढ जाती है।

---

१. च चि. अ ३

**रोगज क्षमता ( Acquired Immunity )**—प्रत्येक जीवाणु के लिए ल्युकोसाइट तो एक ही होते हैं परन्तु कल्पना, जीवाणुमूदन, प्रतिविष तथा समगन भिन्न-भिन्न होते हैं। शरीर पर जीवाणुजन्य किसी रोग का आक्रमण होने पर इन जीवाणुओं के प्रतिकारार्थ शरीर में यथोचित कल्पनप्रभृति द्रव्यों तथा ल्युकोसाइटों की अधिकाधिक उत्पत्ति होती है। रोग का आक्रमण यदि घातक सिद्ध हुआ तो यह समझना चाहिए कि शरीर में कल्पनप्रभृति द्रव्यों की उत्पादक शक्ति या दूसरे शब्दों में क्षमता या प्रकृतिरक्षिणी शक्ति या प्रतिबल या विकार-विघात भावशून्य हो गये हैं। इसके विपरीत रोग का नाश होकर शरीर रक्षित रहा तो समझना चाहिये कि शरीर की क्षमता या प्रकृतिरक्षिणी शक्ति बलवती है अर्थात् क्षमता ने रोग पर विजय प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार रोग से मुक्ति पाने पर उस रोग के जीवाणुओं को संहार करने की शक्ति शरीर में विशिष्ट हो जाती है जैसा मसूरिकाप्रभृति में। इसको रोगज क्षमता कहते हैं।[१]

**युक्तिकृत क्षमता ( Artificial Immunity )**—स्वाभाविक क्षमता के अतिरिक्त कृत्रिम उपायों से भी शरीर में क्षमता उत्पन्न की जाती है। जैसे विशिष्ट प्रकार के जीवाणुओं का वेक्सीन बनाकर टीका लगाना आदि। इसमें विशिष्ट जाति के जीवाणु अथवा उसके विष उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रा में सूचीवस्ति द्वारा ( Injeetion ) पशुओं के शरीर में ( घोड़ों में ) प्रविष्ट किये जाते हैं। परिणामस्वरूप उनके रक्त तथा रस में उस जाति के जीवाणु के विष का प्रतिविष या प्रतिरोधिविष उत्पन्न हो जाता है। इन पशुओं का रक्त निकाल-कर उसकी लसीका ( Serum ) छोटी-छोटी प्रणालियों ( Tubes ) में संग्रह कर रखी जाती है। अनागत रोगविशेष के प्रतिषेधार्थ तथा आगतरोग के प्रतिकारार्थ इस लसीका की सूचीवस्ति दी जाती है। इस चिकित्सा-पद्धति को लसीकाचिकित्सा-पद्धति ( Serum therapy ) कहते हैं। इसी प्रकार मसूरिका के प्रतिबन्ध के लिए गोमसूरिका से आक्रान्त बछड़ों के स्तनों से निकले स्राव की सूचीवस्ति दी जाती है। इस पद्धति को टीका ( Vaccination ) कहते हैं। इस युक्तिकृत क्षमता की अपेक्षा पूर्वोक्त रोगज क्षमता अधिक स्थायी होती है।

---

१ 'यदा प्रकृतिरक्षिण्या शक्त्या व्याधिर्न शाम्यति । तदैव भेषजं मेऽयमन्यथा तद्विगर्हितम् । शक्तेः प्रकृतिरक्षिण्याः प्रतिघातात् पुनः पुनः । व्याधिः संजायते तस्याः रक्षणोऽनुसरणं हितम् ॥ मानवैरवश्यं नित्यं यथा सा प्रतिहन्यते । शक्तिः प्रकृतिरक्षित्री जन्तुभिर्न तथेतरैः ॥ अतस्त एव नियतं दुष्टैः सर्वार्थनाशकैः । व्याधिभिः परिभूयन्ते दुर्भाग्या एव सृष्टिषु ॥' ( आ. वि. )

आयुर्वेद-संहिताओ मे ओज के वर्णन मे 'बल' शब्द का प्रयोग 'रोगनिग्रह' के लिए आया है।[1] वहाँ कहा है कि प्रकृत श्लेष्मा का नाम ही ओज है जो शरीर का बल कहलाता है। यह बल शरीर को रोगो के आक्रमण से बचाता है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त श्वेतकणो के रोगो को रोकने की शक्ति को प्राचीन आचार्यों ने प्रकृत श्लेष्मा या 'ओज' या 'बल' से प्रदर्शित किया है।

क्षमता या प्रकृतिरक्षिणी शक्ति के उपर्युक्त वर्णनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि चिकित्सा के सहायक इस प्रमुख अङ्ग की रक्षा करना अर्थात् शरीर मे क्षमता को अक्षुण्ण रखना चिकित्सा सिद्धि के लिए परमावश्यक है। जिन-जिन कारणो से इस क्षमता की हानि होती है उनका सर्वथा त्याग तथा उन-उन भावो का जिनसे इसकी पुष्टि होती है जैसे उत्तम जीवनीय द्रव्यो का सेवन, शुद्ध वायु का सेवन आदि का व्यवहार करना चाहिए। सक्रामक रोगो के प्रसार के समय आवश्यकतानुसार युक्तिकृत क्षमता को भी उत्पन्न करना श्रेयस्कर है क्योकि इससे शरीर की रक्षा होती है।

**सात्म्य सेवन से रोग क्षमता**—आयुर्वेद मे कहा है कि सभी रसो का अभ्यास उत्तम बल प्रदान करता है। अर्थात् जिन पुरुषो को घी, दूध, तैल, मासरस तथा छहो रस सात्म्य हो और जो सदा षड्रसमय द्रव्यो का आहार करते हो वे बलवान्, क्लेशसह तथा चिरायु होते हैं। यहाँ बलवान्[2] का तात्पर्य है रोगप्रतिकार शक्ति सम्पन्न।

रोगक्षमता या व्याधिक्षमता का प्रयोग प्राचीनो ने भी किया है। चक्रपाणिदत्त च० सू० २८—श्लोक ७ की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'व्याधिक्षमता का अभिप्राय व्याधि बल विरोध अथवा व्याधि की उत्पादक शक्ति को रोकना है।[3] अर्थात् इन स्थलो पर शरीर की रोगोत्पत्ति की प्रतिबन्धक शक्ति को व्याधिक्षमता कहा है। अत 'इम्युनिटी' का प्रति शब्द 'क्षमता' उपयुक्त प्रतीत होता है।

**गुणवत् चतुष्पाद**—चिकित्सा की सफलता तथा चिकित्सक की ख्याति एव यश.प्रशस्ति चिकित्सा के गुणवत् चतुष्पाद पर निर्भर है। चतुष्पाद के

---

१. ( i ) 'सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्।' ( च सू अ २५ )
( ii ) 'अथ च क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्।' ( च. सू अ २५ )
( iii ) 'नित्य क्षीरघृताशिनम्।' ( च चि १ )

२ 'बल काल निग्रहाय रोगाणाम् ( दोषाणाम् )।' ( च. चि अ. ३-१६६ )

३ व्याधिक्षमत्व व्याधिबलविरोधित्व व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्।' ( च सू. २८-७ पर चक्रपाणि )

अन्तर्गत (१) भिषक् (वैद्य या चिकित्सक), (२) द्रव्य (औषध), (३) उपस्थाता (परिचारक या परिचारिका) और (४) रोगी (व्याधित पुरुष), ये चार आते है। इन चारो पादो का गुणवान् (अपने-अपने शास्त्रोक्त गुणो से युक्त) होना परमावश्यक है। विकार की शान्ति मे यह गुणवान् चतुष्पाद कारण माना गया है।[1]

चिकित्सको ने षोडश कलायुक्त चतुष्पाद को ही भेषज (चिकित्सा) माना है। प्रत्येक पाद के चार मुख्य गुण कहे गये है। इस प्रकार चारो पादो के षोडश गुणयुक्त होने पर उसे षोडश कल-चतुष्पाद कहा गया है। यदि इसका उचित रूप मे (युक्तियुक्त) प्रयोग किया जाय तो साध्य रोगो को दूर करने के लिए ये पर्याप्त हैं।[2]

परन्तु यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सभी रोग साध्य नहीं होते। अत जो साध्य रोग हैं उनके सम्बन्ध मे ही उक्त विचार प्रकट किया गया है। सभी व्याधियाँ उपायसाध्य नही होती और जो व्याधियाँ उपायसाध्य होती हैं वे उपाय के विना सिद्ध (अच्छी) भी नही होती। मुमूर्षु रोगियो को रोग मुक्त करना सभव नही है। अत जो चिकित्सक इन सभी भावो की परीक्षा कर चिकित्सा मे प्रवृत्त होते है वे ही कुशल चिकित्सक होते है और उन्हे ही चिकित्सा मे सफलता प्राप्त होती है।[3] तात्पर्य यह है कि भेषजसाध्य व्याधियो मे भेषज अकारण नहीं होता अर्थात् निष्फल नहीं होता। अत अपने गुणो से सम्पन्न तथा उपकरणवान् (चिकित्सा के उपकरणो से युक्त) सभी भावो की परीक्षा कर कार्य प्रारभ करने वाला चिकित्सक साध्य रोगो को विना किसी व्यापत् के शान्त करने मे समर्थ होता है और रोगी को रोग से मुक्त कर आरोग्य प्रदान करता है।

---

१ (i) 'भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
गुणवत्कारण ज्ञेय विकारव्युपशान्तये ॥' (च. सू. ९-३)
(ii) 'वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषज परिचारक।
एते पादाश्चिकित्साया कर्मसाधनहेतवः ॥' (सु. सू. ४)

२ 'चतुष्पाद षोडशकल भेषजमिति भिषजो भाषन्ते, यदुक्त पूर्वाध्याये षोडशगुणमिति, तद्भेषज युक्तियुक्तमलमारोग्यायेति भगवान् पुनर्वसुरात्रेय।' (च सू १०-३)

३ 'नहि सर्वे व्याधयो भवन्त्युपायसाध्या', न चोपायसाध्याना व्याधीनामनुपायेन सिद्धिरस्ति, न चासाध्याना व्याधीना भेषजसमुदायोऽयमस्ति, न ह्यल ज्ञानवान् भिषङ्मुमूर्षुमातुरमुत्थापयितुम्; परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति; नहि भेषजसाध्याना व्याधीना भेषजमकारण भवति। × × भिषक् स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्मारभमाण साध्यरोगमनपराध सम्पादयत्येवातुरमारोग्येण।'
(च. सू. १०-५)

**भिषक् ( चिकित्सा या वैद्य ) के गुण**—( १ ) चिकित्सक को अपने शास्त्र का सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक ज्ञान निर्मल होना चाहिए। ( २ ) उसे चिकित्साकर्म को क्रियात्मकरूप मे बहुत बार देखा हुआ तथा स्वय किया हुआ होना चाहिए। ( ३ ) चिकित्सा के कार्य मे उसे दक्ष होना चाहिए तथा ( ४ ) चिकित्सक को स्वय पवित्र रहना चाहिए तथा चिकित्सा कार्य को भी पवित्र रूप से करना चाहिए।[1]

सुश्रुत ने कहा है कि जिस चिकित्सक को केवल शास्त्र मात्र का ज्ञान होता है और जो कर्म मे अपटु ( अपरिनिष्णात ) होता है वह रोगी के मिलने पर उस प्रकार मोह को प्राप्त होता है जिस प्रकार संग्राम मे भीरु पुरुष और जो चिकित्सक ( वंशपरम्परा से ) कर्म ( चिकित्सा कर्म ) मे निष्णात होता है परन्तु शास्त्रज्ञान ( सैद्धान्तिक ज्ञान ) से बहिस्कृत होता है वह सत्पुरुषो मे प्रतिष्ठा प्राप्त नही करता तथा राजा के द्वारा वध के योग्य ( दण्ड के योग्य ) होता है। जो वैद्य उपर्युक्त दोनो ( शास्त्र ज्ञान तथा क्रियात्मक ज्ञान ) मे अनिपुण होता है वह अपने ( चिकित्सा ) कर्म मे सर्वथा असमर्थ होता है और अधूरा ज्ञान मे सम्पन्न होने से अर्थात् केवल शास्त्रज्ञ अथवा केवल कर्मज्ञ होने से इनकी गति एक पखवाले पक्षी के समान होती है। जिस प्रकार एक पखवाले पक्षी उड़ने मे असमर्थ होते हैं उसी प्रकार ऐसे चिकित्सक अपने चिकित्सा कर्म मे भी असमर्थ होते है। जो बुद्धिमान् वैद्य उभयज्ञ होता है वह अपने अर्थ की सिद्धि मे उस प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सग्राम मे दोनो चक्रो से सम्पन्न रथ वाला सेनानी।[2]

सुश्रुत ने और भी कहा है कि चिकित्सक को गुरुमुख से चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उनके तत्वावधान मे स्वय सभी चिकित्सा कर्मो को कर लेना चाहिये। चिकित्सक को शास्त्रो के तत्त्वो का पूर्णज्ञान होना चाहिये। उसे दृष्टकर्मा, स्वयंकृती, लघुहस्त, शुचि ( पवित्र ), शूर ( शस्त्रक्रियादि करने मे साहसी ), चिकित्सा के सभी सभारो से सम्पन्न, प्रत्युत्पन्नमति, बुद्धिमान्,

---

१. 'श्रुते पर्यवदातत्व बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्य शौचमिति ज्ञेय वैद्ये गुणचतुष्टयम्॥' ( च सू ९ )

२ 'यस्तु केवलशास्त्रज्ञ कर्मस्वपरिनिष्ठित। स मुह्यत्यातुर प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥ यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्रबहिष्कृत स सत्सु पूजां नाप्नोति वध चार्हति राजत॥ उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि। अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ॥ यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने। आहवे कर्म निर्वोढु द्विचक्र स्यन्दनो यथा॥' ( सु सू ३-४८, ५०, ५०, ५३ )

व्यवसायी तथा अपने कर्मों में विशारद होना चाहिये । सदा सदा धर्मपरायण होना भी वैद्य का आवश्यक गुण है ।[1]

चिकित्सा के कार्य का गाम्भीर्य तथा महत्त्व दर्शाते हुए आचार्य ने कहा है कि 'द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक-दोष-धातु-मल-आशय-मर्म-सिरा-स्नायु-सन्धि-अस्थि-गर्भसम्भवद्रव्य-समूहविभाग तथा प्रनष्टशल्योद्धरण-व्रण-विनिश्चय-भग्नविकल्प, रोगों का साध्य-याप्य-प्रत्याख्येय विचार तथा इन प्रकार के अन्य भाव; ये सब इतने सूक्ष्म हैं कि हजारों बार चिन्ता या विचार करने वाले विमल-विपुल-बुद्धि पुरुषों की भी बुद्धि इनके विचार में आकुल हो जाती है' (सु० ) । चरक ने भी कहा है कि 'दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीर-आहार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति तथा वय की विभिन्न अवस्थाओं का विचार इतना सूक्ष्म है कि विमल विपुल बुद्धि वाले पुरुष की बुद्धि भी उनके विचार में आकुल हो जाती है तो अल्प-बुद्धि वालों का क्या कहना है ।' (च० ) ।[2] अतः वैद्य का कर्तव्य है कि वह अपने गुणों की सम्पद् के लिए सदा परम प्रयत्नशील होवे ।[3] क्योंकि एक गुणवान् वैद्य अपने आतुरों को उनके रोगों से मुक्त करने में उस प्रकार कृतकार्य होता है जिस प्रकार मंझधार में पड़ी नैया को उनके गुण ( रस्सी ) आदि से विहीन होने पर भी गुणवान् एवं कुशल कर्णधार जल से पार कर लेता है ।[4]

यही कारण है कि वैद्य को चिकित्सा के अन्य पादों से श्रेष्ठ माना गया है और प्रधानता दी गई है । वैद्य को अपने शास्त्र के अतिरिक्त इससे सम्बन्ध

---

१ ( i ) शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चासकृत् ।
य कर्म कुरुते वैद्य , स वैद्योऽन्ये तु तस्करा ॥ १ ॥ ( सु सू ४–८ )

( ii ) तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयं कृती ।
लघुहस्त. शुचि शूर. सज्जोपस्करभेषजः ॥ २ ॥ ( सु सू. ३४ )

२ ( i ) 'सूक्ष्मा हि द्रव्य रस-गुण-वीर्य-विपाक दोष धातु मलाशय मर्म सिरा-स्नायु-सन्ध्यस्थि गर्भसम्भवद्रव्यसमूहविभागास्तथा प्रनष्ट शल्योद्धरण व्रण विनिश्चय-भग्नविकल्पा. साध्य-याप्य प्रत्याख्येयता च विकाराणामेवमादयश्चान्ये विशेषा सहस्रशो ये विचिन्त्यमाना विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः, किं पुनरल्पबुद्धे. ।' ( सु सू अ ४–५ )

( ii ) सूक्ष्माणि हि दोष भेषज देश-काल बल शरीराहार सात्म्य सत्त्व प्रकृति-वय-सामवस्थान्तराणि, यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुली कुर्युः , किं पुनरल्पबुद्धे ।' (( च सू. अ. १५–५ ) ।

३ 'भिषग्बुभूषुर्मतिमानत स्वगुणसम्पदि ।
परं प्रयत्नमातिष्ठेत् प्राणदः स्याद्यथा नृणाम् ॥' ( च सू ९–२३ )

४ 'वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा ।
प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि ॥' ( सु. सू ३४–१८ )

रखनेवाले अन्य शास्त्रों का ज्ञान भी आवश्यक है। क्योंकि एक शास्त्र के ज्ञान से शास्त्र मे निपुणता नही प्राप्त होती। वैद्य को बहुश्रुत एव बहुज्ञ होना आवश्यक है।[1]

सम्पूर्ण चिकित्सा का उत्तरदायित्व वैद्य पर ही होता है। अन्य तीन पादो की क्रिया वैद्य के आदेश के अधीन होती है। अत वैद्य को सदा सतर्क रहना, धर्मपरायण होना तथा अपने कर्मों मे सदा सत्यता का व्यवहार रखना परमावश्यक है। वैद्य सभी का विश्वासपात्र होता है और वह आतुर के अत्ति का नाशक तथा प्राणदाता माना जाता है। वैद्य को प्राणाभिसर कहते हैं। अत वैद्य को कुलीन, पर्यवदातश्रुत (निर्मल शास्त्रज्ञानवाला), परिदृष्टकर्मा, दक्ष, शुचि, जितहस्त, जितात्मा, सर्वोपकरणवान्, सर्वेन्द्रियोपपन्न, प्रकृतिज्ञ तथा प्रतिपत्तिज्ञ (कर्त्तव्यपरायण) होना चाहिये।[2]

**द्रव्य (औषध द्रव्य तथा आहार द्रव्य) के गुण**—(१) औषधद्रव्य प्रभूतमात्रा मे (अर्थात् जितना जिस रोगी के लिए आवश्यक हो) होना चाहिये। (२) उस औषध द्रव्य के अन्दर जिस रोग के लिए उसका प्रयोग किया जाता हो उसको दूर करने की योग्यता या क्षमता होनी चाहिये, (३) औषध द्रव्य ऐसा होना चाहिये कि आवश्यकतानुसार उसकी नानाविध कल्पनायें (क्वाथ-चूर्ण-स्वरस-फाण्ट आदि कल्पनाये) की जा सकें (४) औषधद्रव्य अपने सम्पदो (गुणो) से युक्त होने चाहिए अर्थात् उन्हे पूर्ण रस-वीर्य-विपाक-प्रभावो से युक्त, परिपक्व, अजग्ध तथा नवीन होना चाहिये।[3]

औषध द्रव्य मात्राहीन होने पर लाभ नही करती अत उनकी उचित मात्रा होनी चाहिये। औषध द्रव्य की सिद्धि मात्रा पर ही निर्भर है। चिकित्सक के पास आवश्यक औषध द्रव्य इतनी प्रचुर मात्रा मे होना चाहिये कि आवश्यकता पड़ने पर उनको अभाव द्रव्य प्रयोग करने की आवश्यकता न पड़े। साथ ही वह द्रव्य अपने सम्पदो (गुणो) से युक्त हो तथा उनमे तत्तद् रोगो के नाश करने की क्षमता हो। तात्पर्य यह कि जो द्रव्य व्यवहार किये जायँ वे आपूर्ण रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव वाले हो, उचित काल मे सगृहीत हो तथा प्रशस्त

---

१. सु सू अ. ४

२ 'द्विविधास्तु खलु भिषजो भवन्त्यग्निवेश! प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणाम्, रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तार प्राणानामिति × × य इमे कुलीना पर्यवदातश्रुता परिदृष्टकर्माणो दक्षा शुचयो जितहस्ता जितात्मान सर्वोपकरणवन्त सर्वेन्द्रियोपपन्ना प्रकृतिज्ञा प्रतिप्रतिज्ञाश्च ते ज्ञेया प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणाम्।' (च सू अ २०-७)

३. 'बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना।
सपच्चेति चतुष्कोऽय द्रव्याणा गुण उच्यते॥' (च सू. अ. ९)

भूमिज हों, क्रिमि-कीट आदि से जन्य न हों तथा जिस रूप में जिनका प्रयोग प्रशस्त है (शुष्क या आर्द्र, नूतन या पुरातन) वैसे हों। द्रव्यों में दोष प्रशमकत्व गुण होना, स्वास्थ्यविधायक गुण होना द्रव्य के सम्पद् हैं।

ऐसे सम्पद्युक्त औषधों का प्रयोग भी सम्यक् सुविचारित तथा सुरक्षित होना चाहिए। क्योंकि चिकित्साकर्म की सिद्धि उनके सम्यक्-प्रयोग पर ही निर्भर है।[1]

**उपस्थाता ( परिचारक ) के गुण**—( १ ) परिचारक या परिचारिका को रोगी के सभी प्रकार के उपचारों से अभिज्ञ (परिचित) होना चाहिए। अर्थात् पथ्यनिर्माण यथा—ओदन, रोटिका, यूष, रस, मण्ड, पेया, विलेपी, यूष प्रभृति के निर्माण का ज्ञान होना औषध प्रयोग तथा अन्य शुश्रूषा यथा—सुलाना, बैठाना, मल-मूत्रादि का त्याग करना, शय्या सुसज्जित करना आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। ( २ ) दक्षता अर्थात् अपने शुश्रूषा-कार्य में उसे चतुर तथा निपुण होना चाहिए। ( ३ ) भर्तरि अनुराग अर्थात् जिसकी सेवा करती है उससे प्रेम रखना अथवा भर्ता ( जो वैद्य भरण करने वाला है उस ) के वचन का पालन करने में अनुराग होना आवश्यक है। ( ४ ) शौच—अर्थात् सभी कार्यों में स्वच्छता एवं पवित्रता होनी चाहिए। ये चार गुण परिचारक के हैं।[2]

इन उपर्युक्त गुणों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है कि परिचारक को शील-शौच-आचार-अनुराग-दाक्ष्य ( दक्षता )-प्रादाक्षिण्य ( अनुकूलता ) आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। साथ ही उन्हें अपने कर्म में ( उपचार में ) कुशल तथा सभी कर्मों का विशद ज्ञान होना चाहिये। परिचारकों को सूप-ओदन ( दाल-भात ) बनाने ( पकाने ) का ज्ञान, स्नान कराने का ज्ञान, पैर दबाने का ज्ञान, शय्या से उठाने का ज्ञान, शय्या पर सुलाने का ज्ञान, औषध मिश्रण तथा वितरण का ज्ञान होना परमावश्यक है। परिचारक को सभी कर्मों में रोगी तथा चिकित्सक से अप्रतिकूल अर्थात् उनके अनुकूल विचार वाला होना चाहिए।[3] इस प्रसंग में आचार्य ने क्रमानुसार

---

१ सम्यक्प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति कर्मणाम्।
सिद्धिराख्याति सर्वैश्च गुणैर्युक्तं भिषक्तमम्॥' ( च. सू. १-१३४ )

२ ( i ) 'उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने॥' ( च. सू. ९ )
( ii ) 'अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः।' ( अ. हृ. सू. १ )

३ 'तत्र शीलशौचाचारानुरागदाक्ष्यप्रादक्षिण्योपपन्नानुपचारकुशलान् सर्वकर्मसु पर्यवदातान् सूपौदनपाचकस्नापकसंवाहकोत्थापकसंवेशकौषधपेषकांश्च परिचारकान् सर्वकर्मस्वप्रतिकूलान्।' ( च. सू. अ. १५ )

परिचारकों का नामकरण भी किया है जैसे—सूपौदनपाचक, स्नापक, संवाहक, उत्थापक, संवेशक, औषधपेषक आदि। इनके अतिरिक्त अन्य पारिषदों का भी इस स्थान पर संकेत है जैसे—गायक वादक, स्तोत्रपाठी, श्लोकपाठी, गाथा तथा आख्यायिकाओं का सुनाने वाला, इतिहास पुराण का जानने वाला इत्यादि। इन सभी पारिषदों को अपने कर्म में कुशल तथा रोगी के अभिप्राय को जानने वाला, अनुमत ( रोगी के मनोऽनुकूल ) और देश-कालविद् होना आवश्यक है। ये पारिषद् भी एक प्रकार के परिचारक ही है।[1]

**रोगी के गुण**—(१) रोगी की स्मरण शक्ति ठीक होनी चाहिये। रोग किस प्रकार आरम्भ हुआ ? कितनी देर से है ? कब उसमे ( कष्ट मे ) वृद्धि तथा ह्रास होता है ? रोग का प्रारम्भ किस रूप मे होता है। रोगाक्रमण होने पर कौन-कौन कष्ट होते है ? किन अहार-विहार से रोग की वृद्धि तथा ह्रास होता है ? इत्यादि बातो का उसे स्मरण होना चाहिए। ( २ ) रोगी मे निर्देशकारित्व अर्थात् चिकित्सक के आदेश का पालन करना तथा उसकी व्यवस्था के अनुसार चलना, ये गुण रोगी मे होने चाहिये। ( ३ ) अभीरुत्व अर्थात् निडरता भी रोगी मे होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि किसी भी क्रियाकर्म ( चिकित्सा ) की व्यवस्था मे रोगी को घबराना नही चाहिये। (४) रोगी मे ज्ञापकत्व अर्थात् रोग के लक्षणो को ठीक ठीक बताने की योग्यता तथा सामर्थ्य होना चाहिये। रोगी को जो कष्ट हो उनको उचित रूप मे प्रकट करने का गुण रोगी मे होना चाहिए।[2]

वाग्भट्ट ने कहा है कि रोगी को आढ्य[3] ( धनवान् ), भिषग्वश्य ( वैद्य के कहने के अनुसार चलने वाला ) ज्ञापक ( अपने कष्टो का यथावत् बतलाने वाला ) तथा सत्ववान् ( मनोबलयुक्त ) अर्थात् किसी चिकित्सा से घबड़ाने वाला नही अपितु धैर्ययुक्त तथा मोहवर्जित होना चाहिये।

रोगी मे इन गुणो के अभाव होने पर रोग का निदान तथा चिकित्सा व्यवस्था उचित रूप मे नही हो सकती। कारण मिथ्यादृष्ट होने से अर्थात् रोगी के रोग के लक्षणो का ठीक-ठीक ज्ञान न होने से रोग-परीक्षा उचित ढग से नही होती। अत रोग का उचित निदान नही हो पाता। इसी प्रकार दुराख्यात अर्थात् कम कष्ट को भी अधिक बतलाना अथवा कष्टो को ठीक ठीक न बतलाना

---

१ 'तथा गीतवादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलान्, अभिप्राय-ज्ञानानुमताश्च देशकालविदः पारिषद्याश्च ॥ ( च सू १५ )

२ 'स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च।
ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥' ( च सू अ ९ )

३. आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्ववानपि।' ( अ हृ सू १ )

अथवा दु परिमृष्ट अर्थात् दुर्विचारित होने से चिकित्सक मोह मे पड जाते हैं ।[1] कुछ रोगी ऐसे भी होते हैं जो अचिकित्स्य होते हैं अर्थात् उनके रोग साध्य होने पर भी वक्ष्यमाण गुणो की उनमे उपस्थिति उनके रोग को असाध्य बना देता है जैसे—श्रोत्रिय, नृपति, बाल, वृद्ध, भीरु, राजसेवक, कितव ( धूर्त ), दुर्बल, वैद्य—विदग्ध, व्याधिगोपक, दरिद्र, कृपण, क्रोधी अनात्मवान् तथा अनार्य इनके रोग प्राय अचिकित्स्य होते हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त मुख्यत षोडशगुणयुक्त चिकित्सा के चारो पादो का होना परमावश्यक है क्योकि चिकित्सा की सफलता इन पर ही निर्भर है ।[2]

परन्तु इन चारो मे भी प्रधानता भिषक् ( चिकित्सक ) की ही है क्योकि औषधो का ज्ञान, परिचारको का शासन तथा रोगी के रोग का निदान कर औषध की व्यवस्था आदि चिकित्सक के ही अधीन रहती है ।[3] इसी से कहा है कि जिस प्रकार रसोई करने वाले पाचक के, पात्र-ईंधन-अग्नि आदि पाचन मे तथा भूमि, सेना तथा प्रहार आदि विजयी योद्धा की विजय मे सहायक कारण होते हैं उसी प्रकार चिकित्सक के चिकित्साकर्म की सिद्धि मे गुणयुक्त औषध, परिचारक तथा रोगी भी कारण होते हैं। तात्पर्य यह कि ये औषधादि चिकित्सक के चिकित्साकर्म मे उपकरण हैं । चिकित्सा की सिद्धि मे प्रधान कारण वैद्य ही है सुश्रुत ने कहा है कि उपर्युक्त गुण से युक्त तीनो पादो (अर्थात् औषध, परिचारक और रोगी) की सहायता से चौथा पाद गुणवान् वैद्य महान् से महान् रोग को भी अल्पकाल मे अच्छा कर लेता है । परन्तु वैद्य विहीन उक्त तीनो पाद गुणयुक्त होने पर भी चिकित्सा कर्म को उस प्रकार सिद्ध करने मे असमर्थ होते हैं जिस प्रकार किसी यज्ञ मे अध्वर्यु के बिना उद्गाता, होता तथा ब्रह्मा की उपस्थिति यज्ञ को पूरा नही कर सकती । एक गुणवान् वैद्य रोगियो को उसके कष्टो से उस प्रकार पार कर लेता है जिस प्रकार एक कुशल कर्णधार मझधार मे पडी नौका को प्रवादि-विहीन होने पर भी जल से पार कर लेता है । इसके अतिरिक्त कुम्भकार के बिना जिस प्रकार मिट्टी, दण्ड तथा चक्र एव सूत्रादि घट का निर्माण नही कर

---

१ ( i ) 'मिथ्या दृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च ।
तथा दु परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सितम् ॥' ( सु. सू १० )
( ii ) 'तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति, तद्यथा—श्रोत्रिय नृपति-स्त्री वृद्ध-भीरु-राजसेवक कितव दुर्बल-वैद्यविदग्ध व्याधिगोपक दरिद्र कृपण क्रोधनानात्मवता मनाथानां च ।' ( सु सू· १० )

२ 'कारण षोडशगुण सिद्धौ पाद चतुष्टयम् ।' ( च सू अ ९ )

३ 'विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ।' ( च. सू अ. ९ )

सकते उसी प्रकार वैद्य के बिना औषध, परिचारक तथा रोगी प्रभृति के रोग निवारण तथा रोगोन्मूलन मे कथमपि समर्थ नही हो सकते ।[1]

चिकित्सक के इस उत्तरदायित्व को ध्यान मे रख कर ही आचार्य ने कहा है कि वैद्य को, विद्या, वितर्क विज्ञान, स्मृति, तत्परता तथा क्रिया ( चिकित्सा कर्म ) इन छः गुणो से सम्पन्न होना आवश्यक है । जिसमे ये ६ गुण होते हैं उस वैद्य के साध्य रोग कभी असाध्य नही होते ।[2] इनके अतिरिक्त चिकित्सक मे मित्रता की भावना, आर्त्तजनो के लिए करुणा ( दया ), ऐसे रोगियो मे जिनके रोग साध्य हैं, प्रेम तथा असाध्य रोग से पीडित रोगी मे उपेक्षा भाव होना, यह चतुर्धा ( चार प्रकार की ) वैद्यवृत्ति है ।[3] आचार्य आगे चलकर कहते हैं कि भिषक् उस पुरुष को कहते हैं जो क्रियात्मक रूप मे चिकित्सा को करता है—अर्थात् सैद्धान्तिक सूत्रगत विषयो को क्रियात्मक रूप मे लाने मे कुशल है तथा जिसे आयु के सभी भाव सब प्रकार से विदित हैं ।[4]

चिकित्सक को अपने चिकित्सा कर्मो के सुचारु सम्पादन के लिए शरीर-ज्ञान भी आवश्यक है । इसीलिए आचार्य ने कहा है कि जो वैद्य शरीर के सभी अवयवो की सख्या तथा उनकी रचना एव व्यापार को जानता है वह इनके अज्ञान से उत्पन्न होने वाले मोह से युक्त नही होता । शरीर का ज्ञान शरीर के उपकार के लिए परम आवश्यक है । शारीर तत्वो का ज्ञान हो जाने पर शरीरोपकारक भावो मे भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । अर्थात् कौन भाव ( द्रव्य ) किस शारीर भाव ( द्रव्य ) के लिए उपकारक हैं इसका ज्ञान हो जाता है । इसीलिए शारीर-ज्ञान की कुशल लोग प्रशसा करते हैं । कहा भी है कि जो चिकित्सक शरीर को सब प्रकार से उसके सभी भावो का पूर्णरूप से ज्ञान रखता है वही

---

१. 'गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक् ।
व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत् ॥
वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थका. ।
उद्गातृ होतृ ब्रह्माणो यथाऽध्वर्युं विनाऽध्वरे ॥
वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा ।
प्लव प्रतितरैर्हीन कर्णधार इवाम्भसि ॥' ( सु सू अ- ३४ )

२ 'विद्या वितर्को विज्ञान स्मृतिस्तत्परता क्रिया ।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमति वर्त्तते ॥' ( च. सू ९-२१ )

३ 'मैत्रीकारुण्यमार्त्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम् ।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा ॥' ( च सू ९-२६ )

४ 'भिषङ्नाम यो भिषज्यति, य· सूत्रार्थप्रयोगकुशल', यस्य चायु सर्वथा विदितं यथावत् ।' ( च. वि ८ ८६ )

इहलोक तथा परलोक मे सुख देने वाले आयुर्वेद को पूर्णरूपेण जानता है।[1]

सुश्रुत ने इस पर और भी बल दिया है और कहा है कि चिकित्सक को शारीर-शास्त्र का उभयात्मक अर्थात् सैद्धान्तिक तथा प्रत्यक्षमूलक ज्ञान होना आवश्यक है क्योकि शास्त्रदृष्ट तथा प्रत्यक्षदृष्ट शारीर ज्ञान चिकित्सक के ज्ञान को प्राञ्जल बना देता है। उससे चिकित्सा-कार्य मे निःसशय शास्त्र-कर्म की प्रवृत्ति होती है।" ( सु० शा० ५ )

सुश्रुत का कहना है कि चिकित्सक को शवच्छेदन कर शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेना आवश्यक है क्योकि निःसंशय शस्त्र-कर्म करने के लिए अवयवो के प्रत्यक्षीकरण के साथ शस्त्रक्रिया का अभ्यास भी आवश्यक है।[2] अङ्ग-प्रत्यङ्गो के स्वरूप, स्थिति तथा व्यापार का अविकल ज्ञान चिकित्सक को होना परमावश्यक है।

शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गो का चाक्षुप-प्रत्यक्ष कर उनके व्यापारो का भी ज्ञान प्रायोगिक विधियो से तथा उनके कर्मो का प्रत्यक्षीकरण कर और अन्वय-व्यतिरेक विधि से अनुमान द्वारा करना चाहिए। शरीर के अन्दर विभुरूपेण स्थित सूक्ष्मतम शरीरी ( आत्मा ) का चाक्षुप-प्रत्यक्ष सभव नही है। अत. उनका ज्ञान ज्ञानचक्षुओ से तथा तपश्चक्षुओ से करना चाहिए।[3]

अथर्ववेद मे इस शरीर को 'ब्रह्मपुरी' तथा 'देवो की अयोध्यापुरी' कहा गया है और यह भी कहा है कि इस ब्रह्मपुरी को जिसमे रहने के कारण ब्रह्म-पुरुष संज्ञा प्राप्त करता है तथा अयोध्यापुरी को जिसमे आठ चक्षु और नव द्वार

---

१ ( i ) 'शरीरसख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक्।
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते॥'

( ii ) 'शरीरविचय. शरीरोपकारार्थमिष्यते। ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकरेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते। तस्माच्छरीर-विचयं प्रशसन्ति कुशला:॥'
( च. शा ६ )

( iii ) 'शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखावहम्॥' ( च. शा. ६ )

२. ( i ) 'तस्मान्नि सशय ज्ञान हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता।
शोधयित्वा मृत सम्यग्द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः॥
प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्ट शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्।
समासतस्तदुभय भूयो ज्ञानविवर्धनम्॥' ( सु शा ५ )

( ii ) 'शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थ: स्याद् विशारद.।
दृष्टश्रुताभ्यां संदेहमवापोह्याचरेत् क्रिया॥' ( सु शा. ५ )

३ 'न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभु।
दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च॥' ( सु शा ५ )

हैं और जिसमे ज्योति स्वरूप मन से व्याप्त सुवर्णमय स्वर्गरूप कोष है, पूर्णरूपेण जान लेता है, वह ब्रह्मवेत्ता कहलाता है। जो मनुष्य अमृत से आवृत ब्रह्म की नगरी को जानता है, उसे ब्रह्म नेत्र, प्राण तथा प्रज्ञा प्रदान करते हैं।[१]

यहाँ नेत्र से ज्ञान अर्थात् सदसद् विवेकिनी बुद्धि, प्राण से आयु अथात् दीर्घायु तथा प्रजा से सन्तान लाभ समझना चाहिये। शरीर से उपर्युक्त साङ्गोपाङ्ग ज्ञान ही 'ब्रह्मज्ञान' है। इसीलिए इसके जानने वालो को 'ब्रह्मविद्' कहते हैं। अत वैद्य जो शरीर के सभी भावो का अविकल ज्ञान रखता है वह ब्रह्मज्ञानी होता है। उसको 'तत्त्वविद्' भी कहते हैं। वही आतुर की अन्तरात्मा मे प्रवेश कर सकता है तथा वही चिकित्सा कार्य मे भी सफल होता है।[२]

**भेषज**—भेषज चिकित्सा का पर्याय है यह पहले कहा जा चुका है और यह भी बतलाया जा चुका है कि 'भेषज' शब्द का मूलार्थ क्या है? वहाँ यह दर्शाया गया है कि रोग पर विजयी होने के कारण ही यह भेषज संज्ञा हुई है। वस्तुत: प्रतिषेधात्मक तथा उन्मूलनात्मक उभय प्रकार की चिकित्सा इस शब्द से विवक्षित है।

चरक संहिता मे भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने भेषज के दो प्रकारो का वर्णन किया है। (१) स्वस्थस्योर्जस्कर और (२) आर्त्तस्यरोगनुत् या व्याधिनिर्घातकर। इनमे से 'स्वस्थस्योर्जस्कर' भेषज भी दो प्रकार का होता है जैसे—(१) रसायन और वृष्य।[३]

**रसायन भेषज**—प्रशस्त रसादि धातुओ की वृद्धि जिस उपाय से हो उसे 'रसायन' कहते हैं। यह रसायन-दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तरुणवय, प्रभा-वर्ण तथा स्वर की उदारता (प्रचुरता), परम (उत्कृष्ट) देहबल तथा इन्द्रियबल, वाक्सिद्धि, प्रणति (लोकवन्द्यता) तथा कान्ति प्रदान करता है अर्थात् इसके सेवन से मनुष्य उक्त सभी गुणो या लाभो को प्राप्त करता है।[४]

---

१. अथर्ववेद १०–२–२९–३२

२ 'ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो ना विशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति॥' (च चि. ४–१२)

३. (i) 'भेषजं द्विविधं च तत्।
स्वस्थस्योर्जस्करं किञ्चित् किञ्चिदार्त्तस्य रोगनुत्॥' (च. चि. १–१–४)
(ii) 'स्वस्थस्योर्जस्करं त्वेतद् द्विविधं प्रोक्तमौषधम्।
यद् व्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते॥' (चा. चि १–१–१३)
(iii) 'स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्।' (चा चि. १–८)

४ (i) 'लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्।'
(ii) दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।

अन्य तन्त्रकारो ने 'रसायन' की परिभाषा मे कहा है कि जो द्रव्य जरावस्था और व्याधि का नाश करता है उसे रसायन कहते है। वय:स्थापन, जीवनीय, आयुष्कर, मेधाकर, तथा बलकर ये सभी ओषधियाँ 'रसायन' के अन्दर गृहीत होती है। सुश्रुत ने रसायन तन्त्र की परिभाषा मे कहा है कि यह वह तन्त्र है जिसमे वय स्थापन, आयुष्कर, मेधाकर, बलकर तथा रोगो को नष्ट करने के उपाय वर्णित हो।[1] रसायन शब्द का मूलार्थ भी इसी परिभाषा का समर्थक है। रसादि धातुओ का अयन-आप्यायन रूप होने से इसे 'रसायन' कहते हैं।[2]

**वृष्य भेषज**—जिस द्रव्य के सेवन से स्त्री-पुरुष को सुरतप्रसग मे अत्यधिक हर्ष ( आनन्द ) उत्पन्न हो तथा पुरुष अश्व के समान बली अनुभव करता हुआ अबाधरूप के स्त्री संभोग मे समर्थ हो उसे 'वृष्य' या 'वाजीकरण' कहते हैं।[3] द्रव्य चार प्रकार से वाजीकरण या वृष्यकर्म करते है यथा ( १ ) शुक्र की वृद्धि कर, ( २ ) शुक्र का स्राव कराकर, ( ३ ) शुक्रवृद्धि तथा शुक्रस्राव दोनो कार्य कर तथा ( ४ ) शुक्रस्तम्भन कर। इनमे जो शुक्र को बढा कर वृष्य होते हैं उन्हे शुक्रल, शुक्रजनन या शुक्रविवर्धन भी कहते हैं। इस वर्ग का प्रधान कार्य शुक्र ( शुक्र धातु ) को उत्पन्न करना तथा बढाना है। इन द्रव्यो का साक्षात् स्रुतिकर या कामोत्तेजक होना आवश्यक नही। शुक्रस्रुतिकर द्रव्यो को शुक्रप्रवर्त्तक या कामोत्तेजक भी कहते है। इनका मुख्य कर्म शुक्रस्राव कराना तथा कामोत्तेजना करना है। तीसरा वर्ग देह तथा मन दोनो को बल प्रदान करने से

---

प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्॥' ( च चि १-१-७-८ )

१. ( i ) 'रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधि नाशनम्' ( शा प्र. ख. अ. ४ )
( ii ) 'रसायनतन्त्रं नाम वय:स्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थञ्च' ( सु सू १-७-७ )

२ 'रसादीनां धातूनामयनमाप्यायनरूपं रसायनम्' ( आढमल्ल—शा टीका )

३. ( i ) 'वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहत: स्त्रिय:। भवत्यतिप्रिय: स्त्रीणां येन येनोपचीयते। तद् वाजीकरणं विद्धि देहस्यौजस्करं परम्' ( अ. स. उ. अ. ५०, अ ह उ. अ. ४० )
( ii ) 'येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नर:।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत्॥' ( च चि. अ. २-पा ४ )
( iii ) 'अनेन निरुक्तेन त्रिविधमपि वृष्यमवरुध्यते। यथा शुक्रवृद्धिकरं माषादि तथा स्रुतिकरं सकल्पादि; शुक्रस्रुतिवृद्धिकरं क्षीरादि। यदुक्तमन्यत्र—'शुक्रस्रुतिकरं किंचित्, किंचिच्छुक्रविवर्धनम्। स्रुतिवृद्धिकरं किंचित् त्रिविधं वृष्यमुच्यते।' ( चक्रपाणि )
( iv ) 'एकं वीर्यस्तम्भनरूपम्' ( शार्ङ्गधर—आढमल्ल )

उभय कार्य करता है। 'शुक्रस्तम्भन' सुरत क्रिया के काल को बढा देता है अर्थात् धातु का स्तम्भन कर दीर्घकाल तक मनुष्य को स्त्री-संभोग की शक्ति प्रदान करता है[1]।

चरक मे 'वृष्य' या 'वाजीकरण' योगो का माहात्म्य विस्तार से दिया हुआ है। इसका संकेत पहले कर चुके हैं। चरक ने कहा है कि आत्मवान् पुरुष को नित्य वाजीकरण सेवन की इच्छा करनी चाहिए। क्योकि धर्म, अर्थ, प्रतिष्ठा और यश ये सब इस वाजीकरण मे ही आयत्त हैं अर्थात् धर्मार्थ काम आदि की प्राप्ति पुत्र से होती है और पुत्र का आयतन ( मूलकारण ) वाजीकरण ही है।[2]

वाजीकरण औषधों के सेवन से मनुष्य को सन्तान लाभ होता है तथा वह सद्य प्रहर्ष उत्पन्न करता है। जो पुरुष वाजीकरण औषधो का सेवन कर सुरत प्रसंग मे व्यस्त होता है उसका शुक्र क्षरण होने पर भी अक्षय रहता है तथा शुक्र के अन्दर प्रजोत्पादक सामर्थ्य ( फलवत् ) हो जाता है। सन्तानवान् पुरुष की समाज मे उस प्रकार प्रतिष्ठा होती है जैसे प्रभूतशाखी वृक्ष। चूंकि वाजीकरण सन्तान का मूल है अत उसके सेवन से इस लोक मे यश, श्री, बल तथा पुष्टि प्राप्त होती है और परलोक मे भी अनन्तता का सुख मिलता है[3]।

अभेषज—भेषज से विपरीत द्रव्य या उपाय को अभेषज कहते हैं। यह अभेषज भी दो प्रकार का होता है। यथा (१) बाधन और (२) सानुबाधन। इनमे बाधन अभेषज वह है जो तत्काल तथा थोडे काल के लिए शरीर मे विकार उत्पन्न करता है जैसे स्वल्प अपथ्य। और जो दीर्घकालावस्थायी कुष्ठादि विकार को उत्पन्न करने वाला होता है वह सानुबाधन अभेषज कहलाता है[4]।

---

१. पिछले पृष्ठ की चौथा पाद टिप्पणी।

२. 'वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्ययात्मवान्।
तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ॥
पुत्रस्यायतन ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रया ॥' ( च. चि अ २-१ )

३ 'अपत्यसन्तानकर यत् सद्य सम्प्रहर्षणम्।
वाजीवाति बलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रिय ॥
भवत्यति प्रिय स्त्रीणां येन येनोपचीयते।
जीर्यतोऽप्यक्षय शुक्र फलवद्येन दृश्यते ॥
प्रभूतशाख शाखीव येन चैत्यो यथा महान्।
भवत्यर्च्यो बहुमतः प्रजानां सुबहुप्रज ॥
सन्तानमूल येनेह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते।
यशः श्रियं बल पुष्टि वाजीकरणमेव तत् ॥' ( चा चि २ )

४. ( i ) 'अभेषजमिति ज्ञेय विपरीत यदौषधात्'।
( ii ) 'अभेषजं च द्विविध बाधन सानुबाधनम्'।

द्रव्यो का कर्मानुसार विभाग करते हुए आचार्य ने 'धातुप्रदूषण' द्रव्यों का एक वर्ग बतलाया है। ऐसे द्रव्य अभेषज कहलाते हैं। पुनः प्रभाव के अनुसार भी द्रव्यो का (आहार औषधद्रव्यो का) वर्णन करते हुए कहा गया है कि हित तथा अहित (फलानुसार) दो प्रकार के द्रव्य होते है। इनमे अहित फल देने वाले द्रव्य अभेषज हैं। यज्ञ पुरुषीय अध्याय मे अहिततम द्रव्यो की एक सूची निदर्शनार्थ दी हुई है (च सू २५–३१)। जैसे यवक शूकधान्यो मे प्रकृष्ट अपथ्य (अभेषज) है। शमी धान्यो मे माष तथा उदको (जलो) मे वर्षाकालीन तथा नादेय जल प्रकृष्ट अपथ्य हैं। इसी प्रकार लवणो मे ऊपर देशोत्पन्न लवण, पत्र शाको मे सर्षप शाक, मृगमासो मे गोमास पक्षिमासो मे काणकपोत, बिलेशयो मे भेक, मछलियो मे चिलचिम मत्स्य, घृतो मे भेड़ी का घी, दुग्धो मे भेड़ी का दुग्ध, स्थावरस्नेहो मे कुसुम्भ का स्नेह, कन्दो में लकुच, कन्दो मे आलुक, इक्षुविकारो फाणित इत्यादि स्वभाव से ही अहित आहार हैं। इनके सेवन से विकार उत्पन्न होता है।

अङ्गभेद से भेषज दो प्रकार के होते हैं। जैसे—(१) द्रव्यभूत और (२) अद्रव्यभूत[1]। द्रव्यभूत भेषज के अन्दर आहार तथा औषध द्रव्य आते है। इनमे भी आहारद्रव्य रसप्रधान होता है और औषध द्रव्य वीर्य प्रधान होता है। अद्रव्यभूत भेषज वे हैं जिनमे द्रव्यो का उपयोग नही होता। वह उपायो से युक्त होता है जैसे भयदर्शन, विस्मापन, विस्मारण, क्षोभण, हर्षण, भर्त्सना, वध, बन्धन, स्वप्न, संवाहन आदि अमूर्त्तभाव। द्रव्यभूत औषधियां आहार तथा वमनादि औषधो मे प्रयुक्त होने वाले द्रव्य हैं।

**द्रव्यभूत भेषज**—वमनादि अनेक योगो मे उपयोग होने वाले द्रव्यो को भेषज कहते हैं। इन भेषज द्रव्यो को उपयोग मे लाने के लिए हमे निम्नलिखित बातो का विचार करना आवश्यक होता है।[2] यथा—

(१) **द्रव्य प्रकृति**—द्रव्य का स्वभाव।

(२) **द्रव्य के गुण**—षड्रस, गुरुलघ्वादि २० गुण, विपाक, वीर्य आदि।

---

(iii) 'बाधनमिह तदात्वमात्रबाधकं यथास्वल्पमपथ्यम्। सानुबाधनं च दीर्घकालावस्थायी कुष्ठादि विकारकारि' (चक्रपाणि)

१. 'एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविध-द्रव्यभूतमद्रव्यभूत च' (च. वि. ८)

२ यत्तु द्रव्यभूत तद्वमनादिषु योगमुपैति। तस्यापीयं परीक्षा-इदमेवंप्रकृत्येवं गुणमेवप्रभावमस्मिन् देशे जातमस्मिन्नृतावेवगृहीतमेवनिहितमेवमुपस्कृतमनया च मात्रया युक्तमस्मिन् व्याधावेवविधस्य पुरुषस्यैतावन्त दोषमपकर्षत्युपशमयति वा, यदन्यदपि चैवविध भेषजं भवेत्तच्चानेन विशेषेण युक्तमिति। (च. वि. ८)

( ३ ) **द्रव्य के प्रभाव**—शरीर पर होने वाले प्रभाव—जीवनीय बृंहणीय, वल्य, वयस्थापन, दीपन, पाचन आदि।

( ४ ) **द्रव्य के देश**—उत्पत्तिस्थान। जाङ्गल, साधारण, आनूप।

( ५ ) **द्रव्य के काल**—आपूर्ण रसवीर्यादि होने के काल-ऋतु तथा सग्रह काल।

( ६ ) **द्रव्यग्रहण का स्वरूप**—अर्थात् किस काल मे किस प्रकार से ग्रहण किया गया है।

( ७ ) **द्रव्य की सुरक्षा**—अर्थात् उसे किस प्रकार सुरक्षित किया गया।

( ८ ) **द्रव्य की उपस्कृति**—अर्थात् भेषजद्रव्य को किस प्रकार प्रस्तुत किया गया और उसका कौन सा अङ्ग किस कल्पना के अनुसार बनाया गया।

( ९ ) **द्रव्य की मात्रा**—उसकी औसत मात्रा तथा रोगी एवं रोगविशेष की मात्रा निरूपण।

( १० ) **द्रव्य की व्यवहारविधि**—रोगी को देने की विधि।

( ११ ) **रोग संकेत**—अर्थात् भेषज द्रव्य किस रोग के लिए उपयुक्त है।

( १२ ) **रोगी संकेत**—अर्थात् किस प्रकार के रोगियो के लिए उपयुक्त है।

( १३ ) **द्रव्य का दोषापकर्षक तथा दोषशामक विचार**—अर्थात् प्रयोज्य भेषज दोषोन्मूलक ( शोधन ) है या दोषप्रशमक है ?

( १४ ) **प्रयोज्य भेषजद्रव्य के समान अन्य कौन सा द्रव्य है और** प्रयोज्य द्रव्य मे अन्य की अपेक्षा क्या वैशिष्ट्य है ? इत्यादि।

**अद्रव्यभूत भेषज**—द्रव्य विरहित उपाय आदि जो चिकित्सार्थ प्रयुक्त होते हैं उन्हे अद्रव्यभूत भेषज कहते हैं। ये अमूर्त्तभाव हैं जैसे[1]—

( १ ) **भयदर्शन**—मानसिक व्याधियो मे इनकी विशेष रूप मे आवश्यकता पडती है।

( २ ) **विस्मापन**—विस्मय उत्पन्न करना।

( ३ ) **विस्मारण**—कष्टप्रद भावो से रोगी को विस्मृत करना।

( ४ ) **क्षोभण**—क्षुब्ध करना।

( ५ ) **हर्षण**—हर्ष उत्पन्न करना।

( ६ ) **भर्त्सन**—भर्त्सना करना, धमकी देना।

( ७ ) **वध**—ताड़ना, मारना पीटना।

---

१. 'तत्र यदद्रव्यभूत तदुपायाभिप्लुतम्। उपायो नाम भयदर्शन-विस्मापन विस्मारण क्षोभण-हर्षण भर्त्सन-वध-बन्ध स्वप्न-सवाहनादिरमूर्त्तो भावविशेषो यथोक्ताः सिद्ध्युपायाश्चोपायाभिप्लुता इति।' ( च वि. ८ )

(८) बन्धन—बाँधना।

(९) स्वप्न—निद्रा उत्पन्न करना।

(१०) संवाहन—पैर दबाना।

ये उपर्युक्त सभी उपाय मानस-व्याधियों की चिकित्सा में प्रायः निर्दिष्ट हैं। जैसे उन्माद की चिकित्सा में तर्जन, त्रासन, हर्षण सान्त्वन, भयदर्शन, विस्मापन, तथा विस्मारण के प्रयोग का निर्देश है।[1]

भेषज को आचार्य ने करण कहा है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि भेषज उसका नाम है जो विषम धातुओं को साम्यावस्था में लाने में भिषक् ( चिकित्सक ) का उपकरण होता है अर्थात् जिसके प्रयोग से चिकित्सक विषम दोषों तथा धातुओं को साम्यावस्था में लाता है। इस प्रकार चिकित्सा-कार्य में वैद्य को कारण तथा भेषज को 'करण' तथा 'उपकरण' कहा गया है।[2]

**पथ्य व्यवस्था**—पथ्य भी चिकित्सा या भेषज का पर्याय है पथ्य की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा है कि पथ्य उन आहार-विहार को कहते हैं जो पथ अर्थात् शरीर मार्ग ( स्रोतों ) के लिए हितकर हो तथा जो मन को भी प्रिय हो।[3] पथ्य चिकित्सा का प्रमुख अङ्ग है। यह चिकित्सा के मार्ग को प्रशस्त कर देता है। हितकारक आहार-विहार का ही नाम पथ्य है। चिकित्सोपयोगी वस्तुओं को पथ्य कहते हैं। अपेत का अर्थ है अपकारक। पथ्य पथ ( स्रोतों ) के लिए अनपेत अनपकारक है अर्थात् पथ्य अपकार करने वाला नहीं होता है।[4] जो आहार-विहार शरीर तथा शरीर के स्रोतों में जाकर किसी प्रकार का अपकार न करें तथा शरीर एवं शरीरावयवों को पुष्ट करें उनको पथ्य कहते हैं। पथ्य के सेवन से शारीर दोष, धातुएं तथा सम्पूर्ण शरीर अपने-अपने स्वरूप तथा व्यापार को स्वस्थ रूप में रखते तथा करते हैं। इससे स्वास्थ्य की रक्षा होती है। जो आहार-विहार दोष, धातु तथा मल को शरीर में समावस्था में रखे तथा उनके व्यापारों को भी प्रकृतरूप में सम्पन्न करने में सहायक हो तथा आत्मा, इन्द्रिय

---

१. 'तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम्।
विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः॥' ( च. चि. ९-२२ )

२. 'करणं पुनस्तद् यदुपकरणायोपकल्पते कर्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य। ×× करणं पुनर्भेषजम्। भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपाया... । ×× कारणं भिषगित्युक्तमग्रे कारणं नाम तद् यत् करोति स एव हेतुः, स कर्ता।' ( च. वि. ८ )

३. पथ्यं पथोऽनपेतं यद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम्। ( च. सू. अ. २५ )

४. पथ्य-त्रि० पथः अनपेतः, यत्पथ्ये चिकित्सानुसारि मार्गोपहितम्। चिकित्सोपयोगिनि रोगि सेव्ये वस्तुनि हितकारके च॥' ( शब्दस्तोम )

और मन को प्रसन्न रखे उसे पथ्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि मन और शरीर का अनुपघाती आहार-विहार पथ्य कहलाता है।[1]

यह पथ्य मात्रा, काल, क्रिया ( संस्कार ), भूमि, देह, दोष, इनके गुणो की अपेक्षा रखता है अर्थात् जो आहार-विहार मात्रा मे देश-काल के विचार से उचित संस्कार कर शरीर और शारीरदोषो के विचार से अर्थात् इनके गुणो की दृष्टि से सेवन किया जाता है। वह पथ्य होता है।[2]

पथ्य का निर्देश करने वाला विभाग या तन्त्र आयुर्वेद वाङ्मय स्वस्थ वृत्त कहलाता है। चरकसंहिता के चार अध्याय अर्थात् ५ से ८ तक ( सूत्रस्थान ) इस विषय का उपदेश करते हैं। अत इन अध्यायो को स्वस्थचतुष्क कहा गया है। सुश्रुत मे सूत्रस्थान छठाँ तथा उत्तरतन्त्र का ६४वाँ अध्याय इस विषय का निर्देश करता है। वाग्भट ने ( अ० हृ० ) सूत्रस्थान द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पचम तथा छठें, सातवें अध्याय मे इस विषय पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त विकीर्णरूप मे संहिता ग्रन्थो मे अन्यत्र भी इस सम्बन्ध के स्फुट उपदेश प्राप्त होते हैं।

पथ्य व्यवस्था को दो मुख्य विभागो मे विभक्त कर सकते हैं जैसे ( १ ) स्वास्थ्य संरक्षणार्थ पथ्य-व्यवस्था और ( २ ) रोगकालीन पथ्य-व्यवस्था। इनमे स्वास्थ्य-संरक्षणार्थ पथ्य-व्यवस्था का वर्णन स्वस्थवृत्त मे दिनचर्या, ऋतुचर्या, न वेगान् धारणीय, मात्राशितीय, आयुष्कामीय, रोगानुत्पादनीय, आहार-विज्ञानीय प्रभृति अध्यायो मे प्राप्त होता है ( २ ) रोग या व्याधि-कालीन पथ्य-व्यवस्था तत्तद् रोगो मे उपशय, सात्म्य तथा पथ्य के नाम से वर्णित उपलब्ध होता है।

१ स्वस्थवृत्त[3]—स्वस्थवृत्त का विस्तारपूर्वक वर्णन इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है। यहाँ सकेत मात्र ही सभव है। इसका विस्तृत विवरण इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ मे देखे।

---

१ 'पथोग्रहणेन पथोवाह्या दोषा धातवश्च, तथापथो निर्वत्तका धातवो गृह्यन्ते। तेन कृत्स्नमेव शरीर गृहीतं भवति, ततश्च शरीरानुपघाती पथ्यमिति भवति। किं वा स्वस्थस्वास्थ्यरक्षणमातुरव्याधिपरिमोक्षश्चेति पन्था. तस्मादनपेत पथ्यम्। ×× मनसोऽतिप्रीत्याऽभिलषित, तेन मनसो हित ×× पदेन मन शरीरानुपघाति पथ्यम् इति पथ्यलक्षण वाक्ययुक्त भवति।' ( चक्र च सू अ २५ )

२. 'मात्राकाल क्रिया भूमि, देह दोष गुणान्तरम्।
प्राप्य तत्तद्धि दृश्यन्ते ते ते मात्रास्तथा तथा॥ ( च सू अ. २५ )

३. 'अ हृ सू २'

(१) दिनचर्या—स्वस्थ पुरुष को आयु की रक्षा के लिए ब्राह्ममुहूर्त में शय्या से उठकर जीर्ण (भोजन किया हुआ अन्न पच गया है) तथा अजीर्ण (नहीं पचा है) आदि सारी चिन्ता से निवृत्त हो शौचविधि (मलमूत्र विसर्जन) से निवृत्त होना चाहिये। उसके बाद यथाविधि यथाविहित दन्तधावन से दन्तप्रक्षालन, गण्डूषादि द्वारा मुख प्रक्षालन करना चाहिए। तदनन्तर नेत्र, नासा तथा मुख के दोष को दूर करने के लिए अञ्जन, नावन (नस्य), गण्डूष, धूम्रपान तथा ताम्बूल भक्षण यथाविधि करना चाहिए। जरा तथा श्रम को दूर करने के लिए नित्य अभ्यङ्ग करें। शिर, श्रवण तथा पाद में विशेष रूप से अभ्यङ्ग करना श्रेयस्कर है। तदनन्तर यथाविधि नित्य थोड़ा व्यायाम करें। इससे शरीर में लघुता, कर्मसामर्थ्य, स्थिरकठिनगात्रता होती है। यह अग्नि को दीप्त करता है तथा मेद का क्षय करता है। व्यायाम के बाद यथासुख शरीर का मर्दन करना चाहिए। पुनः उबटन (उद्वर्तन) लगाकर उष्णाम्बु से स्नान करना चाहिए। उबटन से मेद का नाश होता है तथा अङ्गों में स्थिरता और त्वचा में प्रसाद गुण उत्पन्न होता है। स्नान से आयु, ऊर्जा तथा बल प्राप्त होता है और अग्निप्रदीप्त होती है। यह कण्डू, मल, श्रम, स्वेद, तन्द्रा, तृषा तथा दाह और पाप का शमन करता है। इससे शरीर में वृषता प्राप्त होती है। स्नान करने में शिर को सदा शीतल जल से धोवें। उष्ण जल से अधःकाय का प्रक्षालन करें। स्नानानन्तर पूर्व भोजन के जीर्ण लक्षणों को देख उचित काल में, उचित मात्रा में हितकर आहार का भोजन करें।

मलमूत्रादि के उपस्थित वेग को कदापि धारण न करें तथा अनुदीर्ण वेगों को बलपूर्वक उदीरित न करें क्योंकि प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ सुख (आरोग्य) के लिए ही होती हैं। धर्म के बिना सुख नहीं होता अतः मनुष्यों को धर्मपरायण होना चाहिये।

कल्याण मार्ग का उपदेश करने वाले मित्रों का परामर्श भक्तिपूर्वक मानना चाहिए। अकल्याणकारी उपदेश करने वाले व्यक्ति से सदा दूर रहना चाहिए। हिंसा, स्तेय (चोरी) निषिद्ध-कामसेवा (पशुयोनि आदि में गमन), पैशुन्य (परनिन्दा), परुष, अनृत (मिथ्या) वचन, असम्बद्ध प्रलाप, व्यापद (प्राणि-उपघात चिन्ता), अभिध्या (परगुणाद्यसहिष्णुता), शास्त्रविपरीत कर्म — दश पापकर्मों को काय-वाणी तथा मन से त्याग देवे। सभी प्राणियों को यहाँ तक कि कीट, पिपीलिका को भी अपने जीव के समान ही समझे। देव, गो, विप्र, अपने से वृद्धपुरुष, वैद्य, नृप तथा अतिथि की सर्वदा पूजा करे तथा उनमें पूज्यभाव रखे। किसी याचक का अपमान न करे तथा यथासाध्य उसे विमुख

भी न करे। अपकार करने मे परायण शत्रु के साथ भी उपकार ही करे। सम्पद् ( सुख ) तथा विपद् ( दु ख ) मे एक समान मन रखे । किसी की वृद्धि को देखकर द्वेष न करे परन्तु उनके वृद्धि हेतु मे ईर्षा रखे अर्थात् स्वय भी बढने का प्रयत्न करे। किसी सभा या समाज मे उचित समय पर परिमित रूप मे अविनिम्वदादि ( सत्य ) तथा प्रिय वचन बोले। किसी को शत्रु न समझे न अपने को ही किसी का शत्रु बनावे। सदा मनुष्य के आशय को समझ कर उसको सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करे। अपनी इन्द्रियों को पीडित न करे और न उनका अधिक लालन ही करे। धर्म-अर्थ-काम इन त्रिवर्गो से शून्य किसी कार्य का प्रारम्भ न करे। ऐसा कार्य करे कि इनका विरोध न हो। सभी कार्यो मे मध्यम वृत्ति का अनुसरण करे। पक्ष मे ३ बार नख, रोम, श्मश्रु को कटवावे तथा पाद और कान, नाक आदि मलायनो को सदा निर्मल रखे। नित्य स्नान करे तथा सुगन्धित पुष्प आदि एव रत्न तथा मन्त्र महौषधियो को धारण करे। छाता तथा पदत्राण का धारण कर चार हाथ आगे देखते हुए मार्ग मे चले। रात्रि मे तथा आत्यनिक कार्य में दण्ड तथा मौली ( पगड़ी ) धारण करे। सभी प्राणियो पर दया रखे, दानशील बने तथा काय, मन एव वाणी पर नियन्त्रण रखे। परार्थ मे भी स्वार्थबुद्धि रखे। इन व्रतों के पालन को ही सद्वृत्ति कहते है। इनके सेवन से आयु-आरोग्य-ऐश्वर्य तथा यश की लोक मे प्राप्ति होती है[1]।

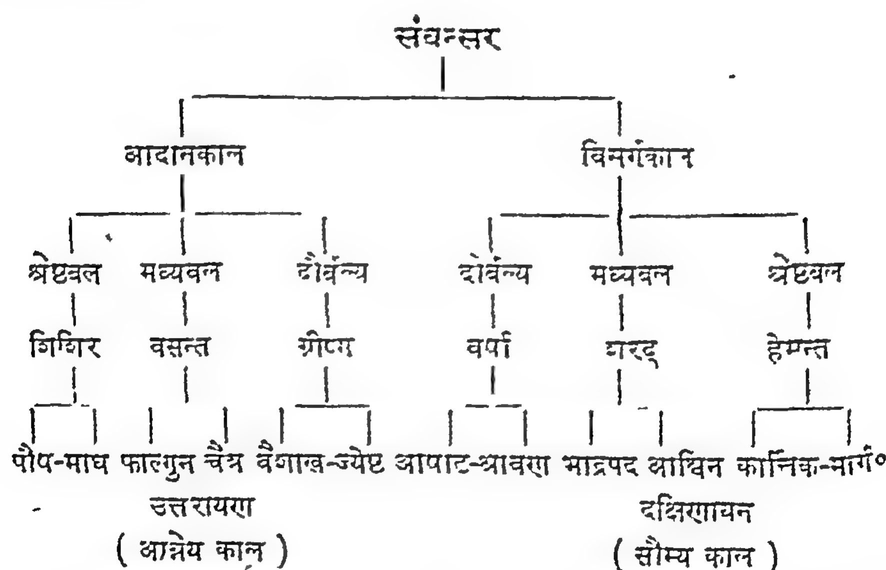
अपनी अग्नि बल के अनुसार मात्रा मे भोजन करे। अपने आहार-विहार मे ऐसे ही द्रव्यो का उपयोग करे जिससे स्वास्थ्य का अनुवर्तन हो और अनुत्पन्न रोग उत्पन्न न होने पावें। नगर की नगरी ( नगर का स्वामी ), रथ की रथी जिस प्रकार रक्षा करते हैं तथा उनके सभी भावो की रक्षा करते हैं तथा उन्हे विकृत न होने देने के लिए सतर्क रहते हैं उसी प्रकार मेधावी पुरुष को अपने शरीर के सभी व्यापारो मे सावधान रहना चाहिए। ऐसे वृत्ति तथा उपाय का सेवन करे जो धर्माविरोधी हो। शान्ति तथा वेदाध्ययन से मनुष्य सदा सुखी रहता है[2]। जो मनुष्य हिताहार-विहार का सेवन करता है, विचारपूर्वक सभी कार्यो को करता है, विषय-वासनाओ से अलिप्त रहता है, दानी, शान्तचित्त, सत्यपरायण, क्षमाशील तथा आप्तवचनो का अनुसरण करने वाला होता है वह सदा अरोग ( रोगरहित ) रहता है[3]।

---

१. अ. हृ. सू. २; २ ( च सू. अ ५–१३, १०३, १०४ )

३. 'नरो हिताहार विहारसेवी, समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्त.।
दाता सम सत्यपर क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोग.॥' ( च शा २–४५ )

**ऋतुचर्या**—दो मासो की एक ऋतु होती है और छ ऋतुओं का एक संवत्सर होता है। इस संवत्सर का सूर्य की गति के अनुसार दो विभाग होता है। जैसे (१) आदानकाल और (२) विसर्गकाल। जब भगवान् सूर्य उत्तरायण होते है तो ऋतु का आदानकाल और जब दक्षिणायन होते हैं तो ऋतु का विसर्गकाल भारत-भूमि पर होता है। आदान और विसर्गकाल के अनुसार विभिन्न ऋतुओ मे प्राणियो के बल तथा स्नेहांश का क्षय और वृद्धि होती है। इसी प्रकार वनस्पतियो के विभिन्न रसो की वृद्धि तथा क्षय होता है। मानव शरीर के मुख्य घटक वात-पित्त-कफ का भी सञ्चय-प्रकोप और प्रशमन विभिन्न ऋतुओ मे स्वभाव से ही होता रहता है। अत प्राणधारियो को उपर्युक्त सभी बातो को ध्यान मे रखकर ऐसे आहार-विहार का सेवन करना चाहिए जिससे स्वास्थ्य सदा अक्षुण्ण बना रहे।




शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म, इन तीन ऋतुओ मे भगवान् आदित्य के उत्तरायण होने से ऋतु का आग्नेयकाल तथा आदानकाल होता है। इस काल में भगवान् सूर्य क्रमश भारतभूमि के सन्निकट हो जाते हैं अत प्राणि-शरीर का स्नेहांश क्रमश क्षीण होने लगता है और रूक्षांश की क्रमश वृद्धि होती है। पुन वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओ मे भगवान् सूर्य के दक्षिणायन होने से ऋतु का विसर्गकाल होता है। इस काल मे भगवान् सूर्य भारत भू-भाग से क्रमश हटते जाते हैं और इस काल मे चन्द्रमा के अव्याहत-बल होने से प्राणियो के स्नेहांश की भी क्रमश- वृद्धि होने लगती है। आदानकाल में वनस्पतियो मे रूक्षरसो की क्रमश वृद्धि होती है जैसे शिशिर में तिक्तरस की, वसन्त में कषाय

रस की तथा ग्रीष्म मे कटुरस की वृद्धि होती है। इसी प्रकार विसर्गकाल मे क्रमश अम्लक्षरसो की अर्थात् वर्षा मे अम्लरस की, शरद मे लवणरस की और हेमन्त ऋतु मे मधुररस की वृद्धि होती है। इस प्रकार आदान के अन्त तथा विसर्ग के आदि मे दौर्बल्य, मध्य मे मध्यबल तथा विसर्ग के अन्त और आदान के आदि मे श्रेष्ठबल प्राणियो मे उत्पन्न होता है[1]।

ऋतुओ के अनुसार दोषो के सचय प्रकोप और प्रशम का वर्णन पहले कर चुके हैं। अत ऋतुओ के इन उपर्युक्त प्रमाणो को ध्यान मे रखकर उनके विपरीत गुणवाले आहार-विहार का सेवन स्वास्थ्य-विधायक होने से पथ्य कहलाता है। किस ऋतु मे कैसा आहार-विहार करना चाहिए, इसका वर्णन ऋतुचर्या अध्याय मे सहिता ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। अत इनका विस्तृत वर्णन वही देखे।

ऋतुओं के वर्णन मे थोडा मतभेद दृष्टिगोचर होता है जैसे वाग्भट्ट ने माघ-फाल्गुन को शिशिर, चैत्र-वैशाख को वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ को ग्रीष्म, श्रावण भाद्रपद को वर्षा, आश्विन-कार्त्तिक को शरद् और मार्गशीर्ष-पौष को हेमन्त ऋतु माना है[2]। इस प्रकार चरक से एक मास का अन्तर हो जाता है। वाग्भट का ऋतुवर्णन रसो की दृष्टि से तथा चरक का दोषो की दृष्टि से प्रतीत होता है।

संक्षेप मे इन ऋतुओ मे निम्नलिखित रस-विशिष्ट द्रव्यो का आहार पथ्य माना गया है, जैसे—

हेमन्त तथा शिशिर ऋतुओ मे शीत अधिक पड़ता है अत उष्ण द्रव्यो का उपयोग करना चाहिये। इस काल मे मनुष्य का अग्निबल प्रबर होता है अत. स्वादु-अम्ल-लवणरस विशिष्ट द्रव्यो का भोजन मे उपयोग पथ्य ( हितकर ) होता

---

१ 'आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्।
मध्ये मध्यबलं त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे विनिर्दिशेत् ॥' ( च सू ६-८ )

२ 'मासैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैः क्रमात् षडृतवः स्मृताः।
शिशिरोऽथ वसन्तश्च ग्रीष्म वर्षा शरद्धिमाः॥
शिशिराद्यैस्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम्।
आदानं च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्॥
तस्मिन् ह्यत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षमार्गस्वभावतः।
आदित्यपवना सौम्यान् क्षपयन्ति गुणान् भुवः॥
तिक्तः कषायकटुको बलिनोऽत्र रसाः क्रमात्।
तस्मादानमाग्नेयम् ऋतवो दक्षिणायनम्॥
वर्षादयो विसर्गश्च यद्बलं विसृजत्ययम्।
सौम्यत्वादत्र सोमो हि बलवान् हीयते रवि॥
मेघवृष्ट्यनिलैः शीतैः शान्ततापे महीतले।
स्निग्धाश्चेहाम्ललवणा मधुरा बलिनो रसाः॥' ( अ हृ सू. ३ )

है। इस काल में रात्रि बड़ी होती है अत प्रात काल ही भूख लग जाती है। इस ऋतु में अग्नि प्रबल होने से आहारकाल में यदि क्षुधित मनुष्य भोजन न करे तो निरिन्धन अग्नि के समान कायाग्नि मनुष्य को कष्ट पहुँचाती है। इसलिए उचित समय पर भोजन कर लेना आवश्यक है। शीताधिक्य होने से शरीर में वायु की वृद्धि तथा रूक्षता उत्पन्न होती है अत वातघ्न तैल का अभ्यंग स्निग्धोष्ण आहार-विहार का सेवन पथ्य होता है। हेमन्त की अपेक्षा शिशिर का शैत्य ऋतु का आदानकाल प्रारम्भ हो जाने से अधिक कष्टप्रद होता है। अत इसके आघात से बचने के लिए अगारु-तापमन्ततगर्भगृहो में निवास करना सुखद होता है[1]।

वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होने से अग्निबल मन्द हो जाता है अत इस काल में लघु-रूक्ष-तीक्ष्ण गुणविशिष्ट तथा कटु-तिक्त-कषायरस विशिष्ट द्रव्यों का भोजन में उपयोग पथ्य होता है। इस काल में व्यायाम, उद्वर्त्तन आदि से वृद्ध कफ को शान्त रखना चाहिए। भोजन में पुराण यव, गोधूम, मधु तथा जाङ्गल मांस का उपयोग पथ्य है[2]।

ग्रीष्म ऋतु वायु के सञ्चय का काल है। ऋतु का प्रबल आदानकाल होने से शरीर का स्नेहांश अत्यधिक क्षीण होने लगता है और रूक्षांश वृद्धि को प्राप्त होता है। अत इस काल में मधुर रस विशिष्ट लघु, स्निग्ध, हिम तथा द्रव द्रव्यों का अधिक उपयोग करना पथ्य है[3]।

## ऋतु वर्णन

वैदिक काल में आर्यों के निवासस्थान की परिस्थितियों के अनुसार विभक्त वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर, इन ६ ऋतुओं का वैदिक[4]

---

१ (i) अ ह. सू. ३–८, ९, १०, १६, १७
(ii) च. सू अ. ६
(iii) सु. सू अ. ६

२. कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तेऽर्कांशुतापितः।
हत्वाऽग्निं कुरुते रोगांस्तस्मात्तांस्त्वरया जयेत्॥
तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः।
व्यायामोद्वर्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्बणम्॥ (अ. ह सू. ३)

३ 'तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतीव यत्।
प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते॥
× × × ×
भजेन्मधुरमेवात्र लघु स्निग्धं हिमं द्रवम्॥ (अ ह सू ३)

४ यजुर्वेद—'वसन्तेन ऋतुना' इत्यादि। (२१–२३–८)

**( ५ ) मांसावृत वात के लक्षण**—वायु के मांस धातु से आवृत होने पर कठिन तथा विवर्ण ( वर्णरहित ) पिडिकायें ( फुंसियाँ ) तथा शोथ उत्पन्न होता है। चींटियों के चलने के समान त्वचा पर अनुभव होता है।[1]

**मेद से आवृत वात के लक्षण**—वायु जब मेद धातु से आवृत होता है तब आढ्यवात नामक रोग उत्पन्न होता है। इसमें चल (कभी कहीं और कभी कहीं), स्निग्ध, मृदु और शीतल शोफ (सूजन) तथा अरुचि—ये लक्षण होते हैं। यह रोग आढ्य ( अमीर ) जनों में होने से आढ्यवात कहलाता है। इस आढ्यवात को ही खुड, वातबलास या वातरक्त भी कहते हैं।[2]

**( ६ ) अस्थ्यावृत वात के लक्षण**—जब वायु अस्थिधातु से आवृत होता है तब उष्ण स्पर्श तथा अङ्ग दबाने की इच्छा होती है। अङ्ग टूटता है तथा स्पर्शशून्य हो जाता है। अङ्गों में सुइयों के चुभोने सी पीडा होती है।[3]

**( ७ ) मज्जावृत वात के लक्षण**—वायु के मज्जावृत होने पर अङ्गों का झुक जाना, जभाई आना, रस्सियों से बँधे के समान अनुभव होना, अङ्गों में शूल, दबाने से आराम अनुभव होना—ये लक्षण होते हैं।[4]

**( ८ ) शुक्रावृत वात के लक्षण**—वायु जब शुक्रधातु से आवृत होता है तब शुक्र का अपतन, किंवा वेग से पतन अथवा गर्भाधान की अयोग्यता ये लक्षण होते हैं।[5]

**( ९ ) अन्नावृत वात के लक्षण**—वायु जब अन्नावृत होता है तब भोजन करने पर कुक्षि में पीडा और पच जाने पर शान्ति होती है।[6]

---

१ 'कठिनाश्च विवर्णाश्च पिटका श्वयथुस्तथा।
हर्षः पिपीलिकानां च सञ्चार इव मांसगे॥' ( च चि २८ अ हृ नि. १५ )

२ (i) 'चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा।
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसावृतः॥' ( च चि २८ )

(ii) 'आढ्यरोगं खुडं वात-बलासं वातशोणितम्।
तदाहुर्नामभिः . . . . . . . . ॥' ( अ स. )

३ (i) 'स्पर्शमस्थ्यावृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति।
सम्भज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते॥' ( च चि २८ )

(ii) 'सूच्येव तुद्यतेऽत्यर्थमङ्गं सीदति शूल्यते॥' ( अ हृ नि १६ )

४ 'मज्जावृते विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम्।
शूलं तु पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम्॥ ( च चि २८ )

५ 'भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले।' ( च चि २८ अ हृ नि १५ )

६ 'मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृतेऽनिले।' ( च चि २८ अ हृ नि १५ )

**( १० ) मूत्रावृत वात के लक्षण**—वायु के मूत्रावृत होने पर मूत्र की अप्रवृत्ति तथा वस्ति मे आध्मान, ये लक्षण होते हैं।[1]

**( ११ ) पुरीषावृत वायु के लक्षण**—वायु जब पुरीषावृत होता है तो मल की गाँठे बँध जाती है, पक्वाशय मे कर्त्तनवत् पीडा होती है, स्नेह द्रव्य शीघ्र पच जाता है, भोजनोत्तर आध्मान होता है, मलप्रवृत्ति अत्यधिक कष्ट तथा विलम्ब से एव शुष्क रूप मे होती है। श्रोणि, वक्षण तथा पृष्ठ मे पीडा (अधोवात) वायु की विपरीत गति, घबराहट, छाती तथा हृदय पर भार ये विकार होते हैं।

वेगावरोध आदि कारणो से वृद्धि को प्राप्त तथा द्रवाश के शोषित हो जाने पर शुष्कमल के कारण मलाशय आदि अवयवो के प्रवर्त्तक वायु ( नाडी सस्थान का अश विशेष ) की क्रिया मे बाधा होना आदि जो लक्षण हैं वे ही यहाँ मलावृत वात के लक्षण प्रतीत होते हैं। यहाँ वायु का मल से आवृत होने का अभिप्राय यह है कि उक्त मल के मलाशय मे सचय होने से वहाँ के नाडीप्रतानो के कार्य मे बाधा होना।

**( १२ ) सर्वधात्वावृत वात के लक्षण**—सर्वधातुओ मे वायु के आवृत होने पर श्रोणि, वक्षण तथा पृष्ठ मे पीडा होती है। वायु की गति विलोम हो जाती है जिससे अस्वास्थ्य तथा हृदय मे पीडा होती है।[2]

**पित्त तथा कफ से आवृत उदान के लक्षण**—उदान वायु जब पित्त से आवृत होता है तब मूर्च्छा, नाभि तथा छाती मे दाह, अनायास थकावट ( क्लम ), भ्रम तथा ओज का ह्रास एव साद ( अङ्गग्लानि ) ये लक्षण होते हैं।

जब उदान कफ से आवृत होता है तब स्वेद तथा रोमाञ्च का अभाव, अग्निमान्द्य, शीतप्रतीति, अङ्गो मे स्तम्भ, विवर्णता, वाणी तथा स्वर की अप्रवृत्ति, दुर्बलता, गात्र मे गौरव, अरुचि—ये लक्षण होते हैं।[3]

---

१ (i) 'वर्चसोऽति विबन्धोऽध स्वस्थाने परिकृन्तति ।
व्रजत्याशु जरा स्नेहो भुक्ते चानह्यते नर ॥
चिरात्पीडितमन्नेन दु ख शुष्क शकृत् त्यजेत् ।
श्रोणिवक्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुत ॥
अस्वस्थ हृदयञ्चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले ।' ( च चि २८ )

(ii) 'विटावृते विबन्धोऽध स्वस्थाने प्रकृन्तति ।
व्रजत्याशु जरा स्नेहो भुक्ते चानह्यते नर ॥
शकृत्पीडितमन्नेन दु ख शुष्क चिरात्त्यजेत् ॥' ( अ हृ नि १६ )

२ 'सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणिवक्षणपृष्ठरुक् ।
विलोमो मारुतोऽस्वस्थ हृदय पीड्यतेऽति च ॥' ( अ हृ. नि १६ )

३ (i) 'उदाने पित्तसयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमा ।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्नि शीतस्तम्भौ कफावृते ॥' ( च नि १ )

**पित्त तथा कफ से आवृत समान के लक्षण**—समान वायु के पित्तावृत होने पर अतिस्वेद, दाह, ऊष्णता, मूर्च्छा, तृषा, अरुचि तथा अग्निमान्द्य, ये लक्षण होते हैं।

पुन जब कफ से समान वायु आवृत होता है तब मल तथा मूत्र से श्लेष्मा का आधिक्य, रोमाञ्च, अस्वेद अग्नि की मन्दता तथा अङ्गो की अति शीतलता, ये लक्षण होते हैं।[1]

पित्त तथा कफ से आवृत प्राण के लक्षण पहले कह चुके हैं।[2]

नोट—समान वायु के पित्तावृत होने पर भी अग्नि की उत्तेजना न होने से अग्निमान्द्य होता है।

**पित्त तथा कफ से आवृत अपान के लक्षण**—अपान वायु जब पित्तावृत होता है तब रक्तप्रदर, योनि, गुद और मूत्रमार्ग मे दाह ( जलन ) तथा उष्णता का अनुभव होता है। मल तथा मूत्र का वर्ण हरिद्रावर्ण का ( अति पीला ) हो जाता है।

जब अपान वायु कफावृत होता है तब फटा हुआ आम तथा कफ से मिश्रित और गुरु ( पानी मे डूब जाय ऐसा ) मल आता है। इससे कफ प्रमेह तथा शरीर के अधोभाग मे भारीपन प्रतीत होता है।[3]

---

( ii ) 'मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरस क्लम ।
ओजो भ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने पित्तसवृते ॥
आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्य वाक्स्वरग्रह ।
दौर्बल्य गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते ॥' ( च चि २८ )

१ 'समाने पित्तसयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम् ।
कफाधिक्य च विण्मूत्र रोमहर्ष कफावृते ॥ ( सु नि १ )
अति स्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा चारुचिरेव च ।
पित्तावृते समाने स्यादुपघातस्तथोष्मण ॥
अस्वेदो वह्निमान्द्य च लोमहर्षस्तथैव च ।
कफावृते समाने स्याद् गात्राणा चातिशीतता ॥' ( च चि २८ )

२ 'अत्र पित्तेनाप्यावृते समानेऽग्न्युत्तेजनाभावाद् उष्मण उपघातो ज्ञेय ।' ( चक्र )

३ ( i ) 'अपाने पित्तसयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दर ।
अध कायगुरुत्व च तस्मिन्नेव कफावृते ॥' ( सु नि १ )
( ii ) 'हारिद्रमूत्रवर्चस्त्व तापश्च गुदमेढ्रयो ।
लिङ्ग पित्तावृतेऽपाने रजसश्चातिवर्तनम् ॥
भिन्नामश्लेष्मससृष्ट-गुरुवर्च प्रवर्तनम् ।
श्लेष्मणा सवृतेऽपाने कफमेहस्य चागम ॥' ( च चि. २८ )
( iii ) 'अपाने तु मले हारिद्रवर्णता ।
रजोऽतिवृद्धिस्तापश्च योनिमेदनपायुषु ॥' ( अ. हृ नि १६ )

**पित्त तथा कफ से आवृत व्यानवायु के लक्षण**—व्यान वायु जब पित्त से आवृत होता है तब सम्पूर्ण शरीर में दाह, क्लम, अङ्गों का विक्षेप ( पटकना ) वेदना और भङ्ग ( मलावरोध ) ये लक्षण होते हैं।

जब व्यान कफ मे आवृत होता है तब चेष्टाओ का स्तम्भ ( न होना ) सर्वाङ्ग मे गौरव, सर्वसन्धियो तथा अस्थियो मे पीडा, चलने-फिरने मे असमर्थता ( शक्तिनाश ) ये सब लक्षण होते हैं।[1]

आधुनिक क्रिया शारीर के अनुसार वायु के आवरण का अभिप्राय यह है कि विभिन्न अवयवो के नियामक नाडियों ( Nerves ) या उनके प्रतानो के कुपित ( वृद्धि को प्राप्त ) कफ या पित्त से व्याप्त हो उनके कर्मों मे बाधा हो जाना। धातुओ के आवरण का भी यही अभिप्राय है अर्थात् शरीर मे वृद्धि को प्राप्त रक्तादि धातुओ अथवा उनके घटको का नाडी पर ऐसा प्रभाव होना जिससे उनकी क्रिया मन्द पड़ जाय या उनमें बाधा उत्पन्न हो जाय।

अन्न, मल और मूत्र से वायुओ के आवृत होने का अभिप्राय बढे हुए अन्नादिको का वातनाड़ियों पर दबाव होना है। रक्तादि धातुएँ भी प्रवृद्ध होकर वातनाडियो पर दबाव डालती हैं। इसको ही धातुओ का आवरण कहा गया है।

प्राणवायु में प्राण ( Vitality ) तथा उदानवायु मे बल विशेष रूप से स्थित होता है अत. उनके पीडन ( आवरण ) से आयु तथा बल का क्षय होता है।[2] कभी कभी एक ही वायु कफ और पित्त इन दोनो से आवृत हो जाता है। इस आवरण को मिश्रावरण कहते हैं।

**वायुओं के परस्पर आवरण**—प्राण आदि पाँच वायुएँ भी प्रकुपित होकर एक दूसरे को आवृत करते हैं। इस प्रकार इनके परस्पर आवरण की २० प्रकारें निम्नप्रकार हैं.—

**( १ ) प्राणावृत व्यान के लक्षण**—व्यान के प्राण से आवृत होने पर

---

१ ( i ) 'व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपण क्लम।
गुरूणि सर्वगात्राणि स्तम्भन चास्थिपर्वणाम्॥
लिङ्ग कफावृते व्याने चेष्टास्तम्भस्तथैव च॥' ( सु नि १ )

( ii ) 'व्याने पित्तावृते तु स्याद् दाह सर्वाङ्गग क्लम।
गात्रविक्षेपसङ्गश्च ससन्ताप सवेदन॥
गुरुता सर्वगात्राणा सर्वसन्ध्यस्थिजा रुज।
व्याने कफावृते लिङ्ग गतिसङ्गस्तथाधिक॥' ( च चि २८ )

२ 'विशेषाज्जीविन प्राणे उदाने सश्रित बलम्।
स्यात्तयो पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च॥' ( च चि २८ )

समस्त इन्द्रियों की शून्यता ( विषय ग्रहण में असमर्थता ) स्मृति और बल का ह्रास होता है।[१]

**( २ ) व्यानावृत प्राण के लक्षण**—प्राण के व्यान से आवृत होने पर अत्यन्त स्वेद, रोमाञ्च, त्वग्दोष, अङ्गों की सुप्ति ( स्पर्श ज्ञान न होना ) ये लक्षण होते हैं।[२]

**( ३ ) प्राणावृत समान के लक्षण**—समान वायु के प्राण से आवृत होने पर जडता ( अङ्गों में संज्ञा तथा चेष्टा का ह्रास ), गद्गद् वाक्यता तथा मूकता उत्पन्न होती है।[३]

**( ४ ) समानावृत अपान के लक्षण**—अपान वायु के समानावृत होने पर ग्रहणी रोग, पार्श्वग्रह तथा हृदय और आमाशय में शूल होता है।[४]

**( ५ ) प्राणावृत उदान के लक्षण**—उदान वायु के प्राण से आवृत होने पर शिरोग्रह, प्रतिश्याय, निःश्वास तथा उच्छ्वास में बाधा, हृदयशूल तथा मुख का सूखना—ये लक्षण होते हैं।[५]

**( ६ ) उदानावृत प्राण के लक्षण**—प्राणवायु के उदान से आवृत होने पर कर्म, ओज, बल और वर्ण का नाश अथवा मृत्यु—ये लक्षण होते हैं।[६]

**( ७ ) उदानावृत अपान के लक्षण**—अपानवायु के उदान से आवृत होने पर वमन तथा श्वासादि रोग होते हैं।[७]

---

१. 'लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च।
उपलक्ष्य भिषग् विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत् ॥' ( च चि २८ )

२ 'मारुतानां हि पञ्चानामन्योऽन्यावरणे शृणु।
विंशतिर्वर्णान्येनान्युल्वणानां परस्परम् ॥
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत् ॥' ( च चि २८ )

३ ( i ) 'सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वास्मृतिबलक्षयम्।
व्याने प्राणावृते लिङ्गम् ...... ............... ॥
स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता।
प्राणे व्यानावृते .... ... ...... .. ...॥' ( च चि २८ )

( ii ) प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकता।

( iii ) 'समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्वहृद्गदाः।

४. .. ..... . . . . शूलमामाशये ॥' ( च चि २८ )

५ 'शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः।
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते ॥' ( च चि २८ )

६ 'कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युस्तथापि वा।
उदानेनावृते प्राणे . . . . . . . ..... ॥' ( च चि २८ )

७. 'ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः।
स्युर्वाते ................ ... ..... ..... ॥' ( च. चि. २८ )

(८) **अपानावृत उदान के लक्षण**—उदान वायु के अपान से आवृत होने पर मोह, मन्दाग्नि और अतिसार ये लक्षण होते हैं।[1]

(९) **व्यानावृत अपान के लक्षण**—अपान वायु के व्यानावृत होने पर वमन, आध्मान, उदावर्त्त, गुल्मशूल और परिकर्त्तिका—ये लक्षण होते हैं।[2]

(१०) **अपानावृत व्यान के लक्षण**—व्यानवायु के अपान से आवृत होने पर मल, मूत्र और शुक्र का अत्यधिक स्राव होता है।[3]

(११) **समानावृत व्यान के लक्षण**—समान वायु से व्यान के आवृत होने पर मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, अङ्गों का अति शैथिल्य तथा अग्नि, ओज और बल का क्षय—ये लक्षण होते हैं।[4]

(१२) **उदानावृत व्यान के लक्षण**—उदान वायु से व्यान के आवृत होने पर स्तब्धता, मन्दाग्नि, स्वेद का अभाव, चेष्टानाश और आंखों का सदा मीचते रहना—ये लक्षण होते हैं।[5]

**अनुक्त आवरणों का ज्ञान**—शेष अन्य वायुओं के परस्पर आवरणों के लक्षण इन्हीं के अनुसार स्वयं जान लेवे। अर्थात् आवरक दोषों के बली होने से उसके कार्यों की वृद्धि होती है तथा आवृत दोषों के दुर्बल होने से उसके कर्मों की मन्दता होती है। कभी कभी आवरणों के कारण आवृत दोष के प्रकुपित होने पर उसके कर्मों की भी वृद्धि होती है।[6]

**वायुओं के परस्पर आवरण का अभिप्राय**—यहां इस बात का ध्यान

---

१. 'मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ... ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते।
वाते स्यात् ... ... ॥'

२ 'वम्याध्मानमुदावर्त्तगुल्मार्त्तिपरिकर्त्तिका ।
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने ... ... ॥'

३. 'अपानेनावृते व्याने भवेद् विण्मूत्ररेतसाम् ।
अतिप्रवृत्ति ... ... ॥'

४. 'मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ।
समानेनावृते व्याने ... ... ॥'

५ 'स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम् ।
... ... उदानेनावृते व्याने ॥' (च. चि २८)

६ 'पञ्चान्योऽन्यावृतानेवं वातान् बुद्ध्येत लक्षणैः ।
एषा स्वकर्मणा हानिर्वृद्धिर्वाऽऽवरणे मता ॥' (च. चि २८)
'अनुक्तज्ञानार्थमावरणस्वरूपमाह—एषा स्वकर्मणामित्यादि । अत्र आवार्याणां बलीयसाऽऽवरणात् स्वकर्महानिर्भवति । आवरकस्य तूत्सर्गतः स्वकर्मवृद्धिर्भवति, तथाऽऽवरणेन च आवार्यं प्रकुपितो भवति तदा स्वकर्मणा वृद्धिर्भवति इति व्यवस्था'। (चक्र

रने कि नाडीमण्डल के विभिन्न अवयव प्राण आदि वायुओ के आश्रय हैं। इन अवयवो मे यदि कोई अवयव भग्न हो जाय तो उनके दुर्बल हो जाने से स्वभावत अन्य अवयवो की क्रिया ( वायु की क्रिया ) विशेष रूप से प्रकट होने लगती है। यही वायुओ के परस्पर आवरण का स्वरूप है। उदाहरणस्वरूप सुषुम्ना के अनुकटिक भाग तथा उससे नि मृत नाड़ियाँ अपान वायु का आश्रय हैं। इनका कार्य मल, मूत्र. शुक्र और गर्भ की अनैच्छिक प्रवृत्ति है। व्यान वायु या मस्तिष्क सौषुम्णिक तन्त्र ऐच्छिक प्रवृत्तियो का जनक है, अत अपान वायु का नियामक है। इसी कारण इच्छा हो तो मल, मूत्र और शुक्र की प्रवृत्तियो को रोका जा सकता है तथा रोका भी जाता है। परन्तु यह स्वस्थावस्था में होता है। व्यान वायु मस्तिष्क, सुषुम्णाकाण्ड वा उनके नाडीसूत्र—यदि आघात, तीव्रज्वर, सन्यास आदि कारणो से रुग्ण हो तो मल, मूत्र और शुक्र जैसे जैसे बनते जाते हैं, वैसे वैसे उनकी अनजाने प्रवृत्ति होती रहती है अर्थात् अपने अपने आशयो में उनका सचय नही हो पाता। यह अवस्था सुप्रत्यक्ष है। इसी अवस्था को आयुर्वेद वाङ्मय मे अपान से व्यान का आवरण कहा है। अन्य आवरणो की भी इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिए।

वायुओं के पृथक् पृथक् आवरणो मे प्राण तथा उदान का आवरण और धातुकृत् आवरणो में मेद से आवरण विशेष कष्टदायी होता है।[1]

प्राणादि पचवायुओ का परस्पर आवरण २० प्रकार का होता है जैसे —

| | |
|---|---|
| १ प्राणावृत उदान | ११ समानावृत अपान |
| २ ,, समान | १२ ,, व्यान |
| ३ ,, अपान | १३ अपानावृत प्राण |
| ४ ,, व्यान | १४ ,, उदान |
| ५ उदानावृत प्राण | १५ ,, समान |
| ६ ,, समान | १६ ,, व्यान |
| ७ ,, अपान | १७ व्यानावृत प्राण |
| ८ ,, व्यान | १८ ,, उदान |
| ९ समानावृत प्राण | १९ ,, समान |
| १० ,, उदान | २० ,, अपान |

इनमें से १२-अन्योन्यावरणो के लक्षण कण्ठोक्त हैं शेष आठ के लक्षण उपर्युक्त विधान से चिकित्सक को जान लेना चाहिए।

१ 'आवरणेषु वातानां प्राणोदानयोरेव गुरुतरमावरणं द्रष्टव्यम्। धात्वावरणेषु मेदोवृतवातस्य।' ( सु चि ५-२९ पर डल्हण )

इसी प्रकार अन्य २२ आवरणों का भी वर्णन शास्त्रों में प्राप्त होता है जैसे–

१ पित्तावृत वात
२ कफावृत वात
३ रक्तावृत वात
४ मांसावृत वात
५ मेदसावृत वात
६ अस्थ्यावृत वात
७ मज्जावृत वात
८ शुक्रावृत वात
९ अन्नावृत वात
१० मूत्रावृत वात
११ मलावृत वात
१२ पित्तावृत प्राणवायु
१३ कफावृत ,,
१४ पित्तावृत उदानवायु
१५ कफावृत ,,
१६ पित्तावृत समान
१७ कफावृत समान
१८ पित्तावृत अपान
१९ कफावृत अपान
२० पित्तावृत व्यान
२१ कफावृत व्यान
२२ सर्वधात्वावृत वायु

ये उपर्युक्त २२ प्रकार के वातो का दोष–धातु तथा मलो से आवरण तथा २० प्रकार वातो का अन्योऽन्यावरण निदर्शन मात्र ही है। प्राणादि पञ्चवायुओं का परस्पर आवरण तथा दोष, धातु एवं मलो से इनका आवरण पुनः तारतम्य विकल्प से असंख्य हो जाता है।[1]

**आवरणों की उपेक्षा से हानि**—वायु तथा वायुओं के उक्त आवरणों अर्थात् कफ पित्तादि से आवरण तथा धातुओं से आवरण अथवा परस्पर अन्योऽन्यावरण का परिज्ञान न होने से तथा ज्ञान होने पर भी चिकित्सा में इनकी उपेक्षा करने से हृद्रोग, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म और अतिसार आदि उपद्रव होते हैं तथा एक वर्ष बीत जाने पर ये विकार कृच्छ्रसाध्य तथा असाध्य हो जाते हैं।[2]

**दोष-धातु-मलों के क्षय तथा वृद्धि और उनका रोगोत्पादकत्व**—दोष, धातु तथा मल जब शरीर के अन्दर सम अवस्था में अर्थात् अपने अपने स्थान में, प्रकृतमात्रा में रहते हैं तो शरीर का स्वास्थ्य बना रहता है अर्थात् शरीर नीरोग रहता है। जब ये अपने प्रकृतस्थान से च्युत होते हैं तथा अपनी

---

[1] मिश्रैः पित्तादिभिस्तद्वन्मिश्रणाभिरनेकधा।
तारतम्य विकल्पाच्च यात्यावृतिरसंख्यताम्॥ (अ. हृ. नि. १६)

[2] (i) 'सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा।
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा दुरुपक्रमाः॥
हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च।
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात्॥
तस्मादावरणं वैद्य पवनस्योपलक्षयेत्॥' (च. चि. २८)
(ii) (अ. हृ. नि. १६–५७–५८)

प्रकृतमात्रा से हीन या वृद्ध होते हैं तो शरीर मे विकार उत्पन्न होते हैं। ये विकार 'रुक्सामान्य' लक्षणानुसार रोग ही हैं। आचार्य ने धातु वैषम्य तथा दोषवैषम्य को ही रोग कहा है। दोष तथा धातु जब क्षीण या वृद्ध होते हैं तो उनका वैषम्य हो ही जाता है अत. वे रोगोत्पादक हो जाते हैं।

चक्रपाणिदत्त के "लिङ्ग स्व जहतीत्यनेन क्षीणाना प्रकृतिलिङ्गक्षय व्यतिरिक्त विकारकर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति" अर्थात् क्षीण हुए दोष अपने प्रकृत लक्षणो को त्याग देते हैं या हीनरूप मे प्रकट करते हैं अत क्षीण दोष मे विकार कर्तृत्व नही है—इस वचन के आधार पर कुछ विचारक इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि क्षीण दोष रोगोत्पादक नही होते। वृद्धदोष ही उन्मार्गगामी होकर दूष्यो को दूषित कर रोगोत्पादक होते है। इस मत के समर्थको का कहना है कि दोष आदि के क्षय मे स्वयं कोई विशिष्ट रोग उत्पन्न नही होता, परन्तु उनके विरोधी गुणो की वृद्धि होने से उस गुण वाले दोष धातु आदि की वृद्धि होकर उसकी वृद्धि मे होने वाले रोग होते हैं। मैं इस विचार से सहमत नही। इसका कारण यह है कि ऐसे अनेक विकार दोषो के क्षय होने पर ही होते हैं जिनका किसी अन्य दोष की वृद्धि के लक्षणो मे वर्णन उपलब्ध शास्त्रो मे नही मिलता। जैसे—( १ ) मन्दचेष्टता, ( २ ) अल्पवाक्त्व ( ३ ) अप्रहर्ष, ( ४ ) मूढसज्ञता तथा ( ५ ) अग्निवैषम्य। ये वातक्षय मे ही होते हैं। इसी प्रकार ( १ ) मन्दोष्मता ( २ ) निष्प्रभता ( ३ ) स्तम्भ, ( ४ ) अनियत तोद। ये पित्त के क्षय मे ही तथा ( १ ) अन्तर्दाह, ( २ ) आमाशय शून्यता, ( ३ ) सन्धि शैथिल्य, ( ४ ) श्लेष्माशय शून्यता—ये लक्षण कफ के क्षय मे ही होते हैं। इनके अतिरिक्त चिकित्सा का यह सूत्र कि क्षीण धातुओ को वढाना चाहिए ( क्षीणा वर्धयितव्या., क्षीण दोषो से रोग-स्थिति के स्वीकार नही करने पर निरर्थक हो जायेगा।' दोष तथा धातुओ के क्षीण होने पर भी दोष-धातु—वैषम्य हो ही जाता है और दोष-धातु-वैषम्य ही रोग कहलाता है।

चरकसहिता ( सू० अ० १७ ) के कियन्त शिरसीय अध्याय में स्पष्ट रूप से क्षीण दोषो से उत्पन्न होने वाले २५ व्याधियो का निर्देश ( कण्ठोक्त ) है। क्षय कितने प्रकार के होते हैं इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है कि जिस प्रकार वृद्ध दोषो से २५ प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार क्षीण दोषो के संसर्ग, सन्निपात, हीन-मध्य-अधिक आदि विकल्प से २५ प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इतना ही नही दोष धातुओ के क्षीण होने के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का भी स्पष्ट प्रतिपादन चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट तीनो सहिताग्रन्थो मे उपलब्ध होता है अत चक्रपाणिदत्त का तर्क सर्वसम्मत तथा युक्तियुक्त नही प्रतीत होता।

निष्कर्ष यह कि दोष तथा धातुओ के क्षीण होने मे भी रोग उत्पन्न होते हैं।

दोष-धातु तथा मल जब समप्रमाण मे अपने-अपने स्थान मे रहते हैं तो उन्हें 'स्थान' स्वस्थान मे समप्रमाण मे स्थित कहते है। जब ये अपनी प्रकृत-मात्रा से न्यून होते हैं तो 'क्षीण' कहते हैं।[1]

**क्षयवृद्धि के परिचय के सामान्य नियम**—दोष जब प्रकृत अवस्था मे अर्थात् समावस्था मे रहते हैं तव अपने प्रकृति नियन कर्म को, विना किसी विकार के उत्पन्न किये ही प्रकट करते हैं। जब वे क्षीण होते हैं तव उनके प्रकृत कर्म का ह्रास हो जाता है और उनके विरोधी गुणो तथा कर्मों की वृद्धि होती है। जब वे वृद्ध होते हैं तव वे अपने लक्षणो को यथावल प्रकट करते हैं अर्थात् उनके प्राकृत गुण कर्मों का उनके वल के अनुसार आधिक्य होता है।[2]

उदाहरण स्वरूप जैसे—वातक्षय होने पर उसके प्रकृत कर्म उत्साह का ह्रास और उसके विरोधी कर्म विषाद की वृद्धि होती है। इसी प्रकार श्लेष्म की वृद्धि होने पर श्लेष्म के प्रकृत कर्म स्निग्धता आदि की वृद्धि हो जाती है इत्यादि।

अत दोषो की विकृत अर्थात् रोगजनक अवस्था दो प्रकार की है—क्षय और वृद्धि। जब दोष क्षीण होते हैं तव दो स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जैसे प्रथम उनके प्रकृत कर्मों का ह्रास और द्वितीय दोषो के प्रकृत गुण कर्मों के विरोधी गुण कर्मों की वृद्धि। इन दोनो ही अवस्थाओ मे दोष वैषम्य होने से रोग उत्पन्न होते हैं। वृद्धि को प्राप्त दोष उन्मार्गगामी होकर दूष्यो को दूषित करके व्याधि उत्पन्न करते हैं।

क्षय तथा प्रकोप के भेद से दोषो की वृद्धि के दो भेद होते हैं। इनका वर्णन पहले कर चुके हैं। पुन ये दोनो भेद ही ६ प्रकारों का रूप (६ अवस्था का रूप) धारण कर लेते हैं। इनका भी वर्णन किया जा चुका है।

**दोष धातु तथा मलों के क्षय के सामान्य कारण**—व्यायाम, अनशन, चिन्ता, रूक्षभोजन, अल्पाशन, प्रमिताशन, वात, आतप, भय, शोक, चिता, रूक्षपान, प्रजागर, कफातिवर्त्तन, शोणितातिवर्त्तन, शुक्रातिवर्त्तन,

---

१ 'क्षय स्थान च वृद्धिश्च दोषाणा त्रिविधा गति.।' (च सू १७)

२ (i) 'दोषा प्रवृद्धा' लिङ्ग स्व दर्शयन्ति यथावलम्।
क्षीणा जहति लिङ्ग स्व समा स्व कर्म कुर्वते ॥' (च. सू १७)

(ii) वाते पित्ते कफे चव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मण प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्॥
दोषप्रकृतिर्वैशेष्य नियन वृद्धिलक्षणम्।
दोषाणा प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिश्चैव परीक्ष्यते॥' (च सू. १८)

मलातिवर्त्तन, काल, भूतोपघात ये सब दोष-धातु-मल के क्षय के कारण हैं। यहाँ वातक्षय का कारण इसके विलक्षण-स्वभाव से नही कहा है। मल वायु का क्षय उक्त कारणो से सभव है।[1]

**वातक्षय तथा वृद्धि-विज्ञान**—शरीर यन्त्र के निरुपद्रव संचालन के लिए वायु का समप्रमाण मे रहना आवश्यक है। वायु को तन्त्र-यन्त्रधर अर्थात् शरीर के यन्त्रो का धारण करने वाला कहा गया है। यह कर्म तभी सभव है जब वायु अपनी प्रकृतावस्था ( Normal stage ) अथवा समावस्था मे रहे। समावस्था के ज्ञानार्थ इसके विषमावस्था अर्थात् क्षीण तथा वृद्धावस्था का ज्ञान आवश्यक है।

**वातक्षय के लक्षण**—मन्दचेष्टता, अल्पवाक्त्व, अप्रहर्ष, मूढसज्ञता, प्रसेक, अरुचि, हृल्लास, अङ्गसाद, अग्निवैषम्य, श्लेष्मवृद्धि के लक्षण—ये सब वायु के क्षीण होने पर प्रगट होते हैं।[2]

इन उपर्युक्त लक्षणो के अतिरिक्त वायु के प्राकृत कर्मों का ह्रास हो जाता है जैसे—उत्साह का ह्रास अर्थात् अनुत्साह, उच्छ्वास मे कमी, नि श्वास का ह्रास, चेष्टा का ह्रास, धातुओ की समगति का ह्रास, गतिमान मलादिकों के मोक्ष मे कमी अर्थात् उनका असम्यक् प्रवर्त्तन, शरीर के यन्त्रो के धारण-शक्ति मे ह्रास, नानाविध चेष्टाओं के प्रवर्त्तन मे ह्रास, मनोनियमन का ह्रास, मन प्रेरण का ह्रास, सभी इन्द्रियो के उद्योजन ( प्रेरण ) मे ह्रास, सभी धातुओ के व्यूहकरण मे कमी, शरीरसन्धान मे ह्रास, वाक्प्रवर्त्तन मे कमी, हर्ष तथा उत्साह की उत्पत्ति मे ह्रास, अग्निसधुक्षण मे कमी, शरीरक्लेदसशोषण मे कमी मलक्षेपण मे कमी, स्थूलाणुस्रोतोभेदन मे कमी, गर्भाकृतिनिर्माण मे ह्रास, आयुषोऽनुवर्त्तन मे न्यूनता, विक्षेप का ह्रास, प्रस्पन्दन अर्थात् शरीर के प्रस्पन्दन

---

१ 'व्यायामोऽनशन चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम् ।
वातातपौ भय शोको रूक्षपान प्रजागर ॥
कफशोणितशुक्राणा मलाना चातिवर्त्तनम् ।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्या क्षयहेतव ॥' ( च सू १७ )

२ ( i ) 'तत्र वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसज्ञता च ।' ( सु सु १५ )
( ii ) चकारात् प्राकृतकर्महानिस्तद्विरोधिनश्च श्लेष्मण प्राकृतकर्मवृद्धिरिति चकार समुच्चिनोति' ( डल्हण )
( iii ) 'प्रसेकारुचिहृल्लासमज्ञामोहाल्पवाक्चेष्टताप्रहर्षाङ्गसादाग्निवैषम्यादिभि क्षीणो वायु पीडयति'। ( अ स सू १९ )
( iv ) 'लिङ्ग क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्प भाषितेहितम् ।
सज्ञा मोहस्तथा श्लेष्मवृद्धयुक्तामयसभव ॥' ( अ हृ सू ११ )
कर्मण प्राकृताद्धानि —

गतिवाले अवयवो के प्रस्पन्दन कर्म मे कमी, उद्वहन का ह्रास, पूरण मे कमी, रस-मल विवेक मे कमी—ये लक्षण 'कर्मण प्राकृताद् हानि' के अनुसार वातक्षय मे दृष्टिगोचर हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त कफ के प्राकृत कर्मों की वृद्धि भी वातक्षय मे संभव है।[1]

**वातवृद्धि के लक्षण**—वायु की वृद्धि होने पर वाणी की कर्कशता, त्वचा की रूक्षता, कृशता, शरीर के वर्ण का काला हो जाना, अङ्गो मे स्फुरण वा कम्प होना उष्ण आहार-विहार मे प्रीति, मन के अनवस्थित होने से अनिद्रा, बल की न्यूनता तथा उसके कारण कर्मों मे अनुत्साह, मल का गाढा होना, आनाह, प्रलाप, भ्रम, ज्ञानता, सज्ञानाश, इन्द्रियोपघात, अस्थिशूल, मज्जशोष, आध्मान, आटोप, मोह, दैन्य, भय, शोक ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[2]

इनके अतिरिक्त वायु के प्रकृत कर्मों की वृद्धि हो जाती है। वायु का प्रकोप भी वृद्धि का ही स्वरूप है अत प्रकोपजन्य लक्षणो को भी वृद्धि का ही लक्षण समझना चाहिए। ये लक्षण इस प्रकार हैं—अङ्गो का सकोच, शिर, नासिका, आँख, ग्रीवा, कन्धे आदि का अन्दर धँस जाना, अस्थिसन्धियो की निश्चेष्टता अस्थिसन्धियो का भेद (टूटने की सी पीडा), रोमाच, प्रलाप, हाथ, पैर और शिर का ग्रह (स्तम्भ, शूल और चेष्टा का ह्रास) खञ्जता (एक पैर का लूला होना), पङ्गुता (दोनो पैर का लूला होना), कुब्जता, अङ्गो का शोथ, अनिद्रता, ज्ञानेन्द्रियो की मन्दता, कर्मेन्द्रियो की दुर्बलता, शुक्रनाश, आर्त्तवनाश, वन्ध्यता, मृतगर्भता, मूढगर्भता, गर्भ के अवयवो मे विकार, कम्प, स्पर्शज्ञान का न होना,

---

१ (i) 'उत्साहोच्छ्वासनि श्वासचेष्टा धातुगति समा।
समो मोक्षो गतिमता वायो कर्माविकारजम्॥' (च सू १८)
(ii) वायुर्न्तन्त्रयन्त्रधर प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानामिति। च सू १२;
विक्षेपै (सु सू २१)
प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायु पञ्चधा प्रविभक्त शरीर धारयति।'
सु सू १५,

२ (i) 'वातवृद्धौ वाक्पारुष्य कार्श्य कार्ष्ण्य गात्रस्फुरणमुष्णकामिता।
निद्रानाशोऽल्पबलत्व गाढवर्चस्त्व च॥' (सु० सू० १५)
(ii) 'कार्श्यकार्ष्ण्यगात्रकम्पस्फुरणोष्णकामितासज्ञानिद्रानाशबलेन्द्रियोपघातास्थि-
शूलमज्जाशोषमलसङ्गाध्मानाटोपमोहदैन्यभयशोकप्रलापादिभि वृद्धो वायु
पीडयति।' (अ० स० सू० १०)
(iii) 'अल्पबलत्वम्—उत्साहहानि.।' (डल्हण)
'तत्र वायुना मनोभ्रमणान्निद्रा न भवति।' (चक्र)
(iv) 'वृद्धस्तु कुरुतेऽनिल। कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामित्वकम्पानाहशकृद्ग्रहान्।
बलनिद्रेन्द्रियभ्रंशप्रलापभ्रमदीनना॥' (अ० हृ० सू० ११)

अङ्गो मे भेद, तोद, शूल, आक्षेप, श्रम, मोह, ( चेतना का ह्रास ), मनोभ्रम, भय, शोक, मोह, दैन्य, अतिप्रलाप, प्राणो का उपरोध—ये सब लक्षण होते हैं। इनके अतिरिक्त आवरण आदि कारण विशेष से तथा कोष्ठादि स्थान भेद से भी कुपित वायु अनेक अन्य विकार उत्पन्न करते हैं।[1]

**वातवृद्धि तथा वातक्षय के कारण**—वातप्रकोपण आहार-विहार वातवृद्धि के कारण होते हैं। सक्षेप मे वातप्रकोप के कारणो के तीन प्रकार होते हैं। प्रज्ञापराध, परिणाम तथा असात्म्येन्द्रियार्थसयोग। इनके अतिरिक्त आवरण भी वातप्रकोप के कारण होते हैं जिसका सकेत पहले कर चुके हैं।[2] वात के गुणकर्म विपरीत आहार-विहार का सेवन वातक्षय के कारण होते हैं।

**वातप्रकोप के कारण**

| | | |
|---|---|---|
| १ वलवद्विग्रह | ११ प्रतरण | २१ रूक्ष |
| २ अतिव्यायाम | १२ रात्रिजागरण | २२ लघु |
| ३ अतिव्यवाय | १३ भारहरण | २३ शीतवीर्य |
| ४ अत्यध्ययन | १४ गजातिचर्या | २४ शुष्कशाक |
| ५ प्रपतन | १५ तुरगातिचर्या | २५ शुष्कमास |
| ६ प्रधावन | १६ रथातिचर्या | २६ वरक |
| ७ प्रपीडन | १७ पदातिचर्या | २७ उद्दालक |
| ८ अभिघात | १८ कटुरस | २८ कोरदूषक |
| ९ लघन | १९ तिक्तरस | २९ श्यामाक |
| १० प्लवन | २० कषायरस | ३० नीवार |

---

१ ( i ) सङ्कोच पर्वणास्तम्भो भेदोऽस्थ्ना पर्वणामपि।
लोमहर्ष प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रह॥
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्व शोषोऽङ्गानामनिद्रता।
गर्भशुक्ररजोनाश स्पन्दन गात्रसुप्तता॥
शिरोनासाक्षिजत्रूणा ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्।
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च॥
एव विधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिल।
हेतुस्थान विशेषाच्च भवेद्रोग विशेषकृत॥ ( च० चि० २८ )

( ii ) 'कुपितास्तु खलु शरीरे नानाविधैर्विकारैरुपतपति, वलवर्णसुखायुषामुपघाताय भवति, मनोव्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यतिकाल वा धारयति भय-शोक-मोहदैन्यातिप्रलापान् जनयति, प्राणाश्चोपरुणद्धि।' ( च० सू० १२ )

२ सु० सू० २१, च० चि० २८, अ० स० नि० १, अ० हृ० नि० १।

३१ मुद्ग
३२ मसूर
३३ आढकी
३४ चणक
३५ कलाय
३६ निष्पाव
३७ अनशन
३८ विषमाशन
३९ अध्यशन
४० वातवेग विघात
४१ मूत्रवेग ”
४२ पुरीषवेग ”
४३ छर्दिवेग ”
४४ शुक्रवेग ”
४५ क्षवथुवेग ”
४६ उद्गारवेग ”
४७ बाष्पवेग ”
४८ विषमोपचार
४९ दोषातिस्रवण
५० रक्तातिस्रवण
५१ धातु क्षय
५२ चिन्ता
५३ शोक
५४ रोगातिकर्षण
५५ दुःखशय्या
५६ दुःखासन
५७ क्रोध
५८ दिवास्वाप
५९ भय
६० आमदोष
६१ मर्माघात
६२ गज, उष्ट्र, अश्व तथा शीघ्रगामी यान से पतन।
६३ विष्टम्भिभोजन
६४ विरुद्धान्न
६५ तृणधान्य
६६ करीर,
६७ तुम्ब
६८ कालिङ्ग
६९ चिर्भट ( चिभरा )
७० मार्गविचरण
७१ विष
७२ शालूक
७३ जाम्बव
७४ तिन्दुक
७५ हीनभोजन
७६ शुष्कभोजन
७७ अतिभाषण
७८ तृषिताशन
७९ क्षुधिताम्बुपान
८० छिन्नाभिन्नगात्रसंयोग
८१ निद्रा
८२ अतिस्वरणप्रसरण
८३ अत्युग्र लंघन
८४ विषम लंघन
८५ [illegible]
८६ अश्मन्-शिला-लोष्ट का फेंकना।
८७ विशेषण
८८ भ्रमण
८९ धावन
९० गात्रोत्सादन
९१ अत्युच्च भाषण
९२ क्रियातियोग
९३ पराघातन
९४ साहस
९५ उत्कण्ठा
९६ ग्रीष्मऋतु
९७ अपराह्न
९८ वर्षाऋतु

आरोग्य के लिए अन्य धातुओं के समान पित्त का भी साम्यावस्था में रहना अनिवार्य है। अतः इसके क्षयवृद्धि के लक्षणों का ज्ञान परमावश्यक है।

**पित्तक्षय के लक्षण**—मन्दोष्मता, मन्दाग्निता, निष्प्रभता, स्तम्भ, शैत्य, अनियततोद, अनियतदाह, अरोचक, अविपाक, अङ्गपारुष्य कम्प, गौरव, नख शुक्लता, नयन शुक्लता—ये लक्षण पित्त के क्षीण होने पर प्रकट होते हैं।[1]

---

१. ( i ) 'पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभता च ॥' ( सु० सू० १५ )
( ii ) 'पित्ते ( क्षीणे ) मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः ।' ( अ० हृ० सू० ११ )
( iii ) 'स्तम्भशैत्यानियततोददाहारोचकाविपाकाङ्गपारुष्यकम्पगौरवनखनयनशौक्ल्यादिभिः पित्तम् ।' कर्मणः प्राकृताद्धानिः ॥ ( अ० सं० सू० १९ )

इन उपर्युक्त लक्षणो के अतिरिक्त पित्त के प्रकृत कर्मो की हानि तथा विरोधी, गुणवाले दोष की वृद्धि के लक्षण भी हो सकते हैं, जैसे दर्शन हानि, पक्ति ( अन्न-पाचन शक्ति ) का ह्रास, उष्मा का ह्रास, क्षुवाल्पता, तृषा का ह्रास, देहमार्दव मे न्यूनता, प्रभाहानि, मन प्रसाद मे कमी, मेधा जनन मे कमी, उष्मा की मात्रा मे न्यूनता, प्राकृत वर्ण की हानि, शौर्यहानि, हर्षहानि, प्रसाद हानि, रागहानि ( रञ्जक पित्त के कर्म मे हानि ), ओजगुणहानि, तेज की कमी, अभिलाषा की कमी, रुचिह्रास, आदान कर्म ( शरीर मे स्नेहाश के आदान ) का ह्रास-ये सब लक्षण संभव हैं।[1]

**पित्तवृद्धि के लक्षण**—त्वचा का पीलापन, सन्ताप, ( दाह ) शीत वस्तुओ पर प्रीति, अल्पनिद्रता, मूर्च्छा, भ्रम, तम, इन्द्रियो की शक्ति का ह्रास, वलहानि, मल-मूत्र तथा नेत्र का पीला होना—ये लक्षण पित्त की वृद्धि मे होते हैं। इनके अतिरिक्त ग्लानि, ओजो विस्रन्स, तिक्तास्यता, तृषा तथा क्रोध पित्त के वढने पर होते हैं।[2]

पित्त की वृद्धि होने पर पित्त के प्रकृतिनियतकर्म भी वढ जाते हैं। पित्त-प्रकोप के लक्षण भी पित्तवृद्धि के ही हैं क्योकि प्रकोप भी वृद्धावस्था का ही स्वरूप है।

**प्रकुपित पित्त के लक्षण**—दाह, औष्ण्य, पाक, स्वेद, क्लेद, कोथ, कण्डू स्राव, राग, पूति, शुक्लारुण-वर्जित वर्ण, कटुरस, अम्लरस, विस्फोट, अम्लोद्गार, धूमोद्गार, प्रलाप, मूर्च्छा, दौर्गन्ध्य, दरण, मद, विसरण, अरति, तृषा, भ्रम, अतृप्ति, तम प्रवेश, कटुरसता, अम्लरसता, तिक्तरसता, पाण्डुरहितान्यवर्णता, कथितता—ये विकार प्रकुपित पित्त उत्पन्न करते हैं।[3]

---

१ ( i ) 'दर्शनं पक्तिरुष्मा च क्षुत्तृष्णादेहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादौ मेधा च पित्तकर्माऽविकारजम् ॥ ( च० सू० १८ )

( ii ) 'पक्तिमपक्तिं, दर्शनमदर्शनं, मात्रामात्रात्वमूष्मण । प्रकृतविकृतवर्णौ शौर्यं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानि ।' ( च० सू० १२ )

( iii ) रागपक्ति—ओजस्तेजोमेधोष्मकृत् । पित्तपञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रह करोति ॥' ( सु० सू० १५ )

२ ( i ) 'पित्तवृद्धौ पीतावभासता सन्ताप शीतकामित्वमल्पनिद्रतामूर्च्छावलहानि-रिन्द्रियदौर्वल्यं पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं च ।' ( सु० सू० १५ )

( ii ) 'पीतत्वग्लानीन्द्रियदौर्वल्यौजोविस्रंस शीताभिलाप दाहतिक्तास्यतातृण्मू-र्च्छाऽल्पनिद्रता क्रोधादिभि पित्तं वृद्ध पीडयति ( अ० स० सू० १९ )

३. ( i ) 'दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागा यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्त-नं पित्तस्य कर्माणि, तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ॥' (च० सू० २०)

इनके अतिरिक्त पित्त के नानात्मज विकार भी पित्त वृद्धि के ही द्योतक हैं। वे इस प्रकार हैं—ओष, प्लोष, दाह, दवथु, धूमोद्गार, अम्लोद्गार, विदाह, अन्तर्दाह अंसदाह, ऊष्माधिक्य, अतिस्वेद, अंगगन्ध, अङ्गावदरण, शोणितक्लेद, मांसक्लेद त्वग्दाह, मांसदाह, त्वगवदरण, चर्मदलन, रक्तकोठ, रक्तविस्फोट, रक्तपित्त, रक्तमण्डल, हरितत्व, हारिद्रत्व, नीलिका, कक्षा, कामला, तिक्तास्यता, लोहित-गन्धास्यता, पूतिमुखता, तृष्णाधिक्य, अतृप्ति, आस्यविपाक, गलपाक, अक्षिपाक, गुदपाक, मेढ्रपाक, जीवादान, तम प्रवेश, हरितमूत्रता, हारिद्रमूत्रता, हरितनेत्रता, हारिद्रनेत्रता, हरितवर्चस्कता, हारिद्रवर्चस्कता—ये सब पित्त के नानात्मज विकार हैं।[1]

पित्त के प्रकोप से होने वाले विकारों का जो वर्णन यहाँ किया गया है, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि पित्तप्रकोप या वृद्धि से इतने ही विकार उत्पन्न होते हैं। पित्त के विकार तो असंख्येय हैं। उनमें आविष्कृततम पित्त के नानात्मज विकार उपर्युक्त हैं। ये उपर्युक्त लक्षण या विकार न्यून, अधिक या सम्पूर्ण, एकाङ्ग में वा सर्वाङ्ग में यथासम्प्राप्ति उपलब्ध हो सकते हैं।

पित्तप्रकोपककारण[2]

| | | |
|---|---|---|
| १ क्रोध | ५ उपवास | ९ अम्लद्रव्य |
| २ शोक | ६ विदग्धता | १० लवण ,, |
| ३ भय | ७ मैथुन | ११ तीक्ष्ण ,, |
| ४ आयास | ८ कटुद्रव्य | १२ उष्ण ,, |

(ii) 'यथान्नं गन्धः विस्र, वर्णं शुक्लारुणवर्जं, रसौ कटुकाम्लौ।' (योगेन्द्रनाथ.)

(iii) 'विस्फोटाम्लकधूमका: प्रलपनं, स्वेदस्रुतिमूर्च्छनं, दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ। उष्माऽतृप्तितमः प्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा:। वर्णः पाण्डुविवर्जितः कथितना कर्माणि पित्तस्य वै॥' (सुदान्तसेन.)

१. 'पित्तविकाराश्चत्वारिंशदतऊर्ध्वमनुव्याख्यास्यामः—ओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंसदाहश्च, ऊष्माधिक्यं च, अतिस्वेदश्च (अङ्गस्वेदश्च) अङ्गगन्धश्च, अङ्गावदरणं च, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च (मांसदाहश्च), त्वगवदरणं च, चर्मदलनं च, रक्तकोठश्च, रक्तविस्फोटश्च, रक्तपित्तं च, रक्तमण्डलानि, हरितत्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च, कक्षा च, कामला च, तिक्तास्यता च' लोहितगन्धास्यता च पूतिमुखता च तृष्णाधिक्यं च, अतृप्तिश्च, आस्यविपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानं च, तमःप्रवेशश्च, हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं च, इति चत्वारिंशत् पित्तविकाराः। पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः॥ (च० सू० अ० २०)

२ सु० सू० २१, अ० ह० नि० १, शा० प्र० २।

—मधुकोष व्याख्या, सुदान्तसेनः

साहित्य[1] मे वर्णन उपलब्ध होता है। इनमे वसन्त या अन्य किसी एक ऋतु से प्रारम्भ करके समाप्त किये हुए ऋतु-पर्यावर्त ( ऋतुओ के चक्कर ) को सवत्सर कहते हैं। प्राचीन परिस्थितियो मे निर्मित यह ऋतु विभाग बाद मे 'वसन्तादिभ्यष्ठक्' ( ४-२-६३ ) सूत्र द्वारा पाणिनि ने भी ग्रहण किया है तथा आज कल लोक मे भी प्रचलित है।

सुश्रुत सहिता के ऋतुचर्याध्याय मे पहले उत्तरायण आदि को प्रारम्भ कर प्रचलित प्रक्रिया के अनुरूप शिशिर से प्रारम्भ कर हेमन्त तक ६ ऋतुओ का निर्देश[2] कर पुन अगले ही वाक्य मे सर्दी, गर्मी तथा वर्षा के भेद से तीनो दोषो के उपचयन ( सचय ) प्रकोप एव सशमन की अवस्था के अनुसार अमुक समय मे उपचित एव प्रकुपित दोष को अमुक समय मे शान्त करना चाहिये इत्यादि भैषज्य प्रक्रिया के उपयोगी ऋतु को बतलाने के लिये 'इहतु' इत्यादि द्वारा दक्षिणायन कालविभाग को दिया है।[3]

इसमे वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट् ऋतुओ का उल्लेख होने से प्रथम प्रक्रिया मे अर्थात् ऋतु विभाग मे चार मास सर्दी के ( अर्थात् २ मास हेमन्त और २ मास शिशिर ) तथा २ मास वर्षा के आते हैं। दूसरी प्रक्रिया मे ( ऋतु विभाग मे ) २ मास सर्दी के तथा ४ मास वर्षा के ( अर्थात् २ मास प्रावृट् और २ मास वर्षा ) होते हैं। काश्यप सहिता मे ऋतुवर्णन के खण्डित होने पर भी आत्रेय ( चरक ) और भेल सहिता मे भैषज्य सम्बन्धी द्वितीय ऋतु विभाग का ही ग्रहण किया गया है। इस प्रकार आयुर्वेदीय पद्धति मे चिकित्सा की दृष्टि से हेमन्त और शिशिर के अभेद तथा प्रावृट् और वर्षा के भेद को प्रगट करते हुए ऋतु विशेष का ग्रहण करने के लिये ही 'इहतु' इत्यादि पद से आयुर्वेदीय मार्ग के अनुसार स्वदेश के अनुरूप ऋतु विभाग सुश्रुत मे दिया गया है।

भारत या अन्य किसी भी देश मे सब जगह एक समान ऋतु विभाग नहीं हो सकता। प्रत्येक देश मे सर्दी तथा गर्मी के भेद से ऋतुएँ प्राय बदलती ही रहती हैं। सिहल प्रदेश ( सीलोन ) मे प्राय छओ ऋतुएँ सदा समान होती हैं। परन्तु ऐसी स्थिति सर्वत्र नहीं होती। कही बहुत देर तक भयङ्कर गर्मी पडती है तो कही बहुत देर तक अत्यधिक सर्दी होती है और कहीं पर वर्षा की बहुलता होती है। मद्रास आदि दक्षिण प्रदेशो मे मार्गशीर्ष तथा पौष मे आम की मञ्जरियाँ आ जाती हैं और फाल्गुन तथा चैत्र मे उसके फल भी पक जाते हैं। ज्यो-ज्यो ऊपर पर्वतीय प्रदेशो की ओर चलाते जायँ त्यो त्यो

---

१ यजुर्वेद—'वसन्तेन ऋतुना' इत्यादि। ( २१-२३-८ )

२ सु सू अ ६-६, ७। ३ सु सू ६-१०।

आम की मञ्जरियो का निकलना तथा उनके फलो का पकना देर मे प्रारम्भ होता है। जैसे नेपाल मे वैशाख मे आम की मञ्जरियाँ निकलती हैं और भाद्रपद तथा आश्विन मे फल पकते हैं। इसी प्रकार शाक, पुष्प फल तथा औषधि आदि के निकलने तथा पकने का समय देश भेद से भिन्न-भिन्न होता है। देश के अनुसार सर्दी-गर्मी तथा जलवायु आदि मे परिवर्तन हो जाने के कारण जहाँ जैसी परिस्थिति हो, उसी के अनुसार गुण दोषो का जानकर चिकित्सको को चिकित्सा कार्य मे प्रवृत्त होना उचित है। यही कारण है कि सुश्रुताचार्य ने 'इह तु' पद द्वारा चिकित्सको का ध्यान उस स्थल की ओर आकृष्ट किया है जहाँ प्रावृट् और वर्षा अर्थात् ४, मास तक वर्षा की ऋतु रहती है।

पूर्व प्रचलित ऋतुविभाग का पहले निर्देश करके 'इहतु' के द्वारा उपदेश स्थल मे अर्थात् दूसरे ऋतु विभाग मे प्रावृट् तथा वर्षा रूप वृष्टि के समय दुगुणे दिये होने से वह स्थान ऐसा होना चाहिये जहाँ सर्दी २ मास और वर्षा ४ मास होती हो। स्थान भेद से वर्षा का तारतम्य ( कमी अथवा अधिकता ) दृष्टिगोचर होता है। भारत मे भी ग्रीष्म के अन्त मे बंगाल की खाडी अथवा अरबसागर से जल लेकर उठे हुए बादल ( मानसून ) वायव्य दिशा की ओर बढता हुआ उन-उन प्रदेशो मे क्रमश वृष्टि करता जाता है तथा हिमालय या अन्य ऊँचे पहाडो पर पहाडो की चोटियो से रुक कर पश्चिम दिशा में न जा सकने के कारण चिरापूँजी आदि स्थानो मे अत्यधिक वर्षा करता है। ज्यो ज्यो ये प्राकृतिक परिस्थितियाँ अधिक उत्पन्न होगी त्यो-त्यो वर्षा के समय की अधिकता बढती जायगी ऐसा वैज्ञानिको का मत है। अत. सुश्रुत मे दिये हुए भैषज्यानुकुल द्वितीय ऋतु विभाग में वर्षा तथा प्रावृट् ऋतु का पृथक् २ निर्देश किया गया है। काशी मे वर्षाकाल ४ मासो तक नही रहता अत, यह वर्णन वहाँ का सभव नहीं। यह ऋतु का द्वितीय विभाग किसी अन्य देश का जहाँ ४ मास तक वर्षा काल रहता हो सभव है। सुश्रुत की टीका मे काश्यप के नाम से निम्नश्लोक उद्धृत प्राप्त होता —

"भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम् ।
तेन प्रावृपवर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ ॥
गङ्गाया उत्तरे कूले हिम्वद्धिमसकुले ।
भूय शीतमतस्तेषा हेमन्त-शिशिरावृतू ॥"

इन श्लोकों के अनुसार गङ्गा के उत्तर में हिमालय प्रदेश मे हेमन्त शिशिर रूप शीत द्वैगुण्य ( ४ मास ) गङ्गा के दक्षिण मे प्रावृट् वर्षारूप वृष्टि द्वैगुण्य ( ४ मास ) का बोध होता है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रसङ्ग मे गङ्गा से काशी की गङ्गा का ग्रहण नही है क्योकि

यहाँ गङ्गा के दक्षिण तथा उत्तर मे उपर्युक्त भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। अपितु गङ्गा द्वार से निकलने वाली गङ्गा का ग्रहण अभिप्रेत है जहाँ शीतकाल मे उत्तर की ओर शीत द्वैगुण्य तथा वर्षाकाल मे दक्षिण की ओर वृष्टि द्वैगुण्य सम्भव है।

इस प्रकार 'इह तु' पद दोनो प्रकार के ऋतु विभागो के औचित्य का प्रतिपादन करता है।

वर्षा ऋतु मे वायु के प्रकोप होने मे तथा पित्त का सचय होने से अग्नि मन्द तथा विषम हो जाती है। अत इस काल में भोजन का सम्यक् पचन प्राय नहीं होता। इसलिए इस ऋतु मे अग्निदीपक साधारण द्रव्यो का भोजन मे व्यवहार करना चाहिये। इस काल मे जल प्राय दूषित रहता है। अत जल के दोष से बचने के लिए परिस्रुत तथा क्वथित जल का पान पथ्य है। इस ऋतु मे अम्ल, लवण रस प्रधान स्निग्ध द्रव्यो का सेवन प्रशस्त है।[1]

शरद् ऋतु मे पित्त का प्रकोप होता है अत पित्त की शान्ति के लिए घृत तथा तिक्त रस प्रधान द्रव्यो का सेवन हितकर होता है। इस काल मे पित्त निर्हरण के लिए विरेचन तथा रक्तमोक्षण कर्म प्रशस्त माना गया है। भूख लगने पर तिक्त, स्वादु ( मधुर ) और कषाय रसविशिष्ट आहार द्रव्यो का भोजन करना चाहिए।[2]

**व्याधिकालीन पथ्यव्यवस्था**—इसका विस्तृत विवरण प्रत्येक व्याधि के साथ किया जायगा। यहाँ पर सैद्धान्तिक विवरण मात्र निदर्शनार्थ किया जायगा। यह व्याधिनिर्घात कर चिकित्सा का मुख्य अङ्ग है। इसका महत्त्व दर्शाते हुए आचार्यो ने कहा है कि पथ्य की व्यवस्था समुचित रहने पर औषध निषेवण की कोई आवश्यकता नही तथा पथ्य की अव्यवस्था रहने पर औषध सेवन से कोई लाभ नही होता।[3] तात्पर्य यह कि पथ्य की सुव्यवस्था होने पर औषध के बिना भी रोग दूर किया जा सकता है। पथ्य की दूसरी सज्ञा उपशय तथा सात्म्य है यह पहले कह चुके हैं।

---

१ आदानग्लानवपुषामाग्नि सन्नोऽपि सीदति।
वर्षासु दोषैः, दुष्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे॥
वह्निनैव च मन्देन तेष्वित्यन्योऽन्य दूषिषु।
भजेत्साधारण सर्वमूष्मणस्तेजन च यत्॥ अ हृ सू ३

२ वर्षाशीतोचिताङ्गाना सहसैवार्करश्मिभि।
तप्तानान्त सञ्चित वृष्टौ पित्त शरदि कुप्यति॥
तज्जयाय घृत तिक्त विरेको रक्तमोक्षणम्।
तिक्त स्वादु कषाय च क्षुधितोऽन्न भजेल्लघु॥ अ हृ सू ३

३ पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषध निषेवणै।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणै॥ ( वैद्य जीवन )

**उपशय**—हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधिविपरीत, हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी तथा हेतु-व्याधिविपरीतार्थकारी औषध, अन्न तथा विहार के ( परिणाम में ) सुखदायक उपयोग को उपशय कहते हैं।[1] इनका स्पष्टीकरण अधोलिखित कोष्टक से हो जायगा —

| उपयोग | औषध | अन्न | विहार |
|---|---|---|---|
| हेतुविपरीत | शीत (कफ) ज्वर मे शुंठी आदि उष्ण औषध | श्रम तथा वातज ज्वर मे मांसरस और ओदन | दिवास्वाप से उत्पन्न कफविकार में रात्रि-जागरण |
| व्याधिविपरीत | अतिसार मे स्तंभन के लिए पाठा तथा कुटज, कुष्ठ मे खदिर, प्रमेह मे हरिद्रा | अतिसार मे स्तम्भनार्थ मसूरयूप | उदावर्त्त मे प्रवाहण |
| उभयविपरीत ( हेतु-व्याधि ) | वातज शोथ मे वातहर तथा शोथहर दशमूल का क्वाथ | वात कफज ग्रहणी मे तक्र, पित्तज में दुग्ध, शीतजन्य वात से उत्पन्न ज्वर में पेया | स्निग्धपदार्थो के सेवन तथा दिवास्वप्न से उत्पन्न तन्द्रा मे रूक्ष रात्रि-जागरण |
| हेतुविपरीतार्थकारी (हेतुसम) | पित्तप्रधान फोड़े पर उष्ण उपनाह का प्रयोग | पैत्तिक फोडे में विदाही अन्न का सेवन | वातज उन्माद मे भयदर्शन |
| व्याधिविपरीतार्थकारी ( व्याधिसम ) | छर्दिरोग मे वामक मदनफल का प्रयोग | अतिसार में विरेचनार्थ क्षीर का प्रयोग | छर्दि में वमन के लिए प्रवाहण |
| हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी | अग्नि से दग्ध होने पर अगुरु आदि उष्ण द्रव्यो का लेप, विषज रोग मे विष का प्रयोग | मदात्यय में मद्य का पुन उपयोग | व्यायाम से उत्पन्न सम्मूढ वात (उरुस्तम्भ) में जल प्रतरण रूप व्यायाम |

१. च नि. अ. १, वा नि अ १

इस उपशय को सात्म्य भी कहते हैं। उपशय गूढलिङ्ग व्याधियो के निर्णय में भी अत्यधिक सहायक होता है।[1]

**सात्म्य**—जो अन्न, पान, औषध, विहार (शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक चेष्टा) देश, काल (ऋतु आदि) अथवा अन्य कोई पदार्थ जन्म से, किंवा अभ्यास से सम्पूर्ण शरीर अथवा शरीर अवयव को, स्वस्थावस्था मे किंवा रोग होने पर, परिणाम मे सुख देने वाला हो उसे 'सात्म्य' या 'उपशय' कहते हैं। स्वस्थावस्था मे सात्म्य पदार्थों के सेवन से स्वास्थ्य अक्षुण्ण रहता है तथा रोगावस्था मे उसके सेवन से रोगापनयन होता है। इसके विपरीत पदार्थों को जिनके सेवन का परिणाम अस्वास्थ्यकर हो तथा रोग को वढाने वाला हो उन्हें 'असात्म्य' वा 'अनुपशय' कहते हैं।[2]

सात्म्यासात्म्य से रोग परीक्षण मे भी पर्याप्त सहायता मिलती है। रोग-परीक्षा के पाँच उपायो में (निदान पञ्चक) उपशयानुपशय भी एक है। गूढलिङ्ग व्याधियो मे जव लक्षणो मे रोग निर्णय नही होता और निर्णय मे सशय उत्पन्न होता है तो उपशयानुपशय द्वारा रोग का निर्णय करना पडता है। दोष प्रकोप तथा रोग के निदानो की भी इससे सम्पुष्टि होती है। रोग चिकित्सा मे सात्म्यासात्म्य से रोगी की रोगक्षमता का भी पता चलता है।[3]

सात्म्य संक्षेप मे पाँच प्रकार का होता है- जैसे (१) देशसात्म्य, (२) जातिसात्म्य, (३) ऋतुसात्म्य, (४) रोगसात्म्य, (५) ओकसात्म्य। देश सात्म्य, जातिसात्म्य, ऋतुसात्म्य तथा रोगसात्म्य एवं ओकसात्म्य का सकेत चरक ने सू० अ० ६ 'तस्याशितीय अध्याय' मे किया है। देश, आमय (रोग), जाति तथा ऋतु के गुणो से जो विपरीत गुणवाले आहार-विहार होते हैं उन्हें क्रमश देशसात्म्य, आमयसात्म्य, जातिसात्म्य तथा ऋतुसात्म्य कहते हैं। जो

---

१. च वि अ ४।

२ (i) 'सात्म्य नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते।' (च. वि. ८)
'सात्म्य नाम तद् यदात्मन्युपशेते' (च वि १)

(ii) 'तत्र सात्म्य नाम यदुपशेते सुख करोतीत्यर्थ.। उक्त हि चरके—सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थ। (च. वि. १) इति। तथा 'यो रस. कल्पते यस्य सुखित्वाय निषेवित।' 'सुख चेहारोग्यम्।' यदुक्त—'सुखसञ्ज्ञकमारोग्यम्। तच्चारोग्यरूप सुख स्वस्थेऽनागतवाधा प्रतिषेधेन तथा व्याधिते व्याध्यपनयनेन सात्म्येन क्रियते। यदपि च 'यत्प्रयाति सहात्मताम्' इति सात्म्यलक्षण तदत्येव भूतार्थमेव, येनात्यरूपताऽल्पविकारतयैव वक्तव्या॥ (चक्र—सु० सू० ३५-४०)।

३. 'गूढलिङ्ग व्याधिमुपशयानुपशयाभ्या परीक्षेत।' (च वि ४)

आहार-विहार अनुचित होने पर भी अभ्यास वश शरीर के लिए उचित होता है अर्थात् विकार नही उत्पन्न करते वे 'ओक सात्म्य' कहलाते हैं।[1]

(१) देशसात्म्य पुन २ प्रकार का होता है जैसे—(१) भूमि और आतुर-शरीर के अनुसार। आतुर-शरीर-सात्म्य भी दो प्रकार का है (१) सम्पूर्ण शरीर का और शरीरावयवो का सात्म्य। जैसे मधुर रस सभी धातुओ का बढाने वाला होने से शरीर-समुदाय-सात्म्य कहलाता है। परन्तु चक्षुष्य, कण्ठ्य, हृद्य आदि द्रव्य अवयव विशेष के लिए हितकर होने से अवयव-सात्म्य हैं। भूमि सात्म्य भी समुदाय और एकदेशीय भेद से दो प्रकार का है। प्रत्येक देश के लिए विशिष्टसात्म्य। जैसे—बङ्गाल निवासियो के लिए चावल, मत्स्य आदि, पञ्जाब के लिए रोटी, मास आदि तथा वाह्लीक चीन देश निवासियो के लिए गोधूम, माष, माध्वीक आदि। सामुदायिक जैसे जागल देश के लिए जो सात्म्य है उसके विपरीत आनूप देश के लिए सात्म्य होता है।[2]

(२) जातिसात्म्य-जाति विशेष के लिए जो सात्म्य हो जैसे मनुष्य के लिए शालिप्रभृति, पशु जाति के लिए तृणपतगादि। (३) ऋतु सात्म्य का वर्णन किया जा चुका है। (४) रोगसात्म्य—जैसे गुल्म मे क्षीर, उदावर्त मे घृत, प्रमेह मे मधु इत्यादि। (५) ओक सात्म्य वह है जो अनुचित होने पर

---

[1] (i) 'सात्म्यानि तु देशकाल जात्यृतुरोगव्यायामोदक दिवास्वप्न रसप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति ॥' (सु सू ३५)

(ii) 'तस्या शिताद्याहाराद् बलं वर्णश्च वर्धते। यस्य तु सात्म्य विदित चेष्टाहार व्यपाश्रयम्॥ ××× इत्युक्तमृतुसात्म्य यच्चेष्टाहारव्यपाश्रयम्। उपशेते यदौचित्यादोक सात्म्य तदुच्यते ॥' (च सू ६)

(iii) 'यो रस कल्पते यस्य सुखायैव निषेवित। व्यायामजातमन्यद्वा तत्सात्म्यमिति निर्दिशेत् ॥' (सु सू ३५)

(iv) 'तच्च सात्म्य सक्षेपत पञ्चप्रकारम्—देशसात्म्यम्, जातिसात्म्य, ऋतुसात्म्य, रोगसात्म्य, ओकसात्म्यश्चेति ॥' (चक्रपाणि)

[2] 'तत्र देशसात्म्य यथा—देशो हि द्विविध—भूमि आतुर शरीर च। तत्रातुरशरीरसात्म्य द्विविध समुदायस्यैक, अन्यदवयवस्य। तत्र समुदायस्य यथा—मधुरो रस सर्वधातुवर्द्धन, अवयवसात्म्य यथा—चक्षुष्य-केश्य-कण्ठ्यादिद्रव्यम्। भूमिसात्म्यमपि समुदायैकदेशभेदेनद्विविधम्। तत्र समुदायस्य यथा—जाङ्गलदेशे यौ आहारविहारौ आनूपदेशे तद्विपरीतौ। देशावयवानामपि यथा—वाह्लीक चीनपह्लवादीना माषगोधूममाध्वीकादिभि सात्म्यम्। जातिसात्म्य यथा मनुष्यजाते सात्म्य शाल्यादय। मृगपक्षीजातीना तृणपतङ्गादीना, ऋतुसात्म्य यथा—ऋत्वभिहितानि पानादि रोगसात्म्य यथा—गुल्मिना क्षीर, उदावर्तिना घृत, प्रमेहिणा क्षौद्रमित्यादि ॥'

(सु सू. ३५-३७, ४० पर डल्हण)

भी अभ्यास से उचित बन गया हो और शरीर मे विकार नहीं उत्पन्न करता हो। जैसे सुरापायी के लिए सुरा, भङ्गसेवन के अभ्यासी के लिए भंग तथा अफीमची के लिए अफीम।

इस उपर्युक्त सात्म्यासात्म्य के विचार से किया हुआ आहार-विहार ही मानव शरीर को बल, वर्ण, सुखायु तथा दीर्घायु प्रदान करता है। अतः चिकित्सक को उपर्युक्त सभी प्रकार के सात्म्यो का ज्ञान चिकित्सा की सफलता या सिद्धि के लिए परमावश्यक है। आहार-विधि विशेषायतन तथा विहार के सद्वृत्तानुसार नियम का ज्ञान चिकित्सक को होना चाहिए जिससे वह उनका उचित रूप मे रोगी को निर्देश कर सके। भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है कि जिस चिकित्सक को आहार विहार के सभी तत्त्वो का ( अर्थात् उसके गुण, दोष, कर्म, मात्रा आदि तथा कौन आहार-विहार किसके लिए सात्म्य तथा असात्म्य है ) ज्ञान होता है वही उसका उपदेश भी कर कसता है।[1]

इति प्रथम अध्याय



१ च. सू. अ. २५-३५।

# द्वितीय अध्याय

**साम-निराम विवेचन**—'साम' शब्द का अर्थ है आमसहित और 'निराम' शब्द का अर्थ है आम रहित। दोष तथा दूष्य जब आम से सम्पृक्त होते हैं तो उन्हें साम कहते हैं। साम दोष तथा सामदूष्य रोगोत्पादक होते हैं। अतः इनसे उत्पन्न रोगों में इनके विशिष्ट लक्षण होते हैं। ये लक्षण ही व्याधि की सामावस्था के सूचक हैं।[1]

**आमोत्पत्ति**—जाठराग्नि तथा धात्वग्नि की दुर्बलतावश अन्न तथा आद्य धातु का परिपाक नहीं होने से जो अपक्व या आमरस (अपक्व अन्नरस तथा अपक्वरस धातु) उत्पन्न होता है उसे 'आम' कहते हैं। तात्पर्य यह कि 'आम' की उत्पत्ति दो अवस्थाओं में होती है। प्रथम जाठराग्नि की दुर्बलता से अवस्थापाक में, यह आमाशयगत होता है अर्थात् इसका स्थान आमाशय है। दूसरा धात्वग्नियों की दुर्बलतावश रस रक्तादि धातुओं के पाक में अर्थात् अवस्था पाक जनित सर्वधातूपादान सम्पन्न अन्न रस का जब धात्वग्नियों द्वारा अपने-अपने उपादानों का तत्तद् धात्वग्नियों से परिपाक होने लगता है, तब आम की उत्पत्ति होती है। इस आम को 'आम विष' भी कहते हैं। यह 'आम' दोष दूष्यों के अत्यन्त दुष्ट हो अन्योन्य सम्मूर्च्छन (मिलने) से भी उस प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार कोदो के सन्धान से विष की उत्पत्ति होती है।[2]

---

१. 'आमेन तेन सम्पृक्ता (संयुक्ता) दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
साम इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥ (अ. हृ. सू. १३)

२ (i) 'जाठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोष प्रकोपणः॥ (मधुकोष)
'अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्।' (च. चि. १५)

(ii) 'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥' (अ. हृ. सू. १३)

(iii) 'अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योऽन्यमूर्च्छनात्। कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवः॥' (अ. हृ. सू. १३)

(iv) 'कथं रसस्यापाकश्चेति विरोधस्तीयवचनम्? न ह्यपक्वो रसव्यपदेशं लभते-सत्यम्-जाठरेणाग्निना। रस ...... कृत एव। किन्तु धात्वग्निभिरपाकादाम इत्युच्यते।' (सु. सू. १५।३२ पर डल्हण) ××× रक्तादिरूपेणापरिणततया अपक्व इत्यर्थ॥'
(चक्र०)

(v) 'विरुद्धाध्यशनाजीर्ण शीलिनो विषलक्षणम्।
आमदोषं महाघोरं वर्जयेद् विषसंज्ञकम्॥
विषरूपाशुकारित्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वतः॥ (अ. हृ. ८-२३, २४)

प्रोटीन आदि आहारोपयुक्त द्रव्यों का जाठराग्नि तथा धात्वग्नियों द्वारा पाक (क्रमशः अन्य द्रव्य में रूपान्तर) होकर अन्त में एक-एक मल के रूप में परिवर्तन होता है। जैसे प्रोटीनों का जठर में एमायनो एसिडों के रूप में और धात्वग्नियों द्वारा यूरिया के रूप तथा कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहों का अन्त में अङ्गाराम्ल के रूप में परिवर्तन होता है। दोनों अग्नियों की मन्दता से यदि अन्तिम द्रव्य (मल) न बनकर मध्यवर्ती अर्धपक्व द्रव्य बने तो उन्हें 'आम' कहेंगे। जैसे प्रोटीन के अपूर्णपाक से यूरिक एसिड बनता है, जिसका सन्धियों में स्थानसंश्रय (सञ्चय) होने से 'सन्धिवात' नामक रोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहों के अधूरे पाक से तक्राम्ल या लैक्टिक एसिड बनता है। इसका मांसपेशियों में स्थान संश्रय (सञ्चय) होने से आमवात नामक रोग की उत्पत्ति होती है। मधुमेह आदि में कार्बोहाइड्रेट का पाक अपूर्ण रह जाने से स्नेहों का भी पाक अधूरा रहता है। जिससे अर्धपक्व अम्लद्रव्य उत्पन्न होते हैं। इन्सुलीन के हीनयोग से या यकृत् के विकार-वश द्राक्ष-शर्करा का ग्लाइकोजन में परिवर्तन न हो तो वह 'आम' ही कहलायेगा। याकृत पित्त के रञ्जक द्रव्य के अंत्रों में पाक होने से वह अन्त में रञ्जक द्रव्य बनता है जिसके कारण मल का विशिष्ट वर्ण होता है। यह पाक अधूरा रहने पर नाना प्रकार के अर्धपक्व रञ्जक द्रव्य बनते हैं, जिनके कारण विशेष करके बच्चों में हरे पीले दस्त होते हैं। इसी प्रकार हेमोग्लोबिन के अर्धपक्व समास बनें तो रक्त में जो विकार उत्पन्न होता है उसे 'मेटा हेमोग्लोबी-निया' नामक विकार कहते हैं। आमाशय आदि में प्रोटीन आदि का अपूर्णपाक होने से कोथ होकर जो द्रव्य बनते हैं वे भी 'आम' ही हैं। रस धातु का पाक अधूरा रहने से ही कफ (मल) अधिक निकलता है। यह कफ भी 'आम' है। इस प्रकार इन सभी नानाविध आम के वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि 'आम' अवस्थापाक तथा धातुपाक की विकृति से उत्पन्न नानाविध द्रव्यों का एक वर्ग है।

**साममलों के शरीर में उपस्थिति के लक्षण**—दोष, धातु तथा मलों (शरीर के स्वेद-मल तथा मूत्रादि) को वहन करनेवाले स्रोतों का अवरोध, बलहानि, गौरव (शरीर का भारीपन), अनिलमूढता अर्थात् वायु का असम्यक् संचार, आलस्य, अजीर्ण, थूक या बलगम का अधिक निकलना, पुरीषादि मलों की अप्रवृत्ति, अरुचि, क्लम (अनायास थकावट), ये लक्षण साममलों[1] के

[1] 'स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढता।
आलस्यापक्ति निष्ठीव मलसङ्गारुचिक्लमा॥ (मलभेदारुचिक्लमाः) पाठ
लिङ्गं मलानां सामानाम् ॥' (अ. हृ. सू. १३)

शरीर मे उत्पन्न होने पर होते हैं। इनके विपरीत स्रोतों की शुद्धि आदि लक्षण निराममलो के उत्पन्न होने पर समझने चाहिए। ( किसी-किसी पाठ मे मलसंग के स्थान पर मलभेद कहा है )।

**सामवात के लक्षण**—विबन्ध, अग्निसाद, तन्द्रा, अन्त्रकूजन, अङ्गवेदना, अङ्गशोथ, अङ्गतोद, अङ्गग्रह, स्नेहादि वातोपक्रम से वृद्धि, सूर्योदय होने पर वृद्धि, मेघोदय होने पर वृद्धि, रात्रि मे वृद्धि, स्तैमित्य, गौरव, स्निग्धत्व, अरोचक, आलस्य, शैत्य, कटुरूक्षाभिलाषा, अर्त्ति, कटु तथा रूक्ष द्रव्यों से उपशम और आध्मान ये लक्षण सामवात के हैं।[1]

**सामपित्त के लक्षण**—दुर्गन्ध, हरितवर्ण, श्याववर्ण, असित, अम्लरस, स्थिरत्व, गुरुत्व, अम्लोद्गार, कण्ठदाह, हृद्दाह, कटुकत्व, वहलत्व ये लक्षण सामपित्त के होते हैं।[2]

**साम कफ के लक्षण**—आविलत्व ( मलिन ), तन्तुमत्, स्त्यान, कण्ठदेश मे रुकना तथा दुर्गन्धयुक्त, क्षुधानाश, उद्गाराभाव, प्रलेपत्व और पिच्छिल, ये लक्षण साम कफ के हैं।

**निराम वात के लक्षण**—विशद, रूक्ष, निर्विबन्ध, अल्पवेदन, विरुद्धगुणों से विशेषकर स्निग्ध द्रव्यों से प्रशमन, ये लक्षण निरामवात के हैं।

**निराम पित्त के लक्षण**—ईषत्ताम्रवर्ण, पीतवर्ण, अत्युष्ण कटुरस, अस्थिर, विगन्ध, रुचिकर, पक्तिकर, वलकर, मेचक ( अनेक ) वर्ण और अच्छ, ये लक्षण निरामपित्त के हैं।

**निराम कफ के लक्षण**—फेनवान्, पिण्डित, पाण्डुवर्ण, निःसार, गन्धरहित, छेदवान्, मुखशुद्धिकर, अच्छ, विशद, श्वेत और मधुर, ये लक्षण निराम कफ के होते हैं।[3]

उपर्युक्त साम तथा निराम लक्षणों को देखकर उनका यथायोग्य प्रतिकार की व्यवस्था करनी चाहिये। क्योंकि संशोधन तथा संशमन चिकित्सा में इनका विचार नहीं करने से महान् उपद्रव होने की संभावना रहती है। शास्त्रों मे साम दोषों के निर्हरण का सदा निषेध किया गया है क्योंकि सामावस्था मे दोष सम्पूर्ण शरीर मे फैले रहते हैं तथा धातुओं मे लीन रहते हैं। अतः ऐसी अवस्था मे उन अनुत्क्लिष्ट दोषों का निर्हरण करने से कच्चे फल से रस निकालने

---

१ अ. स. सू. २१, अ. हृ. सू. १३ ( टीकासु पाठभेद )

२ " " "

३. अ. सं. सू. २१।

के समान आश्रय ( धातुओ ) का ही विनाश हो जाता है। अर्थात् जिस प्रकार किसी कच्चे फल से रस निकालने मे उस फल को कूँचना पड़ता है तब रस निकलता है और ऐसा करने पर फल जो रस का आश्रय है उसका नाश हो जाता है। इसी प्रकार धातुओ मे लीन दोषो का निर्हरण करने पर उन धातुओ का ही नाश हो जाता है।[1]

ऐसी अवस्था मे ( सामावस्था मे ) पाचन तथा दीपन औषधो से सिद्ध स्नेहो का प्रयोग कर शरीर तथा शरीर अवयवो-को स्निग्ध करना तथा स्वेदन द्वारा धातुओ मे लीन दोषो को पिघलाकर कोष्ठ मे लाना पड़ता है। पुन. दोषो के उत्क्लिष्ट हो जाने तथा कोष्ठ मे आ जाने पर शोधन की व्यवस्था करनी पड़ती है।[2]

आम दोष को लंघन, कोष्णपेया, लघु, रूक्ष अन्न का ओदन, तिक्तयूष आदि से पाचन करना तथा स्वेदनादि से कोष्ठ मे लाकर निरूहण तथा उभयविध ( वमन-विरेचन ) संशोधन से जीतना चाहिए।[3]

आमोत्पत्ति के वर्णन मे यह कहा गया है कि उष्मा के अल्प बल के कारण तथा जाठराग्नि के अल्प बल के कारण अन्न का जब उचित परिपाक नही होता तो 'आम' की उत्पत्ति होती है। यहाँ उष्मा से जाठरोष्मा या जाठराग्नि तथा धात्वग्नि दोनो का ग्रहण है। 'आम' से 'आमरस' तथा 'आमविष' का ग्रहण होता है। 'आम' के ज्ञान के लिए जाठराग्नि तथा धात्वग्नियो के व्यापार का ज्ञान आवश्यक है। यद्यपि यह विषय इस पुस्तक का प्रतिपाद्य नही तथापि 'आम' ज्ञान के लिए उसका संकेत रूप मे वर्णन यहाँ आवश्यक है।

**जाठराग्निव्यापार**—पित्त के पाँच भेदो से एक भेद 'पाचक' पित्त है। यह पक्वाशय तथा आमाशय के मध्य मे रहकर समान वायु तथा क्लेद आदि सहकारी कारणो की सहायता से आशितादि-चतुर्विध अन्नपान को पचाता है। अर्थात् अन्न के संघात को भिन्न करके उसे इस योग्य बना देता है कि वह सूक्ष्म स्रोतो मे प्रवेश कर सके तथा ग्राहक के शिकाओ एव रसायनियो द्वारा प्रवाहित हो सके। पश्चात् वह दोष, रस ( सार ), मूत्र और पुरीष के रूप मे उन्हें विभक्त

---

१ 'सर्वदेहप्रसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत्।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्हरत्वत ।' ( अ हृ सू १३ )

२. 'पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्।
शोधयेत् शोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम् ॥'

३ 'आमं जयेल्लङ्घनकोष्णपेयालघ्वन्नरूक्षौदनतिक्तयूषैः।
निरूहणैः स्वेदनपाचनैश्च संशोधनैरूर्ध्वमधश्च तथा च ॥' ( अ हृ सू १३ )

कर देता है। बाह्य अग्नि के समान इस पाचक पित्त मे पाचन, शोषण और विभाजन रूप क्रियायें दृष्टिगोचर होती है जिससे इसको 'पाचकाग्नि' भी कहते हैं। इस अग्नि का कार्य जठर मे होने से इसे 'जाठराग्नि' कहते हैं। इसी को 'अन्तरग्नि' या 'कायाग्नि' भी कहा है। यद्यपि यह पञ्चभूतात्मक है तथापि इसमे अग्निमहाभूत का प्राधान्य होने से जल तत्त्व क्षीण होकर अपना विशिष्ट द्रवत्व इसमे नही उत्पन्न करता। यह पाचक पित्त या पाचकाग्नि अपने इसी ( जठर ) स्थान मे रहता हुआ अन्य स्थान के पाचक पित्तो को ( धात्वग्नियो ) को भी बल प्रदान करता है। यह आहारद्रव्यगत भूताग्नियो को भी सधुक्षित करता है। सर्व प्रथम इस जाठराग्नि की क्रिया से अन्नपान स्थूल से सूक्ष्म रूप मे परिणत हो जाता है। तत्पश्चात् उन पर धात्वग्नियो तथा भूताग्नियो की क्रिया होती है। यही कारण है कि समस्त पित्तो या अग्नियो मे पाचकाग्नि या जाठराग्नि को श्रेष्ठ कहा गया है। इसके कर्म अग्नि के समान होने से इनके कर्मो का नाम 'अग्निकर्म' हुआ है।[1]

आहार परिणाम मे भाग लेने वाले पदार्थ सक्षेप में इस प्रकार हैं जैसे—उष्मा ( पाचकाग्नि और उष्णत्व ) वायु, क्लेद ( द्रवत्व ), स्नेह, काल और समयोग अर्थात् स्वस्थवृत्तोक्त नियमो के अनुसार सेवन किया हुआ अन्नपान।[2] इन

---

१. ( i ) तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थ पित्त चतुर्विधमन्नपान पचति, विवेचयति च दोष-रस-मूत्र-पुरीषाणि। तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणा पित्तस्थानाना शरीरस्य चाऽग्निकर्मणाऽनुग्रह करोति। तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति सज्ञा॥' ( सु सु २१ )

( ii ) 'तत्र जाठराग्नि सर्वानेवाहार-रसमलविपाकान् पचति।'

( च चि. १५-१३ पर चक्र )

( iii ) 'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचक। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते॥' ( सु सू ३५-२७ )

२ ( i ) 'आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा—उष्मा, वायु, क्लेद, स्नेह, काल, समयोगश्चेति। × × × उष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेद शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दव जनयति, काल पर्याप्तिमभिनिर्वर्त्तयति, समयोगस्त्वेषा परिणामधातुसाम्यकर सम्पद्यते।' ( च. शा. ६-१४, १५ )

( ii ) अत्र च—आहारपरिणामकरेषूष्मैव साक्षात् पाके व्याप्रियते, वाय्वादयस्तु तस्य पचतो व्यापारविशेषेण सहायता यान्ति इति दर्शयन्नाह तत्रेत्यादि। वायुरपकर्षति इति उष्मस्थानाद् विदूरस्थितमन्नमुष्म-समीप नयति। यदुक्त—'अन्नमादानकर्मा तु प्राण कोष्ठ प्रकर्षति।' ( च चि १५ )। वायुरपकर्षति इत्युपलक्षण, तेन अग्न्युत्तेजनमपि समानाख्यस्य वायोर्बोद्धव्यम्। उक्त हि—'समानेनावधूतोऽग्नि पचति।' ( च. चि. १५ ) इति। पर्याप्तिमिति पाकनिष्पत्ति सत्यपि उष्मादिव्यापारे कालवशादेव पाको भवति, नोष्मादि-

आहार परिणामकर भावो मे भी पाचकाग्नि ( उष्मा ) का प्रमुख स्थान है। शेष वायु आदि उनके सहकारी हैं। बाह्य अग्नि के प्रभाव से जैसे स्थाली ( बटलोई ) मे चावल का पाक होता है और उस पाक मे वायु, जल आदि अग्नि के सहायक होते है उसी प्रकार मुख से गुद पर्यन्त महास्रोत मे, विशेषकर मुख से ग्रहणी पर्यन्त आशय मे स्थित अन्नपान का पाचकाग्नि की क्रिया से पाक अर्थात् सूक्ष्म और अनपायी रूपान्तर मे परिणमन होता है। प्राण, अपान तथा समान वायु अपने अपने प्रकृत कर्मो से अग्नि को स्थिर तथा प्रदीप्त रखते है। क्लेद तथा स्नेह अग्नि के पाचक कर्म मे सहायक होते है।

उपर्युक्त प्राण, अपान तथा समान वायुओ की क्रिया का आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञान द्वारा हम नाडी सस्थान के उन कर्मों से तुलना कर सकते हैं जो पाचक अवयवो को अपने अपने कर्म मे प्रवृत्त करते हैं। उष्मा की तुलना आमाशयगत ताप से, जो साधारणत १००° फा० रहता है और जिसकी न्यूनता होने पर आमाशय अपना कार्य यथावत् नही करता, कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त पाचाकाग्नि की तुलना विविध पाचकरसगत पाचक तत्त्वो से ( Enzymes ) से कर सकते है। क्लेद से आहार के साथ गृहीत आवश्यक तरल तथा लाला आदि से स्रवित होने वाले तरलो से कर सकते हैं। इनमे वायु के दो कर्म हैं। अन्नपान को अग्नि के समीप पहुँचाना तथा अग्नि को प्रदीप्त करना। चर्वण क्रिया ( चबाने की क्रिया ) से जैसे अन्नपान सूक्ष्म होकर मुखगत-पाचक रस के सम्पर्क मे आता है, वैसे ही आमाशय तथा आन्त्रो मे होने वाली विभिन्न चेष्टाओ के कारण अन्नपान पाचक रसो के ससर्ग मे आता है। अग्नि के उत्तेजन का कार्य समान वायु द्वारा होता है।

आहार परिणामकर तीसरा पदार्थ क्लेद अर्थात् द्रव है। क्लेदन कार्य आहार के साथ सेवन किये गये जलादि द्रव द्रव्य तथा लाला आदि पाचक रसो का है। आयुर्वेद मे आमाशयगत कफ का विशिष्ट कार्य अन्न का क्लेदन ( द्रवीकरण ) कहा गया है। इस कार्य को करने के कारण ही इसका नाम 'क्लेदक कफ' है। इन क्लेदक द्रव्यो के कारण ही आहार द्रव्यो का सघात नष्ट होकर घोल तैयार होता है जिससे पाचक पित्तो द्वारा उनका पाक सुगम हो जाता है। अन्नपान गत घृतादि स्नेहो से उनमे मृदुता आती है। काल भुक्तान्न के परिपाक मे अनेक प्रकार से भाग लेता है। आयुर्वेद के मत से शरीर मे अमुकामुक काल मे

---

व्यापारमात्रादिति भाव। सम्योगस्त्वेषामिति—एषामाहारद्रव्याणा प्रकृत्यादीना य समयोग स परिणामकरो धातुसाम्यकरश्च भवति। यदाहि प्रकृत्यादि विरुद्ध आहारो भवति, तदा प्रकृत्यादि दोषादेव न सम्यक् परिणामो भवति।' ( चक्रपाणि )

अमुकामुक दोष की वृद्धि होती है। इस प्रकार पित्त की वृद्धि का एक काल मध्याह है। इस काल मे यदि भोजन किया जाय, तो काल स्वभाववश वृद्ध पित्त अविकाविकमात्रा में अन्नपान को पचाकर शरीर को विशेषरूप से अनुगृहीत कर सकेगा। काल के विचार मे विविध प्रकार के अन्नो को भलीभाँति चबाने के लिए दिये जाने वाले काल का भी विचार आता है। काल के ही प्रसग मे उस प्रकृतिनियत काल का भी विचार आवश्यक है जो अन्नपान को आमाशय, क्षुद्रान्त्र तथा स्थूलान्त्र मे रहने मे व्यतीत होता है।

परिपाक का अन्तिम सहकारी कारण समयोग है। संक्षेप मे इसके अन्तर्गत निम्नलिखित आठ वस्तुओ की गणना है।[1]

१ **द्रव्यों की प्रकृति**—अर्थात् स्वाभाविक गुरु-लघु आदि गुण।

२ **करण**—या सस्कार अर्थात् द्रव्य को भोजन योग्य बनाने की क्रियायें, जिनके कारण आहार द्रव्यो मे अन्य गुणो का उदय होता है।

३ **संयोग**—जिसके सम्पर्क मे आने से अन्य गुणो ( गुणान्तर ) का आगमन होता है।

४ **राशि या मात्रा**—अर्थात् प्रत्येक अहार द्रव्य का पृथक् प्रमाण तथा उनका सम्मिलित प्रमाण।

५ **देश**—अर्थात् भक्ष्य पदार्थ तथा भोक्ता दोनों की उत्पत्ति तथा स्थित स्थान।

६ **काल**—ऋतु, वय, अन्न की जीर्णता अजीर्णता आदि।

७ **उपोग** सस्था—अर्थात् अन्नपान के सेवन के विभिन्न नियम।

८ **उपयोक्ता**—अर्थात् भोक्ता जिसके हित अहित द्रव्यो का विचार करके अहित का वर्जन तथा हित का सेवन आवश्यक होता है।

पाचकाग्नि से उपयोक्ता पर्यन्त समस्त सामग्री का विचार करके सेवन किया गया अन्नपान शरीर मे दोषो, धातुओ तथा मलो का साम्य अक्षुण्ण बनाये रखता है तथा आयु की स्थिरता तथा वृद्धि करता है। इसके विपरीत अर्थात् इनका विचार न कर जब मनुष्य भोजन करता है तो भुक्ताहार का साम्यक् पाक नहीं होता और सम्यक् पाक न होने से आम दोष' या 'आमविष' की उत्पत्ति होती है।[2]

---

१. 'तत्र खल्विमानि अष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तद्यथा—प्रकृति-करण-सयोग-राशि-देश-काल-उपयोगसस्थोपयोक्त्रष्टमानि।' ( च वि १-२४ )

२ आहारस्य विधावष्टौ विशेषा हेतुसज्ञकाः।
शुभाशुभसमुत्पत्तौ तान् परीक्ष्य प्रयोजयेत्॥ ( च. सू. २८-४२ )

धात्वाग्निव्यापार—अन्नपान के पाक के लिए जैसे जाठराग्नि है वैसे-ही अन्नपान जनित रस ( अन्नरस ) का उपयोग करके प्रत्येक धातु अपनी-अपनी पुष्टि कर सके, इस हेतु प्रत्येक धातु की अपनी-अपनी अग्नि होती है। इन अग्नियो को 'धात्वग्नि' कहते हैं। जाठराग्नि की अन्नपान पर क्रिया होने के अनन्तर उनका दो भागो मे अर्थात् सार और किट्ट मे विभाजन हो जाता है। पुन· जाठराग्नि द्वारा पचित अन्नपान का परिणत सार भाग अर्थात् अन्नरस पर धात्वग्नियो की क्रिया होती है। जिस प्रकार जाठराग्नि के पाक होने पर सार और किट्ट भाग निर्मित होते हैं उसी प्रकार धात्वग्नियो की पाक-प्रक्रिया के परिणामरूप भी तत्तद् धातुओ के सार और और किट्ट भाग का निर्माण होता है। अर्थात् प्रत्येक धातु मे जब रस ( अन्नरस ) पहुँचता है तब इस पर उसके धात्वग्नि की क्रिया से उसके उपादान भाग का पाक होकर परिणाम स्वरूप दो द्रव्य बनते हैं सार या प्रसाद द्रव्य तथा मल या किट्ट[1] द्रव्य।

धातु सात हैं।[2] अत सात धात्वग्नियाँ भी हैं। जैसे ( १ ) रसाग्नि ( २ ) रक्ताग्नि ( ३ ) मांसाग्नि ( ४ ) मेदोऽग्नि ( ५ ) अस्थ्यग्नि, ( ६ ) मज्जाग्नि और ( ७ ) शुक्राग्नि तथा (स्त्रियो मे) ( ८ ) आर्त्तवाग्नि। शास्त्रो मे कहा है कि इन धात्वग्नियो की मन्दता से धातुओ की वृद्धि और तीक्ष्णता से धातुओ का क्षय होता है। परिणामस्वरूप क्षीणधातु की तृप्ति के लिए तीक्ष्ण हुए धात्वग्नि को मन्द करना चाहिये और वृद्ध धातु को क्षीण करने के लिए मन्द धात्वग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये।[3] प्रत्येक धात्वग्नि मे अन्नपान गत प्रत्येक भूत के पाचन और विवेचन के लिए पृथक्-पृथक् अग्नि होती है। इस प्रकार प्रत्येक धातु मे पाँच भूतो की पाचक पाँच अग्नियाँ होती हैं। इन्हे भूताग्नि कहते हैं। धातुओ के अतिरिक्त अन्नपान द्रव्यो मे भी अपने अन्दर स्थित भूतो की पाचक अग्नि होती है।[4]

इन उपर्युक्त धात्वग्नियो का व्यापार जब क्षीण या मन्द हो जाता है तब 'आमदोष' या 'आमविष' उत्पन्न होता है।

---

१ 'विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनोविषलक्षणम्।
आमदोष महाघोर वर्जयेद्विषसज्ञकम्।
विषरूपाशुकारित्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वत ॥' ( अ हृ सू ८–१३, १४ )

२ 'सप्तभिर्देह धातारो धातवो द्विविध पुन·।
यथा स्वमग्निभि पाक यान्ति किट्टप्रसादवत ॥' ( च चि १५ )

३ 'स्वस्थानस्य कायाग्नेरशा धातुषु सश्रिता·।
तेषा सादातिदीप्तिभ्या धातुवृद्धिक्षयोद्भवा· ॥' ( अ हृ सू ११–६४ )

४ भौमाप्याग्नेयवायव्या पञ्चोष्माण सनाभसा।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥' ( च चि १६ )

आम के जो लक्षण प्रसिद्ध हैं वे केवल जठर में अन्तरग्नि के दौर्बल्य से उत्पन्न हुए 'आम' के लक्षण है। परन्तु आम के अन्य भी भेद हैं जो धात्वग्नियों के दौर्बल्य में धातुओं में उत्पन्न होते हैं। अतिस्थूलता के कारणों तथा इसमें उत्पन्न होने वाली विकृतियों का उल्लेख करते हुए कहा है कि अत्यशन, अध्यशन तथा विषमाशन-विशेषकर गुरु, मधुर, शीत और स्निग्धगुण प्रधान द्रव्यों का तथा श्लेष्म प्रकोपक आहार द्रव्यों का अत्यशन, अध्यशन, अव्यायाम, अव्यवाय, दिवानिद्रा का स्वभाव, नित्य आनन्द, चिन्ता का अभाव आदि कारणों के अतियोग से पुरुष में जो रस तैयार होता है वह धात्वग्नियों के दौर्बल्यवश 'आम' (अपक्व) तथा द्रव्यस्वभाववश अतिमधुर होता है। धात्वग्नियों के दौर्बल्यवश उत्पन्न 'आमरस' में मेद अधिक उत्पन्न होकर शेष धातुओं के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है जिससे उक्त रस धातु द्वारा रक्त, मांस तथा इतर धातुओं की उतनी पुष्टि न होकर मेद की ही पुष्टि होती है। मेद अतिशय रूप में बढने के कारण पुरुष का उदर, नितम्ब, स्तन आदि मेद सचय से शिथिल हो जाते है। इतर धातुओं को पुष्टि न होने से वह पुरुष अल्पप्राण होता है। इस अल्पप्राणत्व तथा स्रोतोरोध के कारण उसमें अनेक विकृतियाँ होती हैं।[1]

जब तक अन्नरस आमावस्था मे रहता है तब तक उसका शरीर में ग्रहण नही होता और वह विशेष रूप से उदर में ही अजीर्णादि नानाविध विकारो को उत्पन्न करता है। परन्तु उसके विष (कोथ से उत्पन्न विष) का आन्त्रों द्वारा ग्रहण होता है और गृहीत होकर शरीर के विभिन्न अवयवों में पहुँच नानाविध विकार उत्पन्न करता है। इसी प्रकार धात्वग्नियों की दुर्बलता से रसादि धातु 'आम' (अपक्व) रहकर धातुओं की अपुष्टि तथा नानाविध विकार उत्पन्न करते हैं। ये आम धातु वातादि दोषों तथा रसादि धातुओं को सम्पृक्त कर नाना प्रकार के दोषज तथा धातुदोषज विकार उत्पन्न करते है। रसादि धातुओं के विकार आमसम्पृक्त होने से तथा प्रकुपित वातादि दोषों से दुष्ट होने पर भी

---

१ × × × तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याव्यायामिनो दिवास्वापरतस्य चाम एवान्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्रामन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति तदाऽतिस्थौल्यमापादयति। तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासा-क्षुत्स्वप्न-स्वेदगात्र-दौर्गन्ध्यक्रथनगात्र-साद-गद्गदत्वानि क्षिप्रमेवाविशन्ति सौकुमार्याच्च मेदसः सर्वक्रियास्वसमर्थः कफमेदो-निरुद्धमार्गत्वाच्चाल्पव्यवायो भवति, आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवो नाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोऽल्पप्राणो भवति।' (सु. सू. १५।३२)

होते हैं।[1] ऐसे विकारो को रसज, रक्तज, मासज, मेदज, अस्थिदोषज, तथा शुक्रदोषज विकार कहते हैं।

नव्य क्रियाशारीर की दृष्टि से विचार करें तो मुख से पक्वाशय पर्यन्त अन्नपान पर क्रिया करने वाले महास्रोत मे स्रुत पाचक रस ही सम्मिलित रूप मे जाठराग्नि कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर मे अनेक ग्रन्थियो से क्षरित अन्त स्रावी रस सीधे रक्त मे मिलकर विभिन्न धातुओ तथा अवयवो मे पहुँचकर धातुपाक तथा धातुपुष्टि क्रिया को उद्दीपित करते हैं। तुलना करने से प्रतीत होता है कि ये अन्त स्रावी ग्रथियो से नि स्रुत रस भी आयुर्वेद की धात्वग्नियाँ हैं।

शरीर के प्रत्येक कोष ( Cell ) मे आहार घटको ( प्रोटीन आदि ) के विघटन और सघटन करने वाले सूक्ष्मरस ( Enzymes ) होते हैं। इन्हें अणुगत-रस ( Inter cellular enzymes ) कहते हैं और इनका जो कार्य होता है उसे 'अणुगत-धातुपाक' ( Cell metabolism ) कहते हैं। क्रिया शरीर विज्ञो ने जीवन के लक्षणो मे ( कोषो के जीवित होने के लक्षणो में ) धातुपाक भी एक लक्षण कहा है। शरीर के समस्त कोषाओ का सम्मिलित धातुपाक 'शरीर-धातुपाक' (Body metabolism) कहलाता है। इन कोषो में धातुपाक का मूल प्रवर्त्तक अग्न्याशय का अन्त स्राव 'इन्सुलीन' है। चुल्लिका, पोषणिका आदि के अन्त स्राव भी इसके सहायक हैं। कोषो मे प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदि के पाक के कारणभूत कोषगत सूक्ष्मरस ही आयुर्वेदीय भौतिकाग्नि प्रतीत होती है। आचार्यो ने कहा भी है कि ये भूताग्नियाँ ही धात्वाग्नियाँ हैं। भौतिक अग्नि पाचभौतिक द्रव्यो मे स्वभावत रहती है और आहाररूप में उनका ग्रहण करने पर शरीर मे जब वह प्रविष्ट होता है तब सर्व प्रथम उन पर जाठराग्नि की क्रिया होती है और परिणामस्वरूप उनके अन्दर स्थित भूताग्नियाँ भी जाठराग्नि की क्रिया के अनन्तर सधुक्षित बल हो अपने-अपने पार्थिवादि द्रव्यो के गुणो को पकाकर उनमे विलक्षण गुण उत्पन्न करते हैं साथ ही इनका धात्वाग्नियो के साथ सम्पर्क होने पर धात्वग्नियाँ भी अपना कार्य करती हैं जिसके परिणामस्वरूप वह इस योग्य हो जाता है कि धातुएँ ग्रहणकर आत्मसात् कर ले और पुष्ट होवे।[2]

---

१. 'दोषधातुमलसर्मर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषा विकल्प ।, दोषदूषितेस्वत्यर्थं धातुपु सज्ञा—रसजोऽय, शोणितजोऽय, मासजोऽय, मेदजोऽय, अस्थिजोऽय, मज्जजोऽय, शुक्रजोऽय व्याधिरिति ।' ( सु सू २४।८ )

२ ( i ) भौतिकवह्निव्यापारमाह—भौमेत्यादि। भौमादय पञ्चोष्माण पार्थिवादि-द्रव्यव्यवस्थिता जाठराग्निसधुक्षितवला अन्तरीय द्रव्य पचन्त स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पूर्वपार्थिवगन्धत्वादिविलक्षणान् गुणान् निर्वर्त्तयन्ति ।' ( चक्र० )

**दोषों का सामत्व निरामत्व**—जब वातादि दोष जाठराग्नि दौर्बल्य तथा धात्वग्नि दौर्बल्य से उत्पन्न 'आम' से सम्पृक्त होते हैं तो सामदोष कहलाते हैं। ये सामदोष शरीर में नानाविध रोगों को उत्पन्न करते हैं जैसे—'अभोजन' (भोजन नहीं करने से), अजीर्ण, अतिभोजन, विषमाशन असात्म्यभोजन, गुरुभोजन, शीतभोजन, अतिरूक्षभोजन, संदुष्टभोजन, विरेचन में विभ्रम होने से, वमन विभ्रम से, स्नेह विभ्रम से, व्याधि कर्षण से, देश, काल तथा ऋतुवैषम्य से तथा वेगों के धारण करने से अग्नि दूषित हो जाती है जिससे वह दुष्ट अग्नि लघु भोजन भी नहीं पचाती और भोजन के न पचने से भुक्तान्न शुक्त तथा विषरूप हो जाता है। इससे अजीर्ण के विष्टंभ, सदन (अङ्गसाद), शिरोरुक्, मूर्च्छा, भ्रम, पृष्ठग्रह, कटिग्रह, जृम्भा, अङ्गमर्द, तृष्णा, ज्वर, छर्दि, प्रवाहण, अरोचक तथा अपचन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। पुन. यह घोर 'अन्नविष' या 'आमविष' पित्त से ससृष्ट हो (मिलकर) दाह, तृष्णा, मुखरोग, अम्लपित्त तथा अन्य पित्तज-विकारों या रोगों को उत्पन्न करता है। जब वह (आम) कफ ससृष्ट होता है तब यक्ष्मा, पीनस, मेह आदि कफजरोगों को तथा वातसंसृष्ट होने पर वातज रोगों को उत्पन्न करता है।[2]

---

(1) 'पार्थिवाद्यानिति पार्थिवाप्यतैजसवायवीयनाभसान्। तत्र जाठराग्नि सर्वानेवाहाररसमलविपाकान् पचति, भौतिकास्त्वग्नय. स्वान् स्वान् गुणाञ्जनयन्ति। उक्त च—जाठरेणाग्निना पूर्व कृते सङ्घातभेदे पश्चाद्भूताग्नय पञ्च स्वं स्वं द्रव्य पचन्ति।' इति। अय च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि पञ्चभूतानि सन्ति, तथापि धात्वग्निव्यापारो भूताग्निव्यापारश्च जाठराग्निक्रमेणैवोक्तो ज्ञेय ॥' (चक्रपाणि) (च चि अ. १५-१३)

२ 'अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात्।
असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसदुष्टभोजनात् ॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद् व्याधिकर्षणात्।
देशकालर्तुवैषम्याद् वेगाना च विधारणात् ॥
दुष्यत्यग्नि स दुष्टोऽन्न न तत्पचति लघ्वपि।
अपच्यमान शुक्तत्व यात्यन्न विषरूपताम् ॥
तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भ सदन तथा।
शिरसोरुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रह ॥
जृम्भाङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिप्रवाहणम्।
अरोचकोऽविपाकश्च, घोरमन्न विष च तत् ॥
संसृज्यमान पित्तेन दाह तृष्णा मुखामयान्।
जनयत्यम्लपित्त च पित्तजाश्चापरान् गदान् ॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान् कफसगतम्।
करोति वातसंसृष्ट वातजाश्च गदान् बहून् ॥ (च. चि. १५)

सामवात के, सामपित्त के तथा सामकफ के लक्षणों का पहले भी संकेत कर चुके हैं।[1]

**सामवायु के लक्षण**—विबन्ध ( मलस्रोतो मे अवरोध ), अग्निमान्द्य, तन्द्रा, अन्त्रकूजन, कटिपार्श्व आदि मे पीड़ा, शोथ ( जैसे आढचवात, आमवात, गठिया आदि मे सन्धियो मे शोथ ), तोद ( सूचीवेधनवत् पीडा ), ये सामवायु के लक्षण हैं। बढने पर यह शरीर मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर सचार करता है और जहाँ पहुँचता है वहाँ अपना लक्षण उत्पन्न करता है। अथवा एक ही काल मे सर्वाङ्ग मे व्याप्त होकर तत्-तद् विकार उत्पन्न करता है। इसमे यह विलक्षणता होती है कि आम के श्लेष्म तुल्य स्वभाव होने से सामवायु स्नेहमर्दन, स्नेहपान आदि स्निग्ध उपचारो से वृद्धि को प्राप्त होता है। यही कारण है कि उष काल, मेघोदय तथा रात्रि मे इसके कष्टो मे वृद्धि होती है।[2]

**निरामवायु**—इसके विपरीत विशद (होने से मुख आदि को सुखानेवाला), रूक्ष ( होने से त्वचा आदि मे रूक्षता उत्पन्न करनेवाला ), विबन्ध रहित तथा अल्पवेदना वाला होता है। यह वायु के विपरीत गुण वाले द्रव्यो से तथा विशेषकर स्निग्ध द्रव्यो से शान्त होता है।[3]

**साम तथा निराम पित्त के लक्षण**—सामपित्त दुर्गन्धयुक्त, हरित् व ईषत्कृष्ण, अम्ल, स्थिर ( जल मे न फैलने वाला ) गुरु ( गाढा ) तथा अम्लोद्गार, कण्ठ और हृदय मे दाह उत्पन्न करनेवाला होता है। निराम या पक्वपित्त किञ्चित् ताम्रवर्ण या पीतवर्ण, अति उष्ण, तीक्ष्ण, कटुरस, अस्थिर ( जल मे फैलने वाला ) गन्धशून्य तथा रुचि, अग्नि और बल का वर्द्धक होता है।[4]

**साम तथा निरामकफ के लक्षण**—आमयुक्त कफ, अस्वच्छ, तन्तुमान्, सान्द्र ( गाढा ), कण्ठ को लिप्त करनेवाला, दुर्गन्ध तथा क्षुधा और उद्गार को

---

१ 'वायुरामान्वय• मार्त्तिराध्मानकृत्सचर•। दुर्गन्धमसित पित्त कटुक बहल गुरु ॥३॥
आविलस्ततुमॉस्त्यान प्रलेपी पिच्छिल कफ•। ( अ स सू• २१ )

२ 'वायु सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनै ।
वेदनाशोफनिस्तोदै• क्रमशोऽङ्गानि पीडयन् ॥
विचरेद् युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् ।
स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि ॥ ( अ हृ.सू १३–२७, २८ ) प्रक्षेप

३ निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदन ।
विपरीतगुणै शान्ति स्निग्धैर्याति विशेषत ॥ ( अ. हृ सू १३-२७-२८ ) प्रक्षेप

४ दुर्गन्धि हरित श्याव पित्तमम्ल घन गुरु ।
अम्लीका कण्ठहृद्दाहकर साम विनिर्दिशेत् ॥
आताम्रपीतमत्युष्ण रसे कटुकमस्थिरम् ।
पक्व विगन्धि विज्ञेय रुचि-पक्ति-बल-प्रदम् ॥

रोकनेवाला होता है। निराम कफ ईषत् फेनयुक्त, पिण्डरूप, पाण्डुवर्ण, निस्सार ( हलका ) तथा मुख को विशुद्ध करनेवाला होता है।[1]

**दूष्यों का सामत्व निरामत्व**—दूष्य अर्थात् धातु और मल जब आम-सम्पृक्त होते हैं तब सामधातु या साममल कहलाते हैं। चरक चिकित्सा स्थान १५ वें अध्याय मे इसका सकेत प्राप्त होता है जैसे—'आमविष' जब मूत्र के साथ सम्पृक्त होता है ( मूत्रस्थ होता है ) तब मूत्र रोगो को तथा जब पुरीप के साथ सम्पृक्त ( शकृद्गत ) होता है तब कुक्षिरोगो को उत्पन्न करता है। तथा जब रसादि धातुओं के साथ संसृष्ट होता है तो रसादि मे उत्पन्न होनेवाले विकारो को उत्पन्न करता है।[2]

**साम रस के विकार**—रस धातु के आमसपृक्त होने पर भोजन मे अश्रद्धा अर्थात् भोजन की अनिच्छा, अरुचि ( भोजन मे असमर्थता ), आस्य वैरस्य ( मुख का स्वाद विगड जाना ), अरसज्ञता ( स्वाद न मिलना ), तृप्ति ( पेट भरा हुआ प्रतीत होना ), हृल्लास ( मचली आना ), गौरव ( शरीर मे भारीपन अनुभव करना ), तन्द्रा ( ऊंघना ), अङ्गमर्द, ज्वर, तम ( आँख के सामने अँधेरा अनुभव होना ), पाण्डुत्व ( शरीर का पाण्डुवर्ण हो जाना ) या पाण्डु-रोग, हृद्रोग, स्रोतों मे अवरोध, क्लैब्य ( नपुसकता ) अङ्गसाद, कृशाङ्गता, अग्नि का नाश या मन्द होना, असमय मे वलिप्रादुर्भाव, ग्लानि, पलित ( केश का पक जाना अर्थात् सफेद हो जाना ), ये सब विकार ( रस दोष से उत्पन्न ) होते हैं।[3]

**सामरक्त के विकार**—रक्तधातु के आमसपृक्त होने पर कुष्ठ, वीसर्प, पिडका, रक्तपित्त असृग्दर, अङ्गमर्द, गुदपाक, मेढ्रपाक, आस्य ( मुख ) पाक,

---

१ आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते ।
सामो बलासो दुर्गन्धिः क्षुदुद्गारविघातकृत् ॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च ।
पक्वः स एव विज्ञेय ........................॥

२. ( i ) 'मूत्रस्थोऽयं मूत्ररोगान् कुक्षिरोगान् शकृद्गतः ।
रसादिभिश्च संसृष्टः कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥' ( च. चि. १५-४० )
( ii ) 'रसादिभिश्चेति यत्र ते रसादिस्था [illegible] उत्पादयन्तीति शेषः' (चक्र )

३ ( i ) 'अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता । हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वर-स्तमः । पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशाङ्गता । नाशोऽग्नेरयथा-कालं वलयः पलितानि च । रसप्रदोषजा रोगाः ॥' ( च. सू. २८ )
( ii ) 'रसजा अश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहृल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोध-कार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालवलीपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः ।'
( सु. सू. २४।९ )

प्लीहा, गुल्म, विद्रधि, नीलिका, वातरक्त, अर्श, अर्बुद, न्यच्छ, कामला, व्यङ्ग, पिप्लु, तिलकालक, दद्रु, चर्मदल, श्वित्र, पामा, कोठ, रक्तमण्डल, इन्द्रलुप्त प्रभृति रोग ( रक्तदोष से ) उत्पन्न होते हैं।[1]

**नोट**— चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि अरुच्यादि रसदोषज विकार ही साम रसादि के विकार हैं।

**साममांसधातु के विकार**—मांस धातु के आमसम्पृक्त होने पर अधिमांस ( मांस पर मांस के अंकुर निकलना ), अर्बुद, कील ( अर्शांकुर ), अधिजिह्वा, उपजिह्वा, उपकुश ( दन्तरोग ), गलशालुक, गलशुण्डिका, अलजी, मांस संघात, ओष्ठप्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला, मांस मे दुर्गन्धि इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं।[2]

**साममेदोधातु के विकार**—मेदधातु के आमसम्पृक्त होने पर मेदोग्रन्थि मेदोज अण्डवृद्धि और अन्त्रवृद्धि, मेदोवृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद, मेदोज ओष्ठप्रकोप ( ओष्ठशोथ ), सर्वप्रमेह, विशेषकर मधुमेह, अतिस्थौल्य, अतिस्वेद तथा मेदोवृद्धि के अन्य सभी विकार उत्पन्न होते हैं।[3] इनके अतिरिक्त प्रमेह के निन्दित पूर्वरूप जैसे—केशों का जटिल भाव होना अङ्गगन्ध, स्वेदाधिक्य प्रभृति होते हैं।

**साम अस्थिधातु के विकार**—अस्थिधातु जब आमसम्पृक्त होता है तब—

---

१ (i) '···वक्ष्यन्ते रक्तदोषजा। कुष्ठवीसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दर। गुदमेढ्रास्य-पाकश्च प्लीहगुल्मोऽथ विद्रधि। नीलिकाकामलाव्यङ्ग पिप्लवस्तिलकालका॥ दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामाकोठास्रमण्डलम्। रक्तप्रदोषाज्जायन्ते ···' (च. सू. २८)

(ii) 'कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्म-वातशोणितार्शोऽर्बुदाऽङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो विकारा गुदमुखमेढ्रपाकाश्च'। ( सु सू २४।९ )

२. (i) ···· · शृणु मांसप्रदोषजान्।
अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके॥
पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिह्विका।
विद्यान्मांसाश्रयान् ·· · ·· ····· ॥ ( च. सू २८ )

(ii) 'अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्विकोपजिह्वोपकुशगलशुण्डिकाऽलजी मांससंघातौष्ठ-प्रकोपगलगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजा'। ( सु सू २४ )

३ (i) ··· ··मेद संश्रयास्तु प्रचक्ष्महे।
निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च॥ ( च सू २८ )

(ii) ग्रन्थिवृद्धि-गलगण्डार्बुद-मेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजा'। ( सु सू २४ )

अध्यस्थि, अधिदन्त, दाँत तथा अस्थियो मे टूटने या चुभने-सी पीडा, अस्थिशूल, विवर्णता, केश-लोम-नख-श्मश्रु इनके विकार उत्पन्न होते है ।[1]

**साम मज्जाधातु के विकार**—मज्जाधातु के आमसम्पृक्त होने पर—आँखो के आगे अँधेरा होना ( तम ), मूर्छा, भ्रम ( शिर मे चक्कर आना ), अस्थियो के पर्वों पर विशाल व्रण होना, नेत्राभिष्यन्द, पर्वभेद प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं ।[2]

**साम शुक्रधातु के विकार**—शुक्रधातु जब आमसम्पृक्त होता है तब क्लीवता, स्त्रियो के प्रति उदासीन भाव, मैथुन मे असक्ति, शुक्राश्मरी, शुक्रमेह प्रभृति विकार उत्पन्न होते हैं। यह शुक्र गर्भोत्पादन मे समर्थ नही होता, यदि इससे गर्भाधान हो गया तो उसका स्राव हो जाता है अर्थात् वह नष्ट हो जाता है ।[3]

**साम तथा निरामपुरीष के लक्षण तथा विकार**—आम अथवा अपक्व पुरीष वातादि दोषो से युक्त, जल मे डूबनेवाला, अत्यन्त दुर्गन्धियुक्त तथा थोडी थोडी मात्रा मे भिन्न होकर असहत आने वाला होता है। शरीर मे इसकी उपस्थिति से अजीर्ण के विष्टम्भ आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।[4]

निराम या पक्वमल इसके विपरीत चिह्नोवाला होता है अर्थात् वह दुर्गन्ध-रहित, बँधा हुआ, पानी मे तैरनेवाला होता है। इसकी उपस्थिति से शरीर मे लघुता आदि का अनुभव होता है।

---

१ (i) अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूल विवर्णता ।
केशलोमनखश्मश्रु दोषाश्चास्थिप्रदोषजा ॥ ( च सू २८ )
(ii) 'अध्यस्थि-अधिदन्तास्थिनोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थि दोषजा'।
( सु. सू २४ )

२. 'रुक् पर्वणा भ्रमो मूर्च्छा दर्शन तमसस्तथा ।
अरुषा स्थूलमूलाना पर्वजाना च दर्शनम् ।
मज्जप्रदोषात् ॥' ( च सू २८ )
'तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजा ।'
( सु सू. २४।९ )

३ (i) शुक्रस्य दोषात्क्लैब्यमहर्षणम् ।
रोगिण क्लीवमल्पायुर्विरूप वा प्रजायते ॥
न वा सजायते गर्भ पतति प्रस्रवत्यपि ।
शुक्र हि दुष्ट सापत्य सदार बाधते नरम् ॥ ( च. सू २८ )
(ii) 'क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरी-शुक्रमेह-शुक्रदोषादयश्च तद्दोषजा ।' ( सु सू २४ )

४. (i) 'मज्जत्यामागुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले ।
विनातिद्रवसघातशैत्यश्लेष्म-प्रदूषणात ॥' ( च चि १५ )

**साम मूत्र के लक्षण तथा विकार**—मूत्र जब आमसम्पृक्त होता है तब मूत्रविकार उत्पन्न होते हैं।

पुरीष तथा मूत्र दोनो ही आहार के मल है अत इनके अन्दर जाठराग्नि-दौर्बल्यवश आम अर्थात् अपक्व आहारांश आते हैं। इसी से आचार्य ने कहा है कि आम दोष से जब मूत्र सम्पृक्त होता है तब मूत्ररोग अर्थात् इक्षुमेह, पिष्टमेह, शीतप्रसादमेह, उदकमेह, लालामेह, शुक्रमेह, शनैर्मेह, सिकतामेह प्रभृति विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

आम दोष का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है कि यह 'आम दोष' शरीर के जिस भाग या अवयव मे जाकर स्थित होता है अर्थात् जिस रस, रक्त आदि धातु तथा मासपेशी मे स्थित होता है उसी धातु या अवयव मे स्तंभ, गौरवादि अपने विकारो को उस स्थान मे स्थित दोषो के अनुसार अर्थात् लक्षणो के साथ उत्पन्न करता है अर्थात् वह देश जिस दोष से व्याप्त होता है उसी दोष से आम भी व्याप्त हो जाता है और तदनुसार विकारो को उत्पन्न करता है।[2]

आमवाताधिकार मे (माधवनिदान) विजयरक्षित ने इस 'आमदोष' पर विचार करते हुए कहा है कि ऊरुस्तंभविकार भी सामवात का ही विकार है क्योंकि इस विकार मे भी अत्यधिक सचित हुआ आम, मेद और कफ से सयुक्त वायु-पित्त को अभिभूत करके उरुप्रदेश मे जाकर जब दोनो सक्थियाँ जकड देता है तब ऊरुस्तभ होता है।[3] आम दोष को सब रोगो का मूल कहा है। आगे कहते हैं कि अग्नि के लघुता (दुर्बलता) वश आहार का अपक्व रस जो शेष रह जाता है वही आम रस है जो सर्वरोगो का मूल है।[4] तथा—

'जाठराग्नि की दुर्बलता से अविपाचित आमाशयस्थ आद्य आहार धातु को ही आम कहते हैं' तथा अन्न से उत्पन्न रस को अर्थात् अन्नरस को ही 'आम'

---

(ii) ससृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीष भृशदुर्गन्धि विच्छिन्न चामसंज्ञकम्॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु।
लाघव च मनुष्यस्य तस्य पक्व विनिर्दिशेत॥ (सु उ ४०)

१. 'च. चि १५'।

२ (i) यत्रस्थमाम विरूजेत्तमेवदेश विशेषेण विकारजातै। दोषेण येनावततं स्वलिङ्गैस्त लक्षयेदामसमुद्भवैश्च।' (वा शरीर तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च'। पाठ)
(ii) 'आमसमुद्भवै स्तम्भगौरवादिभि। (डल्हण सु उ. अ ५६)

३ 'सश्लेष्ममेदः पवन साममत्यर्थसचितम्। अभिभूयेतर दोषमूरूचेत्प्रतिपद्यते' सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यन्त श्लेष्मणा स्तिमितेन च 'तदास्तम्नाति'। (मा नि)

४ (i) 'आहारस्य रस शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। समूल सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते'।

कहते हैं, अथवा कोई कोई मलसचय को ही 'आम' कहते हैं। किसी किसी ने तो 'प्रथम दोषदुष्टि को' ही 'आम' कहा है। किसी आचार्य ने अविपक्व, असयुक्त, दुर्गन्धित तथा पिच्छिल द्रव्य जो शरीर मे अवयवो की शिथिलता ( सदन ) उत्पन्न करता है उसे आम कहते हैं।[1]

इस प्रकार 'आम' शब्द से निम्नलिखित शरीर मे अग्नि ( जाठराग्नि तथा धात्वग्नि ) के दौर्बल्य से उत्पन्न होनेवाले विकृत द्रव्यो का ग्रहण होता है :—

१—अन्नज–रस–रूप आम।

२—अपाचित आद्य धातु ( रस ) रूप आम।

३—अविपक्व–असंयुक्त–दुर्गन्धित–बहुपिच्छिल गात्रावसादक द्रव्य।

४—मलसचय रूप आम।

५—प्रथम दोष दुष्टि रूप आम।

६—रसरक्तादि धातु रूप आम।

इन उपर्युक्त वर्णनों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वात–पित–कफ की भाँति आम भी अनेक द्रव्यो का एक वर्ग है। मानव-शरीर में अहर्निश होते रहने वाले अवस्थापाक तथा धातुपाक प्रक्रिया मे अग्निदौर्बल्य से उत्पन्न होनेवाले अपक्व अन्नरस, अन्नविष, अपक्वपुरीष, अपक्वमूत्र, अपक्वरसादि धातुएँ तथा अपक्व धातुजन्य मल, ये सब 'आम' हैं।

आधुनिक क्रिया शरीर के अनुसार इस आम को हम इस प्रकार समझ सकते हैं, जैसे—सामान्यत' कार्बोहाइड्रेट का परिपाक होकर अन्न मे द्राक्षशर्करा आदि सामान्य शर्करायें निर्मित होती हैं। इनमें भी प्रधान भाग द्राक्ष शर्करा ( Glucose ) का होता है क्योंकि शोषित होने के पश्चात् अन्य शर्करायें भी द्राक्षशर्करा मे परिणत हो जाती हैं। यह कर्म संभवत. यकृत् करता है। द्राक्षशर्करा का उपयोग दहन और शक्त्युत्पादन रूप मे होता है। इस क्रिया के परिणामस्वरूप द्राक्षशर्करा जल और अङ्गाराम्ल ( Carbondioxide ) के रूप में परिणत होकर तत्तद् मार्गों द्वारा बहिर्निष्कासित होता है। दहन ( Oxidisation ) मुख्य रूप से मास-पेशियो मे होता है। अन्ततोगत्वा इस द्राक्षशर्करा का उपयोग अन्य दो रूपो मे भी होता है। जैसे प्रथम वह 'ग्लायकोजन'

---

१ ( i ) 'आमाशयस्थ. कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचित:। आद्याहारधातुर्य. स आम इति कीर्त्तित.। ( मधुकोष )

( ii ) आममन्नरस केचित् केचित्तु मलसचयन्।
प्रथमा दोषदुष्टिं च केचिदाम प्रचक्षते॥ ( मधुकोष )

( iii ) 'अविपक्वमसयुक्त दुर्गन्ध बहुपिच्छिलम्।
सदन सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते॥' ( मधु० )

के रूप मे परिणत हो यकृत् तथा मासपेशियो मे सचित होता है। यकृत् मे लगभग ६०० ग्राम तथा पेशियो मे लगभग ३५० ग्राम सचय होता है अन्य धातुओं मे भी इसका सचय होता है, पर नाम मात्र का। इस सचय से लगभग ३०० केलोरी ( उष्मा ) उत्पन्न हो सकती है जो एक दिन-रात के लिए पर्याप्त है। पेशियो के सूत्र तथा अन्य अवयवो के कोष यह सचय इसलिए करते हैं कि जव कभी रस-रक्त से तत्काल द्राक्षशर्करा की प्राप्ति किसी कारणवश न हो तो तत्क्षण आवश्यकता पडने पर यह सचित ग्लाइकोजन द्राक्षशर्करा मे परिणत हो उसकी पूर्ति कर देवे। द्राक्षशर्करा का तीसरा उपयोग यह है कि वह आवश्यकता पडने पर मेद के रूप मे भी परिणत हो तथा मेदस्थान मे सचित हो उसका कार्य सम्पादन करता है। सचय का यह प्रकार अधिक इन्धनात्मक द्रव्य के सचय मे उपयोगी होता है। आवश्यकता पड़ने पर मेद भी द्राक्षशर्करा के रूप मे परिणत हो जाता है।

इस प्रकार ग्लाइकोजन से द्राक्षशर्करा और उसके दहन से अङ्गाराम्ल और जल वनने तक अनेक मध्यवर्त्ती द्रव्य वनते हैं जैसे तक्राम्ल-शुक्ताम्ल तथा पायुरिविकाम्ल आदि। परीक्षणो से यह विदित हुआ है कि अग्न्याशय के अन्त स्राव 'इन्सुलीन' के विना द्राक्ष शर्करा के उक्त तीन विकारो का उपयोग असभव है। इन उपर्युक्त तीनो क्रियाओ को सम्पन्न करने मे कुछ एन्जाइम्स भी सहायक होते हैं। अधिवृक्क वल्क का अन्त स्राव भी इस क्रिया मे सहायक होता है। पोषणिका ग्रन्थि ( Pituitary gland ) के अग्रिम खण्ड का एक अन्त स्राव इन्सुलीन का विरोधी कर्म करता है। ऐसी परिस्थिति मे यदि अग्न्याशय ( Pancreas ) का अग्निरस अपने सभी अन्त स्रावो के साथ उचित रूप मे स्रवित नही हो तो द्राक्षशर्करा से उत्पन्न विकारो का दहन या पाक न होने से वह अपक्वद्रव्य 'आमविष' के रूप मे ही शरीर मे रहेगा और यदि उसका शरीर से निष्कासन नहीं हुआ तो वह जहाँ भी सचित होगा विकार उत्पन्न करेगा।

भोजन के पश्चात् कार्वोहाइड्रेट जाठराग्नि की क्रिया से पक्व हो विभिन्न शर्कराओ के रूप मे परिणत हो रक्त मे मिल जाता है। मुख्यतया इन्सुलीन की क्रिया से इसका दहन और पाचन होता है। यदि इनका उपर्युक्त दो उपयोग होने पर भी शेष रह जाय तो वह मूत्रमार्ग द्वारा वहिर्निष्कासित हो जाता है। इसी से कभी-कभी अधिक मधुर द्रव्यो के उपयोग से मूत्र मे अस्थायी रूप मे शर्करा की उपस्थिति दृष्टिगोचर होती है। यह अवस्था शर्करा के अविपाकवश होती है। इसको 'इक्षुमेह' ( Alimentary glycosurea ) कहते हैं। शर्कराओ के इस त्रिविध-व्यवस्था का यह परिणाम होता है कि रक्त मे उनका

रहता है। अर्थात् कार्बोहाइड्रेट का उपयोग न होने से उनका धातुपाक यथावत् नहीं हो पाता, जिससे स्नेहो का भी धातुपाक पूर्णतया नही हो पाता। अपूर्ण पाकवश उत्पन्न हुए मध्यवर्त्ती अम्ल द्रव्यो के अतिप्रमाण से रक्त मे अम्लता उत्पन्न हो जाती है जो अन्त मे मूर्च्छा या मरण का कारण वनती है। स्नेह द्रव्यो का पाक अपूर्ण रह जाने से जो आम या अर्धपक्व द्रव्य रह जाते हैं उन्हे 'कीटोन' या 'कीटोन वॉडीज' कहते हैं। स्वस्थावस्था मे ये द्रव्य रक्त मे नही रहते। इक्षुमेहादि रोगो मे रस रक्त मे इनकी विद्यमानता को 'कीटोसिस' (Ketosis) कहते हैं। इन द्रव्यो के अम्ल होने से इस विकार को 'एसीडोसिस' (Acidosis) कहते हैं। इनकी उपस्थिति से त्वचा मे विशेषकर हस्तपाद तल मे दाह (Causalgia) होता है जो इक्षुमेह का पूर्वरूप है। द्राक्षशर्करा की निरन्तर आवश्यकता वनी रहने से शरीर मे विलक्षण श्रम और साद उत्पन्न होते हैं। अपक्व स्नेह द्रव्यो की रस रक्त मे अधिकता से रोगी मूर्च्छित भी हो जाते हैं। इस मूर्च्छा को 'माधुमेहिक मूर्च्छा' (Diabetic coma) कहते हैं।

प्रोटीन आदि आहारौषध द्रव्यो का जाठराग्नि तथा धात्वग्नियो द्वारा पाक होकर (जठर में) एमाइनो एसिड तथा (धातुओ मे) यूरिया के रूप मे परिवर्त्तन होता है। दोनो अग्नियो की मन्दता होने पर जव अन्तिम द्रव्य नही वनते तो मध्यवर्त्ती- अपक्वद्रव्य (आम) वनता है जैसे—यूरिक एसिड। यह यूरिक एसिड जव सन्धियो मे स्थान-सश्रयी होता है तव सन्धिवात नामक रोग उत्पन्न करता है। कार्बोहाइड्रेट और स्नेहो के अधूरे पाक से तक्राम्ल (Lactic acid) वनता है यह पहले कहा जा चुका है। जव इसका पेशियो मे स्थान-सश्रय होता है तव 'आमवात' (Rheumatism) नामक रोग उत्पन्न होता है।

**आमवात**—ऐसे पुरुष जिनकी अग्नि मन्द है और जो विरुद्ध आहार-विहार के करनेवाले हैं जव स्निग्धभोजन कर तत्काल व्यायाम करते हैं तव उनके शरीर मे मन्दाग्नि वश 'आम' उत्पन्न होता है। जव यह 'आमदोष' प्रकुपित वायु से प्रेरित होकर श्लेष्मा के मुख्यस्थान, सधि, आमाशय, उर, शिर एव कण्ठ की ओर जाता है तव वहाँ पीडा उत्पन्न करता है। वही आमरस या आमदोप जव धमनियो (रक्तवाही स्रोतो) मे पहुँचकर वहाँ स्थित दोषो के सम्पर्क मे आता है तव उन दोषो को भी आम सम्पृक्त कर अर्थात् साम दोप वना देता है। पुन॰ वे सामदोष शरीर के स्रोतो मे भर जाते हैं जिससे दुर्वलता, हृदय मे भारीपन आदि लक्षण उत्पन्न होते है। यह आमरस अनेक व्याधियो का कारण होने से अति भयकर होता है। सामवात और कफ एक साथ प्रकुपित होकर

कोष्ठ, त्रिक तथा सन्धियो मे प्रविष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण शरीर को जकड़ देते हैं। यह रोग 'आमवात' कहलाता है।[1]

कार्बोहाइड्रेट तथा स्नेह के अपूर्णपाक से उत्पन्न अम्लो का (तक्राम्ल, शुक्राम्ल तथा पायरुविकाम्ल) सकेत कर चुके हैं और यह भी बतलाया जा चुका है कि मासपेशियो मे जब इनका सचय होता है तब आमवात नामक रोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार प्रोटीन के अधूरापाक से उत्पन्न यूरिकाम्ल नामक आम जब संधियो मे स्थान-सश्रयी होता है तब सन्धिवात नामक रोग उत्पन्न होता है। उपर्युक्त आमवात की (आयुर्वेदीय) सम्प्राप्ति मे जो 'आमदोष' या 'आमरस' का सकेत किया गया है वह उक्त तक्राम्ल तथा यूरिकाम्ल ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त कार्वेहाइड्रेट, स्नेह तथा प्रोटीनो के अधूरे पाक से उत्पन्न होनेवाले मध्यवर्ती द्रव्य (तक्राम्ल, शुक्ताम्ल, पायरुविकाम्ल, कीटोन बाडीज) किस प्रकार शरीर मे रोगोत्पादक होते हैं इसका सकेत आयुर्वेद मे वर्णित 'आम' के विकारो का सर्वतोभावेन पुष्टि करते हैं। आम को सर्वरोगो का मूल, सर्वरोग प्रकोपक तथा सभी रोगो का आश्रय कहा गया है इसका भी समर्थन उक्त वर्णन से हो जाता है।

'आम के सम्पूर्ण वर्णनो पर दृष्टिपात करने से आमदोपोत्पन्न निम्न व्याधियो का बोध होता है जैसे—

१—जाठराग्नि दौर्बल्य से उत्पन्न 'आम' से उत्पन्न होनेवाले अजीर्ण, आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण, रसशेषाजीर्ण, अलसीभूत आम से अलसक तथा विलम्बित आम से विलम्बिका एव ऊर्ध्वाध प्रवर्त्तमान आम से विशूचिका, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणीरोग, अम्लपित्त आदि रोग हैं।

---

१. विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्न व्यायाम कुर्वतस्तथा॥
वायुना प्रेरितो ह्याम. श्लेष्मस्थान प्रधावति।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते॥
वातपित्तकफैर्भूयो दूषित सोऽन्नजो रसः।
स्रोतास्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिल॥
जनयत्याशुदौर्बल्य गौरव हृदयस्य च।
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसज्ञोऽतिदारुणः॥
युगपत्कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ।
स्तब्धं च कुरुते गात्रमामवातः स उच्यते॥ (मा. नि.)

२—धात्वग्निदौर्बल्य से उत्पन्न 'आम' से उत्पन्न होनेवाले आमवात, ऊरुस्तम्भ, प्रमेह, स्थौल्य तथा रसप्रदोषज, रक्तप्रदोषज, मांसप्रदोषज, मेदप्रदोषज, अस्थि-धातुप्रदोषज, मज्जाप्रदोषज तथा शुक्रप्रदोषज रोग हैं।

३—मन्दाग्नि तथा मलसंचय रूप आम से उत्पन्न होनेवाले उदरविकार, उदावर्त्त आदि रोग हैं।

४—प्रथम दोषदुष्टिरूप आम से उत्पन्न सभी सर्वांगाश्रित रोगों की प्रथमा या आमावस्था है।

**चिकित्सा में सामनिराम विचार की उपादेयता**—सम्पूर्ण चिकित्सा को दो भागों में विभक्त किया गया है अर्थात् ( १ ) सन्तर्पण चिकित्सा और ( २ ) अपतर्पण चिकित्सा। पुन इन दोनों के मुख्य तीन तीन भेद हैं जैसे सन्तर्पण के ( १ ) बृंहण, ( २ ) स्नेहन और ( ३ ) स्तम्भन, तथा अपतर्पण के ( १ ) लंघन, ( २ ) स्वेदन और ( ३ ) रूक्षण।[1]

पुन. लंघन के दो भेद अर्थात् शोधन और शमन किए गये हैं।

इन उपर्युक्त द्विविध उपक्रमों में आमप्रदोषज व्याधियों की चिकित्सा अपतर्पण प्रधान होती है।[2] निरामावस्था में ही सन्तर्पण चिकित्सा का व्यवहार किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त दोषों के निर्हरणार्थ जहाँ पर शोधन का विधान है वहाँ भी स्पष्ट रूप से कहा है कि साम तथा धातु में लीन दोषों का निर्हरण न करें। उन्हें पाचन-दीपन-स्नेहन द्वारा निरामावस्था में लाकर तथा स्वेदन द्वारा कोष्ठ में लाकर शोधन की व्यवस्था करनी चाहिए। ऐसा नहीं करने से दोषों के आश्रय धातुओं का ही नाश हो जाता है।[3]

इनके अतिरिक्त यह भी कहा है कि ऊपर तथा नीचे की ओर उत्क्लिष्ट दोषों का धारण भी नहीं करें। ऐसे दोषों का जो स्वयं वहिर्मुख हो चुके हों उनका अवश्य ही निर्हरण कर देना चाहिए। अन्यथा ये नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।[4]

तीन प्रकार के दोषों में अर्थात् सामवात, सामपित्त तथा सामकफ के

---

१. च. सू. अ २२-४, अ. हृ सू अ १४-१. २. ३।

२. 'तत्र आमप्रदोषजानां विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति'। ( च. वि २-१३ )

३. 'सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान् न निर्हरेत्।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरास्त्वत. ॥' ( अ हृ सू १३ )

४ 'उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान् वहत. स्वयम्।
धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदा. ॥' ( अ हृ सू १३ )

विकारो मे रोगी के बलाबल का विचार कर अपतर्पण चिकित्सा करनी चाहिए। इनमे भी अल्पदोष मे लघन, मध्यदोष मे लघन-पाचन तथा प्रभूतदोष में शोधन ( यथावश्यक वमन-विरेचन ) करना चाहिए।[१]

अत चिकित्सा सौकर्य के लिए तथा व्यापत्तियो से बचने के लिए साम-निराम का ज्ञान चिकित्सक को होना परम आवश्यक है।

**वायु का अन्य दोषों तथा द्रव्यों से आवरण**—दोषो के साम, निराम तथा क्षय एव वृद्धि का ज्ञान जिस प्रकार चिकित्सक के लिए आवश्यक है उसी प्रकार आवरण का ज्ञान भी आवश्यक है। इस ज्ञान से चिकित्सक व्याधिनिर्णय मे तथा उसके प्रतिकार मे मोह को प्राप्त नही होता।[२]

वायु का प्रकोप जिस प्रकार धातुओ के क्षीण होने पर होता है उसी प्रकार सर्वांगीण वायु का किंवा स्थानीय वायु का पित्त-कफ आदि दोषो तथा रक्तादि धातुओ एव पुरीषादि मलो से अथवा स्थानीय वायु का अन्य वायु से आवरण हो जाने से भी होता है।[3] आवरण का अर्थ है मार्ग मे रुकावट अर्थात् कोई भी दोष, धातु, मल अथवा अन्न आदि जब वृद्धि को प्राप्त होकर वायु की स्वाभाविक क्रिया मे बाधा पहुंचाते है अर्थात् वायु के मार्ग मे रुकावट उत्पन्न कर उसकी शक्ति को मन्द कर देते हैं तो उसे उस दोष आदि के द्वारा वायु का आवरण कहा जाता है।[४] इस अवस्था मे वृद्धिगत दोष आदि के कार्य प्राय. अधिक हो जाते हैं। प्राय से अभिप्राय यह है कि कभी-कभी आवृत्त वात भी आवरण के कारण उस स्थान पर सचित और वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकुपित

---

१ 'शान्तिरामविकाराणा भवति त्वपतर्पणात् ।
त्रिविध त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥
तत्राल्पे लघन पथ्य मध्ये लघनपाचनम् ।
प्रभूते शोधन तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान् ॥' ( अ हृ सू ८ )

२ 'क्षय वृद्धि समत्व च तथैवावरण भिषक् ।
विज्ञाय पवनादीना न प्रमुह्यति कर्मसु ॥' ( च. चि २८ )

३ (i) 'सर्वेष्वेतेषु ससर्ग पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ।
वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन वा ॥
(ii) केवलो दोषयुक्तो वा धातुभिर्वाऽऽवृतोऽनिल ।
विज्ञेयो लक्षणोहाभ्या चिकित्स्यश्चाविरोधत. ॥' ( सु. चि ५-२८ )

४ 'तत्रोर्ध्वं गच्छन्नुदान प्राणो वाऽपानस्याधोगामिनो गति निरोधं कुर्वन्नावरक इत्युच्यते अथवा द्वयोर्मारुतयोरभिमुखमभिसर्पतोर्बलवता दुर्बलोऽभिभूत. प्रत्यावृत्त. सन्'''आवृत' इत्युच्यते'। ( च चि २८-२१६ )

हो जाता है, जिससे उसके कार्य अधिक हो जाते हैं ।[१] आवरण करने वाले दोष आदि को आवरक तथा उससे बाधित हुए दूसरे वायु को आवृत्त कहते हैं ।

वक्ष्यमाण आवरणो के लक्षणो से यह स्पष्ट हो जायगा कि आवरक दोष, धातु या मल के विकार अधिक देखने मे आते हैं तथा आवृत वायु के लक्षण प्राय' क्षीण हो जाते हैं अर्थात् वातादि दोषो के कर्मों की वृद्धि या हानि तथा स्थानो को देखकर सभी आवरणों का निर्णय करना चाहिए। तात्पर्य यह कि पक्काशय आदि जो दोषो के प्रमुख स्थान कहे गये हैं तथा प्राणादि के विभिन्न स्थान कहे हैं उन स्थानो को तथा आवरक दोष-धातु-मलो के विकृत वृद्ध कर्मों की तथा आवृत वात के क्षीण कर्मों को देखकर ही आवरण का निर्णय करें ।[१]

आवरण का वर्णन चरक तथा सुश्रुत ने वातव्याधि के अधिकार मे तथा वाग्भट ने वातरक्ताविकार मे किया है। आयुर्वेद मे आवरण का वर्णन भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आवरण का अर्थ प्रकुपित अन्य दोषादि के द्वारा किंवा स्वय वात के अन्य भेदो द्वारा वायुमात्र अथवा किसी विशिष्ट वायु की क्रिया का उनके मार्ग मे अवरोध होने से मन्द हो जाना है। इन आवरणों मे पित्त से प्राण के आवरण तथा कफ से प्राण के आवरण के वर्णन उदाहरण रूप मे आवरण को समझने मे सहायक होंगे। जैसे—इनके लक्षणो में कहा है कि आमाशय मे वृद्धि को प्राप्त पित्त तथा कफ जब ( आमाशय की श्लेष्मल कला को क्षुभित कर ) वमनादि लक्षण उत्पन्न करते हैं तो उन्हे क्रमश' पित्तावृत प्राण अथवा कफावृत प्राण कहते हैं। लोक मे भी इन्हे पित्त की तथा कफ की उल्टी या वमन कहते हैं। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राण का जो कर्म आदान अर्थात् ग्रहण कर अन्ननलिका द्वारा आमाशयादि महास्रोत के अवयवों मे ले जाना है उस कर्म की हानि पित्त तथा कफ से आवृत होने के कारण हो जाती है परिणामस्वरूप वमन द्वारा वृद्ध पित्त तथा कफ का नि सरण होता है।

**पित्त तथा कफ से आवृत प्राणवायु के लक्षण**—प्राणवायु के पित्त से आवृत होने पर मूर्च्छा, दाह, भ्रम, शूल, विदाह, शीत आहारादि की इच्छा, विदाह ( अम्लरस, अपक्व ) अन्न की उल्टी—ये विकार होते हैं। इसे पैत्तिक वमन भी कहते हैं। जब प्राणवायु कफावृत होता है तब दुर्बलता, सार ( शरीर के सर्व व्यापारो मे शिथिलता ), तन्द्रा, विवर्ण, बलगम का अधिक आना,

१ 'दिशाऽनया च विभजेत् सर्वमावरण भिषक्।
स्थानान्यवेक्ष्य वाताना वृद्धिं हानिं च कर्मणाम् ॥' ( अ ह. नि. १६ )

अरुचि, वमन, छींक-उद्गार तथा निःश्वास और उच्छ्वास का अवरोध—ये विकार होते हैं। इसे श्लैष्मिक वमन भी कहते हैं।[१]

यहाँ पित्त की वृद्धि के लक्षण पित्तावृत प्राण में तथा कफ वृद्धि के लक्षण कफावृत प्राण में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

**( १ ) पित्तावृत वायु के लक्षण**—वायुमात्र पित्त से आवृत होने पर दाह ( जलन ), सन्ताप ( गर्मी ), मूर्च्छा, पिपासा, शूल, भ्रम ( चक्कर आना ), तम ( आँखों के सामने अंधकार ), कटु, अम्ल, लवण तथा उष्ण पदार्थों से विदाह, शीतल द्रव्यों की रुचि—ये लक्षण होते हैं।[२]

**( २ ) कफावृत वायु के लक्षण**—वायुमात्र जब कफ से आवृत होता है तब शरीर में शैत्य ( ठंड लगना ), शोथ, शरीर का भारी अनुभव होना, कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण आदि पदार्थों के सेवन से स्वास्थ्य लाभ होना, लंघन, श्रम, रूक्ष तथा उष्ण पदार्थों में रुचि होना—ये लक्षण होते हैं।[३]

**( ३ ) रक्तावृत वायु के लक्षण**—वायु जब रक्त से आवृत होता है तब शरीर में सुइयों से चुभने की व्यथा, स्पर्शद्वेष, प्रसुप्ति ( स्पर्श का अज्ञान ), त्वचा तथा मांस के मध्य में दाह ( जलन ) वेदना तथा रक्तिमा से युक्त शोथ और मण्डल तथा विविध पित्तविकार उत्पन्न होते हैं।[४]

---

१. ( i ) 'प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते ॥' ( सु. नि. १–२४ )

( ii ) 'मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता ।
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते ॥
ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ।
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च ॥' ( च. चि. २८ )

( iii ) ( अ. हृ. नि. १६–४७–४६ )

२. ( i ) 'लिंगं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः । ( च. चि. २८ )
कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता ॥' ( अ. हृ. नि. १५ )

( ii ) 'दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ॥' ( सु. नि. १–३२ )

३. ( i ) 'शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् । ( च. चि. अ. २८ )
लंघनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते ॥' ( अ. हृ. नि. १५ )

( ii ) 'शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते ।' ( सु. नि. १–३३ )

४. ( i ) 'रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम् ।
भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ॥' ( च. चि. २८ अ. हृ. नि. १५ )

( ii ) 'सूचिभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता ।
शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते ॥' ( सु. नि. १–३४ )

१३ विदाही अन्नपान
१४ तिल
१५ तैल
१६ पिण्याक
१७ कुलथी
१८ सर्षप
१९ अतसी
२० हरितशाक
२१ गोधामास
२२ मत्स्यमास
२३ आजमास
२४ आविकमांस
२५ दधि
२६ तक्र
२७ कूर्चिका
२८ मस्तु
२९ सौवीरक
३० सुरा विकार
३१ अम्लफल
३२ कट्वर
३३ उष्ण
३४ शरदृतु
३५ मध्याह्न
३६ अर्धरात्र
३७ अन्न की पच्यमानावस्था
३८ क्षार
३९ शुक्त
४० शण्डाकी
४१ मूत्र
४२ धान्याम्ल
४३ निष्पाव
४४ तिलान्न
४५ आम्रातक
४६ अम्लिका
४७ पीलु
४८ भल्लातक
४९ लाङ्गली
५० मरिच
५१ आतप
५२ अग्नि
५३ रज
५४ धूम
५५ ईर्ष्या
५६ अजीर्ण मैथुन
५७ क्रोध
५८ वर्षाऋतु
५९ तृण्णारोध

पित्तवृद्धि मे याकृत पित्त जो रक्त का मल है उसकी वृद्धि का भी बोध होता है। यह मलभूत पित्त यकृत् मे उत्पन्न होता है और यकृत के पित्ताशय ( Gall bladder ) नामक अवयव मे सचित होता है। आमाशय, दोनो अन्त्र, अग्न्याशय तथा प्लीहा का दूषित रक्त वहन करने वाली प्रतिहारिणी सिरा ( Portal veins ) यकृत् मे प्रविष्ट होती है। सम्पूर्ण शरीर मे सचार करते हुए रुधिर में जो धातुपाकादिजन्य मल सचित हुए होते हैं वे इस प्रकार यकृत् मे आते हैं। प्रतिहारिणी के चरमसूक्ष्म अन्तो मे यकृत् के कोषाओं मे इन मलो का निर्हरण होता है। पुन. इस निर्हृत मल का वहाँ विघटन और सघटन होकर पित्त का निर्माण होता है। पचन काल मे याकृती पित्तनलिका ( Hapetic duct ) द्वारा पित्त ग्रहणी मे प्रविष्ट होता रहता है। अन्य काल मे वह पित्तकोषनलिका द्वारा ( Cystic duct ) पित्तकोष ( Gall bladder ) मे एकत्र होता रहता है।

**याकृत् पित्त का स्वरूप**—यह पित्त कुछ पीला, लाल, भूरा या हरा द्रव्य होता है। इसकी गन्ध कस्तूरी तुल्य, रस तिक्तमधुर तथा प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इसमे पित्त के रंजक ( Bile pigments ) यूरिया, यूरिकएसिड आदि होते हैं। इनमे यूरिया अन्त मे वृक्को द्वारा मूत्रमार्ग से बहिर्निष्कासित हो जाता है। इसका प्रधान कार्य अन्याशय-रस की सहायता करना है। विशेषरूप

से स्नेह के पचन कार्य मे। यह कुछ अंश तक अन्त्रो में जीवाणुओं का नाश भी करता है। यह पक्व अन्न के सम्यक् आचूषण में भी सहायक होता है। स्थूलान्त्रो मे यह अपकर्षणी गति को बढा देता है।

कफ प्रकोप आदि के कारण पित्तवह स्रोतो के अवरोधक होने से पित्त पूर्णतया ग्रहणी मे न जाकर वापस हो पुन. चूषा जाकर सर्वाङ्ग मे पहुंचता है। यह विकार विशेष सीमा तक पहुँच जाय तो आँखें त्वचा तथा मूत्र में विलक्षण पीतिमा या हारिद्रवर्णता दृष्टिगोचर होती है। इस विकार को 'शाखाश्रया कामला' (Obstructive-jaundice) कहते हैं।[1] पित्त के अन्त्रो मे न जाने के कारण स्नेह द्रव्यो का पाचन तथा आचूषण सम्यक् न होने से वे अपक्व ही मलद्वार से निकल जाते हैं। उक्त अवरोधवश मल मे पित्त का अभाव होने से मल का वर्ण श्वेत तथा तिलपिष्टनिभ होता है। इस पित्त का शरीर मे प्रमाण अधिक हो जाने से नेत्र आदि मे पीतता दिखाई देने लगती है। इस प्रकार यह वृद्धपित्त रक्तवाहिनियो द्वारा जब मुख की लालाग्रन्थियो तथा कफग्रन्थियो मे तथा स्वेद-ग्रन्थियो मे पहुँचता है तो लालारस, कफ तथा स्वेद के साथ पित्त नि सृत होने लगता है। इत्यादि।

**श्लेष्म के क्षय तथा वृद्धि के लक्षण**—आरोग्य के लिए वात तथा पित्त के समान ही कफ ( श्लेष्म ) का साम्य भी आवश्यक है अत समता को अक्षुण्ण रखने के लिए इसके क्षय तथा वृद्धि का ( वैषम्य ) ज्ञान भी आवश्यक है।

**कफक्षय के लक्षण**—कफ के क्षीण होने पर शरीर मे रूक्षता, अन्तर्दाह, आमाशय तथा इतर फुफ्फुस, हृदय, सन्धि आदि श्लेष्माशयो मे विशेषतया शिर में शून्यता, सन्धियो मे शिथिलता, तृष्णा, दुर्बलता, निद्रानाश एव अपने प्राकृत कर्मों का ह्रास ये लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इनके अतिरिक्त भ्रम, उद्वेष्टन, अङ्गमर्द, परिशोष, तोद, दाह, द्रव, स्फोटन, वेपन, धूमायन तथा हृद्द्रव—ये लक्षण भी होते हैं।[2]

---

१ 'तिलपिष्टनिभ यस्तु वर्च सृजति कामली।
श्लेष्मणा रुद्धमार्ग तत् पित्त कफहरैर्जयेत्॥
...       ...       ...       ...

कफसम्मूर्च्छितो वायु. स्थानात् पित्तं क्षिपेद्बली।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः॥ ( च० चि० १६ )

२ ( i ) श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धिशैथिल्य तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरं च। ( सु० सू० १५ )

( ii ) 'भ्रमोद्वेष्टनानिद्राऽङ्गमर्दपरिशोष ( प्लोष ) तोदद्रवदाहस्फोटनवेपनधूमायन-सन्धिशैथिल्यहृदयद्रवश्लेष्माशयशून्यतादिभि श्लेष्मा॥' (अ० स० सू० १०)

**नोट**—किसी-किसी टीकाकार ने आमाशयेतर श्लेष्माशय शून्यता का अर्थ आमाशय से भिन्न ( अन्य ) श्लेष्माशयों की शून्यता ऐसा अर्थ किया है। आमाशय का ऊर्ध्वभाग श्लेष्मा का स्थान है अत: आमाशय के ऊर्ध्वभाग में भी शून्यता संभव है।

श्लेष्मा के प्रकृत कर्मों की हानि से स्नेह का ह्रास, बन्धह्रास, अस्थिरत्व, पुंस्त्व शक्ति का ह्रास, दौर्बल्य अक्षमा, अधैर्य, लोभ, अदृढता-शैथिल्य, अनुपचय, कार्श्य, अनुत्साह, आलस्य, अज्ञान, निर्बुद्धि, मोह, सन्धि-संश्लेष में न्यूनता, अरोपण, अपूरण तथा अविसर्ग—इन लक्षणों का ग्रहण होता है।[1]

प्राकृत श्लेष्मा को 'बल' तथा 'ओज' भी कहा गया है। अत श्लेष्मा के क्षय होने पर बल तथा ओज का क्षय भी संभव है। 'बल' को रोगनिग्रह का भी कारण माना गया है अत. श्लेष्मा के क्षीण होने पर शरीर की रोग-निग्रह शक्ति अर्थात् 'क्षमता' भी क्षीण हो जाती है।[2]

**श्लेष्मवृद्धि के लक्षण**—श्लेष्म की वृद्धि होने पर त्वचा, मल, मूत्र आदि की शुक्लता, शैत्य, स्थैर्य ( अङ्गों का जकड़ना ), गौरव, अवसाद ( शरीर और मन का शिथिल हो जाना ), तन्द्रा, निद्रा, सन्धियों तथा अस्थियों का विश्लेष, स्थौल्य, आलस्य, स्रोत पिधान, मूर्च्छा, श्वास, कास, प्रसेक, हृल्लास, अग्निसाद—ये लक्षण होते हैं।[3]

इनके अतिरिक्त श्लेष्मा के नानात्मज विकार तथा श्लेष्मप्रकोपजन्य रोग भी श्लेष्म-वृद्धि के ही द्योतक हैं।

**श्लेष्मा के नानात्मज विकार**—तृप्ति, तन्द्रा, निद्राधिक्य, स्तैमित्य ( शरीर का आर्द्रवस्त्र से आच्छादित अनुभव होना ), गुरुगात्रता, आलस्य,

---

१ ( i ) 'स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥' ( च० सू० १८ )

( ii ) '' 'दार्ढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति।' ( च० सू० १२ )

( iii ) 'सन्धिसंश्लेषण स्नेहन-रोपण-पूरण-बलस्थैर्यकृत् श्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति।' ( सु० सू० १५ ) ।। विसर्ग ( सु० सू० २१ )

२ ( i ) 'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा, स चैवोजः स्मृतः काये।' ( च० सू० १७ )

( ii ) बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्।' ( च० चि० ३ )

३ ( i ) श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्य शैत्य स्थैर्य गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा सन्धिविश्लेषश्च।' ( सु० सू० १५ )

( ii ) 'श्वैत्य-शैत्य-स्थौल्यालस्यगौरवाङ्गसादस्रोत पिधानमूर्च्छातन्द्रानिद्रा-श्वास-कास-प्रसेकहृल्लासाग्निमान्द्यसन्धिविश्लेषादिभि: श्लेष्मा ( वृद्ध: पीडयति )। ( अ० सं० सू० १९)

मुखमाधुर्य, मुखस्राव, श्लेष्मोद्गिरण, मलाधिक्य, बलासक, अपक्ति, हृदयोपलेप, कण्ठोपलेप, धमनीप्रतिचय, गलगण्ड, अतिस्थौल्य, शीताग्निता, उदर्द, श्वेतावभासता, श्वेतमूत्रता, श्वेतनेत्रता, श्वेतवर्चस्त्व इत्यादि ।[1]

**श्लेष्मप्रकोपजन्य विकार**—श्वैत्य, शैत्य, कण्डू, स्थैर्य, उत्सेध, गौरव, स्नेह, सुप्ति, क्लेद, उपदेह, बन्ध, माधुर्य, चिरकारित्व, तृप्ति, तन्द्रा, स्तैमित्य, स्तैमित्य, काठिन्य, मलाधिक्य, अपक्ति, प्रसेक, शोथ निद्राऽऽधिक्य, लवणरसत्व, मधुररसता, आलस्य आदि ।[2]

श्लेष्मवृद्धि तथा प्रकोपजन्य उपर्युक्त विकार केवल निदर्शन मात्र हैं । ये असख्य श्लेष्मविकारो मे से आविष्कृततम विकार हैं जिनका उदाहरणस्वरूप निर्देश किया गया है । शार्ङ्गधर ने मुखप्रलेप, श्वेतावलोकन, उष्णेच्छा, तिक्तकामिता, शुक्रबाहुल्य, बहुमूत्रता, मन्दबुद्धित्व, घर्घरवाक्यत्व और अचैतन्य तथा काश्यप ने आमलक्षण भी श्लेष्मा की वृद्धि से कहा है ।

**श्लेष्मप्रकोपक कारण**—

| | | |
|---|---|---|
| १ दिवास्वप्न | १२ हायनक | २३ कृशरा |
| २ अव्यायाम | १३ यवक | २४ पायस |
| ३ आलस्य | १४ नैषध | २५ इक्षुविकार |
| ४ मधुरद्रव्य | १५ इत्कट | २६ आनूपमास |
| ५ अम्लद्रव्य | १६ माष | २७ औदकमास |
| ६ लवणरस | १७ महामाष | २८ वसा |
| ७ शीत | १८ गोधूम | २९ विष |
| ८ स्निग्ध द्रव्य | १९ तिलविकृतियाँ | ३० मृणाल |
| ९ गुरु द्रव्य | २० पिष्ट ,, | ३१ कसेरुक |
| १० पिच्छिल द्रव्य | २१ दधि | ३२ मधुरफल |
| ११ अभिष्यन्दि द्रव्य | २२ दुग्ध | ३३ वल्लीफल |

---

१ 'श्लेष्मविकाराश्च—······तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्य च, स्तैमित्य च, गुरुगात्रता च, आलस्य च, मुखमाधुर्य च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरण च, मलस्याधिक्य च, कण्ठोपलेपश्च, बलासकश्च, हृदयोपलेपश्च, धमनीप्रतिचयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्य च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्व च, इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ।' (च० सू० २०)

२. ( i ) 'श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहस्तम्भसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मण कर्माणि ।' सू( च० ० २० )

( ii ) माधवनिदान-मधुकोपव्याख्याया सुदान्तसेन ।

३४ नमशन
३५ अध्यशन
३६ नवान्न
३७ पृथुक
३८ स्थूलभक्ष्य ( लड्डूक आदि )
३९ शष्कुली
४० आमक्षीर
४१ किलाट
४२ मोरट
४३ कूचिका
४४ तक्रपिण्डक
४५ पीयूष
४६ इक्षुरस
४७ कदलीफल
४८ खर्जूर
४९ भव्य
५० नारिकेल
५१ निशाम्बुपान
५२ अत्यम्बुपान
५३ अतिसन्तर्पण
५४ भुक्तमात्रकाल
५५ दिवास्वाप
५६ कालातिस्वप्न
५७ कायवाङ्मनोव्यापारानारम्भ
५८ अनुपधानशयन
५९ अवश्याय
६० हर्ष
६१ छर्दिविघात
६२ विरेचनाद्ययोग
६३ आस्यासुख
६४ स्वप्नसुख
६५ अजीर्ण
६६ मन्दाग्नि[1]

**दोषों की वृद्धि के सामान्य नियम**—स्वयोनिवर्द्धन द्रव्यों के उपयोग से दोषो की वृद्धि होती है। समानयोनि द्रव्यो मे उन-उन द्रव्यो के आत्मबीज नियत होते है जो उनके वर्द्धन का कारण होता है। जो मनुष्य जिस प्रकृति का होता है उसके दोष स्वल्प समान कारणो से भी वृद्ध हो जाते हैं। जैसे वातप्रकृति मनुष्य के शरीर में वातवृद्धि स्वल्प रूक्षादि सेवा से ही हो जाती है। इसी प्रकार पित्तप्रकृति पुरुष के स्वल्प पित्तल द्रव्यों से तथा कफप्रकृति पुरुषो के शरीर मे स्वल्प श्लेष्मल द्रव्यो से ही पित्त तथा कफ की वृद्धि हो जाती है।[2]

ये दोष जब वृद्धि को प्राप्त होते हैं तब अपने से विपरीत गुणवाले द्रव्या में रुचि उत्पन्न करते हैं तथा जब क्षीण होते हैं तब समान गुणवाले द्रव्यो मे रुचि उत्पन्न होती है।[3]

---

१. सु० सू० २१, अ० स० नि० १, अ० हृ० नि० १। शार्ङ्गधर प्र० २

२ (i) 'वृद्धिः पुनरेषा स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद् भवति।' ( सु० सू० १५ )

(ii) 'स्व स्व वृद्धयै क्षयाय च। प्रत्यात्मबीजनियत भृशमाशु प्रजायते।' ( अ० स० सू० १९ )

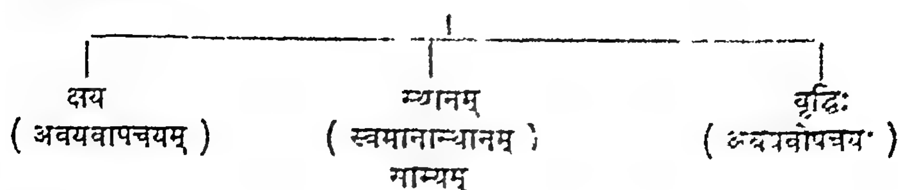
(iii) सर्व द्रव्य बाह्याभ्यन्तरेण तुल्य सत् भृशमाशु च वृद्धयै जायते कुत इत्याह-प्रत्यात्मबीजनियतं प्रतिस्वरूप नियतकारणत्वात्। तथा हि मासमेव यथा मासकारण न तथान्यत्।' ( इन्दु )

(iv) 'दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियत वृद्धिलक्षणम्।' ( च० सू० १८ )

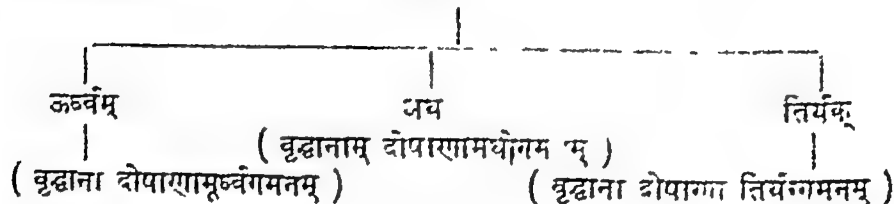
३ 'कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयो। वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठम्।' (अ. हृ. सू. ११)

### दोषों की त्रिविधगतियों का प्रकार—

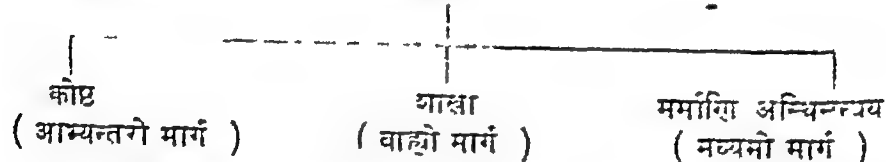
**प्रथमप्रकार—**




**द्वितीयप्रकार—**




**तृतीयप्रकार—**




**धातुओं के क्षय तथा वृद्धि**[1]—देश, काल, आहार, औषध तथा विहार जिस धातु के समान गुणवाले हों उनके सेवन से उस धातु की वृद्धि होती है। दोष तथा मल भी प्रकृत अवस्था में देह का धारण करते हैं अतः यह नियम उनमें भी लागू होता है। इसी प्रकार जो देश, काल, आहार, औषध तथा विहार जिस धातु ( दोष तथा मल ) के विपरीत गुणवाले हों उनके सेवन से उन धातु ( दोष या मल ) का क्षय होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जो कारण समान गुणवाला होने से एक द्रव्य की वृद्धि करता है वह विपरीत गुणवाले अन्य द्रव्य को क्षीण भी करता है। एवं जो कारण विपरीतगुणयुक्त होने से एक द्रव्य ( दोष, धातु तथा मल ) को क्षीण करता है वह अपने समान गुण वाले द्रव्य को वृद्धि करता है। जैसे—दुग्ध समान गुणवाला होने से कफ तथा शुक्र की वृद्धि करता है परन्तु विपरीत गुणवाले वातादि को क्षीण करता है।[2]

1. च० सू० अ० १७, च० सू० अ० ११।
2. ( i ) जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात् समाः ··· ··· ··· ॥ ( च० सू० १६ )
( ii ) 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥' ( च० सू० १ )

इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई दोष, धातु या मल क्षीण हो तो उस दोष, धातु तथा मल के समान गुणवाले देश, काल, आहार, औषध तथा विहार के उपयोग से उसकी क्रमशः वृद्धि करके समावस्था में लाना ही चिकित्सा का प्रयोजन है। इसी प्रकार वृद्ध दोष, धातु तथा मल को उसके विपरीत गुणवाले देश, काल, आहार, औषध तथा विहार के उपयोग से उस दोष को क्रमशः क्षीणकर साम्यावस्था में लाना चाहिए।

विषम हेतुओं के त्याग तथा सम हेतुओं के सेवन से दोषों तथा धातुओं की विषमता का अनुबन्ध नहीं होता अर्थात् दोष तथा धातुयें विषमता को प्राप्त नहीं होती। शरीर धातुओं की समता बनी रहती है।[1]

**धातुक्षय के कारण**—अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय रसों वाले द्रव्यों के अतिसेवन, रूक्षान्नपान, विशेषकर कृशपुरुषों का रूक्षान्नपान, तीक्ष्ण द्रव्यों का भोजन, अल्पभोजन, प्रमिताशन, एकरसाभ्यास, तीक्ष्णाग्नि, अनशन, असात्म्य-भोजन, अतीतकाल भोजन, गवेधुकान्न, श्यामा त्रिवृत् का उपयोग, गरविष, अत्यध्वगमन, अतिव्यायाम, वातातिसेवा, आतपादिसेवा, रात्रिजागरण, अति-मैथुन, शोक, चिन्ता, भय, क्रोध, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, मद, उद्वेग, विरेचनातियोग, जरा, कफातिवर्त्तन, शोणितातिवर्त्तन, शुक्रातिवर्त्तन तथा मलातिवर्त्तन, कास, उर क्षत, ज्वर, प्रलेपकज्वर, पाण्डुरोग, प्रमेह, रक्तपित्त, यक्ष्मा, जीर्णातिसार, ग्रहणी प्रभृति रोगों के कारण रस-रक्तादि धातुओं का क्षय होता है। कालान्तर-प्राणहर मर्मोपघात से भी धातुओं का क्षय होता है।[2]

**रसक्षय के लक्षण**—रस धातु के क्षीण होने पर ग्लानि, तृषा (थोड़ा श्रम से भी), हृदयस्पन्दन, हृद्द्रव, हृत्कम्प, हृद्घट्टन, शब्दासहिष्णुता (ऊँचे शब्दों के सुनने से हृदय का धड़कन हो जाना), हृदय में पीड़ा, हृत्तमन, मुख-

---

(iii) 'शरीरधातवः पुनर्द्विविधा सङ्ग्रहेण—मलभूता प्रसादभूताश्च ॥' (च शा ६)
(iv) 'समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम् ।' (च० सू० १२)
(v) 'प्रकोपणविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणम् ।' (च० सू० १२)
(vi) 'धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्यभ्यस्यमानैः ।' ('च० शा० ६)

१. 'त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् ।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥ (च० सू० १५)

२. चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट कृत अष्टाङ्गहृदय और अष्टाङ्गसङ्ग्रह से संगृहीत ।

शोष या हृदय का शुष्क अनुभव होना, श्रम, हृदय का शून्य सा अनुभव होना, शरीर में रूक्षता प्रभृति लक्षण होते हैं।[1]

इनके अतिरिक्त रस के प्रकृत कर्मों यथा—तर्पण, वर्द्धन, धारण, यापन, स्नेहन, जीवन, तुष्टि, प्रीणन, रक्तपुष्टि आदि कर्मों का ह्रास हो जाता है और मनुष्य कृश हो जाता है। रस धातु के क्षीण होने से इतर धातुओं का भी अपचय होने लगता है।[2]

**रक्तक्षय के लक्षण**—रक्त के क्षीण होने पर रक्ताल्पता होने से शरीर में रौक्ष्य, त्वक्पारुष्य, त्वक्स्फोटन, त्वङ्म्लानता, सिराशैथिल्य तथा रोगी अम्लरस तथा शीतलद्रव्यों की अभिलाषा करता है। रक्त के अधिक निकल जाने पर अर्थात् ( स्राव आदि द्वारा रक्त की कमी हो जाने पर ) अन्य धातुओं की भी क्षीणता हो जाती है तथा रोगी का वर्ण पाण्डु हो जाता है। इनके अतिरिक्त अग्निमान्द्य तथा वातप्रकोप, शिरोऽभिताप, शिर कम्प, भ्रम, तिमिर-प्रादुर्भाव, अधिमन्थ, आन्ध्य, बाधिर्य, तृष्णा, हनुभ्रंश, मलस्तंभ, हिक्का, श्वास, कास, पाण्डुरोग, एकाङ्गविकार, पक्षाघात, आक्षेपक, अपतानक, दाह, संज्ञानाश, मूर्च्छा, तमोदर्शन, तन्द्रा, दौर्बल्य, प्रलाप तथा अन्य वातविकार उत्पन्न होते हैं। अत्यधिक रक्त की न्यूनता रोगी को मृत्यु प्रदान कर देती है।[3]

---

१ ( i ) घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूल्यते।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये॥ ( च० सू० १७ )
( ii ) 'रसक्षये हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा च।' ( सु० सू० १५ )
( iii ) 'रसे(क्षीणे)रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता।' (अ० हृ० सू० ११)
द्रवति इति हृदयं धुग् धुगिति करोति ( Tachy cardia ) ( चक्र )

२ ( i ) स ( रस. ) × × × कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति जीवयति यापयति इति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा।' × × स खलु × × स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इति।' ( सु० सू० १५ )
( ii ) रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टिं च करोति। ( सु० सू० १५ )
( iii ) रसनिमित्तमेव हि स्थौल्यं कार्श्यं च।' ( सु० सू० १५ )

३ ( i ) 'शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यञ्च। ( सु० सू० १५ )
( ii ) 'परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये।' ( च० सू० १७ )
( iii ) 'रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिसिराशैथिल्यरूक्षताः।' ( अ० हृ० सू० ११ )
( iv ) धातुक्षये स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति ··· ····॥' ( सु० सू० १४ )
( v ) तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थतिमिरप्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णा दाहौ हिक्का कासं श्वासं पाण्डुरोगं मरणं चापादयति।'
( सु० सू० अ० १४ )

इन लक्षणो तथा विकारो के अतिरिक्त रोगी का वर्ण म्लान हो जाता है। मांसादि धातुओ का पोषण नही होता तथा रक्त की अधिक न्यूनतावश स्पर्शज्ञान भी समशय हो जाता है। रक्त के प्राकृतकर्मों का ह्रास होता है।[१]

रक्त की 'प्राण' संज्ञा भी है क्योकि रक्त अर्थात् विशुद्ध रक्त मनुष्य को बल-वर्ण तथा सुख एव आयु को प्रदान करने वाला है। शरीर की स्थिति रक्त से ही है अत रक्त के क्षीण होने पर प्राण का भी ह्रास हो जाता है। प्राण रक्त का अनुसारी है या यो कह सकते हैं कि रक्त ही प्राण है।

'धातूना क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते' सुश्रुत का यह कथन आधुनिक क्रिया शारीर द्वारा भी यथार्थ प्रमाणित होता है। आधुनिक क्रिया शारीर के अनुसार रक्त द्वारा जहाँ धातुओ को प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह, खनिज, लवण तथा जल आदि पोषक तथा तापोत्पादक द्रव्यो की प्राप्ति होती है वहाँ शरीरस्थिति के लिए अनिवार्य जीवनीय तत्त्व भी रुधिर द्वारा ही मिलता है। रुधिर ही अन्य शरीरावयवो के सदृश विविध अन्तर्ग्रन्थियो को उन मूलद्रव्यो को पहुँचाता है जिनसे वे विविध स्रावो की रचना करती हैं। पुन रुधिर ही उत्पन्न हुए इन स्रावों को समस्त शरीर मे प्रसृत कर देता है जहाँ वे अपनी-अपनी प्रतिनियत क्रिया करते हैं। लालाग्रन्थि, अग्न्याशय प्रभृति बहिःस्रावी ग्रन्थियाँ भी रुधिर द्वारा ही अपेक्षित द्रव्य की प्राप्ति होने पर अपने स्राव का निर्माण करती हैं। पाचक अङ्गो की यथास्थिति क्रिया के लिए रुधिर अनिवार्य है। यही कारण है कि सम्पूर्ण रुधिर का १ ३ भाग कोष्ठ मे रहता है। याकृत पित्त का निर्माण तो साक्षात् रुधिर से ही होता है तथा उसके कार्य भी रुधिर के ही अधीन रहते हैं। रुधिर ही अपने रक्तकणों द्वारा धातुओ को ओषजन पहुँचाता है जो प्रत्येक धातु के अपने-अपने कर्मसम्पादन के लिए तथा शरीर की नियत उष्मा के लिए आवश्यक है। रुधिर ही धातुपाक-जन्यमलो-विशेषकर अङ्गाराम्ल तथा यूरिया का, विसर्गी-अवयवों द्वारा शरीर से बाहर निष्कासन करवाता है। रुधिर ही

---

(vi) 'तस्यातिप्रवृत्तो दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा समस्तृषा।
दाह. प्रलाप पाण्डुत्व तन्द्रा रोगाश्च वातजा ॥' (सु० शा० ?)

[१] प्राकृत कर्म—(i) रक्त वर्णप्रसाद मांसपुष्टि जीवयति च। तेषा (धातूना) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते।' (सु० सू० १४, सु० सू० १५)

(ii) 'तद विशुद्ध हि रुधिर बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिन प्राण शोणित ह्यनुवर्त्तते।' (च० सू० २४)

लोहितप्रभव शुद्ध तनोस्तेनैव च स्थिति। (अ० हृ० सू० २८)

(iii) 'देहस्य रुधिर मूल रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माधत्नेन सरक्ष्य रक्त जीव इति स्थिति.॥' (सु० सू० १४)

**अस्थिक्षय के लक्षण**—अस्थिधातु के क्षय होने पर अस्थियों में पीड़ा ( शूल-तोद ), अस्थि-सन्धियों का शिथिल होना, अस्थिधातु के मल-केश, श्मश्रु, दन्त, नख, तथा लोम का भङ्गुर होना तथा गिरना ( पतन ), गात्ररौक्ष्य, तथा गात्रपारुष्य और श्रम ये लक्षण होते हैं। इनके अतिरिक्त इनके प्रकृतकर्मों का यथा—देहधारण, मज्जा की पुष्टि आदि का ह्रास हो जाता है।[1]

सम्पूर्ण शरीर का कङ्काल अस्थियों का ही पञ्जर है अतः अस्थि वस्तुतः में शरीर का धारण करता है। इसके क्षय होने पर इन अस्थियों का क्षीण होना तथा धारणा-शक्ति का न्यून होना स्वाभाविक है।

**मज्जाक्षय के लक्षण**—मज्जाधातु के क्षीण होने पर भ्रम, तम, तिमिर-दर्शन, शुक्राल्पता, अस्थियों का शीर्ण होना तथा दुर्बल होना, अस्थियों का लघु ( हलका ) हो जाना, अस्थियों में छिद्र हो जाना, अस्थियों का शून्य हो जाना, अस्थियों में सुई चुभने सी पीड़ा होना, अन्य अस्थि के वातविकार एवं पर्वभेद—ये लक्षण होते हैं।[2]

इनके अतिरिक्त मज्जा के प्रकृतकर्म अर्थात् स्नेहन, बल, शुक्रपुष्टि तथा अस्थियों का पूरण इन कर्मों का ह्रास हो जाता है।[3]

**शुक्रक्षय के कारण**—चिन्ता, शोक, क्रोध, भय, ईर्ष्या, उत्कण्ठा तथा मद या अतियोग, कृश तथा दुर्बल पुरुष का उपवास करना अथवा अल्पाहार करना, रूक्ष अन्नपान का सेवन, अहिताग्न का सेवन, अहित औषध का सेवन, शारीर तथा मानस श्रम, वृद्धावस्था तथा स्त्री-सम्भोग का अतियोग—ये सब शुक्रक्षय के कारण हैं।[4]

**शुक्रक्षय के लक्षण**—शुक्रधातु के क्षीण होने पर मेढ्र तथा मुष्क में वेदना, मैथुन करने में असामर्थ्य तथा क्लैव्य, मैथुन करने पर शुक्र का विसर्जन न होना, यदि हो तो अधिक काल में होना अथवा शुक्र के साथ अल्पप्रमाण में रक्त का

---

१ ( i ) 'अस्थिक्षयेऽस्थितोदो दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यञ्च' ( सु० सू० १५ )
( ii ) 'केशलोमनखश्मश्रु द्विजप्रपतनं श्रमः ।
ज्ञेयमस्थिक्षये लिङ्गं सन्धिशैथिल्यमेव च ॥' ( च० सू० १७ )
( iii ) अस्थ्न्यस्थितोदः सदनं दन्तकेशनखादिषु' ( अ० हृ० सू ११ )

२. ( i ) 'मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च ।' (सु० सू० १५)
( ii ) 'शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च ।
प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जनि देहिनाम् ॥' ( च० सू० १७ )
( iii ) 'अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम् ।' ( अ० हृ० सू० ११ )

३. सु० सू० १५;

४. च० चि० अ० ३०, च० चि० २; च० नि० ६;

आना, मेढ् मे धूपन के सदृश दाह मालूम होना, मुखशोष, तिमिरदर्शन, शरीर का पाण्डुवर्ण हो जाना, गात्रसाद तथा दौर्बल्य—ये लक्षण होते हैं।[1] इनके अतिरिक्त शुक्र के प्रकृत कर्म का जैसे—धैर्य, च्यवन प्रीति, देहबल, हर्ष, बीजत्व—इनका ह्रास हो जाता है।[1]

शुक्र मे दो पदार्थों ( शरीर द्रव्यो ) का ग्रहण होता है। प्रथम शुक्र धातु जो सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त रहता है और जिसकी स्थिति शरीर मे धैर्य, शौर्य आदि उत्पन्न करती है। दूसरा शुक्रधातु वह है जो वृषण ग्रन्थियो मे अन्य अन्त -स्रावी ग्रन्थियो के स्राव की सहायता से निर्मित होता है तथा जो गर्भाधान मे समर्थ होता है और सुरतप्रसग मे मूत्रेन्द्रिय द्वार से क्षरित होता है। इसके क्षय होने पर मैथुन मे अशक्ति, शुक्राविसर्ग तथा क्लैब्य आदि लक्षण होते हैं।

**ओजःक्षय के कारण**—आघात, धातुक्षय, क्रोध, शोक, चिन्ता, श्रम तथा अनशन से ओज का क्षय होता है।[2]

**ओजःक्षय के लक्षण**—ओज की क्षीणता को तीन अवस्थाओ मे विभक्त कर वर्णन किया गया है। जैसे—ओज के विस्रस होने पर सन्धिविश्लेप, गात्रसाद, दोषच्यवन, क्रियासन्निरोध, ओज के व्यापन्न होने पर स्तब्धगात्रता, गुरुगात्रता, वातजशोथ, वर्णभेद, ग्लानि, तन्द्रा तथा निद्रा, और क्षय होने पर—मूर्च्छा, मासक्षय, मोह, प्रलाप तथा मरण—ये लक्षण तथा विकार होते हैं। इनके अतिरिक्त ओज क्षय मे भय, दौर्बल्य, अभीक्ष्ण ध्यान, इन्द्रियो की व्यथा,

---

१ ( i ) 'दौर्बल्य मुखशोपश्च पाण्डुत्व सदनं श्रम.।
क्लैब्य शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥
( ii ) 'शुक्रक्षये मेढ्वृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेक प्रसेके चाल्परक्त-शुक्र-दर्शनम्।' ( सु० सू० १५ )
( iii ) 'शुक्र चिरात प्रसिच्येत शुक्र शोणितमेव वा।
तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्र धूमायतीव च ॥ ( अ० हृ० सू० ११ )

२ ( i ) अभिघातात्क्षयात् कोपात् शोकाद् ध्यानाच्छ्रमात् क्षुध ।
ओज' सक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनि सृतम् ॥' ( सु० सू० १५ )
( ii ) 'तत्र ( ओजस ) विस्रसो व्यापत् क्षय इति ( त्रयो दोषा ) लिङ्गानि भवन्ति। सन्धिविश्लेषो गात्राणा सदन दोषच्यवन क्रियासन्निरोधश्च विस्रसे, स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मासक्षयो मोह. प्रलापो मरणमिति च क्षये।' ( सु० सू० १५ )
( iii ) 'बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्ण ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्ष. क्षामश्चैवौजस. क्षये ॥' ( च० सू० १७ )

दुग्धायत्व, दुर्मनस्त्व, गात्ररौक्ष्य, क्षामत्व, गात्रविश्लेष, श्रम तथा अज्ञान ये लक्षण होते हैं।

ओज के प्राकृत कर्मों का भी ह्रास ओज क्षय मे हो जाता है।

**रसवृद्धि के लक्षण**—रस जब अपने प्रमाण से शरीर मे अधिक ( वृद्ध ) हो जाता है तो उसके लक्षण श्लेष्मवृद्धि के समान ही होते हैं। जैसे—अग्निमान्द्य, उत्क्लेद, प्रसेक, वमन, आलस्य, गौरव, अवयवो की श्वेतता, शैत्य, अवयवो का शिथिल हो जाना, श्वास, कास, तथा अतिनिद्रा ये लक्षण होते हैं।[1]

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्राय सभी धातुओ की वृद्धि सन्तर्पणजन्य ही होती है। सन्तर्पण मे श्लेष्मा की भी वृद्धि होती है। अत सभी धातुओ की वृद्धि भी श्लेष्मानुगत हो जाती है। और इसके विपरीत अर्थात् अपतर्पण से धातुओ का क्षय होता है परन्तु वायु की वृद्धि होती है। अत. क्षय वायु के अनुगत होता है।[2]

पहले कहा जा चुका है कि शरीर का स्थूल तथा कृश होना रसनिमित्तक ही है अर्थात् रसादि वृद्धि से शरीर अतिस्थूल तथा क्षय से कृश होता है। अत रस-वृद्धि मे वे सभी लक्षण सभव हैं जो स्थौल्य रोग मे होते हैं जैसे—सतत रोगी रहना, मेद के अतिरिक्त अन्य धातुओ का पोषण न होना, मेद का शरीर मे अधिक सचय होना, स्फिक्, उदर तथा स्तन का चलते समय चलना ( हिलना ) शीघ्र जरा का आगमन, कार्यों मे अशक्ति तथा अल्पप्राण होना इत्यादि।

**रक्तवृद्धि के लक्षण**—शरीर मे जब रक्तधातु की वृद्धि होती है तब रक्तवाहिनियो की पूर्णता तथा नेत्र और त्वचा में रक्तिमा—ये लक्षण होते हैं।[3]

अन्य धातुओ के समान रक्त की वृद्धि के भी दो भेद हैं। चय और प्रकोप। दूषित धातुओ की अपने प्रकृति-नियत स्थान पर वृद्धि चय कहलाता है। उन्ही की स्थानान्तर गमन से अन्वित वृद्धि का नाम प्रकोप है। रक्त का प्रकोप दोषो के कारण ही होता है। अत रक्तज विकारो मे प्रवृद्ध दोष और काल को देखकर चिकित्सा करने का आदेश किया गया है।[4]

---

१ ( i ) 'रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेद प्रसेक चापादयति।' ( सु० सू० १५ )
( ii ) श्लेष्मा ( वृद्धो ) ऽग्निसदन प्रसेकालस्यगौरवम्।
श्वैत्य-शैत्य-श्लथाङ्गत्व श्वासकासातिनिद्रता"।
रसोऽपि श्लेष्मवत् ...... ...॥ ( अ० हृ० सू० ११ )

२ सर्वैव हि वृद्धि प्रायोऽतिसन्तर्पणनिमित्तत्वाच्छ्लेष्मणानुगता तद्विपर्ययाच्च क्षयो वायुना।' ( अ० स० सू० १९ )

३. 'रक्त ( वृद्ध ) रक्ताङ्गाक्षिता सिरापूर्णत्व चापादयति।' ( सु० सू० १५ )

४. 'यस्माद् रक्त विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति।
तस्मात्तस्य यथादोष कालं विद्यात्प्रकोपणे॥' ( सु० सू० २१ )

**रक्तप्रकोप के कारण**—क्रोध, शोक, चिन्ता, भय, श्रम, उपवास, दाह, मैथुन, चङ्क्रमण, अग्नि, आतप तथा वायु—इनका अतिसेवन, चोट, तीक्ष्ण, उष्ण, अतिलवण, क्षार, अम्ल, कटु, विदाही, अतिद्रव, गुरुस्निग्ध, प्रकृतिविरुद्ध, मात्राधिक्य, विषम, सड़े-गले पदार्थों का अतिमात्र भक्षण, तिलतैल, पिण्याक ( खली ), कुलथी, माष, लोबिया, सरसों, अलसी, हरितकवर्ग, पिण्डालु, दही, शुक्त, तक्र, कूर्चिका, मस्तु, सौवीरक, नानाप्रकार के मद्य, खट्टे फल, कट्वर, गोह, मत्स्य, बकरी, भेड़ आदि जाङ्गलज, आनूपज, विलेशय तथा प्रसहों के मांस का अतिसेवन, अध्यशन, अजीर्ण, अतिभोजन, भोजनोपरान्त दिवास्वप्न, वमन के वेग का रोकना, समय पर रक्तमोक्षण न करना तथा शरद् ऋतु ये सब रक्तप्रकोप के कारण होते हैं। संक्षेप में पित्त को प्रकुपित करने वाले सभी कारण रक्त का भी प्रकोप करते हैं।[1]

**रक्तप्रकोपजन्य रोग**—मुखपाक, त्वचा-मूत्र तथा नेत्रों में रक्तिमा, नासिका तथा मुख में दुर्गन्ध, रक्तगुल्म, उपकुश, विसर्प, रक्तपित्त, तन्द्रा, विद्रधि, रक्तमेह, रक्तप्रदर, वातरक्त, वैवर्ण्य, कामला, अग्निमान्द्य, पिपासा, गौरव, दाह, अतिदौर्बल्य, अरुचि, शिरःशूल, भुक्तान्न का विदग्ध होकर अम्लभाव तिक्त तथा अम्लोद्गार, श्रम, क्रोधप्राचुर्य, बुद्धिवैकल्य, लवणास्यता, स्वेद, शरीरदौर्गन्ध्य, मद, कम्प, स्वरभंग, निद्रा तथा आलस्य का आधिक्य, तमःप्रवेश, कण्डू, व्रण, कोठ, पिडका, दद्रु, तिल, पामा, रक्तमण्डल, कुष्ठ, चर्मदल प्रभृति त्वग्विकार, मशक, नीलिका, पिप्लु, न्यच्छ, व्यङ्ग ये वर्णविकार, इन्द्रलुप्त, प्लीहा, रक्तार्श, अर्बुद, अङ्गमर्द, गुदपाक, मेढ्रपाक आदि रक्तप्रकोपज विकार हैं।[2]

---

१ (१) 'क्रोध शोक-भयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहि तिलतैल पिण्याक-कुलत्थसर्षपातसीहरितक-शाक-गोधामत्स्याजाविकमांस-दधि-तक्र-कूर्चिका मस्तु-सौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते।' ( सु० सू० २१।१२ )

पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते।'

( सु० सू० २१।२५ )

**मांसवृद्धि के लक्षण**—मांसधातु की अतिवृद्धि से नितम्ब, गाल, ओष्ठ, शिश्न, जाँघ, बाहु, पिण्डली इन अवयवों की स्थूलता तथा शरीर में गौरव उत्पन्न होता है।[1]

मांसधातु की वृद्धि से अधिमांस, अर्बुद, कील, (अर्शोंकुर), अधिजिह्वा, उपजिह्वा, उपकुश, गल-शालूक, गल-शुण्डिका, अलजी, मांससंघात, ओष्ठप्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला तथा मांस में दुर्गन्ध आदि उत्पन्न होते हैं।[2]

**मेद की वृद्धि के लक्षण**—मेदो धातु की अतिवृद्धि से अङ्गों में स्निग्धता, उदर तथा पार्श्वों की वृद्धि, कास, श्वास आदि रोग तथा शरीर में दौर्गन्ध्य उत्पन्न होता है।[3]

इनकी वृद्धि से अन्य मेदोज रोग जैसे—मेदोग्रन्थि, मेदोज अण्डग्रन्थि और अन्त्रवृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद, मेदोज ओष्ठप्रकोप, सर्वप्रमेह, मुख्यतः मधुमेह, अति-स्थौल्य तथा स्थौल्य रोग के अन्य विकार उत्पन्न होते हैं।[4]

**मेदोज रोग के कारण**—अव्यायाम, दिवास्वप्न, मेदुर अन्नपान के अति-सेवन से मेदोवह स्रोत दूषित होकर मेदोज रोग उत्पन्न होते हैं।[5]

**अस्थिवृद्धि के लक्षण**—अस्थिधातु की वृद्धि होने पर अध्यस्थि अथवा अस्थ्यर्बुद, अधिदन्त तथा केश और नख की अतिवृद्धि ये लक्षण होते हैं।[6]

---

विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं भ्रमः।
क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता॥
स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः।
तन्द्रा निद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम्॥
कण्ड्वरुःकोठपिटका कुष्ठचर्मदलादयः।
विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः॥ (च० सू० २४)

१ 'मांसम् (अतिवृद्धं) स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्घासुवृद्धिं गुरुगात्रतां चापादयति।' (सु० सू० १५)

२. 'अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपकुशगलशुण्डिकालजीमांस-संघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्ड-मालाप्रभृतयो मांसदोषजाः।' (सु० सू० २४)

३ मेदः (अतिवृद्धं) स्निग्धाङ्गतामुदर-पार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यं च। (सु० सू० १५)

४ 'ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदो-दोषजाः।' (सु० सू० २४)

५ 'अव्यायामाद् दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिसेवनात्।
मेदोवहानि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्॥' (च० वि० ५)

६ (१) 'अस्थि (अतिवृद्धम्) अध्यस्थीनधिदन्तांश्च (आपादयति)।' (सु०सू० १५)
'चकारात्केशनखयोरतिवृद्धिः' (डल्हण)

इनके अतिरिक्त अस्थिधातुज विकार जैसे अस्थिभेद अस्थिशूल, वैवर्ण्य केश, लोम, नख तथा श्मश्रु के विकार उत्पन्न होते हैं।

**मज्जावृद्धि के लक्षण**—मज्जाधातु के अधिक बढने से सर्वांग मे विशेषकर नेत्र मे गौरव अनुभव होता है।[1] इनके अतिरिक्त मज्जप्रदोषज विकार भी हो सकते हैं जैसे तमोदर्शन, मूर्च्छा, भ्रम, अस्थियो के पर्वो पर विशाल व्रण इत्यादि।

मज्जादोषज विकार मज्जावह स्रोतो की दुष्टि से भी होता है। मज्जा-वह स्रोत—उत्पेषण, अभिघात, पीडन, शोथ अथवा विषम आहार के सेवन से दूषित होती है।

**शुक्रवृद्धि के लक्षण**—शुक्र की अतिवृद्धि होने से शुक्राश्मरी तथा शुक्र की अतिप्रवृत्ति होती है। शुक्रवृद्धि से शुक्रप्रदोषज विकार भी सभव है। जैसे—शुक्राश्मरी, शुक्रमेह आदि।[2]

रस-रक्तादि धातुओ की वृद्धि के जो लक्षण शास्त्रो मे वर्णित है उन पर विचार करने से यही धारणा सिद्ध होती है कि ये धातुओ की वृद्धि के लक्षण प्रकृत वृद्धि के नही हैं। ये विकृतवृद्धि के ही लक्षण हैं। यो तो शरीर धातुओ की वृद्धि अर्थात् उचित प्रमाण से उनका शरीर मे अधिक उत्पन्न होना भी विकार ही है। परन्तु पूर्वोक्त धात्वग्नियो की मन्दता से धातुओ की वृद्धि भी विकृत वृद्धि का ही सूचक है क्योकि धात्वग्नियो की दुर्बलता से आमधातु का ही निर्माण संभव है। धात्वग्नियो की दुर्बलता भी पाचकाग्नि के सहकार की मात्रा पर निर्भर है।[3]

---

(ii) अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेद॰ शूल विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजा ॥ (च० सू० २८)

१ (i) मज्जा (अतिवृद्ध) सर्वांगनेत्रगौरव च (आपादयति) (सु० सू० १५)
(ii) च० सू० २८, सु० सू० २४

२ (i) शुक्र (अतिवृद्ध) शुक्राश्मरी अतिप्रादुर्भाव च (आपादयति) (सु०सू०१५)
(ii) च० सू० २८, सु० सू० अ० २४,

३ ये पाचकांशा धातुस्थास्तेषा मान्द्यातितैक्ष्ण्यत।
वृद्धि क्षयश्च धातूना जायते शृणु चापरम् ॥
पारम्पर्येऽपि दावाग्नेस्तत्तत्प्राप्त्येन्धन शिखा।
वृद्धिक्षयौ यथा याति तथा धातुपरम्परा ॥
द्रव्य तुल्य विशिष्ट हि स्व स्व वृद्धयै क्षयाय च।
प्रत्यात्मबीज नियत भृशमाशु प्रजायते ॥ (अ० स० सू० १९)

**मलों की वृद्धि तथा क्षय**—शरीर के स्वास्थ्य के लिए मलो का साम्य भी आवश्यक है अत मलो के क्षय तथा वृद्धि का ज्ञान चिकित्सको को अवश्य होना चाहिए।

**पुरीषक्षय के लक्षण**—पुरीष के क्षय होने पर अन्त्र, हृदय प्रदेश तथा पार्श्वों मे पीडा, गड़गड़ाहट के साथ वायु का उदर मे ऊपर नीचे तथा तिर्यग् गमन और आध्मान ये लक्षण होते हैं।[1]

**पुरीष वृद्धि के लक्षण**—पुरीष की अति वृद्धि से कुक्षिप्रदेश मे शूल, अन्त्र कूजन, आध्मान और शरीर मे भारीपन अनुभव होता है।[2]

**मूत्रक्षय के लक्षण**—मूत्र के क्षीण होने पर वस्तितोद, मूत्र की कमी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्र के वर्ण मे परिवर्त्तन, अतितृषा तथा मुख का सूखना ये लक्षण होते है।[3]

**मूत्रवृद्धि के लक्षण**—शरीर मे मूत्र की मात्रा के अधिक होने से मूत्र का आधिक्य, मूत्रस्राव का पुन पुन वेग, वस्तिप्रदेश मे तोद तथा आध्मान ये लक्षण होते है।

पुरीष तथा मूत्र वेग के धारण से जो विकार उत्पन्न होते हैं वे पुरीष तथा मूत्र की वृद्धि मे भी सभव हैं। जैसे—

पुरीष वेग विधारण से, पक्वाशय तथा शिर मे शूल, अधोवात तथा मल की अप्रवृत्ति, पिण्डिकोद्वेष्टन तथा आध्मान ये लक्षण होते हैं।

मूत्रवेग धारण से—वस्ति तथा मेहन (शिश्न) मे शूल पीडा, मूत्रकृच्छ्र, शिर शूल, शरीर का झुकना (विनाम), वक्षण का जकड जाना तथा आनाह ये लक्षण होते हैं।[4]

**स्वेदक्षय के लक्षण**—स्वेद (स्वेद ग्रन्थियो तथा मेदाग्रन्थियो के स्राव के)

---

१ (i) पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीडा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमन कुक्षौ सचरण च। (सु० सू० १५)

(ii) क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुत।
रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति॥' च० सू० अ० १७,

(iii) 'पुरीषे वायुरन्त्राणि स शब्दो वेष्टयन्निव।
कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वे पीडयन् भृशम्॥ (अ० हृ० सू० ११)

२ 'पुरीष (अति प्रवृद्ध) आटोप कुक्षौ शूल च (आपादयति) (सु० सू० १५)

३. कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदना शकृत् (अ० हृ० सू० ११)

४ (i) पक्वाशयशिर शूल वातवर्चोऽप्रवर्तनम्।
पिण्डिकोद्वेष्टनमाध्मान पुरीषे स्याद्विधारिते॥

(ii) बस्तिमेहनयो शूल मूत्रकृच्छ्र शिरोरुजा।
विनामो वक्षणानाह स्याल्लिङ्ग मूत्रनिग्रहे। (अ० स० सू० ४)

क्षीण होने पर, रोम कूपो का अवरोध, त्वचा की रूक्षता, त्वचा का फटना, स्पर्श ज्ञान का उचित वोध न होना, तथा रोमपतन ये लक्षण होते हैं।[1]

**स्वेदवृद्धि के लक्षण**—स्वेद की वृद्धि से त्वचा मे दुर्गन्ध और कण्डू उत्पन्न होता है।[2]

**अन्य मलों के क्षय होने पर**—उन मलो का आयतन (आशय) का शून्य प्रतीत होना, हलका प्रतीत होना तथा सुखा हुआ अनुभव होना—ये लक्षण होते हैं।[3]

धातुओ का क्षय दो प्रकार का होता है प्रथम—अनुलोम क्षय तथा द्वितीय प्रतिलोम या विलोम क्षय। रस से प्रारम्भ कर क्रमश धातुओ का क्षय अनुलोम-क्षय तथा इसके विपरीत क्षय को विलोम या प्रतिलोम क्षय कहते हैं।

तीन दोषो, सात धातुओ, ओज, मूत्र, पुरीष और पञ्चेन्द्रियो के मल, इन अट्ठारह के क्षयो को जानने का सामान्य नियम यह है कि इनमे किसी का भी क्षय होने पर क्षीण दोष आदि के प्राकृत गुण तथा क्रिया का ह्रास या लोप हो जाता है।[4]

**रसादि के क्षय के सामान्य उपचार**—दोष, धातु, मल और वल (ओज) के क्षय हो जाने पर सामान्य उपचार यह है कि ऐसे आहार-विहार का सेवन किया जाय कि जिससे शरीर मे क्षीण हुए दोषादि के योनि (उत्पादक कारण) की वृद्धि होवे। ऐसे द्रव्य तीन प्रकार के हो सकते हैं। समान, समान-गुण तथा समानगुणभूयिष्ठ।[5]

इति द्वितीय अध्याय

---

१. (i) 'स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोष, स्पर्शवैगुण्य स्वेदनाशश्च।' (सु०सू० १५)
(ii) स्वेदे रोमच्युति. स्तब्धरोमता स्फुटन त्वच.। (अ हृ सू ११)

२. 'स्वेद (अतिवृद्धः) त्वचो दौर्गन्ध्य कण्डू च (अपादयति) (सु० सू० १५)

३ (i) मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च।
विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्व मलसक्षये॥ (च० सू० १७)
(ii) अ० हृ० सू० ११

४. (i) 'दोषाणा धातूनामोजोमूत्रशकृदिन्द्रियमलानाम्।
अष्टादश क्षयास्ते लक्ष्या स्वगुणक्रियानाशात्॥'
(च० सू० १७-६३ पर चक्रपाणि)
(ii) 'क्षीणा जहति स्वं लिङ्गम्' (च० सू० १७)

५-(i) 'तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोग' प्रतिकार'।' (सु० सू० १५)
(ii) 'दोषधातुमलक्षीणो वलक्षीणोऽपि वा नर.।
स्वयोनिवर्द्धन यत्तदन्नपान प्रकाङ्क्षति॥
यद्यदाहारजात तु क्षीण' प्रार्थयते नर.।
तस्य तस्य स लाभे तु त त क्षयमपोहति॥ (सु० सू० १५)

# तृतीय अध्याय

**स्रोतोदुष्टि तथा रोगोत्पत्ति**—शरीर-व्यापार तथा शरीर को स्वस्थ ( आरोग्य ) रखने में जो स्थान वात, पित्त, कफ तथा इनके साम्य का है वही स्थान स्रोतों का भी है। शारीर-शास्त्र के अध्ययन से यह विदित होता है कि चतुर्विध-आहार, रस-रक्तादि धातु, तीनों दोष, नानाविध मल तथा प्राण आदि का वहन करने का कार्य स्रोतों का है। स्रोतों द्वारा ही चतुर्विध ( अशित, पीत, लीढ, खादित ) अन्न अन्नविपाक नाली में पहुँचता है जहाँ उसका अवस्थापाक होता है और उससे अन्नरस तैयार होता है। पुन स्रोतों के द्वारा ही रस का संवहन होता है जिससे शरीर के सभी धातुओं का पोषण तथा सम्वर्द्धन होता है। स्रोतों द्वारा ही शरीर में उत्पन्न मल शरीर से बहिर्निष्कासित होते हैं तथा स्रोतों द्वारा ही धातूपादान प्रवाहित हो तत्तद् धातुओं में पहुँचता है जिससे उनका धात्वग्नियों द्वारा परिपाक होता है तथा परिपक्व सार भाग स्रोतों द्वारा ही धातुओं का पोषण करते हैं। स्रोतों द्वारा ही प्राणसंज्ञक वायु का वहन होता है और उससे शरीर का लाभ पहुँचता है। ये स्रोत ही विषयों अर्थात् संज्ञाओं के वेगों को तथा मन अर्थात् चेष्टाओं के वेगों को यथारूप वहन कर शरीर को अनुगृहीत करते हैं।[1]

शरीर में किसी भी शारीर-द्रव्य की उत्पत्ति स्रोतों के बिना नहीं हो सकती तथा उनका क्षय भी स्रोतों के बिना असम्भव है। उपभोग किये हुए द्रव्यों के समान तथा विशेष गुण कर्मों का प्रभाव स्रोतों द्वारा ही उनके सम्पर्क में आने पर परिलक्षित होता है। ये स्रोत जब तक प्रकृत अवस्था में रहते हैं तब तक शरीर में रोगोत्पत्ति नहीं होती है। जब इन स्रोतों में वैगुण्य उत्पन्न होता है तब स्रोतोवैगुण्य होने से रोगोत्पत्ति होती है।[2]

---

१. ( i ) सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाऽपि अभिगच्छन्ति।' ( च० वि० ५।३ )

( ii ) 'तदेतत् स्रोतसा प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्। (च०वि० ५।७)

( iii ) 'स्रोतसां च यथास्वेन धातु पुष्यति धातुत।' ( च० चि० ८ )

२ ( i ) × × × अहितसेवनात्। 'तानि दुष्टानि रोगाय, विशुद्धानि सुखाय च।' ( अ० हृ० शा० ३ )

( ii ) सुखाय—आरोग्याय × ×। अरुणदत्त

( iii ) × × × तेषां ( स्रोतसां ) प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातव प्रकोपमापद्यन्ते, इतरेषां प्रकोपादितराणि च। स्रोतांसि स्रोतांस्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टा। तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माण प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादिति।' ( च० वि० ५ )

स्रोतो के अविकृत (स्वस्थ) रहने पर दोष, धातु और मल की पुष्टि यथायोग्य सम्यक् प्रकार से होती रहती है तथा उनका साम्य भी बना रहता है। फलस्वरूप शरीर भी स्वस्थ रहता है। परन्तु जब ये विकृत हो जाते हैं तब इनमे वहन करने वाला दोष, धातु, मल तथा वाह्यद्रव्य आदि भी विकृत हो जाते हैं जिससे शरीर मे नानाविध रोगो की उत्पत्ति होती है।[1]

ये स्रोत विकृत होकर केवल धातुओ को ही प्रकुपित नही करते अपितु अपने निकटवर्त्ती अन्य स्रोतो को भी दूषित कर तत्स्थानीय रोग उत्पन्न करते है। इसी प्रकार धातुएँ भी दूषित होकर धातुओ और स्रोतो को दूषित कर रोगोत्पत्ति करते हैं। धातुओ की दुष्टि प्रकुपित दोषो से होती है, स्रोतो की दुष्टि का भी कारण प्रकुपित दोष ही है। जो आहार-विहार दोषो तथा धातुओं को प्रकुपित करते है वे ही स्रोतो को भी दुष्ट करते हैं[2]

**दूषित स्रोतों से रोगोत्पत्ति**—व्याधि की सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपने-अपने प्रकोपणो से प्रकुपित दोष जब शरीर मे परिधावन करते हैं तो स्रोतो के वैगुण्यवश जहाँ इनका सङ्ग (अवरोध) होता है वहाँ व्याधि को उत्पन्न करते हैं। इस तथ्य को मेघ का उदाहरण देकर भी समझाया गया है।[3]

**स्रोतों की परिभाषा तथा स्रोत से ग्राह्य शारीर भाव**—दृश्य तथा अदृश्य उन शरीरावयवो को स्रोत कहते हैं जो आकाश महाभूत के वैशिष्ट्य से अन्दर से अवकाशयुक्त हो तथा उत्तरोत्तर परिवर्त्तनशील धातुओ, दोषो, मलो,

---

१ (i) 'ते चावकाशा प्रकुपिता स्थानस्थान् मार्गस्थाश्च धातून् प्रकोपयन्ति। तेऽपि तान् स्रोतांसि च। स्रोतांसि धातवश्च धातून्। तेषां सर्वेषामेव दूषयितारो दुष्टा दोषा।' (अ० स० शा० ६)

२ (i) 'आहारश्च विहारश्च य स्याद् दोषगुणै सम।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसा स प्रदूषक ॥ (च० वि० ५)

(ii) × × × 'स्रोतांसि धातवश्च दुष्टा' प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोषसंक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थ। दोषस्वभावादिति दोषाणामेवाय स्वभावो यद् दूषकत्वम्, न धात्वन्तराणा, तेन धातुना दुष्टिर्धातुदुष्टिर्धातुगतदोषकृतैव ज्ञेया। (चक्रपाणि—च० वि० ५)

३ (i) कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्ग खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।' (सु० सू० २४)

(ii) क्षिप्यमाण खवैगुण्याद् रस सज्जति यत्र स.।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयद ॥ (च० चि० १५)

(iii) 'स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमागता.।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातव. ॥' (च० चि० ८)

अन्न, जल, शब्दादि, विषय तथा मन प्रभृति का स्रवण अर्थात् अभिवहन करते हों, उन्हें शरीर में एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचाते हों। इस स्रवण (अभिवहन) के कारण ही इन्हें स्रोत कहते हैं। स्रु—गतौक्षरणे धातु से स्रोत शब्द निष्पन्न होता है।

स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाडी, पथ, मार्ग, ख, छिद्र, संवृतासंवृत, स्थान, आशय, निकेत ये सब इन स्रोतों के ही सामान्य नाम हैं।[1]

यहाँ इस तथ्य पर ध्यान रखना आवश्यक है कि सिरा, धमनी आदि का विशेष अर्थ में भी प्रयोग शास्त्रों में है। परन्तु यहाँ दोषों तथा रक्तादि के संवहन करने के कारण इन्हें सामान्य अर्थ में स्रोत कहा गया है। वस्तुत में अयन (मार्ग) के अर्थ में स्रोत का विशेष प्रयोग हुआ है। आशय आदि अवकाशयुक्त अवयवों को भी स्रोत कहा गया है। जैसे महास्रोत से तद्गत सभी अवयवों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार नासा, कर्ण, मुख आदि अवयवों के अवकाश का भी नाम स्रोत है, जैसे नासास्रोत आदि। इनके अतिरिक्त अनेक अलक्ष्य (अदृश्य) स्रोत भी हैं।[2] (विशेष वर्णन परिशिष्ट में देखें)।

**स्रोतों का स्वरूप**—स्रोतों का वर्ण उनमें वहन करने वाला द्रव्य (धात्वादि) के समान होता है। ये अन्दर से अवकाशयुक्त अर्थात् पोले, वृत्ताकार

---

१ (i) 'स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति।' (च० वि० ५।९)

(ii) 'आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः ··· ·· ·॥'
(सु० शा० ९।३ पर डल्हणोद्धृत तन्त्रान्तरवचन)

(iii) × × × स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन।' (च० वि० ५)

(iv) 'मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस् तदिति विज्ञेयं सिराधमनीवर्जितम्॥' सु० शा० ९)
स्रोतस्—न० स्रु+तसि। वेगेन स्रवतो जलस्य सरणे, रेतसि, शरीरस्य छिद्रे च। (शब्दस्तोम)

२ (i) 'स्रवणात् स्रोतांसि ··· ··· ·।' (च० सू० ३०)

(ii) 'कर्मवैशेष्यात् × × ×।' (सु० शा० ९)
कर्मवैशेष्यं विशिष्टकर्मकर्तृत्वं च, तच्च तृतीयभेदकरणम्। तद्यथा—कर्मणामप्रतिघातम् (सु० शा० ७) इत्यादिनोक्तं सिराणां कर्मवैशेष्यं, शब्दरूपरसगन्धवहत्वादिकं धमनीनां, प्राणान्नवारिरसशोणितमांसमेदोवाहित्वं स्रोतसाम्। (डल्हण)

( नलिकाकृति ), कोई चौड़े, कोई पतले, कोई लम्बे और कोई लताओ के समान शाखा-प्रशाखाओ से युक्त होते हैं।[1] यहाँ इस वात का ध्यान रखे कि यह वर्णन लक्ष्य स्रोतो का ही है अलक्ष्य का नही।

**स्रोतों की संख्या**—यो तो स्रोत असख्य हैं परन्तु कायचिकित्सको ने तथा शल्यतन्त्रविदो ने इनकी कुछ सख्याओ का वर्णन व्यवहार सौकर्य की दृष्टि से किया है। जैसे—कायचिकित्सको ने मुख्य तेरह स्रोतो का वर्णन किया है परन्तु शल्यतन्त्रविदो ने ग्यारह युग्मो अर्थात् वाइस स्रोतो का वर्णन किया है।[2]

इन उभयविध स्रोतो के भी प्रथम दो भेद है ( १ ) वहिर्मुख स्रोत और ( २ ) अन्तर्मुखस्रोत। इनमें दो नासिकास्रोत, दो नेत्रस्रोत, दो कर्णस्रोत, मुखस्रोत, गुदस्रोत तथा मूत्र प्रसेक ( स्रोत ) इन नौ दृश्यस्रोतो को तथा स्त्रियो में दो स्तन तथा एक योनिमार्ग सहित १२ स्रोतो को वहिर्मुख स्रोत कहते हैं। इन उर्युक्त नौ स्रोतो को 'नवद्वार' भी-कहा है।

**कायचिकित्सोक्त तेरह स्रोत—**

| नाम | | मूलस्थान |
|---|---|---|
| १ प्राणवहस्रोत | का मूल | हृदय तथा महास्रोत |
| २. उदकवहस्रोत | ,, | तालु और क्लोम |
| ३ अन्नवहस्रोत | ,, | आमाशय और वाम पार्श्व |
| ४ रसवहस्रोत | ,, | हृदय तथा दश धमनियाँ |
| ५ रुधिरवहस्रोत | ,, | यकृत् और प्लीहा |
| ६ मासवहस्रोत | ,, | स्नायु और त्वक् |

---

1 'स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥' ( च० वि० ५ )

2 ( i ) 'अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति, सर्वगतत्वात् सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्। न त्वेतदेवं, यस्य हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति, यच्चावहन्ति, यत्र चावहन्ति, सर्वं तदन्यत्तेभ्य। अतिबहुत्वात्खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये।' ( च० वि० ५ )

( ii ) 'तथाऽपराणि अन्य स्रोतांसि जीवितायतनानि त्रयोदशप्राणोदकान्नधातुमलानामायतनानि।' ( अ० स० शा० ६ )

( iii ) × × × तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तववहानि, येष्वधिकार। एकेषां बहूनि, एतेषां विशेषेण बहव। ( सु० शा० ९ )

( iv ) नव स्रोतांसि × × × द्वाविंशतिर्योगवहानि तानि स्रोतांसि तत्र कर्णौ, नेत्रे, नासापुटौ, मुखं, पायुर्मेढ्रं योऽन्यानि च त्रीणि स्त्रीणां स्तनावपत्यपथश्च। ( अ० स० शा० ६ )

| | | |
|---|---|---|
| ७ मेदोवहस्रोत | का मूल | वृक्क ( दोनो ) और वपावहन |
| ८ अस्थिवहस्रोत | ,, | मेद और जघन |
| ९ मज्जवहस्रोत | ,, | अस्थि और सन्धियाँ |
| १०. शुक्रवहस्रोत | ,, | दोनो वृषण और शेफ |
| ११ मूत्रवहस्रोत | ,, | वस्ति और वक्षण |
| १२. पुरीषवहस्रोत | ,, | पक्वाशय और स्थूलगुद |
| १३ स्वेदवहस्रोत | ,, | मेद और रोमकूपें । |

स्रोतो के असंख्य होते हुए भी उनके प्रकोप अर्थात् दोषजन्य दुष्टि के स्पष्टीकरण के लिए १३ स्रोतो और उनके मूलस्थानो ( उत्पत्तिस्थानो ) तथा प्रकोप के लक्षण यहाँ बताए गये हैं । अल्पबुद्धि-वैद्यो के व्यवहार के लिए इतने ही पर्याप्त हैं । क्योंकि इतने ही स्रोतो की दुष्टि के लक्षण प्राय लोक मे देखे जाते हैं। बुद्धिमान् वैद्य इन तेरह की दुष्टि से ही अन्य अनुक्त स्रोतो की दुष्टि का भी अनुमान सरलता से कर सकते हैं। ये तेरह स्रोत जीवन अर्थात् प्राणो का विशेष आश्रय होने से 'जीवायतन' कहलाते है। इन को अन्तर्मुख स्रोत तथा योगवहस्रोत भी कहते हैं। ये सभी उक्त तथा अनुक्तस्रोत वात-पित्त-कफ के स्रोत हैं। अर्थात् वात-पित्त-कफ सर्व स्रोतोचर हैं। सत्व, रज, तम तथा मन, केश, नख आदि अचेतन भागो को छोडकर शेष सम्पूर्ण चेतन शरीर मे विचरते हैं। दोष तो इनमे भी विचरते हैं।[1]

### शल्यतन्त्रोक्त २२ स्रोत

| | संख्या | मूलस्थान |
|---|---|---|
| १ प्राणवहस्रोत | २ | हृदय और रसवाहिनी धमनियाँ |
| २. अन्नवहस्रोत | २ | आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ |
| ३ उदकवहस्रोत | २ | तालु और क्लोम |
| ४ रक्तवहस्रोत | २ | यकृत्, प्लीहा और रक्तवाही धमनियाँ |
| ५ मासवहस्रोत | २ | स्नायु, त्वचा और रक्तवाही धमनियाँ |
| ६ मेदोवहस्रोत | २ | कटि और दोनो वृक्क |
| ७ मूत्रवहस्रोत | २ | वस्ति और मेढ्र |
| ८ पुरीषवहस्रोत | २ | पक्वाशय और गुद |
| ९ शुक्रवहस्रोत | २ | दोनो स्तन और दोनो वृषण |
| १०. आर्त्तववहस्रोत | २ | गर्भाशय और आर्त्तव वह धमनियाँ |
| ११ रसवहस्रोत | २ | हृदय और रसवाहिनी धमनियाँ |

१ 'तेषा तु खलु स्रोतसा यथास्थूल कतिचित्प्रकारान् मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्याम । ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय ज्ञानवता, विज्ञानाय चाज्ञानवताम् ।

स्रोतो की संख्या अधिक होते हुए भी उनमे जिनके मूल अर्थात् हृदय, पक्वाशय आदि स्थानो का वेध होने से गम्भीर लक्षणो की उत्पत्ति होने की सम्भावना होती है ऐसे ग्यारह स्रोतो के युग्म शल्य शास्त्र मे विशेष रूप से उपदिष्ट है ।[1]

**शरीर की पुष्टि मे स्रोतों तथा उनके मुखों का स्थान**— प्रसाद और मलसंज्ञक शरीरावयवो का पोषण उनके अपने-अपने स्रोतो और उनके मुखो ( छिद्रो ) द्वारा आहाररस और मल अंश के प्राप्त होने से होता है । जब दोषों के कारण इनकी विकृति हो जाती है तब उन अवयवो की यथावत् पुष्टि नही होती । इस अर्थ मे स्रोत शब्द से केशिकाओ का ग्रहण प्रतीत होता है ।[2]

**स्रोतों की दुष्टि का सामान्य लक्षण**— सभी स्रोतो की दुष्टि के सामान्य लक्षण शास्त्रो मे इस प्रकार प्रतिपादित हैं, जैसे—वाह्यद्रव्यो की अतिप्रवृत्ति अर्थात् अधिक वेग से या अधिक मात्रा से गति और वाह्यद्रव्य यदि मलमूत्र हो तो उसकी अधिक मात्रा मे अथवा अधिक संख्या मे निवृत्ति ( निर्गमन ), अथवा वाह्यद्रव्य का सङ्ग ( अप्रवृत्ति, विवन्ध ), सिराओ की ग्रन्थि; वाह्यद्रव्य का विपरीत मार्ग से गमन अर्थात् उनकी प्रतिलोम गति या तिर्यग् गति अर्थात् अन्य द्रव्य के मार्ग मे गति, जैसे- -मूत्रमार्ग मे पुरीष की गति आदि ।[3]

**स्रोत तथा आशय**—दोषादि के अधिष्ठान अर्थात् दोषादि विशेषरूप से जिन अवयवो मे रहते है उन्हे 'आशय' कहते है । शास्त्रो मे वाताशय, पित्ताशय,

---

तद्यथा—प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति । वात-पित्त-श्लेष्मणा पुन सर्वशरीरचराणा सर्वाणि स्रोतास्ययनभूतानि । तद्वदतीन्द्रियाणा पुन सत्वादीना केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतञ्च । ( च० वि० ५ )

'चेतनावच्छरीरमित्यनेनाचेतनकेशनखादिप्रदेश सत्वादिगमने निषेधयति । दोषास्तु तत्रापि यान्तीति ।' ( चक्रपाणि )

१ 'अत ऊर्ध्वं स्रोतसा मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्याम । तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमास-मेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकार, एकेषा वहूनि, एतेषा विशेषवहव ×  ×  × ' ॥ सु० शा० ९ )

२ 'तेषान्तु मलप्रसादाख्याना धातूना स्रोतास्ययनमुखानि तानि यथाविभागेन यथास्व धातूनाप्याययन्ति ।' ( च० सू० २८ )

'अयनानि च तानि मुखानि चेत्ययनमुखानि, अत्रायन्त्यनेनेत्ययनानि मार्गाणि, मुखानि तु यै प्रविशन्ति ।' ( चक्रपाणि )

३ 'अतिप्रवृत्ति सङ्गो वा सिराणा ग्रन्थयोऽपि वा ।
विमार्गगमन चापि स्रोतसा दुष्टिलक्षणम् ॥'

'× × × अतिप्रवृत्तिरिह स्रोतोगतस्य स्वाभाविकबोधव्या एव सङ्गोऽपि स्वाभाविकस्यैव । विमार्गगमन च स्वाभाविकस्य स्वमार्गपरित्यागेनान्यमार्गगमनमिति ।' ( चक्रपाणि )

कफाशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय इन सात आशयो का वर्णन उपलब्ध होता है। स्त्रियो मे आठवाँ गर्भाशय होता है। स्रोत भी आशय हैं। अतः स्रोतो और आशयो का क्या सम्बन्ध है यह जानना आवश्यक है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि फुफ्फुस, वृहदन्त्रादि नामत निर्दिष्ट अवयव स्रोत से भिन्न ही हैं यह तथ्य नही। जैसे फुफ्फुस प्राणवह स्रोतो का समुदाय अथवा मुख्य रूप मे प्राणवह स्रोत ही है। इसी प्रकार क्षुद्रान्त्र, वृहदन्त्र, उण्डुक, उत्तरगुद, अधरगुद, आमाशय, ग्रहणी पक्वाशय आदि महास्रोत के ही अवयव ( भाग ) हैं। प्राणादि का वहन करने वाला होने से—स्रवणरूप विशिष्ट क्रिया के कारण फुफ्फुसादि को स्रोतो मे ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार वहुधा अन्य आशय भी विभिन्न नाम से निर्दिष्ट स्रोत से पृथक् नही, जैसे श्लेष्माशय फुफ्फुस ही है क्योंकि इनमें श्लेष्मा विशेषरूप से रहता है। आमाशय को भी श्लेष्माशय कहा गया है तथा उनके अधोभाग को पित्ताशय कहा है जो महास्रोत के ही अवयव है। वृहदन्त्र को पक्वाशय तथा यकृत् प्लीहा को रक्ताशय कहा है। ये भी महास्रोत के अवयव तथा रक्तवह स्रोत के मूलस्थान हैं इत्यादि।[1]

स्रोतो के वर्णनो पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर के सूक्ष्मतम से ले लेकर स्थूलतम दोष, धातु, मल तथा अन्न को प्रवहन करने वाले सभी अयनभूत नलियो को अर्थात् सूक्ष्म केशिकाओ ( Capilaries ) तक को भी 'स्रोत' शब्द से संज्ञित किया गया है। स्रोत के मूलार्थ अर्थात् 'स्रवण' से अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव मार्ग भी स्रोत के अन्दर गृहीत हो जाते हैं। इसी प्रकार स्वेदवह स्रोत से स्वेदग्रन्थियो तथा स्वेद-प्रणालियो दोनो का ग्रहण होता है।

स्रोत के वर्णनो मे अयन, अयनमुख, शरीरच्छिद्र, स्थान तथा निकेत आदि शब्द भी पर्यायरूप मे कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त इनके मूलस्थानो के वर्णन पर विचार करने से भी उक्त तथ्य का समर्थन होता है। स्रोतो के सामान्य दुष्टि का वर्णन भी इसी तथ्य का समर्थक है।

धात्वग्निपाक के वर्णन मे भी कहा है कि अपने-अपने अग्नियो ( धात्वग्नियो ) से तत्तद् धातुओ अर्थात् धातूपादानो के परिपाक होने के वाद स्रोतोद्वार से ही तत्, तद् धातुओ का पोषण होता है।[2] यहाँ भी स्रोत शब्द से उन

---

१ आशयास्तु—वाताशय पित्ताशय श्लेष्माशयो रक्ताशय आमाशय पक्वाशयो-मूत्राशय स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति।' ( सु० शा० ५ )

२ यथा स्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुत ॥ ( च० चि० ८ )
'ऊष्मणा स्वाग्न्यादिरूपेण त्रयोदशविधेन।' ( चक्रपाणि )

मार्गों या मार्गमुखों का संकेत होता है, जिनसे स्रवित रस धातुपाक क्रिया को सम्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार वार्धक्य मे रस धातु की अकर्मण्यता का वर्णन करते हुए यह संकेत किया गया है कि वृद्धो मे वार्धक्य के उत्पादक हेतुओं मे शरीर परिपक्व हो जाने के कारण रस शरीर की उतनी पुष्टि नहीं करता। उनका जीवन स्थिर रहे इतनी ही अल्पमात्रा मे शरीरपुष्टि रसधातु द्वारा होती है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि वृद्धो मे रसवह स्रोतो के अवस्था दोष जनित वैगुण्य के कारण रस का अयन ( वहन ) ही अल्प होता है। परिणाम स्वरूप धातुओं का पोषण यथावत् नही हो पाता जिससे उनके प्राकृत कर्मों का भी उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है। यह स्रोतोवैगुण्य केवल वार्धक्य की उत्पत्ति मे ही कारण नही होता, रोगोत्पत्ति का कारण भी यही है।

**स्रोतोदुष्टि**—स्रोतोदुष्टि का सामान्य संकेत पहले कर चुके हैं। पुन. उनका विस्तारपूर्वक यहाँ वर्णन किया जाता है।

मानव-शरीर मे अहर्निश होने वाले व्यापारो पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि इस शरीर के व्यापार को सम्यक् सञ्चालित होते रहने के लिए कुछ पदार्थों ( द्रव्यो ) को बाहर से देना पडता है। यह पदार्थ या द्रव्य आहार कहलाता है। यह आहार द्रव्य विविध प्रकार का होता है। कुछ आहार द्रव्य ठोस, कुछ द्रव तथा कुछ वायवीय होता है। ये द्रव्य वहि स्रोतो ( वहिर्मुखस्रोतो ) द्वारा शरीर के भीतर प्रविष्ट होते हैं। इस कार्य को सम्पन्न करनेवाले मुख्यस्रोत नासिका तथा मुख हैं। इनमे अशित, पीत, लीढ, खादित आहार्य द्रव्य मुख द्वारा गृहीत हो अन्ननलिका तथा महास्रोत के अन्य अवयवो द्वारा यथास्थान पाकार्थ, पाकानन्तर आचूषणार्थ पहुँचते हैं। इसी प्रकार नासा द्वारा गृहीत वायव्य आहार द्रव्य ( प्राणद्रव्य ) कण्ठ, क्लोम तथा श्वासप्रणालियो द्वारा यथास्थान पहुँचता है। ये अवयव वे स्रोत हैं जिनके द्वारा बाह्य-आहार द्रव्य शरीर के अन्दर पहुँचता है। इन स्रोतो को 'प्राणवह', 'अन्नवह' तथा 'उदकवह' स्रोत कहा गया है। रस, रक्तादि पोष्य धातुओ के ( अन्त.शरीर मे ) पोषणार्थ अन्नरस का आहार तथा पोषक रसादि उपादान धातुओ के पहुँचने के लिए जो अन्तर्मुखस्रोत हैं उन्हे रसवहस्रोत, रक्तवहस्रोत, मासवहस्रोत, मेदोवहस्रोत, अस्थिवहस्रोत, मज्जवहस्रोत, शुक्रवहस्रोत तथा स्त्रियो मे आर्त्तववहस्रोत ये संज्ञायें दी गई है। पुन महास्रोत मे या जठर मे अवस्थापकजनित तथा उक्तधातुवहस्रोतो मे धातुपाकजनित जो मल निर्मित होते है उनको निष्कासित

[1] 'न एवान्नरसो वृद्धाना ( जरा ) परिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति। ( सु० सू० २४ ) × × × अप्रीणन इति स्पष्ट प्रीणनो भवति, जीवनमात्र करोतीत्यर्थ ।' (डल्हण)

करने के लिए भी असंख्य स्रोत हैं जिनमे प्रधान रूपेण मूत्रवह, पुरीषवह तथा स्वेदवहस्रोत हैं। ये स्रोत शरीर से मल को बाहर निकालते हैं। इस प्रकार इन उपर्युक्त स्रोतो को कर्मविशेषानुसार हम क्रमश इन्हें ( १ ) प्रवेश मार्ग स्वरूपस्रोत ( २ ) प्रवाहन या चलाचल मार्ग रूपस्रोत तथा ( ४ ) बहिर्गमनरूप स्रोत कह सकते हैं। इनमे भी प्रवहन या चलाचलरूप स्रोत अत्यधिक दुर्बोध तथा दुर्लक्ष्य अथवा अलक्ष्य स्रोत है। इनके शाखा, प्रशाखा, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम भेदो का ज्ञान अनुमानगम्य ही है।

इन उपर्युक्त स्रोतो के अतिरिक्त कुछ ऐसे शारीरभाव भी हैं जिनका शरीर मे सदा संवहन होता रहता है पर उनका कोई स्वतन्त्र स्रोत नहीं। जैसे—वात, पित्त, कफ इनका प्रवहनमार्ग सभी स्रोत हैं अर्थात् ये सर्वस्रोतचर हैं। इसी प्रकार सत्व, रज, तम तथा मन एव इन्द्रियो के भी स्रोत जीवित शरीर के सभी चेतन स्रोत हैं अर्थात् केश, नख आदि अवेदन अवयवो को छोड़कर सभी अवयवगत स्रोत इनके स्रोत हैं। इन स्रोतो मे विकृति होने से शरीर विकृत होता है।[1]

**प्राणवहस्रोतों**—का मूल हृदय, महास्रोत तथा रसवाहिनी धमनियाँ कही गई है। इन स्रोतो के विकृत होने पर—अतिसृष्ट अर्थात् अत्यधिक, अतिबद्ध अर्थात् अत्यधिक बँधा हुआ, अत्यन्त कुपित अर्थात् दुष्ट, थोडा-थोडा परन्तु बार-बार ( पुन -पुन ) अतिशीघ्रता से शब्द ( घडघडाहट ) और उर पीडा ( शूल ) के साथ उच्छ्वास ( श्वास का ग्रहण ) तथा नि श्वास होता है। इसके विद्ध होने पर आक्रोशन ( आर्त्तस्वर से रोदन ), विनमन ( शरीर का झुकना ), मोहन ( मोह प्राप्त होना ) भ्रमण ( चक्कर आना ) तथा वेपन ( कम्प ) और मृत्यु होती है।[2]

इन उपर्युक्त वर्णनो से यह स्पष्ट होता है कि प्राणवह स्रोत मुख्य रूप से नासापुट से आरम्भ कर उर कोष्ठ पर्यन्त व्याप्त हैं। अर्थात् गल या कण्ठ देश से प्रारम्भ तरुणास्थिमय श्वास-प्रश्वासवाहिनी की शाखा-प्रशाखायें जो फुफ्फुस के अन्त.शरीर तक फैली हुई है वे सब प्राणवहस्रोत हैं। इनके अतिरिक्त

---

१. ( च० वि० अ० ५-७ )

२ ( I ) 'तत्र प्राणवहाना स्रोतसा हृदय मूल महास्रोतश्च, प्रदुष्टाना तु खल्वेषामिद विशेषविज्ञान भवति, तद्यथा—अतिसृष्टमतिविद्ध प्रकुपितमल्पमल्पमभीक्ष्ण वा स शब्दशूलमुच्छ्वसन्त दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतासि प्रदुष्टानीति विद्यात ॥' ( च० वि० ५ )

( II ) 'तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूल हृदय रसवाहिन्यश्च धमन्य , तत्र विद्धस्याक्रोशन-विनमन-मोहन-भ्रमण-वेपनानि मरण वा भवति ।' ( सु० शा० ९ )

फुफ्फुस से हृदय तक व्याप्त रक्तवाहिनियाँ उनकी शाखा-प्रशाखायें सभी प्राणवह स्रोत ही है प्राणवायु के आदान कर्मद्वारा अन्नग्रहण होने से मुख से प्रारम्भ महास्रोत भी एव प्राणवायु के वहन करने से रक्तवाहिनी धमनियाँ भी प्राणवह-स्रोत के अन्तर्गत गृहीत हुई है।

२ **उदकवहस्रोतों**—का मूल तालु तथा क्लोम माना गया है। इन स्रोतों के दुष्ट होने पर जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ तथा क्लोम सूखने लगता है, पिपासा अत्यधिक लगती है। इनके विद्ध होने पर पिपासा अधिक होती है तथा मनुष्य की शीघ्र मृत्यु होती है।[1]

शरीर-यात्रार्थ मनुष्य जितना जल का उपयोग करता है वह उदकवहस्रोतों द्वारा शरीर के विभिन्न स्थलो मे पहुँचता है और यथावश्यक सचित होता है। शरीर मे दश अञ्जलि उदक का प्रमाण शास्त्रो मे वर्णित है। आयुर्वेदशास्त्र मे तालु तथा क्लोम को पिपासा स्थान माना गया है। उपर्युक्त विकृतियो के वर्णन से तालु तथा क्लोम से जिह्वा, ओष्ठ, कण्ठ आदि का भी ग्रहण हो जाता है। अर्थात् इन स्थानो को आर्द्र ( तर ) रखने के लिए जो स्रोत इन अवयवों मे व्याप्त हैं वे सब उदकवहस्रोत हैं। इनके अतिरिक्त शरीर मे जलसचयार्थ जितने स्रोत हैं वे सब उदकवह स्रोत हैं।

३ **अन्नवहस्रोतों**—का मूल आमाशय, वामपार्श्व तथा अन्नवाहिनी धमनियाँ मानी गई हैं। इनके दुष्ट होने पर अनन्नाभिलाष, अरोचक, अपचन तथा छर्दि ये विकार उत्पन्न होते है, इनके विद्ध होने पर आध्मान, शूल, अन्न-द्वेष, छर्दि, पिपासा, आन्ध्य तथा मरण ये लक्षण होते हैं।[2]

उपर्युक्त वर्णन से अन्नवहस्रोत, मुखकुहर तथा गला से प्रारभ कर आमाशय तक का महास्रोत का भाग प्रतीत होता है। वामपार्श्व से आमाशय पार्श्ववर्त्ति अवयव प्लीहा का ग्रहण कर सकते हैं।

---

१ ( i ) 'उदकवहाना स्रोतसा तालुमूल क्लोम च। प्रदुष्टाना तु खल्वेषामिद विशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोष पिपासा चातिवृद्धा दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्। ( च० वि० ५ )

( ii ) 'उदकवहे द्वे, तयोर्मूल तालुक्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरण च। ( सु० शा० ९ )

२ ( i ) अन्नवहाना स्रोतसामामाशयो मूल वाम च पार्श्वम्। प्रदुष्टाना तु खल्वेषामिद विशेषविज्ञान भवति तद्यथा—अनन्नाभिलाषमरोचकाविपाकौ छर्दि च दृष्ट्वाऽन्नवहान्यस्य स्रोतासि प्रदुष्टानीति विद्यात्। ( च० वि० ५ )

( ii ) 'अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्य, तत्र विद्धस्याध्मान शूलोऽन्नद्वेषश्छर्दि पिपासाऽऽन्ध्य मरण च।' ( सु० शा० ९ )

४. **रसवहस्रोतों**—का मूल हृदय, दश धमनियाँ तथा रसवाहिनी धमनियाँ हैं। इनकी दुष्टि होने पर प्राणवह स्रोतो की विकृति के लक्षण। शोष तथा मरण ये लक्षण होते हैं।[1]

इस उपर्युक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि पक्वाशय या पच्यमानाशय से प्रारम्भ कर हृदय तक गये हुये वे स्रोत जो अन्नरस को तत्तद् धातुओं तक पहुँचाते हैं रसवहस्रोत हैं। अर्थात् वे स्रोत जिनसे पाकानन्तर उत्पन्न अन्नरस आचूषित हो रक्तप्रवाह में या रसप्रवाह में जाता है।

५ **रक्तवहस्रोतों**—का मूल यकृत्, प्लीहा तथा रक्तवाहिनी धमनियाँ हैं। इनकी दुष्टि होने पर अर्थात विद्ध होने पर श्यावाङ्गता, ज्वर, दाह, पाण्डुता, रक्तस्राव तथा रक्तनेत्रता उत्पन्न होती है।[2]

शरीर की सभी रक्तवाहिनियाँ रक्तवहस्रोत हैं। यकृत् तथा प्लीहा इनका प्रभवस्थान है।

६. **मांसवहस्रोतों**—का मूल स्नायु और त्वक् माना गया है। सुश्रुत ने रक्तवाहिनी धमनियो को भी मांसवहस्रोतो का मूल माना है। इनके विद्ध होने पर शोथ, मांसशोष, सिराग्रन्थि तथा मृत्यु होती है।[3]

यहाँ पर स्नायु से मांसाग्र संज्ञक कण्डराओं का ग्रहण करना चाहिए। त्वक् से मांसधरात्वक् का ग्रहण है। मांसवहस्रोत मांसधातु को बहानेवाले स्रोत हैं।

७. **मेदोवहस्रोतों**—का मूल दोनो वृक्क तथा वपावहन और कटि है। इनके विद्ध होने पर स्वेदागमन, स्निग्धाङ्गता, तालुशोष, स्थूलशोफता और पिपासा ये लक्षण होते हैं।[4]

---

१. ( i ) 'रसवहाना स्रोतसा हृदय मूल दश च धमन्य.।' ( च० वि० ५ )
( ii ) 'रसवहे द्वे, तयोर्मूल हृदय रसवाहिन्यश्च धमन्य., तत्र विद्धस्य शोष प्राणवह विद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च।' ( सु० शा० ९ )

२. ( i ) 'शोणितवहाना स्रोतसा यकृन्मूल प्लीहा च।' ( च० वि० ५ )
( ii ) 'रक्तवहे द्वे, तयोर्मूल यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाह' पाण्डुता शोणितागमन रक्तनेत्रता च। ( सु० शा० ९ )

३. ( i ) 'मासवहाना च स्रोतसा स्नायुर्मूल त्वक् च।' ( च० वि० ५ )
( ii ) 'मासवहे द्वे, तयोर्मूल स्नायु त्वक् च रक्तवाहिन्यश्च धमन्य' तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोष सिराग्रन्थयो मरण च।' ( सु० शा० ९ )

४ ( i ) 'मेदोवहाना स्रोतसा वृक्कौ मूल वपावहन च।' ( च० वि० ५ )
( ii ) 'मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटि वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषःस्थूलशोफता पिपासा च।' ( सु० शा० ९ )

मेद धातु को वहन करने वाले स्रोत को मेदोवहस्रोत कहते हैं। वृक्क या वस्ति-शिर पर समस्त दो ग्रन्थियों से अभिप्राय प्रतीत होता है।

८ **अस्थिवहस्रोतों**—का मूल मेद और जघन है।[1] अस्थिधातु को वहन करने वाले स्रोत को अस्थिवहस्रोत कहते हैं।

९ **मज्जवहस्रोतों**—के मूल अस्थियाँ तथा सन्धियाँ हैं।[2]

१० **शुक्रवहस्रोतों**—के मूल दोनों वृषण, स्तन तथा शेफस् हैं।[3] इनके विद्ध होने पर क्लीवता चिरात् शुक्रप्रसेक, रक्तशुक्रता ये लक्षण होते हैं।

नोट—रसादि धातुवहस्रोतों के दुष्ट होने पर वे सभी विकार उत्पन्न होते हैं जो रसदोषज, रक्तदोषज, प्रभृति धातुप्रदोषज विकार वर्णित किये गये हैं।[4]

११ **मूत्रवहस्रोतों**—का मूलवस्ति, दोनों वंक्षण तथा मेढ्र है। इनके दूषित होने पर अत्यधिक, अतिबँधा हुआ (रुक-रुक कर), प्रकुपित (विकृत), थोड़ा-थोड़ा परन्तु बार-बार गाढ़ा, पीड़ा के साथ मूत्रप्रवृत्ति होती है। इनके विद्ध होने पर वस्ति आनद्ध हो जाती है तथा मूत्रनिरोध और स्तब्धमेढ्रता होती है।[5]

मूत्रनिर्मापक सभी स्रोत मूत्रवहस्रोत हैं अर्थात् वस्ति, गवीनी तथा वृक्कगत सभी स्रोत मूत्रवहस्रोत हैं।

१२ **पुरीषवहस्रोतों**—का मूल पक्वाशय तथा स्थूलगुद है। इनके विकृत होने पर कष्टपूर्वक, थोड़ा-थोड़ा शब्द और शूल के साथ अतिद्रव, अतिग्रथित तथा अत्यधिक प्रमाण में पुरीष प्रवृत्ति होती है। इनके विद्ध होने पर आनाह, दुर्गन्धता तथा ग्रथितान्त्रता ये विकार होते हैं।[6]

---

१. 'अस्थिवहानां स्रोतसां मेदोमूलं जघनं च।' (च० वि० ५)

२. 'मज्जवहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च।' (च० वि० ५)

३. (i) 'शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च।' (च० वि० ५)
(ii) 'शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च। तत्र विद्धस्य क्लीवता चिरात्प्रसेको रक्तशुक्रता च।' (सु० शा० ९)

४. 'प्रदुष्टानां तु खल्वेषां रसादिवहस्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि विविधाशितपीतीये, यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं प्रदुष्टानां धातुस्रोतसाम्।' (च० वि० ५)

५ (i) 'मूत्रवहानां स्रोतसां वस्तिर्मूलं वंक्षणौ च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विज्ञानं भवति, तद्यथा—अतिसृष्टमतिविद्धं प्रकुपितमल्पमल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य स्रोतांसि दुष्टानीति विद्यात्।' (च० वि० ५)
(ii) 'मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं वस्तिर्मेढ्रं च, तत्र विद्धस्यानद्धवस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च।' (सु० शा० ९)

६ (i) 'पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदं च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं

पुरीषवहस्रोत से स्थूलान्त्र के सभी भागो का ग्रहण होता है।

१३. **स्वेदवहस्रोतों**—का मूल मेद तथा लोमकूपे हैं। इनके विकृत होने पर स्वेद का अभाव अथवा स्वेदाधिक्य, शरीर-त्वक् मे परुपता, अतिश्लक्ष्णता, परिदाह तथा लोमहर्ष—ये लक्षण होते हैं।[1]

१४ **आर्त्तववहस्रोत**—दो हैं। इनका मूल गर्भाशय तथा आर्त्तववाही धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने पर वन्ध्यात्व, मैथुनासहिष्णुता तथा आर्त्तव नाश हो जाता है।[2]

**विभिन्न स्रोतों की दुष्टि के विभिन्न कारण—**

| नामस्रोत | दुष्टिकारण |
|---|---|
| १. **प्राणवहस्रोत**— | धातुक्षय, वेगसन्धारण, रौक्ष्य, व्यायाम, क्षुधा तथा अन्य दारुणकर्मों से दूषित होते हैं। |
| २ **अम्बुवहस्रोत**— | उष्णता, आमदोष, भय, तृष्णा से अतिपीडन, इन कारणो से दूषित होते हैं। |
| ३ **अन्नवहस्रोत**— | अतिमात्रा मे तथा अकाल में भोजन करने एवं अहित भोजन से यथा अग्नि की विगुणता से दूषित होते हैं। |
| ४ **रसवहस्रोत**— | गुरु, शीत, अतिस्निग्ध तथा अतिमात्रा मे भोजन करने से, समशन से तथा अधिक चिन्ता करने से दूषित होते हैं। |
| ५ **रक्तवहस्रोत**— | विदाही अन्नपान, स्निग्ध-उष्ण तथा द्रव भोजन एव आतप तथा अग्नि के अधिक सेवन से दूषित होते हैं। |
| ६ **मांसवहस्रोत**— | अभिष्यन्दी, स्थूल तथा गुरुभोजन से और भोजन करके दिन में सोने से दूषित होते हैं। |

---

विशेषविज्ञान भवति, तद्यथा—कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दशूलमतिद्रवमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।' (च० वि० ५)

(ii) 'पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च, तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च'। (सु० शा० ९)

१. 'स्वेदवहस्रोतसां मेदोमूलं लो (रो) मकूपाश्च। प्रदुष्टानान्तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्'। (च० वि० ५)

२ 'आर्त्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्त्तववाहिन्यश्च धमन्य, तत्र विद्धाया वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्त्तवनाशश्च'। (सु० शा० ९)

७ **मेदोवहस्रोत**—अव्यायाम, दिवास्वप्न, मेदुरद्रव्यों के अति सेवन से तथा वारुणी के अधिक उपयोग से दूषित होते हैं।

८ **अस्थिवहस्रोत**—व्यायाम, अतिसंक्षोभ तथा अस्थियों के अतिविघट्टन से और वातल आहार-विहार के सेवन से दूषित होते हैं।

९ **मज्जवहस्रोत**—उत्पेषण, अत्यभिष्यन्दी, अभिघात, प्रपीडन, तथा विरुद्ध आहार-विहार के सेवन से दूषित होते हैं।

१० **शुक्रवहस्रोत**—अकाल योनिगमन ( मैथुन ), निग्रह ( अमैथुन ) तथा अतिमैथुन से दूषित होते हैं। इनके अतिरिक्त शस्त्र-क्षार तथा अग्नि के सम्पर्क से भी दूषित होते हैं।

११ **मूत्रवहस्रोत**—मूत्रवेग से पीड़ित होने पर उदक, भक्ष्य तथा स्त्री-सेवन से, मूत्रवेग के निग्रह से तथा क्षीण पुरुष के अनल्प सेवन से दूषित होते हैं।

१२ **पुरीषवहस्रोत**—वेगसन्धारण, अत्यशन, अजीर्ण, अध्यशन से तथा अति दुर्बल होने से तथा कृशता से दूषित होते हैं।

१३ **स्वेदवहस्रोत**—व्यायाम, अतिसन्ताप, क्रमश शीत तथा उष्ण के सेवन से, क्रोध, शोक तथा भय से दूषित होते हैं।[1]

स्रोतो का वर्णन चरकसहिता के स्रोतोविमान मे विस्तारपूर्वक पाया जाता है। सुश्रुत ने भी शारीरस्थान अध्याय नौ मे स्रोतोविद्ध के लक्षणो का वर्णन करते समय स्रोतो का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त सभी आर्षग्रन्थो मे यत्र-तत्र स्रोत शब्द का व्यवहार प्रकीर्णरूप मे उपलब्ध होता है। सभी वर्णनो पर विचार करने से तथा 'स्रोत' शब्द के मूलार्थ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'स्रोत' शब्द सामान्यरूपेण उन सभी प्रणालियो के लिए व्यवहृत हुआ है जो शारीर द्रव्यो को जीवित-शरीर मे अभिवहन करती हैं। इस व्यापक अर्थ के कारण ही सिरा, धमनी आदि सभी स्रोत के पर्याय के रूप मे गृहीत किये गये हैं। जीवित शरीर कहने का यहां यह अभिप्राय है कि अनेक ऐसे भाव भी स्रोतो द्वारा अभिवाहित होते हैं जो मृत शरीर मे नहीं प्राप्त होते, जैसे मनोवहस्रोतो द्वारा मनोगत भाव तथा इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियार्थ का अभिवहन। इसी प्रकार सर्वस्रोतोचर वात-पित्त-कफ का अभिवहन इत्यादि।

स्रोतोविमान के प्रारंभ मे यह प्रतिपादित किया गया है कि पुरुष ( कर्म पुरुष-मनुष्य ) मे जितने ही मूर्त्तिमान् भाव हैं उतने ही उसमे स्रोतो के प्रकारा-

---

१ ( च० वि० अ० ५—श्लोक १० से २० तक )

वे भेद भी हैं। मानव शरीर मे ऐसे कोई भाव नहीं जो स्रोतो के विना उत्पन्न हुए हो, अथवा स्रोतो के विना उनका क्षय हुआ हो। मानव शरीर मे उत्तरोत्तर परिणाम को प्राप्त होने वाले अर्थात् परिवर्तन होते रहने वाले धातुओ को वहन करने वाले अयन (वहन या मार्ग) के अर्थ मे स्रोतो का प्रयोग हुआ है।[1]

स्रोतो का समुदाय ही पुरुष है।

इस मतान्तर को उपस्थित कर पुन आचार्य उसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि स्रोतो के सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होने के कारण हम ऐसा (उपर्युक्त को) मानलें तो स्रोतो मे अभिवहन करने वाले द्रव्यो की पृथक्ता असिद्ध हो जाती है जो वास्तविकता मे विपरीत है। अत प्राणादिवहस्रोतो से इनमे प्रवाहित होनेवाले वायु तथा रस रक्तादि धातुएँ, वात-पित्त-कफ दोष, मूत्र पुरीष-स्वेदादि मल तथा आर्त्तव स्रोतो से भिन्न द्रव्य होने के कारण स्रोतो का समुदाय ही पुरुष है, यह कहना अयुक्त तथा तर्कहीन हो जाता है।[2]

स्रोतो के असख्येय होने पर भी चिकित्सासौकर्य के लिए निदर्शनार्थ स्रोतों की सख्याये कही गई हैं।

सहिताग्रन्थो मे नामत तीन प्रकार के स्रोतो का वर्णन उपलब्ध होता है। (१) आहार्य धातुओ के स्रोत जैसे प्राणवह, अन्नवह तथा उदकवह या अम्बुवह स्रोत (२) अस्थायी धातुओ के स्रोत जैसे—रसवहस्रोत, रक्तवहस्रोत, मासवहस्रोत, मेदोवहस्रोत, अस्थिवहस्रोत, मज्जवहस्रोत, शुक्रवहस्रोत, आर्त्तववहस्रोत। (३) मलधातुओ के स्रोत जैसे पुरीषवहस्रोत, मूत्रवहस्रोत और स्वेदवहस्रोत। इनके अतिरिक्त अन्य स्रोतो का भी वर्णन है। (देखे परिशिष्ट)।

इनमे वायु, जल तथा अन्नरूप आहार-धातु को शरीर के अन्दर प्रविष्ट करानेवाले मार्ग आहार्य धातुवहस्रोत हैं। इनमे प्राणवहस्रोत वायु रूप आहार धातु को, उदकवहस्रोत जलरूप आहार धातु को तथा अन्नवहस्रोत अन्नरूप आहारधातु को शरीर के अन्दर प्रविष्ट कराते हैं। अत प्राणवहस्रोत से नासापुट से आरम्भ कर उर कोष्ठ पर्यन्त व्याप्त वायु को अभिवहन करने वाले

---

१ 'यावन्त पुरुषे मूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसा प्रकारविशेषा। सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतास्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षय वाऽप्यभिगच्छन्ति। स्रोतासि खलु परिणाममापद्यमानाना धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन'।
(च० वि० अ० ५)

२ च० वि० ५-४।

स्रोत प्राणवहस्रोत हैं। इसी प्रकार मुख कुहर से आरम्भ कर तालु, क्लोम तथा अन्य शरीरस्थ उदकाशयों तक व्याप्त उदक ( जल ) रूप आहार धातु को वहन करने वाले सभी स्रोत उदक या अम्बुवहस्रोत हैं। मुख से आरम्भकर आमाशय तक ( क्षुद्रान्त्र पर्यन्त ) अन्नरूप आहार धातु को अभिवहन करनेवाले महास्रोत का भाग अन्नवहस्रोत है।[1]

रस-रक्तादि अस्थायि धातुओं को अभिवहन करनेवाली रसायनियाँ, रक्तवाहिनियाँ, पयस्विनियाँ सभी स्थायी धातुओं के पोषणार्थ पोषक रसादि को वहन करने से अस्थायी धातुवहस्रोत है। इनके अतिरिक्त इन धातुओं के अन्तःशरीर में जो स्रोत इनके पोषण को प्राप्त कराने वाले हैं वे भी पोषक धातुवहस्रोत हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव जिन मार्गों से रसादि धातुओं में पहुँचते हैं वे भी स्रोत हैं।

मूत्र, पुरीष तथा स्वेद आदि मल-धातुओं को अभिवहन करने वाले स्रोत मलधातुवहस्रोत हैं। इनमें मूत्रवह स्रोत से उन सभी स्रोतों का ग्रहण होता है जो रक्त से मूत्र को निष्कासित कर वृक्क में एकत्र करते हैं तथा पुनः वृक्क से वस्ति में पहुँचाते हैं तथा वस्ति से बाहर निकालते हैं। इसी प्रकार अन्त्र से मल ( पुरीष ) को बाहर निकालने वाले स्रोत पुरीषवहस्रोत हैं। स्वेदग्रन्थियों से स्वेद को बाहर निकालनेवाले स्रोतों को स्वेदवह स्रोत कहते हैं।

**दोष-धातु-मलों का स्थानान्तर गमन**—सर्व शरीरव्यापी होने पर भी दोषों, धातुओं तथा मलों के स्थान तथा मार्ग शरीर में नियत हैं। इन स्थानों को आशय तथा स्रोत शब्द से संज्ञित किया गया है।

**दोषों के स्थान अथवा आशय तथा मार्ग**—दोषों ( वात-पित्त-कफ ) के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने पर भी उनके विशिष्ट स्थान तथा मार्ग नियत हैं। जैसे—वायु सर्वशरीरव्यापी तथा सर्वशरीर ( स्रोत ) चर होने पर भी

---

१ ( i ) 'स्रवणात् स्रोतांसि' ( च० सू० ३०-१२ )
'स्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्रवणात् ( चक्रपाणि. )
'रसस्यैव पोषकस्य स्रवणात्' इति पाठो युक्तः ( यादव )
( ii ) 'प्राणसंज्ञकवायुवहानि स्रोतांसि प्राणवहानि स्रोतांसि'। चक्र ( च० वि० ५ )
( iii ) 'यया भुक्तमन्नमुदकं नीयते सा गलनाडी—अन्नवहस्रोत'। ( च० वि० ५ )

वस्ति, पुरीषाधान, कटि, सक्थियो, पादो, अस्थियो, श्रोत्रो, त्वचा, अधोनाभि, मज्जा तथा पक्वाशय मे रहता है। इनमे भी पक्वाशय वात का विशिष्ट स्थान है।[1]

पित्त सर्वशरीरव्यापी तथा सर्वशरीरचर होने पर भी स्वेद, रस, रुधिर, लसीका, आमाशय, यकृत्, प्लीहा, हृदय, दृष्टि, त्वक् तथा पक्वामाशय मध्य मे रहता है। इनमे भी आमाशय पित्त का विशिष्ट स्थान है।[2]

इस प्रकार कफ सर्वशरीरचर तथा व्यापी होने पर भी उर, शिर, ग्रीवा, पर्व, आमाशय, मेढ्र, कण्ठ, जिह्वामूल, सन्धियाँ, क्लोम, रस, घ्राण, रसना, वाहु और हृदय मे रहता है। इनमे भी उर प्रदेश कफ का विशेष स्थान है।[3]

---

१. ( i ) 'सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माण सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताकुपिता शुभाशुभानि करोति।' ( च० सू० २० )

( ii ) 'वस्ति पुरीषाधान कटिसक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च वातस्थानानि। तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्'। ( च० सू० २० )

( iii ) 'तत्र पक्वाशय कटि सक्थिनी पादावस्थि श्रोत्र स्पर्शन च वातस्थानानि विशेषेण'। ( अ० स० सू० २० )

( iv ) अधो नाभ्यस्थिमज्जानौ वातस्थान प्रचक्षते।' ( का० पृ० २७ )

२ ( i ) 'स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि। तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्'। ( च० सू० २० )

( ii ) 'पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदय दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्त च ( पक्वामाशयमध्यस्थ पित्तम् )'। ( सु० सू० २१ )

३. ( i ) 'उर-शिरोग्रीवापर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि। तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम्'। ( च० सू० २० )

( ii ) 'श्लेष्मणस्तूर शिर कण्ठसधय इति पूर्वोक्त च'। ( सु० सू० २१ )

( iii ) 'उर-शिर क्लोमपर्वाण्यामाशयो रसो मेदो घ्राण रसन च श्लेष्मस्थानानि'। ( अ० स० सू० २० )

( iv ) 'मेद- शिर उरो ग्रीवा सन्धिर्बाहु कफाश्रय-। हृदय तु विशेषेण श्लेष्मण स्थानमुच्यते॥' ( का० पृ० २७ )

## पञ्चविध वायुओं का स्थान—

| [1]प्राणवायु के स्थान | [2]उदान के स्थान | [3]समान के स्थान | [4]व्यान के स्थान | [5]अपान वायु के स्थान |
|---|---|---|---|---|
| १ मूर्धा | १ नाभि | १ स्वेदवह स्रोत | सम्पूर्ण देह | १ वृषण |
| २ उर. | २ उर | २ दोषवह स्रोत | हृदय | २ वस्ति |
| ३ कण्ठ | ३ कण्ठ | ३ अम्बुवह स्रोत | | ३ मेढ्र |
| ४ जिह्वा | ४ वक्त्र ( मुख ) | ४ जठराग्निपार्श्व | | ४ योनि |
| ५ आस्य (मुख) | ५ नासिका | ५ आमाशय | | ५ नाभि |
| ६ नासिका | | ६ पक्वाशय | | ६ ऊरु |
| ७ हृदय | | ७ मलवह स्रोत | | ७ वक्षण |
| | | ८ आर्त्तववह स्रोत | | ८ गुद |
| | | ९ शुक्रवह स्रोत | | ९ अन्त्र |
| | | १० नाभि | | १० पक्वाशय |
| | | | | ११ श्रोणि |

१. ( i ) स्थानं प्राणस्य मूर्धोर-कण्ठजिह्वास्यनासिका ' । ( च० चि० २८ )
( ii ) 'हृदि प्राण ' ( अमर )
( iii ) 'यो वायुर्वक्त्रसचारी स प्राणो नाम देहधृक्' । ( सु० नि० १ )
( iv ) 'प्राणोऽत्र मूर्धग । उर कण्ठचर.' × × ( अ० हृ० सू० ११ )

२. ( i ) 'उदानस्य पुन स्थान नाभ्युर कण्ठ एव च' । ( च० चि० २८ )
( ii ) 'उदान उरस्यवस्थित कण्ठनासिकानाभिचर.' । ( अ० स० सू० २० )
( iii ) 'स्थान पुनरनुक्तमपि नाभ्युर.कण्ठादि' । ( डल्हण सु० नि० १ )
( iv ) 'उदान. कण्ठदेशे स्यात्' । ( अमर )

३ ( i ) 'स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठित ।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थ समान.' ॥ ( च० चि० २८ )
( ii ) 'आमपक्वाशयचर. समान.' । ( सु० नि० १ )
( iii ) 'समानोऽन्तरग्निसमीपस्थ. × × × पक्वामाशयदोषमलशुक्राम्बुवहस्रोतोविचारी' । ( अ० स० सू० २० )
( iv ) 'समानो नाभिसंश्रित ' ( अमर )

४ ( i ) 'व्यान. सर्वशरीरग ' ( अमर. )
( ii ) 'देह व्याप्नोति सर्व तु व्यान.' । ( च० चि० २८ )
( iii ) 'व्यानो हृद्यवस्थित. कृत्स्नदेहचर.' । ( अ० सं० सू० २० )
( iv ) 'कृत्स्नदेहचरो व्यानः रससंवहनोद्यत.' । ( सु० नि० १ )

५ ( i ) 'वृषणौ वस्तिमेढ्रं च श्रोण्यूरू वक्षणौ गुदम् । अपानस्थानमन्त्रस्थ ' । ( च० चि० २८ )
( ii ) 'पक्वाधानालयोऽपान ' ( सु० नि० १ )
( iii ) 'अपानस्त्वपानस्थितो वस्तिश्रोणिमेढ्र वृषणवंक्षणोरुचर ' । ( अ० स० सू० २० )
( iv ) 'गुदेऽपान.' । ( अमर. )

**पञ्चविध पित्तों का स्थान[1]—**

| पाचकस्थान | रञ्जकस्थान | साधकस्थान | आलोचक | भ्राजक |
|---|---|---|---|---|
| पक्वामाशयमध्य | यकृत्<br>प्लीहा<br>आमाशय | हृदय | दृष्टि | त्वक् |

**पञ्चविधकफों के स्थान[2]—**

| अवलम्बकस्थान | क्लेदकस्थान | बोधकस्थान | तर्पकस्थान | श्लेषकस्थान |
|---|---|---|---|---|
| उर | आमाशय | जिह्वामूल<br>कण्ठ<br>रसना | शिर | सर्वसंधियाँ |

उपर्युक्त दोष-स्थानो के निर्देश का अभिप्राय यह है कि प्रकृत तथा विकृत अवस्था मे दोष सर्वशरीरगत तथा सर्वस्रोतोचर होते हुए तथा उनकी क्रिया शरीर के सर्व अवयवो पर होते रहने पर भी उपर्युक्त विभिन्नस्थलो पर विभिन्न दोषो का कार्य विशेषरूप से होता है। तात्पर्य यह कि प्रकोपावस्था के पूर्व उस-उस स्थान पर दोष का सञ्चय होता है। संशोधन द्वारा इस स्थान से दोष का निर्हरण कर दिया जाय तो दोष अन्यत्र रोग की उत्पत्ति नही कर पाता, अथवा हो चुका हो तो उसकी शान्ति हो जाती है।

प्रत्येक दोष के पॉच-पॉच भेदों का निर्देश कर उनके स्थानो का जो वर्णन किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि उक्त स्थानो पर दोषो की क्रिया प्राकृत अवस्था मे विशेष रूप से परिलक्षित होती है।

---

१. ( i ) पक्वामाशयमध्यस्थं पित्त × × × तस्मिन् पाचकोऽग्निरिति संज्ञा'। ( सु० सू० २१ )

( ii ) 'यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा ( सु० सू० २१ )

( iii ) 'आमाशयस्थं तु रसस्य रञ्जनाद् रञ्जकम्' ( अ० स० सू० २० )

( iv ) 'यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा' ( सु० सू० २१ )

( v ) 'यत्तु दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा' ( सु० सू० २१ )

( vi ) 'यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा' ( सु० सू० २१ )

२ ( i ) 'उरःस्थ × × अवलम्बक'। ( अ० हृ० सू० १२ )

( ii ) 'आमाशयसंस्थितः क्लेदक'। ( अ० हृ० सू० १२ )

( iii ) 'जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्त्तते'। ( सु०सू० २१ )

( iv ) 'बोधको रसनास्थायी' ( अ० हृ० सू० १२ )

( v ) 'शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्, तर्पक' ( अ० हृ० सू० १२ )

( vi ) 'श्लेषकः सन्धिषु स्थित.'। ( अ० हृ० सू० १२ )

दोषो का दूष्यो से ( धातु और मलो से ) आश्रयाश्रयीभाव सम्बन्ध भी है। जैसे—अस्थि वायु का तथा स्वेद और रक्त पित्त के आश्रय हैं। शेष रस-मास-मेद-मज्जा-शुक्र-मूत्र-पुरीष आदि श्लेष्मा ( कफ ) के आश्रय हैं।[1] इस सम्बन्ध का ज्ञान चिकित्सक के लिए आवश्यक है क्योकि इस ज्ञान से चिकित्सा मे सौकर्य होता है। जो आहार-विहार उक्त आश्रय तथा आश्रयी ( दूष्य तथा दोष ) मे से एक की वृद्धि या क्षय करते हैं, वे ही दूसरे की वृद्धि या क्षय करते हैं। केवल अस्थि और वायु इसके अपवाद हैं क्योकि धातुओ तथा मलो की वृद्धि तर्पण से होती है। उससे श्लेष्मा की भी वृद्धि होती है। इस विपरीत अपतर्पण से धातुओ और मलो का क्षय होता है परन्तु वायु की वृद्धि होती है। जो आहार, औषध ( द्रव्य ), विहार, देश, काल अस्थि की वृद्धि करने वाले होंगे, वे श्लेष्मा के भी वर्द्धक होंगे परन्तु उनसे वायु का क्षय होगा। इसी प्रकार जो आहार-विहार वायु को बढाने वाले होंगे वे धातुमात्र का क्षय करने वाले होंगे अर्थात् वे अस्थि का भी क्षय करेंगे।[2]

**दोषों का स्थानान्तर गमन**—( मधुकोष व्याख्या मे ) विजयरक्षित ने इसे 'आशयापकर्ष' कहा है, दोषो के आशयापकर्ष तथा स्थानान्तर गमन से भी रोग उत्पन्न होते हैं। जैसे—जब वायु उचित मान एव स्थान मे स्थित किसी दोष को लेकर अन्यत्र जाता है अर्थात् अपने स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है तब शरीर मे उचित मान मे होते हुए भी वह दोष उन स्थान पर विकार उत्पन्न करता है। जैसे—श्लेष्मा के क्षीण होने पर वृद्धवायु उचित मात्रा एव स्थान मे स्थित पित्त को उसके प्रधान स्थान ( ग्रहणी ) से आकर्षित करके शरीर के जिस भाग मे लेकर घूमता है वहाँ अस्थिररूप मे भेदनवत् पीडा, दाह, श्रम एव दौर्बल्य को उत्पन्न करता है।[3]

---

१. 'तत्रास्थनि स्थितो वायु पित्त तु स्वेदरक्तयो ।
श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणा मिथः ॥ ( अ० हृ० सू० ११ )

२. 'यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम् ।
अस्थिमारुतयोर्नैव, प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात् ॥
श्लेष्मणाऽनुगतस्तस्मात् सक्षयस्तद्विपर्ययात् ।
वायुनाऽनुगत·· ·· ····· ·········· ····· ॥ ( अ० हृ० सू० ११ )

३. ( i ) 'प्रकृतिस्थ यदा पित्त मारुत श्लेष्मण क्षये ।
स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र प्रसर्पति ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थित- ।
गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥' ( च० सू० अ० १७ )

( ii ) 'आशयापकर्षतो यथा—यदा स्वमानस्थितमेव दोष स्वाशयादाकृष्य वायुः स्थानान्तर गमयति तदा स्वमानस्थितोऽपि स विकार जनयति' ( मधुकोष- )

ऐसी स्थिति में उनके प्रतिकार के लिए विगुण वात की शान्ति और उससे प्रेरित पित्त दोष को उनके नियत स्थान पर पहुँचाना आवश्यक होता है। यहाँ अपकृष्ट दोष पित्त की शान्ति का उपाय करने पर लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। तात्पर्य यह कि दाह आदि पित्त के लक्षणों को देखकर यदि पित्त की शान्ति के लिए शीत, तिक्त, कषाय का प्रयोग करे तो वात की वृद्धि होने से रोग में भी वृद्धि तथा अन्य रोग भी उत्पन्न होंगे। पित्त की वृद्धि समझ यदि पित्त का निर्हरण करे तो पित्तक्षयजन्य अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

इसी प्रकार पित्त के क्षीण होने पर जब वृद्ध वात समप्रमाण में स्थित कफ को अपने स्थान से आकृष्ट कर स्थानान्तर में ले जाकर जहाँ-जहाँ घूमता है वहाँ वहाँ शूल, गौरव, स्तम्भ तथा शैत्य उत्पन्न करता है।[1] ऐसी अवस्था में वात की शान्ति तथा कफ को अपने स्थान में लाना पड़ता है।

जब वृद्ध पित्त कफ के क्षीण होने पर सम प्रमाण में स्थित वायु के मार्ग को सन्निरुद्ध कर देता है तो शरीर में दाह और शूल उत्पन्न होता है।[2] यहाँ पित्त को शान्तकर वायु के मार्गावरोध का दूर करना ही चिकित्सा है।

जब प्रकुपित पित्त वायु के क्षीण होने पर समप्रमाण में स्थित कफ के मार्ग को सन्निरुद्ध करता है तब तन्द्रा, गौरव और ज्वर उत्पन्न होता है।[3] यहाँ पित्त को शान्त कर कफ के मार्गावरोध को दूर करना ही प्रतिकार है।

जब वृद्ध कफ पित्त के क्षीण होने पर समप्रमाण में स्थित वायु के मार्ग को रोकता है तब शरीर में शैत्य, गौरव, रुजा उत्पन्न होती है।[4] ऐसी अवस्था में वृद्ध कफ को शान्त कर वायु के मार्गावरोध को दूर करना पड़ता है।

जब वृद्ध कफ वायु के क्षीण होने पर समप्रमाण में स्थित पित्त को लेकर मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है तब अग्निमान्द्य, शिरोग्रह, निद्रा, तन्द्रा, प्रलाप, हृद्रोग, गात्रगौरव, नखादि को पीतवर्ण तथा कफ-पित्त का निष्ठीवन इन विकारों को

---

१ 'साम्येस्थितं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा बली। कर्षेत् कुर्यात्तदा शूलं सशैत्यस्तम्भ-गौरवम् ॥' ( च० सू० १७ )

२ 'यदाऽनिलं प्रकुपितं पित्तं कफपरिक्षये। संरुणद्धि तदा दाहः शूलं चास्योपजायते ॥' ( च० सू० १७ )

३ 'श्लेष्माणं हि समं पित्तं यदा वातपरिक्षये। निपीडयेत्तदा कुर्यात् सतन्द्रागौरवं ज्वरम्' ॥ ( च० सू० १७ )

४ 'प्रवृद्धो हि यदा श्लेष्मा पित्ते क्षीणे समीरणम्। रुन्ध्यात्तदा प्रकुर्वीत शीतकं गौरवं रुजम्' ॥ ( च० सू० १७ )

उत्पन्न करता है।[1] यहाँ कफ को शान्त कर पित्त को अपने स्थान मे लाकर वायुके मार्गावरोध को दूर करना ही चिकित्सा है।

पुरुष के शरीर मे वायु के क्षीण होने पर वृद्ध कफ, पित्त के साथ सञ्चरण करता हुआ अरुचि, अपचन, साद (अङ्गसाद) गौरव, हृल्लास, आस्यस्राव, पाण्डुत्व, पीडा (दूयन), मद, विरेक-वैषम्य (विरेचन की विषमता) तथा अग्निवैषम्य उत्पन्न करता है।[2] यहाँ कफ-पित्त की चिकित्सा करनी चाहिए।

पित्त के क्षीण होने पर कफ वायु के साथ सञ्चरण करता हुआ शरीर मे स्तम्भ, शैत्य, अनवस्थित तोद, गौरव, अग्निमान्द्य, अन्न मे अश्रद्धा, प्रवेपन, नखादि का शुक्लत्व तथा गात्र-पारुष्य उत्पन्न करता है।[3]

कफ के क्षीण होने पर प्रकुपित पित्त और वात भ्रम, उद्वेष्टन, तोद, दाह, स्फुटन, वेपन, अङ्गमर्द, परिशोष, दूयन तथा धूपन ये विकार उत्पन्न करते है।[4] यहाँ भी प्रकुपित दोषो का शमन करना ही प्रतिकार है।

वात तथा पित्त के क्षीण होने पर वृद्ध कफ स्रोतो मे अवरोध, चेष्टाओं का नाश, मूर्च्छा तथा वाक्सङ्ग उत्पन्न करता है।[5]

वात कफ के क्षीण होने पर वृद्ध पित्त ओजोविभ्रंश, ग्लानि, इन्द्रियदौर्बल्य, तृष्णा, मूर्च्छा तथा शारीर-क्रियाओं का क्षय उत्पन्न करता है।[6]

पित्त और कफ के क्षीण होने पर वृद्ध वात मर्मपीडा, सञ्ज्ञाप्रणाश तथा

---

१. 'समारुणं परिक्षीणे कफपित्ते समत्यगम्। कुर्वीत सन्निरुन्धानो मृद्वशित्व शिरोग्रहम्॥ निद्रा तन्द्रा प्रलाप च हृद्रोग गात्रगौरवम्। नखादीना च पीतत्व ष्ठीवन कफपित्तयो.॥ (च० सू० १७)

२. 'हीनवातस्य तु श्लेष्मा पित्तेन सहितश्चरन्। करोत्यरोचकापाकौ सदन गौरव तथा॥ हृल्लासमास्यस्रवण दूयन पाण्डुता मदम्। विरेकस्य च वैषम्य वैषम्यमनलस्य च'॥ (च० सू० १७)

३. 'क्षीणपित्तस्य तु श्लेष्मा मारुतेनोपसहित.। स्तम्भ शैत्य च तोदं च जनयत्यनवस्थितम्॥ गौरव मृदुतामग्नेर्भक्ताऽश्रद्धा प्रवेपनम्। नखादीना च शुक्लत्व गात्रपारुष्यमेव च'॥ (च० सू० १७)

४ 'मारुतस्तु कफे हीने पित्त च कुपित द्वयम्। करोति यानि लिङ्गानि शृणु तानि समासत॥ भ्रममुद्वेष्टन तोद दाह स्फुटनवेपने। अङ्गमर्द परीशोष दूयन धूपन तथा'॥ (च० सू० १७)

५ 'वातपित्तक्षये श्लेष्मा स्रोतास्यपिदधद्भृशम्। चेष्टाप्रणाश मूर्च्छा च वाक्सङ्ग च करोति हि'॥ (च० सू० १७)

६ 'वातश्लेष्मक्षये पित्त देहौजः स्रंसयेच्चरेत्। ग्लानिमिन्द्रियदौर्बल्य तृष्णा मूर्च्छा क्रियाक्षयम्'॥ (च० सू० १७)

वेपन ( कम्प ) उत्पन्न करता है।' यहाँ वृद्धिप्राप्त दोषो को समावस्था मे लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

जब वायु प्रसृत होकर पित्तस्थान पर पहुँच जाय तो उसका पित्त के समान, कफस्थानगत पित्त का कफ के समान तथा वातस्थानगत कफ का वात के समान प्रतिकार करना चाहिए। तात्पर्य यह कि स्थानीय-दोष का प्रतिकार सर्व-प्रथम करना चाहिए, परन्तु स्थान पर आये हुए दोष का अविरोध करते हुए। प्रकोपणविशेष से प्रकुपित हुए दोष स्थानान्तर मे प्राप्त होकर नानाविध व्याधियो को उत्पन्न करते हैं। अत दोषो के स्थानान्तर गमन का विचार कर ही चिकित्सा करने से सफलता मिलती है।[2]

## रसादि धातुओं में संश्रित दोषों से उत्पन्न होने वाले विकार

१—जब प्रकुपित वायु त्वचा मे आश्रित होता है तब त्वचा मे रूक्षता, स्फुटन, सुप्तता, कृशता, कृष्णवर्णता, तोद, विस्तार, रक्तता, वैवर्ण्य, स्फुरण, चुमचुमायन, भेद, परिपोटन तथा पोरो मे पीडा होती है।[3]

२—जब प्रकुपित वायु रक्त मे संश्रित होता है तब सन्ताप के साथ तीव्र पीडा, वैवर्ण्य, कृशता, अरुचि, शरीर मे अरुष् ( फफोले ), भुक्तान्न का स्तम्भ, व्रण, स्वाप, राग तथा भ्रम ये विकार होते हैं।[4]

---

१ 'पित्तश्लेष्मक्षये वायुमर्माण्यभिनिपीडयन्।
प्रणाशयति संज्ञा च वेपयत्यथवा नरम्॥' ( च० सू० १७ )

२. ( i ) 'तत्र वायो पित्तस्थानगतस्य पित्तवत्प्रतीकार, पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्, कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्, एष क्रियाविभाग'। ( सु० सू० २१ )

( ii ) 'स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधत.'। (च०सू० १४।९ पर चक्रपाणि)

( iii ) 'स एव कुपितो दोष समुत्थानविशेषत। स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून्'॥ ( च० सू० १८ )

३ ( i ) 'त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले॥' ( च० चि० २८ )

( ii ) 'वैवर्ण्य स्फुरण रौक्ष्य सुप्ति चुमचुमायनम्।
त्वक्स्थो निस्तोदन कुर्यात्त्वग्भेद परिपोटनम्॥' ( सु० नि० १ )

४ ( i ) 'रुजस्तीव्रा ससन्तापा वैवर्ण्य कृशताऽरुचि।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले॥' ( च० चि० २८ )

( ii ) 'व्रणाश्च रक्तग।' ( सु० नि० १ )

( iii ) 'रक्ते तीव्रा रुजा स्वापस्ताप राग विवर्णताम्।
अरूंष्यन्नस्य विष्टम्भमरुचिं कृशता भ्रमम्॥' ( अ० स० नि० १५ )

३—जब प्रकुपित वात मांससंश्रित होता है तब अङ्गगौरव, अङ्गों मे अत्यधिक तोद, दण्ड तथा मुष्टि से आहत के समान पीड़ा तथा स्तब्धता, अङ्ग-रुजा, अङ्गों की अत्यधिक थकावट, सशूल ग्रन्थियाँ, तोदयुक्त कर्कश ग्रन्थियाँ तथा श्रम, ये विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

४—जब प्रकुपित वात मेदसंश्रित होता है तब अङ्गगौरव, अङ्गतोद, दण्ड तथा मुष्टि से आहत के समान पीड़ा, अत्यधिक थकावट, मन्दरुजावाली अव्रण ग्रन्थियाँ, तोदयुक्त कर्कश ग्रन्थियाँ तथा श्रम—ये विकार उत्पन्न होते हैं।[2]

५—जब प्रकुपित वात अस्थिधातु मे संश्रित होता है तब अस्थियो के पोरो मे भेदनवत् पीड़ा, सन्धिशूल, मांसक्षय, बलक्षय, अस्वाप ( अनिद्रा ), सततपीडा, अस्थिशोष, अस्थिप्रभेद, अस्थिशूल तथा सन्धिशूल ये विकार उत्पन्न होते हैं।

६—जब प्रकुपित वायु मज्जागत होता है तब अस्थिपर्वभेद, सन्धिशूल, मांस-क्षय, बलक्षय, अस्वाप ( अनिद्रा ), सततपीडा या निरन्तर रुजा, अस्थिशोषिर्य तथा स्तब्धता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[4]

७—जब प्रकुपित वायु शुक्रगत होता है तब शुक्र का शीघ्र पतन, गर्भ का शीघ्र पतन, शुक्रबन्ध, शुक्रविकृति, गर्भविकृति, शुक्राप्रवृत्ति तथा शुक्र की विकृत प्रवृत्ति होती है।[5]

८—जब प्रकुपित वात स्नायुगत होता है तब बाह्यायाम, अन्तरायाम, खालित्य,

---

१ ( i ) 'गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले॥' ( च० चि० २८ )
( ii ) 'ग्रन्थीन् सशूलान् मांसाश्रित।' ( सु० नि० १ )
( iii ) 'मांसमेदोगतो ग्रन्थींस्तोदाढ्यान् कर्कशान् श्रमम्।' ( अ० सं० नि० १५ )
२ ( i ) 'तथा मेदःश्रित कुर्याद् ग्रन्थान् मन्दरुजोऽव्रणान्।' ( सु० नि० १ )
( ii ) च० चि० २८, अ० सं० नि० १५।
३ ( i ) 'भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः।
अस्वप्नः सतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले॥ ( च० चि० २८ )
( ii ) अस्थिशोषं प्रभेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः।' ( सु० नि० १ )
( iii ) 'अस्थिस्थः सक्थिसन्ध्यस्थिशूलं तीव्रं बलक्षयः।' ( अ० सं० नि० १५ )
४ ( i ) 'तथा मज्जागते रुक् च न कदाचित्प्रशाम्यति।' ( सु० नि० १ )
( ii ) 'मज्जस्थोऽस्थिसौषिर्यमस्वप्नं स्तब्धता रुजम्।' ( अ० सं० नि० १५ )
५ ( i ) 'क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः॥' ( च० चि० २८ )
( ii ) 'अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृता शुक्रगेऽनिले।' ( सु० नि० १ )

कुब्जत्व, सर्वाङ्गरोग, एकाङ्गरोग, स्तम्भ, कम्प, शूल, आक्षेप तथा गृध्रसी—ये विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

९—जब प्रकुपित वात सिरागत होता है तब—शरीर में मन्दरुक् और शोथ, शरीर शोष, शरीर स्पन्दन, सिरासुप्ति, सिराओं का पतला तथा बड़ा हो जाना ( महत्ता ), शिराओं में शूल, शिराओं का आकुञ्चन, सिराओं का पूरण, सिराध्मान तथा सिरारिक्तता—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[2]

१०—जब प्रकुपित वायु सन्धिगत होती है तब वातपूर्णदृति-स्पर्शवत् शोथ, सन्धियों के आकुञ्चन-प्रसारण में पीड़ा तथा असामर्थ्य और सन्धिशूल उत्पन्न होते हैं।[3]

११—प्रकुपित वात जब इन्द्रियों में सश्रित होता है तब इन्द्रियों के कर्म का वध हो जाता है अर्थात् इन्द्रियाँ अकर्मण्य हो जाती हैं।[4]

१२—जब प्रकुपित वायु आमाशयगत होती है तो—छर्दि, मोह, मूर्च्छा, पिपासा, हृद्ग्रह, पार्श्ववेदना, हृदयरुजा, नाभिरुजा, उदररुजा, उद्गार, विसूचिका, कास, कण्ठशोष, आस्यशोष, श्वास तथा कण्ठोपरोध—ये विकार उत्पन्न होते हैं।[5]

१३—प्रकुपित वात जब पक्वाशय में सश्रित होता है तब अन्त्रकूजन, नाभिशूल, मूत्रकृच्छ्र, कृच्छ्रपुरीषत्व, आनाह, त्रिकवेदना, शूल, आटोप, मलरोध, अश्मरी,

---

१ ( i ) 'बाह्याभ्यन्तरायाम खल्लिं कुब्जत्वमेव च।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः ॥' ( च० चि० २८ )
( ii ) 'स्नायु प्राप्त स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा।' ( सु० नि० १ )
( iii ) 'स्नाय्वस्थिसन्धित· कुर्याद् गृध्रस्याक्षेपकुब्जता।' ( अ० स० नि १५ )

२ ( i ) 'शरीरं मन्दरुक् शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा।
सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ॥' ( च० चि० २८ )
( ii ) 'कुर्यात् सिरागत· शूलं सिराकुञ्चनपूरणम् ( सु० नि० १ )
( iii ) 'सिरासु आध्मान-रिक्तते।' ( अ० स० नि० १५ )

३. च० चि० २८, सु० नि० १।

४. 'श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद्दुष्ट समीरण।' ( च० चि० २८ )

५ ( i ) वायुरामाशये क्रुद्ध· कुर्याच्छर्द्यादिकान् गदान्।
मोहं मूर्च्छां पिपासां च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम् ॥' ( सु० नि० १ )
( ii ) 'हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिका।
कास· कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥' ( च० चि० २८ )
( iii ) 'आमाशये तृड्वमथुश्वासकासविसूचिका·।
कण्ठोपरोधमुद्गारान् व्याधीनूर्ध्वं च नाभित ॥' ( अ० स० नि० १५ )

वर्म्म, अर्श, पृष्ठग्रह, कटिग्रह तथा अध-काय में कृच्छ्रोपद्रव—ये विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

१४—जब प्रकुपित वात कोष्ठाश्रित होता है तब मूत्रनिग्रह, वर्चोनिग्रह, ब्रध्न, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, पार्श्वशूल ये विकार उत्पन्न होते हैं।[2]

१५ प्रकुपित वात जब गुद प्रदेश में आश्रित होता है तब—विड्ग्रह, मूत्रग्रह, वातग्रह, शूल, आध्मान, अश्मरी, शर्करा, जंघारुक्, ऊरुरुक्, त्रिकरुक्, पादरुक्, पृष्ठरुक्, जंघाशोष, ऊरुशोष, त्रिकशोष, पादशोष तथा पृष्ठशोष—ये विकार उत्पन्न होते हैं।[3]

१६ कुपित वात के सर्वाङ्गगत होने पर गात्रस्फुरण, गात्रभञ्जन, सन्धिवेदना, सन्धिस्फुरण, स्तम्भन, आक्षेपण, स्वाप, शोफ, शूल, तोद, भेद, स्फुरण, भञ्जन, सन्ध्याकुञ्चन तथा कम्पन—ये विकार उत्पन्न होते हैं।[4]

### रसादि धातुओं में प्रकुपित पित्त के संश्रित होने से उत्पन्न होनेवाले विकार[5]—

| (१) त्वगत प्रकुपित पित्त के विकार | (२) रक्तगत प्रकुपित पित्त के विकार | (३) मांसगत प्रकुपित पित्त के विकार |
|---|---|---|
| ↓ | ↓ | ↓ |
| (i) विस्फोटक | (i) विसर्प | (i) मांसपाक |
| (ii) मसूरिका | (ii) दाह | (ii) मांसप्रकोप |

१. (i) 'पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्॥' (सु० नि० १)

(ii) 'पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्॥' (च० चि० २८)

(iii) 'तत्र पक्वाशये क्रुद्धः शूलानाहान्त्रकूजनम्।
मलरोधाश्म-वर्ध्मार्शस्त्रिकपृष्ठकटिग्रहम्॥
करोत्यधश्चरन् वायुस्तांस्तान् कृच्छ्रानुपद्रवान्।' (अ० सं० नि० १५)

२ 'तत्र कोष्ठाश्रिते वाते निग्रहो मूत्रवर्चसोः।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्श-पार्श्वशूलं च जायते॥' (च० चि० २८)

३ (i) 'ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्करा।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदस्थिते॥' (च० चि० २८)

४. (i) 'सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने।
वेदनाभिः परीतश्च स्फुरन्तीवास्य सन्धयः॥' (च० चि० २८)

(iii) 'सर्वाङ्गसंश्रयस्तोदभेदस्फुटनभञ्जनम्।
स्तम्भनाक्षेपणस्वापसन्ध्याकुञ्चनकम्पनम्॥' (अ० सं० नि० १५)

५. (i) 'पित्तं त्वचि स्थितं कुर्याद् विस्फोटकमसूरिकाः।
रक्ते विसर्पं दाहं च मांसे पाकप्रकोथनम्॥

(४) मेद स्थित पित्त के विकार
↓
( i ) सदाहग्रन्थियाँ
( ii ) स्वेदातिप्रवृत्ति

(५) अस्थिस्थित प्रकुपित पित्त के विकार
↓
( i ) अत्यधिकदाह

(६) मज्जस्थित प्रकुपित पित्त के विकार
↓
( i ) हारिद्रनखता
( ii ) हारिद्रनेत्रता

(७) शुक्रस्थित प्रकुपित पित्त के विकार
↓
( i ) पूतिशुक्रता
( ii ) पीतावभासशुक्रता

(८) सिरागत प्रकुपित पित्त के विकार
↓
( i ) क्रोध
( ii ) प्रलाप

(९) स्नायुगत प्रकुपित पित्त के विकार
↓
( i ) तृषा

१० कोष्ठगत प्रकुपित पित्त के विकार
( i ) मद
( ii ) तृषा
( iii ) दाह
( iv ) सर्वदेहव्यापी अन्य पित्तविकार

## त्वग् ( रस ) आदि धातुओं मे प्रकुपित कफ के संश्रित होने पर उत्पन्न होने वाले विकार[१]—

(१) त्वग्गत प्रकुपित कफ के विकार
↓
( i ) स्तम्भ (त्वचा का स्तम्भ)
( ii ) श्वेताङ्गता

(२) रक्तगत प्रकुपित कफ के विकार
↓
( i ) पाण्डुरोग

(३) मांसगत प्रकुपित कफ के विकार
↓
( i ) अर्बुद
( ii ) अपची
( iii ) आर्द्र चर्म से आच्छादित गात्र का अनुभव
( iv ) अतिगौरव

---

मदाहान मेदसि ग्रन्थीन् स्वेदातिगमन तृषाम् ।
अस्थ्नि दाह भृश, मज्ज्ञि हारिद्रनखनेत्रताम् ॥
पूतिर्पातावभास च शुक्र शुक्रममाश्रितम् ॥' ( अ० स० सू० १८ )

( ii ) 'कोष्ठग मदतृड्दाहान् व्यापिनोऽन्याश्च यक्ष्मण ।
सिरागत क्रोधनता प्रलाप स्नायुग तृषम ॥' ( अ० स० सू० १८ )

१ श्लेष्मा त्वचि स्थित कुर्यात् स्तम्भ श्वेतावभासताम् ।
पाण्ड्वामय शोणितगो, मासस्थोऽर्बुदापची ॥

(४) मेदोगत प्रकुपित कफ के विकार
↓
(i) स्थूलता
(ii) मेह

(५) अस्थिगत प्रकुपित कफ के विकार
↓
(i) अस्थिस्तब्धता

(६) मज्जागत प्र० कफ के विकार
↓
(i) शुक्लनेत्रता

(७) शुक्रगत प्रकुपित कफ के विकार
|
(i) शुक्रसञ्चय

(८) सिरागत प्रकुपित कफ के विकार
|
(i) विबन्ध
(ii) अतिगौरव
(iii) स्तब्धगात्रता

(९) स्नायुगत प्रकुपित कफ के विकार
|
(i) सन्धिशूल

**(१०) कोष्ठगत प्रकुपित कफ के विकार—**

(i) जठरोन्नति
(ii) अरोचक
(iii) अविपाक
(iv) अन्य कफ के रोग



---

आर्द्रचर्मावनद्धाभगात्रता चातिगौरवम् ।
मेदोग स्थूलता मेहमस्थ्ना स्तब्धत्वमस्थिग. ॥
मज्जग शुक्लनेत्रत्व शुक्रस्थ शुक्रसञ्चयम् ।
विबन्ध गौरव चापि सिरास्थ स्तब्धगात्रताम् ॥
स्नायुस्थ सन्धिशूल च कोष्ठगो जठरोन्नतिम् ।
अरोचकाविपाकौ च नासाश्च कफसम्भवान ॥ (अ० ह० सू० १८).

# चतुर्थ अध्याय

## ( चिकित्सा-सूत्र )

क्रियाक्रम—मन तथा शरीर, ये दो ही व्याधि के आश्रय हैं यह पहले कहा जा चुका है। अत दो प्रकार के अर्थात् मन संश्रित ( मानस ) व्याधियो के तथा शरीरसंश्रित (शारीर) व्याधियो के चिकित्सासूत्र का उपक्रम इस प्रकरण मे कहा जायेगा।

मानस-व्याधियो की चिकित्सा सत्त्वावजयन अर्थात् धी, धैर्य, स्मृति, समाधि द्वारा सत्त्वसंज्ञक मन को काम-क्रोधादि अहित अर्थों ( विषयो ) से निग्रह करने से होती हैं।[1] शारीर व्याधियाँ युक्ति-व्यपाश्रय तथा दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा से दूर होती हैं। इन उपर्युक्त त्रिविध-चिकित्साओ का संकेत पहले किया जा चुका है।

मानस-व्याधियाँ मन के दोषो अर्थात् रज तथा तम के वैषम्य से तथा शारीरव्याधियाँ शारीरदोष—वात, पित्त, कफ के वैषम्य से उत्पन्न होती हैं। अत· द्विविधदोषो के वैषम्य को दूर कर इन्हे समावस्था मे लाना चिकित्सा का प्रथम सूत्र है।[2]

उपर्युक्त दोष वृद्ध होकर, क्षीण होकर तथा इतर दोषो, धातुओ तथा मलो मे आवृत होकर वैषम्य अवस्था को प्राप्त होते हैं। अत बढे हुए दोषो को घटाकर ( ह्रासकर ) तथा क्षीणदोषो को बढाकर एव आवृत दोषो के आवरण को हटाकर दोषो को समावस्था मे लाना चिकित्सा का दूसरा सूत्र है।[3]

सभी शारीर भावो के सामान्य ( द्रव्य, गुण, कर्म ) उन ( भावो के—द्रव्य-गुण, कर्म ) की वृद्धि के कारण होते हैं तथा विशेष ( द्रव्य, गुण, कर्म ) उनके ह्रास के कारण होते हैं।[4] इस नियम के अनुसार उपर्युक्त दोषो के समान गुण-

---

१ 'प्रशाम्यत्यौषधै पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभि ॥ ( च० सू० १–५८ )
( पूर्व इति शारीर· चक्र· )

२ ( i ) वायु· पित्त कफश्चोक्त शारीरो दोषसग्रह।
मानस पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥' ( च० सू० १–५७ )
( ii ) 'रोगस्तु दोषवैषम्य दोषसाम्यमरोगता।'

३ 'दोषा क्षीणा बृंहयितव्या, कुपिता प्रशमयितव्या, वृद्धा निर्हर्त्तव्या, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्त।' ( सु० चि० ३३–३ )

४ ( i ) 'विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुत सम्प्रशाम्यति।
विपरीतगुणै पित्त द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥'
श्लेष्मण प्रशम यान्ति विपरीतगुणैर्गुणा। ( च० सू० १ )
( ii ) 'सर्वदा सर्वभावाना सामान्य वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥' ( च० सू० १ )

कर्म वाले आहार तथा औषधद्रव्य या विहार उनकी वृद्धि के कारण होंगे और विशेष ( विपरीत ) गुण, कर्मवाले द्रव्य तथा विपरीत गुण कर्मवाले द्रव्यो से उनका ह्रास होगा ?

देश ( औषध उत्पत्ति के तथा आतुर के निवास स्थान या भूमि और आतुर के शरीर ), काल ( नित्यग तथा आवस्थिक ) के विचार से निर्णीत, दोष ( रोगोत्पादक ) के विपरीत गुणवाले औषधो के उचित मात्रा मे प्रयोग से साध्य व्याधियाँ दूर हो जाती है।[1]

विषम हेतुओ के त्याग तथा सम हेतुओ के सेवन से दोष तथा धातुएँ वैषम्य को प्राप्त नही होती और विषमता को प्राप्त धातुएँ भी समावस्था मे आ जाती हैं।[2]

धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग का अन्ववेक्षण, तद्विद्सेवा, सर्वतोभावेन आत्मादि का विज्ञान मानसविकारो का भेषज है।[3]

स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए तथा अस्वस्थ पुरुष के बढे दोष, धातु तथा मल का क्षपण तथा क्षीण दोष-धातु तथा मल का बृंहण करना चाहिए। यह क्षपण तथा बृंहण कर्म वैद्य उस समय तक करे जब तक रोगी रोग से मुक्त न हो जाय।[4]

शारीर दोषो के लिए ( वात-पित्त-कफ के लिए ) क्रमश वस्ति, विरेक, वमन तथा तैल, घृत और मधु क्रमश ये परम ( उत्कृष्ट ) औषध है। मानस दोषो के लिए धी, धैर्य, आत्मादि का विज्ञान ये परमौषध हैं।[5]

कफ का प्रतिकार दुर्जन के समान तीक्ष्ण औषधो से, वायु का प्रतिकार

---

१ 'विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः।
भेषजैर्विनिवर्त्तन्ते विकाराः साध्यसम्मता ॥' ( च० सू० १–६२ )

२ 'त्यागाद् विषमहेतूना समाना चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥

३ 'मानस प्रति भेषज्य त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
तद्विद्सेवा विज्ञानमात्मादीना च सर्वश ॥' ( च० सू० ११–४७ )

४ 'स्वस्थस्य रक्षण कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोष-धातुमलान् भिषक् ॥
तावद्यावदरोग स्यान्नरो रोगसमन्वित ॥' ( सु० सू० १५–४० )

५ 'शरीरजाना दोषाणा क्रमेण परमौषधम्।
वस्तिर्विरेको वमन तथा तैल, घृत मधु।
धीर्धैर्यात्मादिविज्ञान मनोदोषौषध परम् ॥' ( अ० हृ० सू० १ )

मित्र के समान स्नेह ( स्निग्धौषध-द्रव्यो ) से तथा पित्त का प्रतिकार जामाता के समान मधुर तथा शीतल औषध द्रव्यो से करना चाहिए ।[1]

इस प्रकार दोषानुक्रम से चिकित्सा का सकेत मात्र यहाँ किया गया है। पुन· उन्हें विस्तार से कहा जाता है।

## दोषों का उपक्रम ( प्रतिकार अथवा चिकित्सा )

**वात के उपक्रम**—वात के विकारो मे मधुर-अम्ल, लवण रस विशिष्ट आहार तथा औषध द्रव्यो का उपयोग, स्निग्धोष्ण, स्थिर, वृष्य, बल्य पदार्थों का सेवन तथा पौष्टिक और गौडिक मद्य का सेवन एव मेध्य मास रस का उपयोग करना चाहिए। इसमे उन्मर्दन, संवाहन, उद्वेष्टन, वित्रासन, आतपसेवन, विस्मापन, विस्मारण तथा सौख्यवृत्तियो का यथायोग्य उपयोग करना चाहिए। दीपन तथा पाचन औषधो से सिद्ध तिल, पियाल–अक्षोड आदि स्नेहयोनियो का तेल पान कराना लाभप्रद होता है। यथाविध स्नेहन तथा स्वेदन कराकर मृदु सशोधन देना चाहिए। आवश्यकतानुसार आस्थापन तथा अनुवासन आदि स्निग्धोष्ण बस्तियो का यथाविध प्रयोग करना चाहिए। नस्य ( नावन ), वात हर तैल का अभ्यग, उत्सादन, उपनाह, उष्ण परिषेक तथा उष्ण जल से अवगाहस्नान कराना चाहिए। वात से पीडित रोगियो को अन्नपान मे सदा उष्ण द्रव्यो तथा द्रवो का व्यवहार श्रेयस्कर है। स्त्रीसम्पर्क को छोडकर समस्त हेमन्तविधि इसमे लाभप्रद होती है। इन उपर्युक्त उपक्रमो मे भी वातविकार मे आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग सब उपक्रमो में प्रधानतम माना गया है क्योकि इसके प्रयोग से औषधद्रव्य वात के प्रमुख स्थान पक्वाशय मे पहुँचकर सम्पूर्ण वात विकारो के मूल ( जड ) का उच्छेद कर देता है। इस प्रकार मूलोच्छेद होने से वात के सभी विकार उस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे वनस्पति के मूलोच्छेद ( जड कट जाने ) से उसके स्कन्ध, प्ररोह, शाखा, प्रशाखा, पुष्प, फल तथा पत्रादि का निश्चयरूप मे विनाश हो जाता है।[2]

---

१. कफ दुर्जनवत्तीक्ष्णैर्वात स्नेहेन मित्रवत्।
पित्त जामातरमिव मधुरै· शीतलैर्जयेत॥' ( यो० र० )

२ ( १ ) 'त (वातविकार) मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेग, स्नेह स्वेदास्थापनानुवासन-नस्त-कर्म भोजनाभ्यगोत्सादन-परिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रा काल च प्रमाणीकृत्य; तत्रास्थापनानुवासन तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतम मन्यन्ते भिषज , तद्ध्यादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवल वैकारिक वातमूल छिनत्ति, तत्रावजितेऽपि वाते शरीरान्तर्गता वातविकारा प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोह-कुसुमफलपलाशादीना नियतो विनाशस्तद्वत्।' ( च० सू० २० )

**पित्त के उपक्रम**—पित्त के विकारो मे मधुर-तिक्त, कषाय रस विशिष्ट आहार तथा औषध द्रव्यो का उपयोग, शीतल, हृद्य ( मनोनुकूल ) तथा सुगन्धित आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। इसमे स्नेहन, विरेचन, प्रदेह, परिषेक, रक्तमोक्षण तथा अभ्यङ्गादि पित्तहर उपक्रमो का उचित मात्रा तथा काल मे उपयोग करना चाहिए। परम शिशिरवारि सम्भृत मुक्ता-मणि का हार उर प्रदेश मे धारण करना, मृदु-मधुर-सुरभि-शीतल तथा हृद्यगन्धो का उपसेवन, सुगन्धित शीतल पवन, छाया, शुक्लपक्ष की रात्रि की चन्द्रिका, भूगृह, वारियन्त्र, ( फौहारा ), स्त्रीगात्रसम्पर्क, कर्पूर-चन्दन-उशीर आदि का लेप पद्मोत्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक शतपत्र, तथा शीतल हस्तो का संस्पर्श, श्रुतिसुख मृदु मधुर मनोऽनुकूल गीत तथा वादित्र का श्रवण, सब प्रकार के सौम्य भावो का उपसेवन, शीताम्बुधारागृहो मे निवास, पित्तविकार को शान्त करता है। स्नेहन के लिए पित्तहरद्रव्यो से सिद्ध घृतो का प्रयोग करना चाहिए। शैलान्तर-पुलिन-शिशिरसदन-व्यसन-व्यजन-पवन का सेवन, प्रतिक्षण उत्पल-कुमुद-कोकनद-सौगन्धिक-पद्मानुगत-जल से अभिप्रोक्षण तथा मलयचन्दन प्रियङ्गु, कालीयक आदि के लेप, अभ्युदयकर वाक्यो का श्रवण, मित्रो का संयोग, प्रदोष-काल तथा दुग्धपान श्रेयस्कर है।

इन उपर्युक्त सभी उपक्रमो मे पित्तविकार को दूर करने के लिए विरेचन प्रधानतम माना गया है, क्योकि यह पित्त के प्रधान स्थान आमाशय ( का अधोभाग तथा ग्रहणी ) मे पहुँचकर सम्पूर्ण पित्त विकारो के मूल का उच्छेद करता है। इस प्रकार पित्त के मूलोच्छेद हो जाने पर शरीरान्तर्गत सभी

---

( ii ) 'वातस्योपक्रम स्नेह., स्वेदः संशोधन मृदु। स्वाद्वम्ललवणोष्णानि भोजना-भ्यङ्गमर्दनम्॥ वेष्टन त्रासन सेको म द्य पैष्टिकगौडिकम्। स्निग्धोष्णा वस्तयो बस्तिनियमः सुखशीलना॥ दीपनै पाचनै. सिद्धा. स्नेहाश्चानेक-योनय। विशेषान्मेध्य पिशितरसतैलानुवासनम्॥' ( अ० हृ० सू० १३ )

( iii ) 'स्निग्धोष्णस्थिरवृष्यबल्य-लवणस्वाद्वम्लतैलातप-स्नानाभ्यञ्जनवस्तिमांसमदिरा-संवाहनोद्वर्त्तनम्। स्नेहस्वेदनिरूहणस्य शमनस्थानोपनाहादिक, पानाहारवि-हारभेषजमिद वात प्रशान्ति नयेत्॥' ( यो० र० )

( iv ) 'वातामये बस्तिविशोधन च।' ( यो० र० तन्त्रान्तरीय वचन )

( v ) तस्यावजयनम्—स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुरा-म्ललवणयुक्तानि तद्वदभ्यवहार्याणि, अभ्यङ्गोपनाहोद्वेष्टनोन्मर्दनपरिषेकाव-गाहनसंवाहनावपीडनवित्रासनविस्मापनविस्मारणानि, सुरासवविधानम्, स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरविरेचनीयोपहिता इत्यादि॥' ( च० वि० ६ )

पित्तविकार उस प्रकार शान्त हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि के बुझ जाने पर, सम्पूर्ण अग्निगृह शीतल हो जाता है।[1]

**कफ के उपक्रम**—कफ के विकारो मे कटु-तिक्त-कषायरस वाले, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, रूक्ष आहार तथा औषध द्रव्यो का उपयोग तथा व्यायाम, अश्व-धावन, नियुद्ध, स्त्रीसभोग, रात्रिजागरण, उपवास, जलक्रीडा, पदाघातन तथा क्रूरकर्मो का सेवन, चिन्ता और उष्णस्थान का निवास लाभप्रद होता है। इसमें स्वेदन, तीक्ष्णोष्ण सशोधन-वमन-शिरोविरेचन-विरेचन, रूक्षोन्मर्दन, उत्सादन, उपनाह, धूम्रपान, गण्डूषधारण, उष्णस्नान इनका यथाविधि उपयोग तथा मेदोघ्न औषधो का सेवन करना चाहिए। इसके प्रतिकारार्थ सभी वासन्तिक विधियो का उपयोग करना चाहिए।

इन उपर्युक्त सभी उपक्रमो मे श्लेष्मविकारो के लिए वमन को प्रधानतम माना गया है। क्योकि वमन द्रव्य कफ के प्रधान स्थान आमाशय ( के ऊर्ध्व भाग ) तथा उर प्रदेश मे पहुँचकर कफ के सम्पूर्ण विकारो के मूल को ऊर्ध्व मार्ग द्वारा ( स्रोतो-मुख-नासिका ) बाहर निकाल देता है। इस प्रकार श्लेष्म के जीत लेने पर अर्थात् बाहर निकल जाने पर शरीर के अन्दर के सभी श्लेष्म-विकार उस प्रकार शान्त हो जाते हैं जिस प्रकार केदार-सेतु ( खेत के बाँध )

---

१. ( i ) 'न (पित्तविकार) मधुर तिक्त-कषाय शीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत, स्नेह-विरेक प्रदेह-परिषेकाभ्यङ्गादिभि पित्तहरैर्मात्रा काल च प्रमाणीकृत्य, विरेचन तु सर्वोपक्रमेभ्य- पित्ते प्रधानतम मन्यन्ते भिषज, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवल वैकारिक पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गता पित्त-विकारा: प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृह शीतीभवति तद्वत्।' ( च० सू० २० )

( ii ) 'पित्तस्य सर्पिष- पान स्यादुशीतैर्विरेचनम्। स्वा ,तिक्तकषायाणि भोजनान्यौ-षधानि च॥ सुगन्धशीतहृद्याना गन्धानामुपसेवनम्। कण्ठे गुणाना हाराणा मणीनामुरसा धृति ॥ कर्पूरचन्दनोशीरैरनुलेप क्षणे क्षणे। प्रदोष-श्चन्द्रमा सौध हारिगीत हिमोऽनिल ॥ अयन्त्रणसुख मित्र पुत्र सस्निग्ध-मुग्धवाक्। छन्दानुवर्त्तिनो दारा प्रिया शीलविभूषिता ॥ शीताम्बुधारा-गर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिका। सुतीर्थे विपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते ॥ साम्भोजजलतीरान्ते कायमाने द्रुमानिले। सौम्या भावा पय सर्पिर्विरे-कश्च विशेषत ॥' ( अ० हृ० सू० १३ )

( iii ) च० वि० ६, अ० स० सू० २२।

( iv ) 'तिक्तस्वादुकषायशीतपवनच्छायानिशावीजन-ज्योत्स्नाभूगृहवारियन्त्रजलज-स्त्रीगात्रसस्पर्शनम्। सर्पि क्षीरविरेकसेकरुधिरस्रावोपदेहादिक पानाहारविहारभेषजमिद पित्त प्रशान्ति व्रजेत्॥' ( यो० र० )

के भिन्न हो जाने पर ( टूट जाने पर ) शालि-यव-षष्टिक आदि पानी न मिलने से सूख जाते हैं ।[1]

पृथक्-पृथक् दोषो का जो उपक्रम कहा गया है, समर्ग ( द्वन्द्वज ) तथा सन्निपात ( त्रिदोषज ) विकारो मे भी उनका यथा योग संसर्ग ( मिलाकर ) कर प्रयोग करना चाहिए । इसका अभिप्राय यह है कि वात पित्तज विकारो मे वात तथा पित्त के उपक्रम, वातकफज विकारो मे वात तथा कफ के उपक्रम, पित्त-कफज विकारो मे पित्त तथा कफ के उपक्रम और त्रिदोषज विकारों में तीनो दोषो के उपक्रम यथावश्यक प्रयोग मे लाने चाहिए ।[2]

वात-पित्त के विकारो मे प्राय. ग्रीष्म ऋतु के विधानो का, कफ वातज विकारो मे प्राय वसन्त ऋतु के विधानो का तथा कफ पित्त के विकारो मे प्राय शरद ऋतु के विधानो का अनुसरण करना चाहिए ।[3] यहाँ मारुत योगवाही का कार्य करता है ।

---

१. ( i ) न ( श्लेष्मविकारं ) कटुतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरूक्षप्रायैरुपक्रमैः, स्वेदवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभि. श्लेष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य, वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्य. श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषज , तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्योरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमूर्ध्वमुत्क्षिपति, तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकारा प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्द्यमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ( च० सू० २० )

( ii ) 'तस्यावजयन-विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावन-लङ्घन-प्लवन-परिसरणजागरण-नियुद्धव्यवाय-व्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादनानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानामुपयोग., सधूमपान' सर्वशश्चोपवासः, तथोष्णं वास , सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ।' ( च० वि० ६ )

( iii ) 'श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम् । अन्न रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम् ॥ दीर्घकालस्थितं मद्य रतिप्रीतिः प्रजागरः । अनेकरूपो व्यायामश्चिन्ता रूक्ष विमर्दनम् । विशेषाद्वमन यूपः क्षौद्र मेदोघ्नमौषधम् । धूमोपवासगण्डूषा निःसुखत्व सुखाय च ।' ( अ० हृ० सू० १३ )

( iv ) अ० स० सू० २१ ।

( v ) 'रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकव्यायामनिष्ठीवन, स्त्रीसेवाध्वनियुद्धजागरजलक्रीडापदाघातनम् । धूमस्तापशिरोविरेकवमन स्वेदोपनाहादिकं, पानाहारविहारभेषजमिदं श्लेष्माणमुग्रं जयेत् ॥' ( यो० र० )

२. उपक्रम. पृथग् दोषान् योऽयमुद्दिश्य कीर्तित ।
संसर्गसन्निपातेषु त यथास्वं विकल्पयेत् ॥' ( अ० हृ० सू० १३ )

३. 'ग्रैष्म. प्रायो मरुत्पित्ते, वासन्तः कफमारुते ।
मरुतो योगवाहित्वात्कफपित्ते तु शारद. ॥' ( अ० हृ० सू० १३ )

**उपक्रम के काल**—दोषों के सञ्चयकाल में ही जीतने का प्रयत्न करना श्रेयस्कर है क्योंकि इस काल में दोषों को जीत लेने से उनकी उत्तर (प्रकोपादि) गति नहीं होने पाती। अन्यथा उत्तर गति के प्राप्त हो जाने पर दोष बलवत्तर हो जाते हैं। सञ्चयकाल में दोषों को जीतने का प्रयत्न करते समय इस बात पर ध्यान रखें कि प्रकुपित हुए दोष का विरोध न होने पावे। यदि सभी दोषों का प्रकोप दृष्टिगोचर हो तो बलवत्तर दोष को सर्वप्रथम शान्त करने का प्रयत्न करें, परन्तु यहाँ भी इस बात का ध्यान रखें कि शेष दोषों का विरोध न होने पावे।[1]

ऐसे योगों का ही प्रयोग प्रशंसनीय है जो अभीष्ट व्याधि का नाश तो करे परन्तु अन्य किसी विकार को उत्पन्न न करे। जो प्रयोग एक विकार को शान्त करे परन्तु दूसरे विकार को उत्पन्न करे वह शुद्ध प्रयोग नहीं कहलाता। शुद्ध प्रयोग तो वही है जो अभीष्ट-व्याधि को शान्त करे और दूसरे व्याधि तथा दोष को प्रकुपित न करे।[2]

**स्थानान्तरगत दोषों की चिकित्सा**—जब प्रकुपित दोष अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थान पर चले जायँ तो उनके बलाबल का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए। यदि स्थानी से स्थान पर आये हुए दोष अबल हों तो स्थानी दोष की ही चिकित्सा करनी चाहिए। परन्तु यदि स्थानी की अपेक्षा स्थान पर आये हुए दोष बली हों तो स्थानी का विरोध न करते हुए आगन्तुक बली दोष की ही चिकित्सा करनी चाहिए।[3]

दोषों का निर्हरण कोष्ठ में उनके आने पर ही किया जाता है। अतः यदि दोष शाखा संश्रित हों तो उन्हें पहले कोष्ठ में लाना चाहिए। कोष्ठ में उनके आ जाने पर उनका निर्हरण करना निरापद है।[4]

---

१ (i) 'चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन्।
सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः॥' (अ० हृ० सू० १३)

(ii) 'सञ्चयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥' (सु० सू० २१)

२ 'प्रयोगः शमयेद् व्याधिमेकं योऽन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥' (अ० हृ० सू० १३)

३ 'तत्राऽन्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु।
कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु॥
आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा॥' (अ० हृ० सू० १३)

४. 'शमयेत्तान् प्रयोगेण सुखं वा कोष्ठमानयेत्।
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांश्च यथासन्नं विनिर्हरेत्॥' (अ० हृ० सू० १३)

अनुचित व्यायाम, बाह्य तथा आभ्यन्तर उष्मा, तीक्ष्ण आहार तथा औषध, अहित आहार-विहार का सेवन तथा स्वयं वायु का प्राबल्य, इन कारणो मे दोष तथा मल कोष्ठ से शाखाओ अर्थात् रस रक्तादि धातुओ मे फैल जाते हैं तथा परिस्थिति अनुकूल होने पर तत्काल अथवा पश्चात् रसज, रक्तज आदि पूर्व निर्दिष्ट विकारो को उत्पन्न करते है। पुन. अतिवृद्धि, विलयन (द्रवीभाव) तथा परिपक्व होने पर और स्रोतो के मुख के खुल जाने पर (विशुद्धि हो जाने पर) अवरोधक कारणो के दूर हो जाने से दोष तथा मल रसादि धातुओ को छोड कर कोष्ठ मे आ जाते हैं।

कभी-कभी शाखाओ मे प्राप्त दोष हेतु (व्यञ्जक हेतुओ) की प्रतीक्षा मे धातुओ मे बिना विकार उत्पन्न किए हुए ही बैठे रहते हैं।[1]

**आमदोष की चिकित्सा**—'आमदोष' के लक्षणो को देखकर सर्वप्रथम आम के पाचन की व्यवस्था करनी चाहिए। आम के पच जाने पर यथावश्यक शोधन तथा शमन चिकित्सा की व्यवस्था करे। शोधन के लिए प्रथम दीपन तथा पाचन औषधो से सिद्ध स्नेहो का प्रयोग करना चाहिए। स्नेहो से सम्यक् स्निग्ध पुरुष को स्वेदन की व्यवस्था करें। तत्पश्चात् यथाविधि दोष निर्हरणार्थ शोधन करना चाहिए।[2]

आमाशयस्थित मलो का वमन द्वारा तथा जत्रूर्ध्व विकारो को वमन तथा शिरोविरेचन द्वारा निर्हरण करे। पक्वाशयगत विकारो को विरेचन तथा निरूह वस्ति द्वारा निर्हरण करे। साधारणत श्रावण, कार्त्तिक तथा चैत्र मास मे क्रमश ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त ऋतु मे सञ्चित वात, पित्त तथा कफ का निर्हरण करना चाहिए। ग्रीष्म मे अतिगर्मी होने के कारण, वर्षा मे अत्यधिक वृष्टिजन्य विकारो के कारण तथा हेमन्त ऋतु मे अत्यधिक शीत होने के कारण दोष तथा मलो का निर्हरणनिषिद्ध है। इन उपर्युक्त कारणो से ही ऋतुओं के

---

१. (i) 'व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात्।
कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिता.।
नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः॥
वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखा मुक्त्वा मला. कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्॥' (च० सू० २८)
(ii) अ० हृ० सू० १३–१७ से १९ तक।

२. (i) 'पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्।
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम्॥' (अ० हृ० सू० १३)

सधिकाल श्रावण मे वायु का, कार्तिक मे पित्त का तथा चैत्र मे कफ का निर्हरण प्रशस्त है।[1]

कभी-कभी आत्ययिक होने पर इस नियम का अपवाद भी करना पड़ता है। ऐसी अवस्था मे शीत, उष्ण तथा वृष्टि के प्रभावो का प्रतिकार कर क्रिया-काल के प्राप्त हो जाने पर दोष का निर्हरण आवश्यक हो जाता है क्योकि क्रियाकाल के उपस्थित होने पर उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए।[2]

**आम व्याधि के सामान्य लक्षण**—व्याधि की आमावस्था मे आलस्य, तन्द्रा, हृदयाविशुद्धि, दोषप्रवृत्ति तथा मलप्रवृत्ति मे आकुलता, उदर का भारीपन अरुचि तथा सुप्तता ये लक्षण दृष्टिगोचर होते है। इसका तात्पर्य यह है कि व्याधि के स्वलक्षणो के अतिरिक्त इन उपर्युक्त लक्षणो को देखकर उसे आमान्वित व्याधि समझना चाहिए।[3]

**आमव्याधि का प्रतिकार**—व्याधि की आमावस्था मे लघन, कोष्णपेया, रूक्षभोजन, तिक्तयूष, निरूहवस्ति, स्वेदन, पाचन तथा ऊर्ध्व अथवा अध-संशोधन ( वमन-विरेचन ) का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये।[4]

**आमप्रदोष की चिकित्सा**—भोजन के समय भी यदि मनुष्य को उदर-प्रदेश मे जकड़ाहट, गौरव तथा अन्न मे ( भोजन मे ) अनभिलाषा ( अनिच्छा ) हो तो समझे कि उसका आमाशय आमदोषावलिप्त है अत ऐसी अवस्था मे दोष-शेष के पाचनार्थ तथा अग्निसधुक्षणार्थ औषध देवे। इन अजीर्ण लक्षणो को

---

१. ( i ) हन्त्याशु युक्त वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान्।
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानाद् गुदेन च॥
( ii ) प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिन।
विबद्धान् पाचनैस्तैस्तै पाचयेन्निर्हरेद् वा॥
( iii ) श्रावणे कार्त्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्।
ग्रीष्म-वर्षा हिम-चितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्॥
( iv ) अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमा।
सन्धौ साधारणे तेषा दुष्टान् दोषान् विशोधयेत्॥ ( अ० हृ० सू० १३ )

२ स्वस्थवृत्तिमभिप्रेत्य, व्याधौ व्याधिवशेन तु।
कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतिकार यथायथम्॥
प्रयोजयेत्क्रियां प्राप्ता क्रियाकाल न हापयेत्। ( अ० हृ० सू० १३ )

३. आलस्यतन्द्राहृदयाविशुद्धिर्दोषप्रवृत्याकुलमूत्रभावै.।
गुरूदरत्वारुचिसुप्तताभिरामान्वित व्याधिमुदाहरन्ति॥ ( यो० र० )

४ आम जयेल्लघनकोष्णपेया-रूक्षान्नरूक्षौदनतिक्तयूषै।
निरूहणै. स्वेदनपाचनैश्च सशोधनैरूर्ध्वमधस्तथा च॥ ( यो० र० )

देखकर भोजन नहीं देवे क्योंकि आमप्रदोष से दुर्बल हुई अग्नि एक साथ ही दोष, औषध तथा आहार को पचाने में समर्थ नहीं होती। अपितु आमप्रदोष, आहार तथा औषध के विभ्रम ( अपचार ) से कायाग्नि या जाठराग्नि बिल्कुल नष्ट होकर सहसा दुर्बल आतुर को मार डालती है अत आमप्रदोष से उत्पन्न हुए विकारों मे अपतर्पण ही सर्वोत्कृष्ट औषध है। अपतर्पण करने पर भी यदि किसी प्रकार का दोषानुबन्ध शेष रह जाय तो निमित्त विपरीत तथा व्याधिविपरीत औषध का यथावश्यक प्रयोग करे। सब प्रकार के विकारो को दूर करने के लिए हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुविपरीतार्थकारी तथा व्याधिविपरीतार्थकारी एव हेतुव्याधि-विपरीतार्थकारी औषधो, आहारो तथा विहारो का प्रयोग कुशल वैद्य करते हैं। आमप्रदोष के नष्ट हो जाने पर तथा अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर परिपक्व दोष को दूर करने के लिए दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति वयादि का विचार कर अभ्यग, स्थापन, अनुवासन, स्नेहन आदि का यथाविधि यथावश्यक प्रयोग करना चाहिए।[1]

**धातुक्षय की चिकित्सा**—धातुओ के क्षय के लक्षण कह चुके हैं। उन लक्षणो को देख धातुक्षय का निर्णय कर ले और स्वयोनिवर्धन द्रव्य अर्थात् जिस धातु का क्षय हो उस धातु के समान योनि वाले द्रव्यो का प्रयोग कर धातु को बढा कर उसे साम्यावस्था मे लावे।[2]

समान योनि का अर्थ है—समानद्रव्य, समानगुण तथा समानगुणभूयिष्ठ द्रव्य—जैसे रक्त से रक्त की वृद्धि, मांस से मास की वृद्धि, मेद से मेद की वृद्धि, तरुण अस्थियो से अस्थियो की वृद्धि, मज्जा से मज्जा की वृद्धि, शुक्र से शुक्र की वृद्धि ये समान द्रव्य के उदाहरण हैं। इसी प्रकार—रक्तक्षय मे तैजस द्रव्यो का

---

१. आमप्रदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं पुनर्दोषावलिप्तमामाशयं स्तिमितगुरूकोष्ठमनन्नाभिलाषिणमभिसमीक्ष्य पाययेद्दोषशेषपाचनार्थमौषधमग्निसंधुक्षणार्थं च न त्वेवाजीर्णाशनम्। आमप्रदोषदुर्बलो ह्यग्निर्न युगपद्दोषमौषधमाहारजातं च शक्तः पक्तुम्। अपि चामदोषाहारौषधविभ्रमोऽतिबलत्वादुपरतकायाग्निं सहसैवातुरमबलमतिपातयेत्। आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति, सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमप्यस्यौषधमातङ्कविपरीतमेवावचारयेद्यथास्वम्, सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशलास्तदर्थकारि वा। विमुक्तामप्रदोषस्य पुनः परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासनं विधिवत् स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्यगिति।

( च वि २-१३ )

२. तत्रापि ( धातुक्षयेऽपि ) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः ( प्रतिकारः ) ( सु० सू० १५ )

उपयोग अथवा तेजोगुणभूयिष्ठ द्रव्य का उपयोग समानगुणभूयिष्ठ द्रव्यो का उदाहरण है। द्रव्य शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र है। इससे कर्म का भी ग्रहण होता है अर्थात् जो कर्म जिस धातु की वृद्धि करता है उसका भी सेवन करना चाहिए। इनमे सामान्यत आप्य द्रव्यो से रस की, तैजस द्रव्यो से रक्त की, पार्थिव द्रव्यो मे मास की, पार्थिव तथा आप्य द्रव्यो से मेद की, पार्थिव-आग्नेय तथा वायव्य द्रव्यो से अस्थि की, मज्जा तथा शुक्र की सौम्य द्रव्यो से वृद्धि होती है क्योकि ये द्रव्य समानगुणभूयिष्ठ होते हैं अर्थात् रसादि धातुएँ भी तद्‌गुण विशिष्ट होती हैं।[1]

मलो के क्षय मे भी यही नियम लागू होता है अर्थात् जिस मल का क्षय हो उस मल की वृद्धि कर समानयोनि द्रव्यो का उपयोग करना चाहिए।

**धातुवृद्धि की चिकित्सा**—धातुओ की वृद्धि के लक्षण पहले कहा जा चुका है। अत उन लक्षणो से धातुवृद्धि का निदान कर सशोधन तथा क्षपण द्वारा उन्हे समावस्था मे लाना चाहिए। परन्तु क्षपण करते समय इस बात का ध्यान रखें कि उस धातु का क्षय न होने पावे। क्षपण का अर्थ यहाँ सशमन है। अत ऐसे क्रियाविशेष से क्षपण करे जो क्षय से अविरुद्ध हो अर्थात् जिसमे धातुक्षय न हो जैसे—गुडूची और सोठ से वायु का, क्षौद्र और त्रिफला से पित्त का तथा गुड और आर्द्रक से कफ का क्षपण करे। किसी-किसी आचार्य ने अविरुद्ध क्रियाविशेष से सशोधन, सशमन, आहार तथा आचार इन चारो का ग्रहण किया है।[2]

---

१ स्वयोनिवर्धनमपि समानेन द्रव्येण, समानगुणेन, समानगुणभूयिष्ठेन वा। समानेन द्रव्येण यथा–रक्तं रक्तेन वर्धते, मास मासेन, मेदो मेदसा, अस्थि तरुणसशकेनास्थिना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्र शुक्रेण, समानगुणेन यथा–रक्तक्षये तैजसद्रव्योपयोग, तेजोगुण-भूयिष्ठद्रव्योपयोगो " द्रव्यग्रहणमुपलक्षण, तेन कर्मापि यद्यस्य धातोरभिवृद्धिकर तत्क्षणे तत्सेव्यम्। तत्र स्वयोनिद्रव्याणामवबोधार्थं धातुमलोपधातुषु श्लोकाः कथ्यन्ते—

यद्यपि पञ्चभूताना वाच्य. पाको द्विधा पुन।
तथाप्यपां प्रधानत्वाद्रसः सौम्योऽभिधीयते॥
अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेर्मांसे तु पार्थिवा।
मेदस्यम्बुभुवोरस्थ्न पृथिव्यनिलतेजसाम्॥
मज्ज्ञि शुक्रे च सोमस्य, मूत्रेऽम्बुशिखिनोर्गुणा।
भुवो विड्यार्त्तवे त्वश्चे प्रस्वेदस्तन्ययोरपाम्॥
इति धातुमलेषूक्ता गुणा प्राधान्यत स्थिता।
प्रायेण भूगुणा गर्भे स्तोका ह्यन्यगुणा अपि॥ (डल्हण)

२ तेषा यथास्व सशोधन क्षपण च क्षयादविरुद्धै क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत पूर्वं पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि पर परम्॥ तस्मादतिप्रवृद्धाना धातूना ह्रासन हितम्॥ (सु० सू० १५(

पूर्वधातु की अतिवृद्धि से परधातु की भी वृद्धि होती है। अत. अतिवृद्ध धातुओ का ह्रास करना लाभप्रद होता है।

**ओजःक्षय की चिकित्सा**—ओज के विस्रम तथा व्यापन्न होने पर रसायन, वाजीकरण आदि क्रियाविशेषो से अग्नि आदि का अविरोध करते हुए वल का आप्यायन करना चाहिए।[1]

इस प्रकार दोष, धातु, मल तथा वल ( ओज ) के क्षीण होने पर स्वयोनि-वर्धन अन्नपान की इच्छा होती है अत जिन-जिन आहारविशेषो की धातुक्षय से पीडित मनुष्य प्रार्थना करता है उस-उस आहार विशेष को देने से उस-उस धातु के क्षय का नाश होता है। जिस व्यक्ति की धातुक्षय के कारण वायु वढकर उसकी सज्ञा का नाश कर देती है तथा उसे अकर्मण्य वना देती है ऐसे प्रक्षीण वलवाले मनुष्य की चिकित्सा अशक्य हो जाती है।[2]

**मलवृद्धि की चिकित्सा**—धातुवृद्धि के समान ही सशोधन तथा क्षपण द्वारा मलवृद्धि की चिकित्सा करनी चाहिए। यहाँ इस वात का ध्यान रखें कि उक्त क्रियाविशेष से मल का क्षय न होने पावे।

**धातुदोषज विकारो की चिकित्सा**—सब प्रकार के रसज विकारो मे लघन परमौषध है। रक्तज विकारो मे विरेचन, उपवास, रक्तमोक्षण तथा रक्तपित्तहर क्रियाओ का उपयोग करे। मासज विकारो मे सशोधन, शस्त्रकर्म, अग्निकर्म तथा क्षारकर्म यथावश्यक करना चाहिये। मेदो दोषज विकार मे श्लेष्ममेदोहर तथा वातघ्न अन्नपान का व्यवहार करना तथा रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण द्रव्यो से प्रस्तुत वस्तियो का प्रयोग तथा रूक्ष उवटनो का प्रयोग करना चाहिए। अस्थ्याश्रित व्याधियो मे पञ्चकर्म कराना श्रेयस्कर है, तथा वस्तियो का प्रयोग, तिक्त द्रव्यो से सिद्ध क्षीर तथा घृत का प्रयोग कराना चाहिये। मज्जा तथा शुक्र के विकारो मे स्वादुतिक्त अन्न का व्यवहार, व्यवाय, व्यायाम तथा उचित मात्रा मे उचित समय पर सशोधन कराना चाहिये।[3]

---

१ 'तत्र विस्रस्ते व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्वलमाप्याययेत् इतर तु मूढसज्ञ वर्जयेत्' ( सु० सू० १५ )

२ दोषधातुमलक्षीणो वलक्षीणोऽपि वा नर.।
स्वयोनिवर्धन यत्तदन्नपान प्रकाक्षति ॥
यद्यदाहारजात तु क्षीण प्रार्थयते नर।
तस्य तस्य स लाभे तु त त क्षयमपोहति ॥
यस्य धातुक्षयाद्वायु सज्ञा कर्म च नाशयेत्।
प्रक्षीण च वल यस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥ ( सु० सू० १५ )

३ ( १ ) 'रसजाना विकाराणा सर्व लङ्घनमौषधम्।' ( च० सू० २८ )

मधुराम्ल लवण रस वात विकारो को, मधुर तिक्त कषाय रस पित्त विकारो को तथा कटुतिक्तकषाय रस कफविकारो को शान्त करते है ।[1]

आमाशयोत्थ विकारो ( रोगो ) की लघन चिकित्सा है ।[2]

**आवरणों की चिकित्सा**—वायु के पित्तादि दोषो से आवृत होने पर साधारण चिकित्सा करनी चाहिये । जैसे पित्तावृत वात मे शीत तथा उष्ण क्रियाओ को बारी-बारी से करनी चाहिये । इसमे जीवनीय गण से सिद्ध घृत का प्रयोग प्रशस्त है । जागल मासरस, जौ, शालि, चावल, पथ्य मे देना चाहिये । यापन बस्ति तथा क्षीरवस्ति का प्रयोग करना चाहिये । विरेचन कराना, पञ्चमूल और बला से सृत दुग्ध का पान कराना, मधुयष्टि तथा बला से सिद्ध तैल तथा घृत से सेचन कराना तथा पञ्चमूल के कषाय और शीतल जल से बारी-बारी कर सेचन कराना चाहिये ।[3]

वायु के कफावृत होने पर अन्न मे यव तथा जागल पशु-पक्षियो के मास भोजन के लिए देना चाहिये । स्वेदन, तीक्ष्ण, निरुह, वमन तथा विरेचन का प्रयोग करना चाहिए । पुराना घी तथा तिल अथवा सरसो का तेल लाभप्रद होता है । पित्त तथा कफ दोनो से ससर्ग होने पर पहले पित्त को जीतना चाहिए ।

पाँच प्रकार के वायुओ के अन्योऽन्यावरण होने पर निम्नलिखित उपचार करे—

---

( ii ) 'कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम् ।
विरेकमुपवासञ्च स्रावणं शोणितस्य च ॥' ( च० सू० २४–१८ )
(iii) मासजाना तु ससृद्धि शस्त्रक्षाराग्निकर्म च । ( च० सू० २४–२६ )
( iv ) वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च ।
रूक्षोष्णवस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्तनानि च ॥ ( च० सू० २१ )
( v ) अस्थ्याश्रयाणा व्याधीना पञ्चकर्माणि भेषजम् ।
बस्तय क्षीरसर्पीषि तिक्तकोपहितानि च ॥ ( च० सू० २८ )
(vi) मज्जशुक्रसमुत्थानामौषध स्वादुतिक्तकम् ।
अन्न व्यवाय-व्यायामौ शुद्धिकाले च मात्रया ॥

१ च० वि० ।
२ शान्तिरामाशयोत्थाना व्याधीना लङ्घनक्रिया ॥ ( च० नि० ८ )
३ 'क्रिया साधारणी सर्वा ससृष्टे चापि शस्यते ।
वाते पित्तादिभि स्रोत स्वावृतेषु विशेषत ॥
पित्तावृते विशेषेण शीतामुष्णा तथा क्रियाम् ।
व्यत्यासात्कारयेत्सर्पिर्जीवनीय च शस्यते ॥
धन्वमास यवा शालिर्यापना क्षीरवस्तय ।
विरेक क्षीरपान च पञ्चमूलीबलाघृतम् ॥ ( च० चि० २८ )

प्राणावृत व्यान में जत्रूर्ध्व रोगों की चिकित्सा, प्राणावृत समान में स्नेहों का पान, अभ्यङ्ग, अनुवासन तथा नस्य का प्रयोग और यापन वस्ति देवें। समानावृत अपान में दीपन घृत का प्रयोग करें। प्राणसंवृत उदान में आश्वासन तथा ऊर्ध्वभागिक कर्म ( वमन नस्यादिक ) करें। उदानावृत प्राण में शीतल जल से अभिषेचन, आश्वासन तथा अन्य सुखकर कर्मों को करें। उदानावृत प्राण में वस्ति आदि का प्रयोग तथा अनुलोमन भोजन देवें। व्यानावृत अपान में स्नेहन द्वारा वातानुलोमन करें। अपानावृत व्यान में संग्राही औषधों का व्यवहार करें। समानावृत व्यान में व्यायाम तथा लघु भोजन देवें। उदानावृत व्यान में परिमित लघु भोजन देवें। इस प्रकार सभी प्रकार के आवरणों में वायु के कर्मों की वृद्धि तथा हानि को देखकर और उनके स्थानों का विचार कर अभ्यङ्ग, स्नेहपानादि यथायोग्य औषधों का क्रमश शीत और उष्ण उपचार बारी-बारी से करें। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन वातव्याधि में किया जावेगा।[1]

**दोषोपक्रम की सामान्य रूपरेखा**—शोधन चिकित्सा में वायु के लिए वस्ति, पित्त के लिए विरेचन तथा कफ के लिए वमन प्रधान चिकित्सा है। इसका सकारण वर्णन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त शमन चिकित्सा के लिए वात में तैल का प्रयोग प्रशस्त है क्योंकि तैल अपने स्नेह, उष्ण तथा गुरुगुणों से उसके सतत प्रयोग करने पर रूक्ष, शीत तथा लघु गुण वाले वायु को शान्त करता है। अर्थात् तैल का स्नेहगुण वायु के रूक्ष गुण को, उष्णगुण-शीतगुण को तथा गुरु गुण-लघु गुण को जीतकर अर्थात् गुणी के गुण का अभिभव कर उसे शान्त करता है। इसी प्रकार घृत का सतत अभ्यास पित्त को शान्त करता है। पित्त के अमधुर ( कटु और अम्ल ) उष्ण तथा तीक्ष्ण गुण को क्रमश. घृत का मधुर शीत और मन्दगुण जीतकर उसे ( पित्त को ) शान्त करता है। मधु का सतत प्रयोग कफ को शान्त करता है। श्लेष्मा, स्निग्ध, मन्द तथा मधुर गुण विशिष्ट होती है अत मधु का रूक्ष, तीक्ष्ण तथा कषाय गुण श्लेष्म के उपर्युक्त गुण का नाश कर कफ को शान्त करता है। इस प्रकार के अन्य द्रव्य भी जो दोषों के गुण के विपरीत गुण वाले होते हैं वे उन दोषों को शान्त करते हैं।[2] विरुद्ध गुणों के सन्निपात होने पर बली गुण अबल गुण को अथवा अधिक गुण न्यून गुण को जीत लेता है ऐसा नियम है।

---

१ च० चि० २८।

२ (i) वमन श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, वस्तिर्वातहराणां श्रेष्ठतमम्' ( च० सू० २५ )

(ii) तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद् वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्, वातो हि रौक्ष्य-शैत्य-लाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति, विरुद्धगुणसन्निपाते हि

दोषों के अनुसार ही व्याधियों की शान्ति का उपाय भी समझना चाहिए। दोष, देश तथा रोग के विपरीत गुणवाले आहार, विहार तथा औषध को सात्म्यज्ञों ने सात्म्य कहा है। अतः ऐसे द्रव्य ( आहार तथा औषध द्रव्य ) तथा उपाय स्वास्थ्य का संरक्षण और विकारों को दूर करते हैं।[1]

**स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा के सूत्र**—प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होने पर श्वासरोगाधिकारोक्त चिकित्सा करनी चाहिए। उदकवह स्रोतों की दुष्टि होने पर तृष्णोपशमनी अर्थात् तृष्णा रोगाधिकारोक्त चिकित्सा करनी चाहिए। इसी प्रकार अन्नवह स्रोतों की दुष्टि होने पर आमप्रदोष की चिकित्सा करनी चाहिए। रसरक्तादिवह स्रोतों की दुष्टि होने पर रसज, रक्तज आदि विकारों की जो चिकित्सा कही गयी है उसका उपयोग करना चाहिये। मूत्रवह स्रोतों की दुष्टि मे मूत्रकृच्छ्रोक्त चिकित्सा, पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि मे अतिसार, प्रवाहिका तथा ग्रहणी अधिकारोक्त चिकित्सा करनी चाहिए। स्वेदवह स्रोतों की दुष्टि मे ज्वराधिकारोक्त चिकित्सा करनी चाहिए।[2]

**स्रोतोविद्ध की चिकित्सा**—सर्वप्रथम यथाविधि शल्योद्धरण करें पश्चात् क्षतविधान से चिकित्सा करें। स्रोतोविद्ध की चिकित्सा प्रत्याख्यान कर करनी चाहिए।[3]

स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा करते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखे कि स्रोत की रचना व्यापार तथा स्रोतोगत दोष, धातु, मल इत्यादि मे से किसकी

---

भूयसाऽल्पमवजीयते। तस्मात्तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्। सर्पिः खलु एवमेव पित्तं जयति, माधुर्यात् शैत्यात्, मन्दत्वाच्च, पित्तं हि अमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च। मधु च श्लेष्माणं जयति—रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च, श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च यच्चान्यदपि किञ्चिद्द्रव्यमेवं वात-पित्त-कफेभ्यो गुणतो विपरीतं स्यात्तच्चैतान् जयति सततमभ्यस्यमानम्।'

( च० वि० १-१४ )

देशानामामयानाञ्च विपरीतगुणं गुणैः।
सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च॥ ( च० सू० ५-१०४ )

२ प्राणोदकान्नवाहानां दुष्टानां श्वासिकी क्रिया।
कार्या तृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोषिकी॥
विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम्।
रसादिस्रोतसां कुर्यात्तद्यथास्वमुपक्रमम्॥
मूत्रविड्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी।
तथाऽतिसारकी कार्या तथा ज्वरचिकित्सकी॥ ( च० वि० ५ )

३ स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपाचरेत्, उद्धृतशल्यं तु क्षतविधानेनोपाचरेत्॥'
( सु० शा० ९-१२ )

विकृति है। इसका निर्णय हो जाने पर पुनः तदनुकूल चिकित्सा करें। स्रोतो-वैगुण्य में स्रोतोरोध का भी ग्रहण होता है अतः स्रोतोरोध में रोध को दूर करना आवश्यक होता है। स्रोतोरोध में जिस दोष, धातु तथा मल का अवरोध हो उसको दूर करना चाहिए।

स्रोतोवृष्टि तथा स्रोतो वैगुण्य का अर्थ है कि वायु कुपित होकर इन स्रोतों के बनाने वाले कोषों को क्षीण कर देता है जिससे इनसे बने स्रोतों की परिधि तथा उनके छिद्र प्रकृतापेक्षया न्यून हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उनमें वहन करने वाले रसादि धातु का प्रवाह मन्दतर होता है या रुक जाता है। महास्रोत के रसवह स्रोतों में यदि यह स्थिति उत्पन्न हो जाय तो स्रोतों के मुख सकीर्ण या संकुचित होने से वे स्रोतें रस धातु का सम्यक् ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। यह अवस्था विशेषकर वृद्धावस्था में होती है जिसका संकेत किया जा चुका है। इसी प्रकार महास्रोत के पित्तवहस्रोत में यदि यह अवस्था उत्पन्न हो जाय तो पित्त का स्राव तथा तज्जन्य पाक यथावत् नहीं हो पाता। इनके अतिरिक्त वायु के प्रकोपवश जब स्रोतों में खरत्व उत्पन्न हो जाय तो भी स्रोतोरोध की अवस्था उत्पन्न हो सकती है। नव्यमतानुसार रस-रक्तवह स्रोतों में यह स्थिति वयोवृद्धि के साथ-साथ सुधा ( Calcium ) के न्यूनाधिक निक्षेप के कारण होती है। मस्तिष्क की धमनीविशेष में यह स्थिति उत्पन्न हो तो खरत्व के कारण धमनियाँ भङ्गुर हो जाती हैं जिसके कारण अल्पहेतुवश भी उनके टूटने का भय रहता है। यदि धमनियाँ टूट जायें तो पक्षाघात आदि विकार उत्पन्न हो सकते हैं। आयुर्वेद में पक्षाघात का कारण वात का प्रकोप माना गया है। मूत्राशय की रस वाहिनियों में यदि भंगुरता उत्पन्न हो जाय तो श्लीपद के जीवाणुओं के बच्चों और अण्डों के संचयवश वे शीघ्र टूट जाती हैं और दुग्धवर्ण रस मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होने लगता है। इस रोग को आयुर्वेद में वसामेह कहा गया है जो वातजमेह का एक विकार है। इनके अतिरिक्त कुपित वात के कारण स्रोतों में स्तम्भ ( स्तब्धता प्राकृत संकोच विकास का ह्रास ) अथवा सङ्कोच होता है। विशेषकर वृद्धावस्था में धमनियों में सकोच होता है। कभी-कभी हृदय की पोषक धमनियों में भी वातप्रकोपवश स्तम्भ हो तो तीव्र ( हृच्छूल ) ( हृद्ग्रह ) होता है जो अधिक रस रक्ताकांक्षा का द्योतक होता है। इसी प्रकार महास्रोत में स्तम्भ होने से उदरशूल आदि, पित्तवहस्रोतों में अवरोध ( स्तम्भी ) होने से तथा अश्मरी के अटकने से पित्ताश्मरी शूल, मूत्रवह स्रोत में स्तम्भ होने से मूत्राश्मरी शूल इत्यादि होते हैं।

प्रकुपित पित्त के कारण जब कभी स्रोतों में पाक या शोथ होता है तब भी

स्रोतोरोध उत्पन्न हो नाना विकार उत्पन्न होते है। इसी प्रकार कफ तथा आमदोष से मार्गावरोध होने पर भी स्रोतोरोध हो नाना विध रोग उत्पन्न होते है।

**द्विविध तथा षड्विध उपक्रम**—वाग्भट ने सभी उपक्रमो को दो विभागो मे विभक्त कर वर्णन किया है। पहला विभाग अपतर्पण चिकित्सा कहलाता है और दूसरे को सन्तर्पण चिकित्सा कहा गया है। सामान्य रूप मे सन्तर्पणोत्थ या सन्तर्पण निमित्तज व्याधियो की तथा आमदोषज व्याधियो की चिकित्सा अपतर्पणप्रधान होती है और अपतर्पण निमित्तज व्याधियो की तथा वातप्रधान रोगो की प्राय सन्तर्पण चिकित्सा की जाती है। कफ तथा पित्तद्रवधातु होने से अपतर्पण सह्य होते है परन्तु वात सदा सन्तर्पण साध्य ही है। यह क्षण भर भी अपतर्पण नही सह सकता। चरक ने इन्हे (प्रत्येक को ३–३ विभागो मे विभक्त कर) ६ भागो मे विभक्त कर दर्शाया है। जैसे–(१) लघन, (२) बृहण, (३) रूक्षण (४) स्नेहन, (५) स्वेदन और (६) स्तम्भन। इनमे लघन—रूक्षण तथा स्वेदन अपतर्पण-चिकित्सा के अन्तर्गत तथा बृहण-स्नेहन और स्तम्भन सन्तर्पण चिकित्सा के अन्तर्गत ग्रहण होते हैं।[२]

अपतर्पण चिकित्सा के अन्दर सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लघन चिकित्सा है। लघन चिकित्सा के अन्तर्गत चार प्रकार की सशुद्धियो का अर्थात् शिरोविरेचन, वमन, विरेचन तथा आस्थापन या निरुहवस्ति का, पिपासानिग्रह अर्थात् प्यास लगने पर भी जल का ग्रहण न करना, प्रवात का सेवन, आतप धूप मे बैठना या फिरना, पाचन द्रव्यो का उपयोग, उपवास और व्यायाम–इन सभी का ग्रहण होता है।[३] इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लघन का अर्थ केवल अनशन नही है। लंघन की व्याख्या करते हुए चरक मे कहा है कि जो आहार, औषध या उपाय शरीर मे लघुता उत्पन्न करे वह लघन कहलाता है।[३]

लंघन कर्म मे प्रयुक्त होने वाले द्रव्य प्राय. लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर तथा कठिन, इन गुणो से युक्त होते है।[४]

---

१ उपक्रमस्य द्वित्वाद्द्विधैवोपक्रमो मत।
एक सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पण ॥ (अ० हृ० सू० १४)

२ 'लङ्घन बृंहण कालो रूक्षण स्नेहन तथा।
स्वेदन स्तम्भन चैव जानीते य स वै भिषक् ॥ (च० सू० २२)

३ (I) चतुष्प्रकारा सशुद्धि पिपासामारुतातपौ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥' (च० सू० २८)
(II) 'यत्किञ्चिल्लाघवकर देहे तल्लङ्घन स्मृतम्' (च० सू० २८)

४ 'लघूष्णतीक्ष्णविशद रूक्ष सूक्ष्म खर सरम्।
कठिन चैव यद्द्रव्य प्रायस्तल्लङ्घन स्मृतम् ॥' (च० सू० २२)

शरीर मे आमदोष या कफ की वृद्धि से विकार उत्पन्न हो तो वहाँ लघन चिकित्सा करनी चाहिए। लघन से उक्त सभी कर्मो का ग्रहण है अत. रोगी के बलाबल का विचार कर जहाँ जो आवश्यक हो उनका व्यवहार करना चाहिए। जैसे—प्रभूत ( अत्यधिक ) श्लेष्म, पित्त, रक्त तथा मलयुक्त रोगी को अर्थात् जिस रोगी मे कफ, पित्त तथा रक्त का विकार अत्यधिक मात्रा मे हो तथा जिनके शरीर मे अत्यधिक मल का सचय हो गया हो, ऐसे बृहत्काय बली रोगी को जिसमे वायु का अनुबन्ध हो सशोधनो द्वारा लघन करावें।[1]

उपर्युक्त लघन के दशविध उपायो मे प्रथम चार ( शिरोविरेचन, वमन विरेचन तथा निरुहबस्ति ) को ही शोधन या सशुद्धि के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। अत इन चारो मे से जो आवश्यक हो उनसे सशोधन करावे।

जो मध्यबल रोगी हो तथा जिनके रोग भी मध्यबल वाले हो और कफ-पित्त समुत्थित हो जैसे—वमन-अतिसार-हृद्रोग-विपूचि-अलसक-ज्वर-विबन्ध-गौरव-उद्गार-हृल्लास-अरोचक प्रभृति, इन्हें वैद्य पहले पाचनो द्वारा लघन करावे।[2]

इन उपर्युक्त रोगो से पीड़ित रोगी यदि अल्पबल हो तथा उसके विकार भी अल्पबल हो तो उन्हे पिपासानिग्रह तथा उपवास ( अनशन ) रूप लघन से जीतने का प्रयत्न करें।[3]

उपर्युक्त अल्पबल रोग वाले मध्यबल रोगियो के रोगो को व्यायाम, आतप तथा मारुत ( प्रवात ) सेवनरूप लघन से जीते। ऐसे रोगी जो बलवान् हो परन्तु जिनका रोगबल अवर हो उन्हे भी व्यायाम, आतप तथा मारुतसेवा रूपी लघन देवे।[4]

त्वग्रोगी ( कुष्ठादि ) प्रमेहग्रस्त रोगी तथा अतिस्निग्ध, अभिष्यन्दित

---

१ 'प्रभूतश्लेष्मपित्तास्रमला ससृष्टमारुता।
बृहच्छरीरा बलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभिः॥' ( च० सू० २२ )

२. 'येषा मध्यबला रोगा. कफपित्तसमुत्थिताः।
वम्यतीसारहृद्रोगविसूच्यलसकज्वरा. ॥
विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासारोचकादय. ।
पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञ प्रायेणादावुपाचरेत्॥' ( च० सू० २२ )

३ 'एत एव यथोद्दिष्टा येषामल्पबला गदा ।
पिपासा निग्रहैस्तेषामुपवासैश्च ताञ्जयेत्॥' ( च० सू० २२ )

४. रोगाञ्जयेन्मध्यबलान् व्यायामातपमारुतै. ।
बलिना किं पुनर्येषा रोगाणामवर बलम्॥ ( च० सू० २२ )

(अभिष्यन्द रोगी), अतिवृंहित रोगियो को उपर्युक्त दशविध लंघन द्वारा चिकित्सा करे।[1] इत्यादि।

चरक ने अपतर्पण के तीन भेद बतलाये हैं जैसे—(१) लघन, (२) लघन-पाचन और (३) दोषावसेचन (सशोधन)। यहाँ लंघन पद से उपवास अर्थ समझना चाहिए। पहले लघन पद का व्यवहार व्यापक अर्थ मे हुआ है। दोषो का बल जब अल्प हो तो लघन (उपवास) कराना चाहिए। लघन (उपवास) मे अग्नि तथा वायु की वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप अल्प दोष उस प्रकार दूर हो जाता है जिस प्रकार थोड़ा जल, वायु तथा अग्नि मे सूख जाता है। शरीर-अग्नियो का प्रमुख कार्य आहार तथा आहार-रस का पाचन है। अनशन-काल मे पाचनार्थ अन्न के न मिलने पर देहाग्नि कुपित दोषो तथा वृद्ध धातुओ का पाचन करने लगती है। इस प्रकार कुपित दोष के अग्नि द्वारा दग्ध हो जाने पर अग्नि का आवरण नष्ट हो जाता है जिससे वह अधिक कार्यक्षम हो जाती है। लंघन करने से धातुओ को पोषक-सामग्री प्राप्त नही होती जिससे स्वभावत गुरु, स्निग्ध, असुषिरता आदि गुण क्षीण हो जाते हैं जिससे वायु की वृद्धि होती है।[2]

**लंघन पाचन**—मध्यबल दोषो के लिए लंघन-पाचन का विधान है। लघन तथा पाचन द्रव्यो या क्रिया से मध्यबल दोष उस प्रकार नि:शेष अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जैसे बहुत अधिक जल के न होने पर सूर्य तथा वायु की क्रिया होने से तथा धूलि छोड़े जाने पर जल बिल्कुल सूख जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि लंघन से वायु तथा अग्नि की वृद्धि होने पर वे वायु और सूर्य के समान जल को शोषण करने का कार्य करते हैं और पाचन द्रव्य आमदोष को जल मे धूलि छिड़कने के समान नष्ट कर देता है।[3]

**दोषावसेचन**—बहुत दोष वालो के लिए दोषो का अवसेचन (सशोधन) कराना चाहिए। जैसे क्षेत्र मे अधिक वर्षा के कारण अधिक जल का सचय

---

१ 'त्वग्दोषिणा प्रमूढाना स्निग्धाभिष्यन्दिबृंहिणाम्।
शिशिरे लङ्घन शस्तमपि वातविकारिणाम्॥' (च० सू० २२)

२ (i) 'अपतर्पण च त्रिविधम्—लङ्घन, लङ्घन-पाचन, दोषावसेचन चेति।' (च० वि० ३-४९)

(ii) 'लङ्घनमल्पबलदोषाणाम्' लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्ध्या वातातपपरीतमिवाल्प-मुदकमल्पो दोष प्रशोषमापद्यते।' (च० वि० ३-४९)

(iii) 'आहारमग्नि पचति दोषानाहारवर्जित.।' (चि० १०)

३ 'लङ्घने पाचने तु मध्यबलदोषाणाम्। लङ्घनपाचनाभ्यां हि सूर्यसन्तापमारुताभ्या पांशुभस्मावकिरणैरिव अनतिबहूदक मध्यबलो दोष प्रशोषमापद्यते॥' (च० वि० ३)

होने पर क्षेत्र के पौधे गलने लगते हैं। ऐसी अवस्था मे उस क्षेत्र के बाँध को काट देने पर जिस प्रकार सम्पूर्ण जल बाहर निकल जाता है उसी प्रकार दोषाव-सेचन से शरीर में एकत्रित दोष शरीर से बाहर निकल जाते हैं और शरीर क्षेत्र के पौधो की भाँति निर्मल हो जाता है अर्थात् विकृत या नष्ट नही होने पाता।[1]

वाग्भट ने अपतर्पण को ही लघन कहा है और लघन के दो भेद (१) शोधन और (२) शमन बतलाया है। शोधन के अन्तर्गत वमन, विरेचन, शिरोविरेचन और निरूह या आस्थापन वस्ति का वर्णन किया है। सुश्रुत ने शोधन के अन्तर्गत रक्तमोक्षण का भी ग्रहण किया है। चरक के चतुष्प्रकारा संशुद्धि से शोधन का तथा शेष का शमन के अन्तर्गत ग्रहण होता है।[2]

शमन द्रव्य या क्रिया वह है जो प्रकुपित या किसी भी दशा मे स्थित दोषो का किसी भी द्वार से निर्हरण न करे तथा यदि दोष समावस्था मे हो तो उनकी वृद्धि भी न करें, परन्तु विषम दोषो को समावस्था मे ले आवे। शमन के ही भेद पाचन, दीपन, क्षुधानिग्रह, तृषानिग्रह, व्यायाम, आतप तथा वायु सेवन करना है।

नव्य (आधुनिक चिकित्सा) मत से लघन का यह परिणाम होता है कि नित्य होने वाले धातुपाक (Metabolism) के लिए इन्धनात्मक आहार-द्रव्य (जो आवश्यक होते हैं, उन) की प्राप्ति भोजनरूप मे न होने से देह या देहाग्नि, काय मे सचित अनावश्यक द्रव्यो का उपभोग करने लगती है। प्राकृतिक चिकित्सिको का कहना है कि लघनकाल मे देहप्रकृति-सचित विषो का ही दहन कर उनकी समाप्ति करती है जिससे क्षमता या रोग-प्रतिकार-शक्ति मे वृद्धि होती है। प्राकृतिक चिकित्सको का विचार आयुर्वेद-सम्मत है। आधुनिक चिकित्साविज्ञो का साम्प्रतिक विचार लंघन के पक्ष मे नहीं है। वे सन्तर्पण चिकित्सा के पक्ष मे सम्प्रति अधिक उन्मुख दीख पडते हैं।

**लंघनसाध्यरोग**—रसज, आमदोषज तथा आमाशय से उत्पन्न होने वाली समस्त व्याधियो का अर्थात् कफज तथा पित्तज रोगो का प्रमुख उपचार लंघन है।[3] यहाँ लंघन से लघन के सभी भेदों का ग्रहण है, परन्तु मुख्य उपयोग अनशनरूप लंघन का ही होता है। आमाशयोत्थरोगों में अनशनरूप लघन का

१. बहुदोषाणा पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्। न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलप्रसेकोऽस्ति। तद्वद् दोषावसेचनम॥' (च० वि० ३)

२. (i) 'शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम्' (अ० हृ० सू० १४)
(ii) एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पण।
बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ॥ (अ० हृ० सू० १४)

३. 'रसजानामामाशयोत्थानां व्याधीना लघनक्रिया। (च० नि० १-३)

प्रयोजन एक मात्र आम दोष का पाचन है। जैसे ज्वर मे सामान्य तथा प्रथम उपचार अनशनरूप लंघन है।[1] इसकी उपयोगिता दर्शाते हुए आचार्य कहते हैं कि 'आमदोष आमाशय की अग्नि को नष्टकर स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न करता हुआ ज्वर को उत्पन्न करता है अत इसमे लघन करना चाहिये।[2] तात्पर्य यह कि यहाँ लघन का प्रयोजन आमदोष का पाचन है। आम के पाचन हो जाने पर दोष आमरहित हो अपने प्रकृत कर्म को करने लगते हैं और अग्नि भी आम के आवरण से मुक्त हो यथाशक्ति कार्यक्षम हो जाती है (इस विषय को ज्वर की सम्प्राप्ति मे तथा चिकित्सा मे और भी स्पष्ट किया जायगा)।

इसी प्रकार आमाशयोत्थ छर्दि मे भी लंघन कराने का विधान है। कहा है कि सब प्रकार की छर्दि आमाशय मे उत्क्लेश होने से उत्पन्न होती है अतः इनमें लंघन कराना हित है।[3] चरक ने इसमे सशोधनरूप लघन कराने का भी विधान किया है।

मेह, आमदोष, अतिस्निग्ध, ज्वर, ऊरुस्तंभ, कुष्ठ, विसर्प, विद्रधि, प्लीहरोग, शिरोरोग, कण्ठरोग, अक्षिरोग, स्थौल्य प्रभृति में तथा हेमन्तऋतु मे अन्यरोगो में भी आवश्यकतानुसार लंघन करावे।[4]

**रूक्षण क्रियारूप लंघन**—शरीर मे जो द्रव्य या उपाय रौक्ष्य, खरता तथा वैशद्य उत्पन्न करे उसे 'रूक्षण' कहते हैं। रूक्षण द्रव्य प्रायः रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर, अपिच्छिल तथा कठिन गुणवाला होता है। कटु, तिक्त कषायरस-द्रव्य का सेवन, स्त्री-संभोग मे असयम, खल्लि (पिण्याक), तक्र तथा मधु आदि का सेवन रूक्षण है। यह अभिष्यन्द से पीडित, महादोषवाली, मर्मस्थव्याधियो मे तथा ऊरुस्तंभ प्रभृति आमदोषजनित व्याधियो में प्रशस्त है।[5]

---

१ 'ज्वरस्यैकस्य चाप्येका शान्तिर्लंघनमुच्यते।
आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधापयन्॥
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात् कुर्वीत लघनम्॥' (अ० हृ० चि० १)

२. (i) 'रसजाना विकाराणा सर्वं लघनमौषधम्॥' (च० सू० २८)
(ii) 'आमप्रदोषजाना पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति॥' (च० वि० २)

३. 'आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लघनमेव तस्मात्।
प्राक् कारयेन्मारुतजा विहाय, सशोधन वा कफपित्तहारि॥ (च० चि० २०)

४ 'मेहामदोषातिस्निग्धज्वरोरुस्तम्भकुष्ठिन।
विसर्पविद्रधिप्लीहशिर कण्ठाक्षिरोगिण॥
स्थूलाश्च लघयेन्नित्य शिशिरे त्वपरानिव॥' (अ० हृ० सू० १४)

५ (i) रौक्ष्य खरत्व वैशद्य यत्कुर्यात्तद्धि रूक्षणम्।
रूक्ष लघु खर तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्॥
प्रायश कठिनं चैव यद्द्रव्य तद्धि रूक्षणम्॥ (च० सू० २२)

**स्वेदन** क्रिया रूप लंघन—स्तम्भ, गौरव तथा शीत को नाश करने वाला, **स्वेदकारक** ( पसीना लाने वाला ) द्रव्य या उपाय स्वेदन कहलाता है। स्वेदन द्रव्य प्राय. उष्ण, तीक्ष्ण, सर, स्निग्ध, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर तथा गुरु गुण विशिष्ट होता है।[1]

वातविकार, कफविकार, तथा वातकफज रोगो मे स्वेद-कर्म करना चाहिए। वातज विकारो मे स्निग्ध-स्वेद तथा कफज-विकारो मे रूक्षस्वेद करना श्रेयस्कर है। वात कफज-विकार मे स्निग्ध तथा रूक्ष, दोनो प्रकार का स्वेद करना लाभप्रद होता है। ( च सू १४ )

**सन्तर्पण चिकित्सा**—के अन्तर्गत बृंहण, स्नेहन तथा स्तम्भनक्रिया का ग्रहण होता है। वाग्भट ने सन्तर्पण चिकित्सा को बृंहणचिकित्सा भी कहा है। शरीर तथा शारीर धातुओ को जो द्रव्य या उपाय बढावे उसे बृंहण कहते हैं। बृंहण द्रव्य प्राय गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, स्थूल, पिच्छिल, मन्द, स्थिर तथा श्लक्ष्ण गुणवाला होता है।[2]

क्षीण, क्षत से पीडित, कृश, वृद्ध, दुर्बल तथा नित्य अध्वगामी, नित्य स्त्री-सभोग करने वाला, नित्य मद्यपायी मनुष्य को बृंहण करना आवश्यक होता है। ग्रीष्म ऋतु मे स्नेहाश का शरीर मे क्षय होने से सबो को बृंहण देना चाहिए।[3]

अदिग्ध, अविद्ध, अक्लिष्ट तथा वयस्थ एव सात्म्यचारी मृग-मत्स्य तथा पक्षियो का मास बृंहण होता है। शोष, अर्श, ग्रहणी विकार—इन रोगों मे कर्षित पुरुष को क्रव्याद ( मासभक्षी पशुपक्षियो के ) मांस-रस से बृंहण कराना चाहिए। स्नान, उत्सादन, शयन ( निद्रा ) मधुर रस वाले द्रव्य, स्नेहवस्तियाँ, शर्करा, क्षीर और घी ये सब बृंहण होते हैं।[4]

---

( ग ) 'च० सू० २२-२९, ३० ।'

१ 'स्तम्भगौरव शीतघ्न स्वेदन स्वेदकारकम् ।
उष्ण तीक्ष्ण सर स्निग्ध रूक्ष सूक्ष्म द्रवस्थिरम् ॥
द्रव्यं गुरु च यत्प्रायस्तद्धिस्वेदनमुच्यते ॥ ( च० सू० २८ )

२ 'बृहत्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम् ।
गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहल स्थूलपिच्छिलम् ॥
प्रायो मन्द स्थिरं श्लक्ष्ण द्रव्यं बृंहणमुच्यते ॥ ( च० सू० २२ )

३. 'क्षीणा' क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगा ।
स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नरा स्मृता' ॥ ( च० सू० २२ )

४ 'अदिग्धविद्धमक्लिष्ट वयस्थ सात्म्यचारिणाम ।
मृगमत्स्यविहङ्गाना मास बृंहणमुच्यते ॥
शोषार्शोग्रहणीदोषैर्व्याधिभिः कर्शिताश्च ये ।
तेषा क्रव्यादमासाना बृंहणा लघवो रसा ॥

स्नेहन भी सन्तर्पण-चिकित्सा का ही अङ्गविशेष है जो द्रव्य या उपाय शरीर मे स्निग्धता, विष्यन्दता, मृदुता तथा क्लेद उत्पन्न करें वे स्नेहन कहलाते हैं। स्नेहन-द्रव्य प्राय द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल मन्द तथा मृदुगुण विशिष्ट होते हैं।[1]

स्नेह चार प्रकार के होते हैं। इनमे वात-विकारो मे तैल का स्नेह और पित्तविकारो मे घृत का स्नेह प्रशस्त है। वसा या मेद (चर्बी) का प्रयोग वसा-सात्म्यरोगियो में जिनका अग्नि-बल प्रवर होता है, करते हैं। ऐसे रोगी जो वायु तथा आतप को सह सकते हो, जिनका शरीर रूक्ष हो और भारवाहन तथा अध्वगमन से जिनका शरीर कृश हो गया हो, शुक्र तथा रुधिर जिनका सूख गया हो, कफ तथा मेद जिनमे क्षीण हो गये हो, जिनके अस्थियो, सन्धियों सिराओ, स्नायुवो मे तथा मर्म और कोष्ठ में पीडा हो तथा बली वायु जिनके स्रोतो को आवृत कर लिए हो उनको वसापान कराना श्रेयस्कर है।[2]

क्लेश सहन करने वाले बहुभक्षी स्नेह-सेवियों को जिनकी अग्नि दीप्त हो तथा क्रूर कोष्ठ वाले हो और वातविकार से पीडित हो उन्हे मज्जा से स्नेहन कराना चाहिए।[3]

---

स्नानमुत्सादनं स्वप्नो मधुरा. स्नेहबस्तय ।
शर्कराक्षीरसर्पींषि सर्वेषा विद्धि बृंहणम् ॥' (च० सू० २२)

१. स्नेहन स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम् ।
द्रव सूक्ष्म सर स्निग्ध पिच्छिलं गुरु शीतलम् ॥
प्रायो मन्दं मृदु च यद्द्रव्यं तत्स्नेहनं मतम् । (च० सू० २२)

२ (i) 'सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मता ।
× × × ×
घृतं पित्तानिलहरं, रसशुक्रौजसा हितम् ॥
× × × ×
वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये ।
× × × ×
पिबेयु शीतले काले तैलं तैलोचिताश्च ये ॥' (च० सू० १३)

(ii) 'वातातपसहा ये च रूक्षभाराध्वकर्शिता ।
संशुष्करेतोरुधिरा निष्पीतकफमेदस ॥
अस्थिसन्धिसिरास्नायुमर्मकोष्ठमहारुज ।
बलवान् मारुतो येषा खानि चावृत्य तिष्ठति ॥
महच्चाग्निबलं येषा वसासात्म्याश्च ये नरा ।
तेषा स्नेहयितव्याना वसापानं विधीयते ॥' (च० सू० १३)

३ 'दीप्ताग्नय क्लेशसहा घस्मरा स्नेहसेविन ।
वातार्ता: क्रूरकोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नुयुः ॥' (च० सू० १३)

**स्तम्भन**—भी सन्तर्पण चिकित्सा का ही अंगविशेष है जो द्रव्य या उपाय शरीर के गतिमान् तथा चलभावो को स्तंभित करे उसे स्तंभन कहते हैं। स्तंभन द्रव्य प्रायः शीत, मन्द मृदु, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर तथा लघु गुण विशिष्ट होता है।[1]

ऐसे आहार तथा औषध-द्रव्य जो द्रव, तनु तथा असर ( अस्रसण अर्थात् रेचक नहीं हो ) और शरीर मे शैत्य उत्पन्न करने वाले हो, स्वादु, तिक्त कषाय रस विशिष्ट हो तो वे स्तंभन होते हैं। जो पित्त, क्षार, अग्निदग्ध, वमन तथा अतिसार से पीडित एव विष-स्वेद के अतियोग से पीड़ित हो उन्हे स्तंभन कराना चाहिए।[2]



१ 'स्तम्भन स्तम्भयति यद् गतिमन्त चल ध्रुवम् ।
शीत मन्द मृदु श्लक्ष्ण रूक्ष सूक्ष्म द्रव स्थिरम् ॥
यद् द्रव्य लघु चोद्दिष्ट प्रायस्तत्स्तम्भन स्मृतम् ॥' च० सू० २२ )

२. 'द्रव तन्वसरं यावच्छीतीकरणमौषधम् ।
स्वादुतिक्त कषाय च स्तम्भन सर्वमेव तत् ॥
पित्तक्षाराग्निदग्धा ये वम्यतीसारपीडिता ।
विषस्वेदातियोगार्त्ता स्तम्भनीया निदर्शिता ॥' ( च० सू० अ० २८ )

# पञ्चम-अध्याय

**पञ्चकर्म चिकित्सा**—आयुर्वेद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा चमत्कारी एवं स्थायी प्रभाव को दर्शाने वाला चिकित्सा का विभाग पञ्चकर्म विभाग है। चिकित्सा के दो मुख्य विभागो का प्रथम विभाग शोधन चिकित्सा का अङ्गभूत पञ्चकर्म-चिकित्सा है। आचार्यों ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि लघन तथा पाचन द्वारा जीते ( शमन किये ) हुए दोष कदाचित् प्रकुपित हो जाते हैं परन्तु संशोधनो से निर्मूल किये हुए व्याधियो का पुनः उद्भव नही होता। इस तथ्य को सोदाहरण समझाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार किसी वृक्ष को निर्मूल न काटने पर वह पुन. अङ्कुरित हो जाता है उसी प्रकार रोगो के कारण या मूलदोषो को लघन-पाचन आदि शमन क्रियाओ से शान्त करने पर वे पुनः अनुकूल कारण को प्राप्त कर आ जाते हैं अर्थात् रोग का पुनरावर्त्तन हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार वृक्ष के निर्मूल विनाश कर देने पर उसका पुनरुद्भव नही होता उसी प्रकार सशोधनो द्वारा रोगो के मूलदोषो का निर्हरण कर देने पर रोगो का पुनरुद्भव नही होता।[1]

पञ्चकर्म का वर्णन चरकसहिता सूत्रस्थान मे सकेतमात्र तथा कल्प और सिद्धिस्थानो मे विस्तार से प्राप्त होता है, सुश्रुत ने इसका वर्णन चिकित्सा स्थान मे किया है। वाग्भट ने सूत्रस्थान मे ही इसका वर्णन किया है। काश्यप-संहिता के सूत्रस्थान मे भी पञ्चकर्म का वर्णन उपलब्ध होता है। इन आर्ष-ग्रन्थो के आधार पर अन्य ( लघुत्रयी ) सहिताओ मे भी इसका वर्णन प्राप्त होता है।[2]

**पञ्चकर्म**—पञ्चकर्म का शाब्दिक अर्थ है पाँच कर्म। कर्म की व्याख्या करते समय कहा है कि 'कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म' ( च० सू० १ ) अर्थात् कर्त्तव्य को

---

१ 'दोषा' कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
जिताः सशोधनै र्ये तु न तेषा पुनरुद्भव ॥
दोषाणा च द्रुमाणाञ्च मूलेऽनुपहते सति।
रोगाणा प्रसवाना च गतानामागतिर्ध्रुवा ॥' ( च० सू० १६ )

२ ( i ) च० सू० अ० २, अ० १३, १४; अ० १५, १६।
( ii ) च० कल्पस्थान सम्पूर्ण, सिद्धिस्थान सम्पूर्ण।
( iii ) सु० चि० अ० ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९।
( iv ) वा० सू० अ० १५, १६, १७, १८, १९, २०।
( v ) का० सू० अ० २२, २३, २४।

क्रिया को कर्म कहते है। शोधन-चिकित्सा मे वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन तथा अनुवासन—ये पांच क्रियाये कर्त्तव्य होती है अत इन पाँच प्रकार के कर्त्तव्य की क्रियाओ को 'पञ्चकर्म' कहा जाता है। शल्यतन्त्रविदो के अनुसार रक्तमोक्षण भी शोधन-चिकित्सा का एक कर्मभूत अङ्ग माना गया है।

पञ्चकर्म प्रकरण मे इन उपर्युक्त पांच कर्मो को ही कर्म क्यो कहा गया है इसकी मीमासा करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि—'इह वमनादिषु कर्मलक्षण वह्विितिकर्त्तव्यतायोगि दोषनिर्हरण-शक्ति ज्यायस्त्वम्।' (च० सू० २-१५) अर्थात् यहाँ वमनादि को कर्म इसलिए कहा है क्योकि इनमे दोषो के निर्हरण की ( शोधन को ) शक्ति होती है जिनसे अन्य कर्मो की अपेक्षा इनका प्राधान्य या श्रेष्ठत्व स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त इन कर्मों मे कर्त्तव्य क्रिया अन्य की अपेक्षा अधिक होती है। अत इस कर्मवैशेष्य के कारण ही 'पञ्चकर्म' मे प्रयुक्त 'कर्म' पद से इन उपर्युक्त वमनादि का ही ग्रहण किया है। आयुर्वेद मे सशमन चिकित्सा की अपेक्षा सशोधन चिकित्सा का महत्त्व अत्यधिक बतलाया गया है।

किसी-किसी आचार्य ने पञ्चकर्म के पूर्वकर्मो ( स्नेहन और स्वेदन ) का ग्रहण कर सप्तकर्मो का भी शोधन चिकित्सा मे निर्देश किया है। परन्तु दीपिकाकार ने यह उक्ति देते हुए कि स्नेहन और स्वेदन दोप-निर्हरण नही करते, इस मत का प्रतिवाद किया है। उन्होने कहा है कि स्नेहन तथा स्वेदन पञ्चकर्म के पूर्वाग के रूप मे ही उपयोग मे आता है। उसका हेतु तथा लक्ष्य दोष-निर्हरण न होकर निर्हरण योग्य बनाना है। दोप-निर्हरण तो वमनादि द्वारा ही होता है। स्नेहन तथा स्वेदन दोपो को शाखाओ से कोष्ठ मे ला देते हैं जो दोषो के स्थान हैं। अनुवासनवस्ति को शोधन चिकित्सा का कर्मभूत अङ्ग कोई कोई आचार्य नही मानते 'परन्तु आन्त्रगत पुरीष तथा वायु ( पक्वाशयगत वायु ) की शुद्धि इससे भी होती है अत शोधन के अन्तर्गत ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नही।

निष्ठीवन, अञ्जन आदि चिकित्सा के कर्मों मे मल-निष्कासन कर्म होने पर भी वमन आदि के समान दोपनिर्हरण शक्ति नही होती। अत इन्हे कर्मो की मुख्य गणना में स्थान नहीं मिला। उत्तर वस्ति दो प्रकार की होती है जैसे स्नेहरूप और निरूहरूप—अत. इनका अन्तर्भाव अनुवासन तथा निरूहवस्ति मे हो जाता है।

वाग्भट ने पञ्चकर्म के प्रधान लक्ष्य **संशोधन का** ध्यान रखते हुए अनुवासन को छोडकर शल्यतन्त्रविदो के **'रक्तमोक्षण' का पञ्चकर्म में ग्रहण** कर लिया है। कायचिकित्सको ने सशोधन के अन्तर्गत **चार प्रकार की संशुद्धियो** ( वमन, विरेचन और आस्थापन ) का ही ग्रहण किया है।

**पञ्चकर्म के प्रयोजन**—स्वस्थवृत्त के प्रकरणो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋतुस्वभाववश तत्तद् दोष का तत्तद् ऋतु मे सचय तथा प्रकोप होता है। इन ऋतुओ मे तत्तद् दोषप्रकोपक-आहार-विहार भी दोषो के सचय तथा प्रकोप के कारण होते हैं। तत्तद् दोष के सचय तथा प्रकोप से तत्तद् दोषज व्याधियाँ भी उत्पन्न होती हैं। जैसे—वर्षाऋतु मे स्वभाव से ही पित्त का सचय होता है। इस सचय का प्रतिकार नही होने पर शरद् मे पित्तदोष उत्तरगति अर्थात् प्रकोपावस्था को प्राप्त हो जाता है। यदि सचयावस्था मे ही दोष का निर्हरण कर दिया जाय तो वह उत्तरगति को प्राप्त नही होगा और पित्तजविकार से ( अम्लपित्तादि से ) मनुष्य सुरक्षित रह स्वस्थ रहेगा।[१]

वर्षा-ऋतु मे अम्लविपाकादि ऋतुस्वभाव-वश पित्त प्रथम सचित होता है पश्चात् विदाही, अम्ल-प्रभृति पित्तप्रकोपक आहार-विहार के सेवन से विदाहजनित अम्लगुण के कारण अम्लगुणप्रधान पित्त का उद्रेक होकर अम्लपित्तरोग उत्पन्न होता है।

अम्लपित्त की इस सम्प्राप्ति का विचार कर यदि पित्त का शरद्काल मे निर्हरण कर दिया जाय तो मनुष्य उक्त रोग के आक्रमण से बच जाय। यही कारण है कि आचार्यों ने शरदृतु मे पित्तदोष के निर्हरण का विधान किया है। इसी प्रकार हेमन्त मे सचित कफ का वसन्त मे निर्हरण करना कफरोग से बचाने के लिये तथा वर्षा मे वायु के शमन का विधान वायु के विकारो से बचने के लिए किया गया है।[२]

**संशोधन का महत्त्व**—अजीर्ण, अरुचि, स्थौल्य ( मेदोवृद्धि ), पाण्डुता, गौरव, क्लम, पिडका, कोढ, कण्डु, अरति, आलस्य, श्रम, दौर्बल्य, दौर्गन्ध्य ( मुख-मल-मूत्र-त्वचा आदि मे ), मनोऽवसाद, श्लेष्मा तथा पित्त का उत्क्लेश, तन्द्रा, क्लैव्य, बुद्धिमान्द्य, दुष्टस्वप्न का आना तथा बृहण अन्नपान के सेवन करने पर भी बल-वर्ण का नाश, बहुदोष ( प्रकोप ) के लक्षण हैं। इनमे दोष के प्रमाण और रोगी का बल देखकर ऊर्ध्व तथा अध सशोधन ( वमन-विरेचन ) देना

---

१ 'विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तप्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत् तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः॥' ( मा० नि० )
'× × × विदग्धं कुपितम्। स्वहेतूपचितं पुरा यदिति वर्षासु जलौषधिगत-
विदाहादिभिः स्वहेतुभिरुपचितं सञ्चयमापन्नम्। यदुक्तं—वर्षास्वम्लविपाकित्वाद-
द्भिरोषधिभिस्तथा। सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्यतेजसा। ( च० नि० ३।४४ )
इति। विदाहाद्यम्लगुणोद्रिक्तं पित्तमम्लपित्तम्। ( मधुकोष )
२ 'हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्॥' ( सु० सू० ६-३८ )

हितकर है। ऊर्ध्वाध. सशोधन की फलश्रुति बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि 'ऊर्ध्वाध सशोधन द्वारा कोष्ठ की शुद्धि हो जाने से उसमे सञ्चित हुए दोषो का निर्हरण होने के कारण उनका आवरण जाठराग्नि पर रहने नही पाता। परिणामस्वरूप जाठराग्नि प्रदीप्त होती है और रोग शान्त हो जाते हैं। संशुद्ध पुरुष उत्तरोत्तर स्वास्थ्य-लाभ करता है। उसकी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि निर्मल हो जाती है। वर्ण सुधरता है तथा वह मनुष्य बल, पुष्टि, वृषता तथा सन्तान प्राप्त करता है। वार्धक्य उसमे विलम्ब से आता है। वह नीरोग रहकर दीर्घायु लाभ करता है अत मनुष्य को उक्तलाभप्राप्त्यर्थ यथाकाल युक्तिपुरस्सर सशोधन का सेवन करना परमावश्यक है।[1] पञ्चकर्म चिकित्सा का प्रधान कर्म या अङ्ग है। इस कर्म को करने के पूर्व स्नेहन तथा स्वेदन करना सामान्यत आवश्यक होता है। पञ्चकर्म के पूर्व इन कर्मो को करने से ये पूर्वकर्म कहलाते हैं। पञ्चकर्म के पश्चात् जो कर्म किये जाते हैं उन्हे संसर्जनक्रम कहते हैं।[2]

## पूर्वकर्म

**स्नेहन**—जो द्रव्य शरीर मे स्निग्धता, द्रवता अथवा स्नेह का स्रवण, मृदुता तथा क्लेद उत्पन्न करे, उसे स्नेहन कहते हैं। स्नेहन द्रव्य—द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द तथा मृदु, इन गुणो से युक्त होता है।[3]

---

१ 'अविपाकोऽरुचि स्थौल्य पाण्डुता गौरव क्लमः।
पिडकाकोठकण्डूना सम्भवोऽरतिरेव च ॥
आलस्यश्रमदौर्बल्य दौर्गन्ध्यमवसादक· ।
श्लेष्मपित्तसमुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता ॥
तन्द्राक्लैब्यमबुद्धित्वमशस्तस्वप्नदर्शनम् ।
बलवर्णप्रणाशश्च तृप्यतो बृंहणैरपि ॥
बहुदोपस्य लिङ्गानि तस्मै सशोधन हितम्।
ऊर्ध्व चैवानुलोम च यथादोष यथाबलम् ॥
एव विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते ।
व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्त्तते ॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति ।
बल पुष्टिरपत्य च वृषता चास्य जायते ॥
जरा कृच्छ्रेण लभते चिरं जीवत्यनामय· ।
तस्मात् सशोधन काले युक्तियुक्त पिबेन्नरः ॥' (च० सू० १६)

२. 'तान्युपस्थितदोषाणा स्नेहस्वेदोपपादनै ।
पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन् ॥' (च० सू० अ० २)

३ 'स्नेहन स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारम्। द्रव सूक्ष्म सर स्निग्धं पिच्छिल गुरु-शीतलम्। प्रायोमन्द मृदु च यद्द्रव्य तत् स्नेहन स्मृतम् ॥' (च० सू० २२)

स्नेहन से वायु का नाश होता है, शरीर मृदु हो जाता है और आँतो मे स्थित मलसंग नष्ट हो जाता है। शरीर मे तथा स्रोतो मे चिपके हुए दोष स्नेहन से पृथक् हो जाते हैं। जिस प्रकार स्नेह भावित पात्र मे मधु चिपकता नही उसी प्रकार स्निग्धकाय मे दोष चिपकने नही पाते।[1]

**स्नेहन के योग्य**—जिन्हे स्वेदन कराना हो तथा संशोधन देना हो, मद्यासक्त, स्त्री मे आसक्त, व्यायाम करनेवाले, चिन्तक ( चिन्ता करने वाले ), वृद्ध, बालक, अबल, कृश, रूक्षशरीर वाले, क्षीणरक्त तथा क्षीणशुक्र वाले, वातव्याधि से पीडित, अभिष्यन्द से पीडित, तिमिर से पीडित तथा जो कठिनता से ( आँखो के पलकों का ) उन्मीलन करने मे समर्थ हो वे स्नेहन के योग्य होते हैं।[2]

स्नेह मुख्यत. चार प्रकार के हैं। घृत, तैल, वसा और मज्जा। इनमे भी घृत सभी स्नेहो मे उत्तम है क्योकि यह सब प्रकार के सस्कारो का शीघ्र अनुवर्त्तन कर लेता है। स्नेहो की योनि दो प्रकार की है जैसे—स्थावर और जङ्गम।[3]

**स्थावर स्नेहों की योनि**—तिल, सर्षप, कुसुम्भ, प्रियाल, अभिषुक, बिभीतक, चित्रक, एरण्ड, मधूक ( महुआ ), विल्व, आरुक मूलक, अतसी, निकोच ( पिस्ता ), आक्षोड ( अखरोट ), करञ्ज, शिग्रु प्रभृति स्थावर स्नेह की योनि हैं। इन सभी स्थावर स्नेह-योनियो मे तिल से उत्पन्न तैल बलवृद्धि के लिए तथा स्नेहन के लिए विशिष्ट माना गया है एरण्डतैल रेचनकार्य के लिए विशिष्ट माना गया है। एरण्ड का तैल कटु, उष्ण, गुरु और वात तथा कफहर है। कषाय, स्वादु और तिक्त द्रव्यो के योग से यह पित्तहर भी होता है।[4]

---

विष्यन्दो-विलयन द्रवीभाव इत्यर्थ. ( यो० )। स्नेहविष्यन्द' शरीरस्य स्नेहविलयन, शरीरात् स्नेहक्षरणमिव। ( ग )

१. 'स्नेहोऽनिल हन्ति मृदु करोति, देह मलाना विनिहन्ति सङ्गम्।' ( च० सि० १ )

२ 'स्वेद्यसशोध्य मद्य स्त्री-व्यायामासक्तचिन्तका'।
वृद्धबालाऽबला-कृशारूक्षा क्षीणास्ररेतस ॥
वाताभिस्यन्दतिमिरदारुणप्रतिवोधिन.। स्नेह्या ·· ·· ।' ( अ० हृ० सू० १६ )

३ ( i ) 'सर्पिस्तैल वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मता।
एषु चैवोत्तम सर्पि. सस्कारस्यानुवर्त्तनात् ॥' ( च० सू० अ० १३ )
( ii ) 'स्नेहाना द्विविधा सौम्य योनि स्थावरजङ्गमा ॥' ( च० सू० अ० १३ )
( iii ) तत्र द्वियोनिश्चतुर्विकल्पोऽभिहित स्नेह स्नेहगुणाश्च।' ( सु० चि० ३१ )

४ ( i ) 'तिल प्रियालाभिषुकौ विभीतकश्चित्राऽभयैरण्डमधूकसर्षपा.।
कुसुम्भविल्वारुकमूलकातसी निकोचकाक्षोटकरञ्जशिग्रुका.॥
स्नेहाशया स्थावरसशितास्तथा··· ··· ·· ··· ॥' ( च० सू० १३)
( ii ) 'सर्वेषा तैलजाताना तिलतैल विशिष्यते।
बलार्थे स्नेहने चाग्र्यमैरण्ड तु विरेचने ॥

**तैल**--सब प्रकार के तेल वायु को नष्ट करने वाले परन्तु श्लेष्मवर्धक नहीं, बलवर्धक, त्वचा के लिये हितकारी, उष्ण, शरीर को स्थिर करने वाले तथा योनिविशोधन होते हैं।[1]

**जङ्गमस्नेहों की योनि**--घृत, वसा और मज्जा ये स्नेह जङ्गम-योनिज हैं। इनकी योनि (प्राप्तिस्थान) पशु, पक्षी मत्स्य प्रभृति हैं।[2] इनमे भी घी सर्वोत्तम है।

**घृत**—पित्त तथा वायु को शान्त करता है। रस, शुक्र तथा ओज के लिये हितकारी है, दाह को शान्त करता है, शरीर मे मृदुता उत्पन्न करता है तथा स्वर और वर्ण का प्रसादन करने वाला है।[3] यह कफ का संचय नही करता, बल, अग्नि तथा मेधा को उत्पन्न करता है और शुक्र तथा योनि-विशोधन है ( का० )।

**वसा**—विद्ध, भग्न, आहत, भ्रष्टयोनि, कर्ण तथा शिर शूल मे लाभ करता है। पौरुष ( पुंस्त्व शक्ति के उपचयार्थ ) तथा व्यायाम करने वालो के लिये स्नेहन कर्म मे वसा प्रशस्त है।[4]

**मज्जा**—बल, शुक्र, रस, श्लेष्मा तथा मेद एव मज्जा को बढाता है। यह विशेषकर अस्थियो को बल प्रदान करने के लिए स्नेहन मे हितकर माना गया है।[5] मज्जा तथा वसा दोनो वातघ्न, वृष्य, सन्तानोत्पत्ति, बल एव आयु को स्थिर करते हैं ( का० )।

**स्नेहपान का काल**—शरद् ऋतु मे घृत का पान ( स्नेहनार्थ ) प्रशस्त है। वसा तथा मज्जा का स्नेहनार्थ पान वैशाख मे करना चाहिए। तैल का

---

कट्वूष्ण तैलमैरण्ड वातश्लेष्महर गुरु ।
कषायस्वादुतिक्तैश्च योजित पित्तहन्त्रपि ॥ ( च० सू० १३ )
( iii ) 'तत्र स्थावरेभ्यस्तिलतैल प्रधानमिति ।' ( सु० चि० ३१ )

१ मारुतघ्न न च श्लेष्मवर्धन बलवर्धनम् ।
त्वच्यमुष्ण स्थिरकर तैल योनिविशोधनम् ॥' ( च० सू० १३ )

२ ( i ) 'तथा, स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगा सपक्षिण । तेषा दधिक्षीरघृतामिष वसास्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ।' ( च० सू० अ० १३ )
( ii ) 'तत्र जङ्गमेभ्यो गव्य घृत प्रधानम् ॥' ( सु० चि० अ० )

३ ( i ) 'घृत पित्तानिलहर रसशुक्रौजसा हितम् ।
निर्वापण मृदुकर स्वरवर्णप्रसादनम् ॥' ( च० सू० अ० १३ )
( ii ) ( का० सू० अ० २२–६ )

४ विद्धभग्नाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ।
पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा ॥ ( च० सू० १३ )

५ 'बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जविवर्धन ।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्ना च बलकृत् स्नेहने हित ॥' ( च० सू० १३ )

प्रयोग प्रावृड् ऋतु मे करना श्रेयस्कर है। सामान्य रूप से स्नेहपान ऐसे ऋतु मे करे जब न अधिक शीत हो और न अधिक उष्ण हो।

शरत् काल पित्त का प्रकोपक काल है अत इस ऋतु मे घृत जो पित्तहर है, उससे ही स्नेहन कराना चाहिए। तैल आदि से स्नेहन कराना इस ऋतु मे अच्छा नही। वसा और मज्जा का पान साधारण ऋतु मे जो न अधिक शीत हो न अति उष्ण जैसे वैशाख मे कराना लाभप्रद माना गया है।[1]

शीतकाल मे (शीत ऋतु मे) जब सूर्य निर्मल हो अर्थात् बादल न हो तब स्नेहपान करना चाहिए। उष्णकाल (ग्रीष्म ऋतु) मे रात्रि मे स्नेहपान करना श्रेयस्कर है। इसी प्रकार वातपित्ताधिक पुरुषो को तथा वातपित्ताधिक विकारो मे रात्रि मे स्नेहपान करना लाभप्रद होता है और वातकफाधिक पुरुष को अथवा वातकफाधिक विकारो मे दिन मे स्नेहपान कराना चाहिए।[2]

दिन मे अत्युष्णकाल मे अथवा वात-पित्ताधिक विकार मे दिन मे स्नेहपान करने से मूर्च्छा, पिपासा, उन्माद, कामला, ये रोग उत्पन्न होते हैं। शीतकाल मे तथा वात-कफाधिक विकार मे रात्रि मे स्नेहपान करने से आनाह, गौरव, अरुचि, शूल, पाण्डुता ये विकार उत्पन्न होते हैं।[3]

**स्नेहपान मे अनुपान**—घृत-स्नेहपान मे उष्णजल का अनुपान, तैल-स्नेहपान मे यूष का अनुपान, वसा तथा मज्जास्नेहपान मे मण्ड का अनुपान, प्रशस्त है अथवा सभी स्नेहो के पान का अनुपान उष्ण जल है।[4]

---

१ 'सर्पि शरदि पान य वसा मज्जा च माधवे।
तैल प्रावृषि नात्युष्णशीते स्नेह पिबेन्नर ॥' (च० सू० १३)

२ (i) 'वातपित्ताधिको रात्रौ उष्णे चापि पिबेन्नर।
श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे ॥' (च० सू० १३)

(ii) 'शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि।
वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा ॥' (सु० चि० ३१)

३. (i) 'अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा।
मूर्च्छां पिपासामुन्माद कामला वा समीरयेत् ॥' (च० सू० १३)
वात पित्ताधिकस्योष्णे तृण्मूर्च्छोन्मादकारक। (सु० चि० ३१)

(ii) 'शीते रात्रौ पिबन् स्नेह नर श्लेष्माधिकोऽपि वा।
आनाहमरुचि शूल पाण्डुता वा समृच्छति ॥' (च० सू० १३)
'शीते वातकफार्त्तस्य गौरवारुचिशूलकृत।' (च० सू० ३१)

४ 'जलमुष्ण घृते पेय यूषस्तैलेऽनुशस्यते।
वसामज्ज्ञोस्तु मण्ड स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा ॥' (च० सू० १३)

स्नेहो का स्नेहनार्थ उपयोग पान, अनुवासन, मस्तिष्क-शिरोबस्ति, नस्य, कर्णपूरण, गात्राभ्यङ्ग तथा भोजन मे होता है।[1]

चरकसंहिता मे स्नेहनार्थ स्नेहो के उपयोग के लिए २४ विचारणाओं का वर्णन किया है जैसे—( १ ) ओदन अर्थात् भात के साथ, ( २ ) विलेपी के साथ, ( ३ ) मांसरस के साथ, ( ४ ) दूध के साथ, ( ५ ) दधि के साथ, ( ६ ) यवागू के साथ ( ७ ) सूप ( दाल ) के साथ, ( ८ ) शाक के साथ, ( ९ ) यूष के साथ, ( १० ) काम्बलिक के साथ, ( ११ ) खड के साथ, ( १२ ) सक्तु के साथ, ( १३ ) तिलपिष्ट के साथ, ( १४ ) मद्य के साथ, ( १५ ) लेह, ( चटनी ) के साथ, ( १६ ) भक्ष्यपदार्थों के साथ, ( १७ ) अभ्यङ्ग मे, ( १८ ) बस्ति ( अनुवासनादि ) मे, ( १९ ) उत्तरबस्ति मे, ( २० ) गण्डूष मे, ( २१ ) कर्ण-तैल मे, ( २२ ) नस्य, ( २३ ) कर्णपूरण मे तथा ( २४ ) अक्षितर्पण मे स्नेहों का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिए। ये उपर्युक्त २४ स्नेहो के प्रविचारणा कहे जाते हैं।[2] ये निदर्शन मात्र ही हैं। रसादिकों के समान तथा व्यस्तसमस्तेन उपयोग से इनकी ६ से ६३ तक की विचारणायें हो जाती हैं।[3]

इनके अतिरिक्त केवल स्नेह का प्रयोग ( पान ) कराया जाता है। उन्हें 'अच्छपेय' कहते हैं। 'अच्छपेय' मे विचारणा की आवश्यकता नही होती। यह अच्छपेय स्नेहसात्म्य पुरुषो को जो क्लेशसहिष्णु हो न अधिक उष्ण, न अधिक शीतकाल मे देना चाहिए।[4]

**घृतस्नेह-पान**—वात-पित्त प्रकृति वाले तथा वातपित्त विकार वाले पुरुष, चक्षु ( नेत्र ) को हित चाहने वाले, क्षतक्षीण, वृद्ध, बालक तथा दुर्बल मनुष्य को, आयुवृद्धि चाहने वाले, बल, वर्ण तथा स्वर की वृद्धि चाहने वाले, शरीर की पुष्टि की कामना करने वाले, पुत्रेच्छु तथा शरीर को सुकुमार बनाने की इच्छा वाले पुरुष को, अग्नि की दीप्ति, ओज, स्मृति, मेधा, बुद्धि तथा इन्द्रियों के

---

१. 'स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोबस्त्युत्तरबस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूपयोज्यः ।' ( सु० चि० अ० ३१ )

२. ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि। यवागूः सूपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खडः॥
सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथा चोत्तरबस्तयः॥
गण्डूषः कर्णतैलं च नस्तः कर्णाक्षितर्पणम्। चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः॥
( च० सू० १३ )

३. च० सू० अ० १३, सु० चि० अ० ३१।

४ ( i ) 'अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम्।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः॥' ( च० सू० १३ )
( ii ) 'स्नेहसात्म्यः क्लेशसहः काले नात्युष्णशीतले
अच्छमेव पिबेत् स्नेहमच्छपानं हि पूजितम्॥ ( सु० चि० १३ )

बल को बढाने की इच्छा रखने वाले को स्नेहनार्थ घृत का पान करना चाहिए। जो व्यक्ति दाह, शस्त्र, विष तथा अग्नि से पीडित हो उन्हें भी घृतपान करना श्रेयस्कर है।[1]

**तैलस्नेह-पान**—जिस पुरुष की श्लेष्मा तथा मेद बढी हुई हो, जिनके गल और उदर स्थूल होने के कारण चलने पर हिलते हो, जो वातव्याधि से पीडित हो तथा जो वातप्रकृति हो, जो शरीर के बल, तनुता, लघुता, दृढता, स्थिरगात्रता तथा त्वचा को स्थिर, श्लक्ष्ण और पतला करना चाहते हो, जिनके कोष्ठ मे कृमि हो तथा जिनका कोष्ठ क्रूर हो अथवा जो नाडीव्रण से पीडित हों उन्हे शीत समय (शीतऋतु) मे तैल स्नेह का पान करना चाहिए।[2]

पैत्तिकविकारो मे केवल घृत का, वातिक विकारो मे लवण के साथ तथा कफ के विकारों मे त्रिकटु तथा क्षार के साथ घृत का प्रयोग करना चाहिए।[3]

**स्नेह की मात्रा**—प्रधाना, मध्यमा तथा ह्रस्वा के भेद से स्नेहो की तीन मात्रायें होती हैं। जो स्नेहमात्रा २४ घण्टे मे पचे उसे प्रधाना मात्रा, जो १२ घण्टे मे पचे वह मध्यमा मात्रा तथा जो ६ घण्टे मे पच जाय वह स्नेह की ह्रस्वा मात्रा है। स्नेहपान के प्रयोग मे व्यक्ति का विचार परमावश्यक है जो मनुष्य प्रभूत-स्नेह नित्य उपयोग मे लाने वाले हो अर्थात् जिनमे अधिक स्नेह पचाने की क्षमता हो, क्षुत्पिपासा को सहनेवाले हो, जिनका अग्निबल उत्तम हो तथा जो शरीरबल मे भी उत्तम हो, गुल्मरोगी हो, सर्पदंष्ट्रा तथा विसर्परोग से आक्रान्त हो, उन्मत्त हो, कृच्छ्रमूत्र तथा गाढविट्कता से पीडित हो, उन्हें स्नेह की उत्तम मात्रा देनी चाहिए। ऐसे पुरुषो को सम्यक् रूप से उत्तमा मात्रा में स्नेहपान कराने से उनके विकारो की शान्ति शीघ्र होती है। यह मात्रा दोषो को कर्षण करने वाली (दोषानुकर्षिणी मात्रा) होती है तथा सभी

---

१ 'वातपित्तप्रकृतयो वातपित्तविकारिण।
चक्षु कामाः क्षता क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबला.॥
आयु प्रकर्षकामाश्च बलवर्णस्वरार्थिन।
पुष्टिकामा. प्रजाकामा. सौकुमार्यार्थिनश्च ये.॥
दीप्त्योज:स्मृतिमेधाग्निबुद्धीन्द्रियबलार्थिन।
पिबेयु सर्पिरार्ताश्च दाहशस्त्रविषाग्निभि'॥' (च० सू० १३)

२ 'प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्काश्चलस्थूलगलोदराः। वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये॥
बल तनुत्व लघुता दृढता स्थिरगात्रताम्। स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्ता ये च काक्षन्ति देहिनः॥
क्रिमिकोष्ठा क्रूरकोष्ठास्तथा नाडीभिरर्दिता।
पिबेयुः शीतले काले तैल तैलोचितश्च ये॥' (च० सू० १३)

३ केवल पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्।
देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम्॥ (सु० चि० अ० ३१)

मार्गों ( स्रोतो ) मे पहुचने वाली है। यह शरीर, इन्द्रिय तथा चित्त को वल प्रदान कर पुन नया वना देती है अर्थात् सम्यक् रूप मे प्रयुक्त प्रधाना मात्रा रोगो को शान्त करती है, दोषो का निर्हरण करती है तथा शरीर के सभी स्रोतो मे पहुँच कर उन्हे वलप्रदान करती है जिससे शरीर मे, इन्द्रियो मे तथा चित्त मे नया वल और स्फूर्ति का अनुभव होता है।[१] वाग्भट ने दोषादि के अनुसार इन से भी न्यून मात्रा की कल्पना करने का आदेश दिया है।

अरुष्क ( अरूंषिका ), स्फोट, पिडका, कण्डू, पामा, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त— इन रोगो से पीडित मनुष्य को, जो अत्यधिक भोजन करने वाले न हो, तथा मृदुकोष्ठ हो और जो मध्यवल वाले हो उन्हे स्नेह की मध्यमा मात्रा देनी चाहिए।

यह मात्रा मन्दव्यापत् उत्पन्न करने वाली होती है तथा अधिक वल को हरने वाली नही होती। इस मात्रा से सुखपूर्वक स्नेहन हो जाता है और शोधन के लिए इसका प्रयोग होता है।[२]

वृद्ध, वालक, सुकुमार, सुखोपशयी, जिन्हें कोष्ठ का रिक्त होना अहित है, तथा जिनकी अग्नि मन्द है, जो ज्वर, अतीसार तथा कास से अधिक दिनो से आक्रान्त हैं, और जिनका वल अवर है उन्हे स्नेह की ह्रस्वा मात्रा देनी चाहिए।

---

१ ( i ) 'अहोरात्रमह कृत्स्नमर्धाह च प्रतीक्षते।
प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरा प्रति॥
नाना प्रयोगान् वक्ष्यामि पुरुष पुरुष प्रति।
प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासासहा नरा॥
पावकश्चोत्तमवलो येषा ये चोत्तमा वले।
गुल्मिन सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये।
उन्मत्ता कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च॥
पिवेयुरुत्तमा मात्रा तस्या पाने गुणाञ्छृणु।
विकाराञ्छमयत्येषा शीघ्रं सम्यक्प्रयोजिता॥
दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी।
वल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रियचेतसाम्॥ ( च० सू० १३ )

( ii ) 'द्वाभ्यां चतुर्भिरिष्टाभिर्यामैर्जीर्यति या क्रमात्।
ह्रस्वमध्योत्तमा मात्रास्तास्ताभ्यश्च ह्रसीयसीम्॥
कल्पयेद् वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु ह्रसीयसीम्॥' ( अ० हृ० सू० १६ )

२. 'अरुष्कस्फोटपिटकाकण्डूपामाभिरर्दिता।
कुष्ठिनश्च प्रमीढाश्च वातशोणितकाश्च ये॥
नातिवह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च।
पिवेयुर्मध्यमा मात्रा मध्यमाश्चापि ये वले॥
मात्रैषा मन्दविभ्रशा न चातिवलहारिणी।
सुखेन च स्नेहयति शोधनार्थे च युज्यते॥' ( च० सू० १३ )

यह् मात्रा परिहार मे सुखदा होती है अर्थात् इसके प्रयोग मे अधिक परहेज की आवश्यकता नही होती। यह स्नेहन तथा बृंहण करने वाली है, वृष्या होती है तथा बल-प्रदान करती है और इसका प्रयोग चिरकाल तक निर्बाध कर सकते हैं।[1]

वाग्भट ने भी स्नेहमात्रा-निर्धारण मे चरक का ही अनुसरण किया है। इन्होने संक्षेप मे कहा है कि जो स्नेहमात्रा अर्थात् जितना स्नेह दो याम अर्थात् ६ घंटे मे पच जाय वह ह्रस्वा मात्रा, जो ४ याम १२ घटे मे पच जाय वह मध्यमा मात्रा तथा जो ८ याम या २४ घटे मे पच जाय वह उत्तमा मात्रा कहलाती है। परन्तु उन्होंने दोषादि के अनुसार इससे भी अल्पमात्रा की कल्पना का आदेश किया है और कहा है कि अल्पमात्रा से प्रारंभ करना अच्छा है।[2]

स्नेहमात्रानिर्धारण मे सुश्रुत का उपदेश अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है। उनका कहना है कि जो मात्रा ( जितना स्नेह ) ३ घण्टे मे पच जाय वह अग्नि को प्रदीप्त करती है और उसका ( उस मात्रा का ) प्रयोग अल्पदोष मे पूजित है। जो मात्रा ( जितना स्नेह ) ६ घण्टे मे पच जाय वह वृष्य तथा बृंहण कर्म को करने वाली मध्यदोष विकार मे श्रेष्ठ है। स्नेहन कर्म के लिए स्नेह की इतनी मात्रा लेनी चाहिये जो १२ घण्टे में पच जाय। यह बहुदोष-विकार मे श्रेष्ठ होती है। इसी प्रकार जितना स्नेह ग्लानि, मूर्च्छा तथा मद को उत्पन्न किये बिना २४ घण्टे मे पच जाय वह स्नेह की सर्वश्रेष्ठ ( उत्तमा ) मात्रा है। यह मात्रा कुष्ठ रोग, विष उन्माद ग्रह तथा अपस्मार को नष्ट करती है।[3]

---

१. 'ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमारा सुखोचिता।
रिक्तकोष्ठत्वमपि च येषां मन्दाग्नयश्च ये॥
ज्वरातिसारकासाश्च येषां चिरसमुत्थिता।
स्नेहमात्रा पिबेयुस्ते ह्रस्वां ये चावरा बले॥
परिहारे सुखा चैषा मात्रा स्नेहनबृंहणी।
वृष्या बल्या निराबाधा चिरं चाप्यनुवर्त्तते॥' ( च० सू० १२ )

२ अ० हृ० सू० १६-१७।

३. 'या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि।
सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता॥
या मात्रा परिजीर्येत तथाऽर्धदिवसे गते।
सा वृष्या बृंहणी या च मध्यदोषे च पूजिता॥
या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते।
स्नेहमाया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता॥
या मात्रा परिजीर्येत तथा परिणतेऽहनि।
ग्लानिमूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्॥

**स्नेहन की अवधि**—तीन से सात दिन तक स्नेहन कराना चाहिए। अल्पदोष मे ३ दिनो तक, मध्यदोष मे ५ दिनो तक और बहुदोष मे ७ दिनो तक स्नेहन कराना चाहिए। स्वेदन-कर्म करने के लिए कम से कम ३ दिन तथा अधिक से अधिक ७ दिन तक स्नेहन कराना चाहिए। इससे अधिक स्नेहन कराना निषिद्ध है, क्योकि ७ दिनो के बाद स्नेहनद्रव्य सात्म्य हो जाता है।

सुश्रुत ने भी ३ दिन, ४ दिन, ५ दिन, ६ दिन तथा ७ दिनो तक यथावश्यक स्नेहन का विधान किया है। सात दिन के बाद स्नेहन का निषेध किया है। ( सु० चि० ३१ )

पञ्चकर्म चिकित्सा मे स्नेहन का उद्देश्य स्वेदन तथा सशोधन-योग्य शरीर को बनाना है। शोधनार्थ प्रयुक्त स्नेहन से शरीर तथा शरीरस्रोतो मे चिपके हुए दोष स्थान छोड देते हैं जो स्वेदन द्वारा पिघलकर कोष्ठ मे आ जाते हैं और कोष्ठ मे इनके आ जाने से सशोधन ( वमन तथा विरेचन )-सुविधायक हो जाता है। सशोधन के लिए सदा स्नेह की मध्यमा मात्रा अपेक्षित है। मध्यमा मात्रा के गुणो मे वर्णन 'न चातिबलहारिणी' पद एक विशेष अर्थ का द्योतन करता है। इसका अभिप्राय है कि स्नेहन का 'मध्यमा मात्रा' शोधनार्थ प्रयुक्त होने पर भी बल का अधिक ह्रास नही करती। शेष उत्तमा तथा ह्रस्वा मात्रा जिनका प्रयोग क्रमश व्याधि शमनार्थ तथा अग्नि-प्रदीपनार्थ होता है वे बन्या होती हैं।

स्नेह के प्रयोग मे कोष्ठ का विचार आवश्यक होता है। अच्छस्नेह के प्रयोग से तीन रात मे मृदुकोष्ठ स्निग्ध हो जाता है। क्रूरकोष्ठ । सात रात तक स्नेहन का प्रयोग करना पडता है। मध्यकोष्ठ के लिए पाँच रात तक स्नेहन का प्रयोग कर सकते है। मृदुकोष्ठ पुरुष को सामान्य सर तथा अनुलोमक द्रव्यो के प्रयोग से भी रेचन होने लगता है। ये सर तथा अनुलोमक द्रव्य जैसे—गुड—इक्षुरस मस्तु, क्षीर, आलोडित दधि, पायस, कृशरा, सर्पि ( घी ) गम्भार, त्रिफला, द्राक्षा प्रभृति क्रूर कोष्ठ वाले का रेचन नही कराते। क्रूरकोष्ठ वाले की ग्रहणी वातोल्वणा होती है तथा मृदुकोष्ठ की ग्रहणी उदीर्णपित्ता मन्दमारुता तथा अल्पकफा होती है अत सुविरेच्य है।[२]

---

अहोरात्रादसदुष्टा या मात्रा परिजायते
सा तु कुष्ठ-विषोन्माद-ग्रहापस्मार-नाशिनी ॥' ( सु० चि० ३१ )

१ 'स्नेहनस्य प्रकर्षौ तु सप्तरात्रत्रिरात्रकौ ।' ( च० सू० १३ )
'त्र्यहावर सप्तदिन परं तु, स्निग्धो नर स्वेदयितव्य उक्त' ।
नात पर स्नेहनमादिशन्ति, सात्म्यीभवेत्सप्तदिनात् परं तु ॥' ( च० सि० १ )

२ 'मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया ।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः ॥

**सम्यक्-स्निग्ध के लक्षण**—स्नेह के प्रयोगानन्तर जब वातानुलोमन, अग्निदीप्ति, स्निग्ध तथा असंहत पुरीषप्रवृत्ति, शरीर में मृदुता, लघुता, अङ्गग्लानि तथा स्निग्धता अनुभव होवे तब समझे कि सम्यक् स्नेहन हो गया।[1]

**अस्निग्ध के लक्षण**—स्नेह देने पर भी पुरीष ग्रथित ( गांठयुक्त ) तथा रूक्ष आवे तथा वायु का अनुलोमन न होकर कोष्ठ के ऊपर सचार होने लगे और पाचकाग्नि-मन्द हो रहे तथा गात्रों में खरता और रौक्ष्य का अनुभव हो, उरोविदाह हो तथा दुर्वर्णता होवे और भुक्तान्न का पाक देर में अथवा कृच्छ्रता से हो तो समझे कि स्नेहन नहीं हुआ।[2]

**अतिस्निग्ध के लक्षण**—स्नेह के अतियोग होने पर शरीर में पाण्डुता, गौरव, जड़ता, भक्तद्वेष, मुखस्राव, अपक्व पुरीष की प्रवृत्ति, पुरीषातिप्रवृत्ति, प्रवाहिका, गुददाह, तन्द्रा, अरुचि तथा उत्क्लेश उत्पन्न होते हैं।[3]

स्नेह देने के पूर्व दिवस स्नेह दिये जाने वाले पुरुष को द्रव, उष्ण, अनभिष्यन्दि, भोज्य अन्न को उचित मात्रा में देना चाहिये। भोजन अतिस्निग्ध

---

गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि।
पायसं कृशरां सर्पिः काश्मर्यत्रिफलारसम्॥
द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा।
मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते॥
विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन।
भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्बणानिला॥
उदीर्णपित्ताल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता।
मृदुकोष्ठस्य तस्मात् स सुविरेच्यो नरः स्मृतः॥' ( च० सू० १३ )

१. ( i ) 'वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते।' ( च सू १३ )
( ii ) सुस्निग्धास्त्वग् विट्शैथिल्यं दीप्तोऽग्निर्मृदुगात्रता
ग्लानिर्लाघवमङ्गानामधस्तात् स्नेहदर्शनम्॥
सम्यक् स्निग्धस्य लिङ्गानि स्नेहोद्वेगस्तथैव च॥' ( सु चि. ३१ )

२ ( i ) 'पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम्॥' ( च सू १३ )
( ii ) पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते।
उरो विदह्यते वायुः कोष्ठादुपरि धावति॥
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः॥' ( सु. चि ३१ )

३ ( i ) 'पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
तन्द्रीररुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम्॥' ( च सू १३ )
( ii ) 'भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका।
पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम्॥' ( सु चि. ३१ )

तथा संकीर्ण नहीं होना चाहिए। भोजनकाल मे संशमन स्नेहपान कराना चाहिए। पुनः दिन के भुक्त आहार के पच जाने पर शुद्धि (संशोधनार्थ) के लिये स्नेह को रात्रि वीत जाने पर प्रातःकाल पिलावे।[1]

**स्नेहपान किये हुए पुरुष की वृत्ति**—स्नेहपान किये हुए पुरुष को उष्णोदक का उपचार करना चाहिये। ब्रह्मचर्य पूर्वक रात्रि मे शयन करना चाहिए। मल-मूत्र-अधोवात उद्गार उदीर्ण वेग का धारण नहीं करना चाहिए व्यायाम उच्चभाषण, क्रोध शोक, हिम तथा आतपसेवन वर्जित है। जहाँ जोर की हवा न चलती हो (अप्रवात) ऐसे स्थान पर शयन तथा निवास करना चाहिए। स्नेहपान कर पुनः स्नेह सेवन करने पर स्नेह के मिथ्योपचार मे उत्पन्न होने वाले दारुण रोग उत्पन्न होते हैं।[2]

**स्नेहव्यापद्**—उदीर्णपित्त ग्रहणी वाले मनुष्य की अग्नि (पाचकाग्नि) महाबलवती होती है अतः ऐसे पुरुष को स्नेहपान कराने पर पिया हुआ स्नेह अग्नितेज मे शीघ्र ही भस्म हो जाता है। पुनः वह तीक्ष्णाग्नि स्नेहमात्रा को दग्धकर ओज का क्षरण करने लगती है और उस स्नेहाग्नि से उपद्रवयुक्त उत्तमा तृष्णा उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्नेह से समृद्ध अग्नि को गुरु अन्न भी शान्त करने में समर्थ नहीं होता। यदि ऐसी परिस्थिति मे शीतल जल का उपयोग किया गया तो वह शीतल जल अग्नि को बुझाता नहीं अपितु और भी प्रज्वलित कर देता है जैसे कक्षमध्यगत आशीविष अपनी विषाग्नि से कक्ष (काष्ठ) को दग्ध कर देता है अतः स्नेह के अजीर्ण से यदि तृष्णा उत्पन्न होवे तो रूक्षान्न खिला कर तथा शीतल जल पिलाकर वमन करा देवे।

इसी प्रकार पित्तविकार में विशेषकर सामपित्त मे केवल सर्पि का पान न करावे क्योंकि वह सम्पूर्ण देह मे प्राप्त होकर संज्ञानाश कर मार डालता है।

---

१ च. सू. अ. १३ (श्लोक ६०–६१)

२ 'उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत्।
व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमातपौ।
वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम्॥
स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च।
स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः॥' (च. सू. १३)

३ 'उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निश्च महत्।
भस्मीभवति तस्याशु स्नेहः पानोऽग्नितेजसा॥
स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षारयन् बली।
स्नेहाग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत्॥

स्नेहविभ्रम से उत्पन्न होने वाले विकार—तन्द्रा उत्क्लेश, आनाह, ज्वर, स्तम्भ, विसंज्ञता, कुष्ठ, कण्डू पाण्डुता शोथ, अर्श अरुचि, तृष्णा, जठर (उदररोग) ग्रहणीविकार, स्तैमित्य (आर्द्रवस्त्र से आच्छादित के समान अङ्ग की प्रतीति) वाक्यनिग्रह, शूल, आमप्रदोष ये विकार स्नेहविभ्रम से उत्पन्न होते हैं।

स्नेहविभ्रम से उत्पन्न हुए उक्त विकारों में भी वमन कराना प्रशस्त है। इसमें स्वेदन तथा काल (समय) की प्रतीक्षा अर्थात् स्नेहजनित दोष की शान्ति होने पर ही भोजन देना चाहिए पुन. जो-जो विकार उत्पन्न होवें उनकी यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिए और व्याधि-बल को देखकर ही संसर्जन करना चाहिए। इसमें यथावश्यक तक्रारिष्ट का प्रयोग, रूक्ष अन्नपान का सेवन, मूत्रों (गो आदि) का तथा त्रिफला का प्रयोग स्नेह-व्यापद् की चिकित्सा है।[1]

असमय में सेवन करने से, अहित रूप में सेवन से, मात्रा में न सेवन करने से तथा मिथ्योपचार से अथवा स्नेह के अतियोग से, स्नेह मार डालता है।[2]

स्नेहपान करने के तीन रात पश्चात् ही शोधनार्थ रेचन औषध का प्रयोग करना श्रेयस्कर है। स्नेहन के बाद तीन रात तक द्रव तथा उष्ण पदार्थों का

---

नाल्पं स्रोतोऽनुसृतस्य शमायाग्न्युत्तरुर्वपि।
न चेष्टुगुणान् सलिलं नामाडनति दग्धे॥
चर्वेनाशाविष कक्ष्मप्यग स्वविपाग्निना।
अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छर्दयेद् भिषक॥
शीतोदकं पुनः पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत्।
न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं साम्नि विशेषत।
सर्वं ह्यनुरञ्जेद्देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत्॥' (च सू १३)

1. (i) 'तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता।
कुष्ठानि कण्डू- पाण्डुत्व शोफार्शास्यरुचिस्तथा॥
जठरं ग्रहणीदोषा स्तैमित्यं वाक्यनिग्रह।
शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात्॥'
(ii) 'तत्राप्युल्लेखनं शस्तं स्वेद. कालप्रतीक्षणम्।
प्रतिप्रतिव्याधिबलं बुद्ध्वा स्रंसनमेव च॥
तक्रारिष्टप्रयोगाश्च रूक्षपानान्नसेवनम्।
मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम्॥' (च सू १३)

2. 'अकाले चाहितश्चैव मात्रया न च सेवितः।
स्नेहो मिथ्योपचाराच्च व्यापद्येतातिसेवितः॥'

व्यवहार करे और तत्पश्चात् मासरस और भात भोजन क लिए स्निग्ध पुरुष को देवे ।[1]

स्नेहन के एक दिन बाद वमन कराना उचित है और यहाँ भी विरेचन के समान ही ससर्जन का विधान करना चाहिए ।

जिस पुरुष को शोधनार्थ स्नेहन करना अभीष्ट न हो उसे भी विरेचन के समान ही ससर्जन का विधान करे ।[2]

**विचारणा की उपादेयता**—ऐसे मनुष्य जिन्हे स्नेहपान कराना आवश्यक है परन्तु उन्हे स्नेह से स्वाभाविक द्वेष है उनके लिए विचारणाओं की आवश्यकता होती है । इनके अतिरिक्त ऐसे पुरुष जिनके कोष्ठ मृदु है तथा जो सुकुमार प्रकृति होने से क्लेश को नही सह सकते उन्हे भी विचारणा की आवश्यकता होती है

**प्रविचारणार्थ ग्राह्य मांसरस आदि**—लावापक्षी तित्तिर, मोर हंस वराह ( शूकर ), कुक्कुट ( मुर्गा ), गाय, बकरी, मृग मछली इनके मासरस स्नेहन के प्रविचारणार्थ हितकर है ।

अन्न मे यव, कोल, कुलथी, गुड़ तथा खांड़ के साथ स्नेह के विचारणा के रूप मे तथा अनार का रस और दधि, त्रिकटु के साथ स्नेह के विचारणार्थ ग्रहण करे । स्नेह और फाणित के साथ भूना हुआ तिल भी स्नेहन करता है । इसी प्रकार प्रभूत स्नेह मिश्रित कृशरा, तिल तथा काम्बलिक भी स्नेहन करता है ।[4]

**स्नेहन के अयोग्य पुरुष**—अजीर्ण रोग मे पीडित, तरुणज्वरी, दुर्बल, अरोचक से आक्रान्त, स्थौल्य, मद तथा मूर्च्छा से पीडित, छर्दिरोगी, पिपासार्त्त, श्रान्त, मद्य आदि के पान से आक्लान्त, जिन्हे वस्ति तथा विरेचन दिया गया

---

१ 'स्नेहात् प्रस्कन्दन जन्तोस्त्रिरात्रोपरत पिबेत् ।
स्नेहवद्द्रवमुष्ण च त्र्यह भुक्त्वा रसौदनम् ॥'

२. 'एकाहोपरतस्तद्वद्भुक्त्वा प्रच्छर्दन पिबेत् ।
स्यात्त्वसशोधनार्थीये वृत्ति स्नेहे विरिक्तवत् ॥' ( च सू १३ )

३ स्नेहद्विष. स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नरा ।
क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा ॥' ( च सू १३ )

४ 'लावतैत्तिरमायूरहासवाराहकौक्कुटाः ।
गव्याजौरभ्रमात्स्याश्च रसा. सगुडशर्करा. ॥
दाडिम दधिसव्योष रसमयोगसग्रहा ।
स्नेहयन्ति तिला. पूर्व जग्धा सस्नेहफाणिता ॥
कृशराश्च बहुस्नेहास्तिलकाम्बलिकास्तथा ॥' ( च सू १३ )

हों, वमन कराया गया हो, ऐसे पुरुष का स्नेहन निषिद्ध है अर्थात् ऐसे पुरुष को स्नेहपान नहीं करना चाहिए। असमय तथा दुर्दिन मे भी स्नेहपान नहीं करना चाहिए। असमय मे प्रसव किये हुए स्त्री के लिये भी स्नेहपान वर्जित है। ऐसे पुरुष को स्नेहपान करने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा उनके रोग की वृद्धि हो जाती है जिससे रोग कृच्छ्रसाध्य तथा असाध्य हो जाता है।[1]

**अच्छस्नेह के अयोग्य पुरुष**—स्नेहद्वेषी, दुर्बल (क्षाम) तथा मृदुकोष्ठ पुरुष, नित्य स्नेह तथा मद्य का सेवन करने वाला, अध्व (मार्ग चलने) तथा रात में जागने के कारण एवं स्त्रीसम्भोग से क्लान्त पुरुषों को अच्छस्नेह-पान नही कराना चाहिए। ऐसे पुरुषो को मास (ऋतु) आदि के निर्देशानुसार उनके अभिबल का विचार कर तथा उनके वय के प्रकर्ष से गुरु अन्न, पान, भोज्य मांस गुड, दधि, तिल, शाक, दुग्ध, निर्यूह आदि यथावश्यक जिसको जो सात्म्य हो उसके साथ स्नेहपान कराना चाहिए। परन्तु प्रमेह, कुष्ठ तथा शोष रोग से पीडित व्यक्तियो का स्नेह इन विचारणाओ के साथ न करे।[2]

**स्वेदन**—जो द्रव्य या उपाय स्तम्भ (अङ्गो की जकडाहट-निश्चेष्टता) गौरव तथा शीत को नष्ट करे और पसीना लावे उसे स्वेदन कहते हैं। स्वेदन द्रव्य प्रायः उष्ण, तीक्ष्ण, स्निग्ध वा रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, सर वा स्थिर तथा गुरु होता है।[3]

---

1 'विवर्जयेत् स्नेहपानमजीर्णी तरुणज्वरी।
दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः॥
छर्दित पिपासार्त्तः श्रान्तः पानक्लमान्वितः।
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तो यश्चापि मानवः॥
अकाले दुर्दिने चैव, न च स्नेहं पिबेन्नरः।
अकाले च प्रसूता स्त्री स्नेहपानं विवर्जयेत्॥
स्नेहपानाद्भवन्त्येषां नराणां नानाविधा गदाः।
गदा वा कृच्छ्रतां यान्ति न सिध्यन्त्यथवा पुनः॥' (सु। चि ३१)

2. 'स्नेहद्वेषी क्षामो मृदुकोष्ठः स्नेहमद्यनित्यश्च।
अध्वप्रजागरस्त्रीश्रान्ता नाच्छं पिबेयुस्ते॥
तेषामन्नैर्विविधैः स्नेहस्य विचारणासात्म्यम्।
निर्दिष्टा मासाद्यैः कालाभिवय प्रकर्षाच्च॥
गुरुपानभोज्यमांसगुडदधितिलशाकदुग्धनिर्यूहैः।
न स्नेहयेत्प्रमेहे न कुष्ठकफशोषरोगार्त्तान्॥' (का० सू० २२)

३ (i) 'स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्।
उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्॥

स्वेदन कर्म आयुर्वेद मे दो प्रयोजनो के लिए वर्णित है। प्रथम चिकित्सा के लघन या अपतर्पण विभाग मे तथा शोधन के पूर्वकर्म मे। शोधन के लिए स्नेहन के पश्चात् स्वेदन आवश्यक होता है। इससे स्रोतो मे चिपके हुए दोष पिघलकर कोष्ठ मे आ जाते हैं जिससे दोष-निर्हरण सुविधापूर्वक होता है। स्वेदन कर्म प्राय वात-कफ के विकारो मे प्रयुक्त होता है। स्नेहपूर्वक स्वेद के प्रयोग से वायु का अनुलोमन तथा प्रशमन होता है जिससे पुरीष, मूत्र तथा शुक्र कभी भी मलरूप मे स्रोतो मे अवरुद्ध ( रुकते ) नही होते। जिस प्रकार शुष्क काष्ठ को स्नेहनपूर्वक स्वेदन करने से उसमे मार्दव आ जाने के कारण जिस प्रकार चाहे नमा ले सकते हैं उसी प्रकार स्नेहपूर्वक स्विन्न शरीर पर शोधन कार्य निरापद् रूप मे सफल होता है। अर्थात् दोष-मल आदि का सम्यक् निर्हरण होने से शरीर विशुद्ध हो जाता है।[2]

सुश्रुत, वृद्धवाग्भट और वाग्भट ने स्वेद के तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाह-स्वेद और द्रवस्वेद ये चार मुख्य भेद लिखे हैं। इन चार भेदो मे ही चरकादि के अन्य स्वेदो का अन्तर्भाव हो जाता है।[3]

चरकसहिता मे स्वेदन कर्म का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है। इन्होने सर्वप्रथम स्वेदन कर्म को दो भागो मे विभक्त कर दिया है जैसे ( १ ) अग्निस्वेद और ( २ ) अनग्निस्वेद। अग्निस्वेद वे हैं जिनमे किसी न किसी रूप मे अग्नि का प्रयोग स्वेदनकर्मार्थ होता है। परन्तु अनग्निस्वेद मे अग्नि के प्रयोग बिना ही शरीर का स्वेदन हो जाता है। चरक ने १३ प्रकार के अग्निस्वेदो का तथा दस प्रकार के अनग्निस्वेदो का वर्णन किया है।

अनग्निस्वेद—( १ ) व्यायाम ( २ ) उष्णसदन, ( ३ ) गुरु प्रावरण, ( ४ ) क्षुधा, ( ५ ) बहुमद्यपान, ( ६ ) भय, ( ७ ) क्रोध, ( ८ ) उपनाह

---

द्रव्य गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते ॥' ( च० सू० अ० २२ )

( ११ ) 'स्वेदकारक घर्मकारकम्, स्तम्भो गात्राणा निश्चलीभाव ' ( च० द० )

१ 'स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु लीन, स्वेदस्तु दोष नयति द्रवत्वम्' ( च० सि० १ )

२ 'अत स्वेदा प्रवक्ष्यन्ते यैर्यथावत्प्रयोजितै ।
स्वेदसाध्या प्रशाम्यन्ति गदा वातकफात्मका ॥
स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनावजितेऽनिले ।
पुरीषमूत्ररेतासि न सज्जन्ति कथञ्चन ॥
शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनै ।
नमयन्ति यथान्याय किं पुनर्जीवतो नरान् ॥' ( च० सू० अ० १४ )

३ चतुर्विधः स्वेद—तद्यथा—तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेदः, द्रवस्वेद इति। अत्र सर्वस्वेदविकल्पावरोधः।' ( सु० चि० अ० ३२ )

( अनग्नि ) ( ९ ) आहव ( युद्ध ) और ( १० ) आतप—ये १० अग्नि गुण के विना ही मनुष्य शरीर का स्वेदन करते हैं।[1]

इन उपर्युक्त दशविध उपायो से अग्नि की सहायता विना ही शरीर का स्वेदन हो जाता है अत इन्हे 'अनग्निस्वेद' कहा जाता है।

**अग्निस्वेद**—अग्निस्वेद १३ प्रकार के चरक मे वर्णित हैं जैसे—( १ ) संकरस्वेद, ( २ ) प्रस्तरस्वेद, ( ३ ) नाडीस्वेद, ( ४ ) परिषेकस्वेद, ( ५ ) अवगाहनस्वेद, ( ६ ) जेन्ताकस्वेद, ( ७ ) अश्मघनस्वेद, ( ८ ) कर्पूस्वेद, ( ९ ) कुटीस्वेद, ( १० ) भूस्वेद, ( ११ ) कुम्भिकस्वेद, ( १२ ) कूपस्वेद और ( १३ ) होलाकस्वेद।

**१. तापस्वेद**—अग्नि से तपाये हुए वस्त्र, रूई, धातुओ की पट्टी, हथेली, ईट, वालू, नमक आदि की पोटली तथा निर्धूम अग्नि के ताप आदि से शरीर के सेकने को तापस्वेद कहते हैं। तापस्वेद के ही भेद सकर तथा प्रस्तरस्वेद हैं। सकरस्वेद को पिण्डस्वेद भी कहते हैं। जेन्ताक, कर्पू, कुटी, कूप तथा होलाक स्वेद भी तापस्वेद के ही अवान्तर भेद हैं ( सु चि ३८ )

**२. ऊष्मस्वेद**—ऊष्मस्वेद को प्रचलित भाषा मे वफारा देना कहते हैं। ऊष्मस्वेद तीन प्रकार से दिया जाता है। जैसे—( १ ) ठीकरा, पत्थर के गोले या शिला, जमीन, ईट, लोहे के गोले आदि को खूब तपाकर उन पर जल या वातहर क्वाथ आदि छिडकने पर उनसे जो वाष्प निकले उसके द्वारा रोगी को सेंकना—जैसे अश्मघनस्वेद, कुम्भीस्वेद आदि। ( २ ) एक चौडे मुँह के वडे पात्र मे जल, दूध, मांसरस, दधि, कांजी, वातहर द्रव्यो का क्वाथ आदि के वाष्प द्वारा वफारा देना। ( ३ ) एक छोटे मुँह के वडे घडे मे दूसरे प्रकार मे लिखे हुए जल आदि को उबालकर उस पर दूसरा घडा रख दे और दोनो की सन्धि को वन्द कर दे, पश्चात् दूसरे घडे के पार्श्व मे छिद्रकर उसमे नली वैठाकर, उस नली से आती हुई वाष्प ( भाप ) के द्वारा स्वेदन करे। इसको ही नाडीस्वेद कहते हैं। सुश्रुत ने तो भूस्वेद, अश्मस्वेद, प्रस्तरस्वेद को भी ऊष्मस्वेद मे ही ग्रहण कर लिया है।[2]

---

१. ( i ) 'इत्युक्तो द्विविध स्वेद सयुक्तो-ग्निगुणैर्न च।'
'व्यायाम उष्णसदन गुरुप्रावरण क्षुधा।
वहुपान भयक्रोधावुपनाहाहवातपा ॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते ।
इत्युक्तो द्विविध स्वेद सयुक्तोऽग्निगुणैर्न च ॥' ( च० सू० अ० १४ )

( ii ) 'वहुपानमिति बहुमद्यपानम्। उपनाहो द्विविध साग्निरनग्निश्च'। ( चक्र )

२ ऊष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टिकालोहपिण्डानग्निवर्णानद्भिरासिंचेदम्लद्रव्यैर्वा, नैरार्द्रा-

३ उपनाहस्वेद—इसको प्रायः [illegible] कहते हैं। [illegible] अलसी, सन या गेहूँ आदि के चूर्ण में [illegible], काँजी, [illegible], दशमूल आदि [illegible] [illegible] नीचे [illegible] पोलटिस करते हैं। यह [illegible] उपनाह है। चरक ने [illegible] वर्णन किया है [illegible] पीसकर इसमें [illegible] ( तैल ), किण्व ( सुराबीज ) [illegible] पोल्टिस बाँधा जाता है इसे भी उपनाह कहते हैं।[2] इसी प्रकार [illegible] सुरा, किण्व जीवन्ती, सौंफ [illegible] आदि से [illegible] पुलटिस बनाकर बाँधते हैं वे सब उपनाह हैं। [illegible] ( [illegible] ) चमड़े का उपयोग पोलटिस बाँधने में करना चाहिए। चमड़े के अभाव में [illegible] आदि उष्ण वस्त्र का उपयोग करना चाहिए। इस विशेष उपनाह में [illegible] पकाना नहीं पड़ता। ये उपनाह [illegible] बन्द हो जाने से स्वेदन कर्म करते हैं। ( सु चि अ ३२ )

उपनाह स्वेद में बन्धमोक्षावधि—[illegible] विदाह के परिहारार्थ दिन का बाँधा हुआ उपनाह ( पोल्टिस ) रात में तथा रात्रि का बाँधा हुआ दिन में खोल देना चाहिए। अर्थात् १२ घण्टे बाद पोल्टिस को खोल देना चाहिए। यह प्रकर्ष ( कालावधि ) शीत ( जाड़े ) काल के लिए है।[3]

४ द्रवस्वेद—जल आदि द्रवपदार्थ को गरम करके उस पर रोगी को बैठाने या रोगी के शरीर पर उसकी धार छोड़ने को 'द्रवस्वेद' कहते हैं। द्रवस्वेद के दो भेद हैं—( १ ) अवगाह तथा ( २ ) परिषेक स्वेद। गरम जल या वात-

---

[illegible]विष्टितशरीरप्रदेशं स्वेदयेत्। [illegible] [illegible]पूर्णां वा कुम्भीमनुतप्तां प्राक्तप्तोष्माणं गृह्णीयात्।' ( सु० चि० ३२ )
'अलसीयवगोधूमचूर्णमालोडितं [illegible]।
[illegible] [illegible] वस्त्रेणान्तरितं तथा ॥
[illegible] उपनाह स उच्यते ॥ ( [illegible] )

२ 'गोधूमशकलैश्चूर्णैर्यवानामम्लसंयुतैः।
सस्नेहकिण्वलवणैरुपनाहः प्रशस्यते ॥
गन्धैः सुरायाः किण्वेन जीवन्त्या शतपुष्पया।
उमया कुष्ठतैलाभ्यां युक्तया चोपनाहयेत् ॥
चर्मभिश्चोपनद्धव्यः सलोमभिरपूतिभिः।
उष्णवीर्यैरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः ॥' ( च० सू० अ० १४ )

३ 'रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम्।
विदाहपरिहारार्थं, स्यात् प्रकर्षस्तु शीतले ॥' ( च० सू० १४ )

हर औषधों के क्वाथ आदि गरमद्रव पदार्थों से भरी हुई कड़ाही या द्रोणी में रोगी को बैठाने या सुलाने को 'अवगाह स्वेद' कहते हैं। वातहर औषधों के क्वाथ आदि की धारा रोगी के शरीर पर गिराने को 'परिषेक स्वेद' कहते हैं। धारा के लिए कुम्भी, वर्षणिका (सहस्र धारा) तथा प्रनाडी का प्रयोग करते हैं।[1]

इन उपर्युक्त चतुर्विध स्वेदों में ताप और ऊष्मस्वेद कफघ्न हैं, उपनाह स्वेद वातघ्न है और वात तथा कफ के साथ पित्त का भी संसर्ग हो तब द्रवस्वेद कराना चाहिए।[2] वायु, कफ और मेद से आवृत होने पर रोगी को निवातगृह में रखना, धूप में बैठाना, गरम और मोटे कपड़े से ढांकना, कुश्ती कराना, चलाना, व्यायाम कराना, भार उठवाना, क्रुद्ध करना, भूखा रखना, खूब मद्य पिलाना—इन प्रक्रियाओं द्वारा पसीना लाना चाहिये। ये क्रियायें अग्नि की साक्षात् सहायता बिना स्वेद लाती हैं।

## चरकोक्त स्वेदप्रकार

१. सङ्करस्वेद—तिल, माष (उड़द), कुलथी की काञ्जी, घी, तैल, मांस, ओदन (भात), पायस, कृशरा तथा मांस का पिण्ड बनाकर, उससे जो स्वेदन किया जाता है उसे पिण्डस्वेद या सङ्करस्वेद कहते हैं। इन उपर्युक्त द्रव्यों को कपड़े में रखकर अथवा यों ही पिण्ड बनाकर उससे स्वेदन किया जाता है। गाय, गदहा, ऊँट, सुअर, घोड़ा—इनके शकृत् को यवतुषों के साथ अथवा सिकता, पांशु (धूलि), पाषाण (पत्थर), करीष (उपल), लोह इनके पुटों में स्वेदन करने को भी पिण्डस्वेद या सङ्करस्वेद कहते हैं। इनमें तिल आदि से वात-विकार में स्वेदन करे तथा गौ, खर (गधे) आदि के शकृत् आदि से कफविकारों में स्वेदन करना चाहिए।[3]

---

१ (i) 'द्रवस्वेदस्तु वातहरद्रव्यक्वाथपूर्णे कोष्णकटाहे द्रोण्यां वाऽवगाह्य स्वेदयेत्। एतैरेव सुखोष्णैः पयोमांसरसयूषतैलधान्याम्ल-घृत-वसा-मूत्रेष्ववगाहेन।' 'वातहरोत्क्वाथक्षीरतैलघृतपिशितरसोष्णसलिलकोष्ठकावगाहस्तु यथोक्तः अवगाहः॥' (च० सू० १४)

(ii) 'वातिकोत्तरवातिकानां पुनर्मूलादीनामुत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुम्भीर्वर्षणिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः।' कषायैश्च परिषिञ्चेदिति॥

२. 'तत्र बाष्पोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ, उपनाहस्वेदो वातघ्नः अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेद इति।' (सु० चि० ३२)

३ 'तिलमाषकुलत्थाम्लघृततैलामिषौदनैः। पायसैः कृशरैर्मांसैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत्॥ गोखरोष्ट्रवराहाश्वशकृद्भिः सतुषैर्यवैः। सिकतापांशुपाषाणकरीषायसपूरकैः॥ श्लैष्मिकान् स्वेदयेत्, पूर्वैर्वातिकान् समुपाचरेत्॥' (च० सू० १४)

**२. प्रस्तर स्वेद**—शूकधान्य, शमीधान्य पुलाक ( क्षुद्रधान्य ), वेशवार गण के औषध, पायस, कृशरा, उत्कारिका आदि का एक खूब उष्ण पत्थर के टुकड़े पर कौशेय तथा आविक ( कम्बल ) को बिछाकर इन पर फैला दें। अथवा आवश्यकतानुसार एरण्डपत्र तथा आक के पत्र को उक्त प्रस्तर पर बिछा दें और वातहर तैल से अभ्यक्तगात्र पुरुष को उस पर शयन करावे। इस विधि से जो स्वेदन होता है उसे प्रस्तरस्वेद कहते हैं।[1] प्रस्तरस्वेद मे पिण्डस्वेदोक्त द्रव्यो का भी यथावश्यक प्रयोग कर सकते है।

**३. नाड़ी स्वेद**—यह ऊष्मस्वेद का ही एक प्रकार है जिसका संक्षेप रूप मे वर्णन किया जा चुका है। इसमे रुग्ण पुरुष या स्त्री के एकाङ्ग अथवा सर्वाङ्ग का स्वेदन वाष्प द्वारा होता है। चरक के अनुसार इसके निर्माण का विधान इस प्रकार है जैसे सर्वप्रथम एक कुम्भ ( घडा ) ले लें और उसमे यथावश्यक—स्वेदन द्रव्यो के मूल, फल, पत्र, शुङ्ग प्रभृति को तथा मृग ( पशु ) शकुन ( पक्षी विशेष ) के मास तथा शिरस्पदादि उष्णस्वभाव जीवों के मांस को यथायोग्य अम्ल, लवण तथा स्नेह से युक्त कर उसे यथावश्यक मूत्र, क्षीर आदि के साथ उक्त घट मे डालकर उसका मुख बन्द कर दे। इसके मुख को ऐसा बन्द करे कि उबालते समय इसका वाष्प बाहर न निकलने पावे। पुन. ऐसे घट मे छिद्र बनाकर एक नाडी ( शरेषिका, बाँस आदि का ) जो एक व्याम ( २½ हाथ ) या अर्धव्याम लम्बा हो उसमे लगा दें। इस नाडी के मूलाग्र का परिणाह व्याम का चौथाई तथा अष्टमाश होना चाहिए तथा यह नाडी दो-तीन स्थानो पर विनामित ( मुडी हुई ) होनी चाहिए। पुन इसके छिद्रो को वातहर पत्रो से ढँक देना चाहिए। इस प्रकार बने नाडी स्वेद-यन्त्र को चूल्हे पर चढा दे और उसकी नाडी से, वातहर सिद्ध स्नेहो से अभ्यक्त-गात्र पुरुष का, जो किसी खाट या पलग पर सोया हुआ हो अथवा बैठा हुआ हो और अपने अङ्गो को कम्बल से ढका हो, स्वेदन करे। नाडी के मुडे रहने से वाष्प का चण्ड ( उग्र ) वेग विहत हो जाता है, जिसके कारण उससे त्वचा का दग्ध हुए बिना सुखपूर्वक स्वेदन होता है।[2]

'तत्र वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा पिण्डैर्यथोक्तैरुपस्वेदनं सङ्करस्वेद इति विद्यात्।'
( च० सू० १४ )

1. 'शूकशमीधान्यपुलाकानां वेशवारपायसकृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे पञ्चाङ्गुलोरुबूकार्कपत्रप्रच्छदे वा स्वभ्यक्तसर्वगात्रस्य शयानस्योपस्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात्।' ( च० सू० १४ )
2. 'स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्रशुङ्गादीनां मृगशकुनपिशित-शिरस्पदादीनामुष्णस्वभावानां वा यथार्हमम्ललवणस्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुम्भ्यां वाष्प-

४. परिषेक स्वेद तथा ५ अवगाह स्वेद का वर्णन कर चुके हैं।

६. जेन्ताक स्वेद—पूर्व तथा उत्तर दिशा मे गुणवान् तथा प्रशस्त भूभाग में जहाँ की मिट्टी काली तथा सोनहले रंग की हो और मधुर हो तथा जो परीवाप, पुष्करिणी आदि जलाशयो के दक्षिण अथवा पश्चिम तट पर हो और जहाँ की भूमि सम सुविभक्त हो ऐसे सुन्दर समीप तीर्थस्थल पर जलाशय से ७–८ हाथ पृथक् प्राङ्मुख ( पश्चिम ) या उदङ्मुख ( उत्तर ) कूटागार ( स्वेदन गृह ) वनावे। इस कूटागार का उत्सेध तथा विस्तार १६ हाथ होना चाहिए। यह कूटागार मिट्टी की वनी हुई सब ओर से वृत्ताकार होनी चाहिये। इसमें अनेक वातायन ( खिडकियाँ ) होने चाहिए। इस कूटागार के भीतर चारो तरफ दीवाल से लगी हुई एक हाथ-उत्सेध-विस्तार वाली पिण्डिका वनी होनी चाहिए। यह पिण्डिका कपाट पर्यन्त ( दरवाजे तक ) होनी चाहिए। इस कूटागार के मध्य म एक पुरुष प्रमाण ४ हाथ ऊँचा मिट्टी का वना हुआ अनेक सूक्ष्म छिद्रो से युक्त कन्दुकसंस्थान सपिधान अङ्गारकोष्ठक स्तंभ वनाना चाहिए। इस अङ्गारकोष्ठक स्तंभ को खदिर पलाश आदि काष्ठो से भर कर प्रदीप्त कर ले। जव वह अङ्गारकोष्ठक प्रदीप्त हो जाय और उसकी अग्नि निर्धूम हो जाय तथा उसके ताप से सम्पूर्ण कूटागार सन्तप्त हो जाय तव उस ( कूटागार ) को स्वेदन योग्य समझ कर उपयोग मे लावे। जिस पुरुष का स्वेदन करना हो उसे वातहर सिद्ध तैल से अभ्यक्त कर ले और उसके गात्र को वस्त्र से ढँक दें। पश्चात् निम्न उपदेश के साथ उसे उस कूटागार मे प्रवेश करावे।

**उपदेश**—हे सौम्य ( भद्रपुरुष )—इस कूटागार मे कल्याण तथा आरोग्य के लिए प्रवेश करो। इसमे प्रवेशकर दीवाल से लगी हुई पिण्डिका के ऊपर चढकर लेट जाना पुन यथासुख करवटो को वदलते हुए उस पिण्डिका के सहारे कूटागार के चारो तरफ घूम आओ। इस वात का ध्यान रखना कि स्वेद तथा मूर्च्छा से व्याकुल होकर कभी भी अन्तिम श्वास तक पिण्डिका को मत छोडना, क्योकि पिण्डिका से भ्रष्ट होने पर द्वार को न पाकर स्वेद तथा मूर्च्छा से अभिभूत होने के कारण तुम्हारा प्राण नष्ट हो जायेगा अत कभी भी पिण्डिका को मत छोडना। इस प्रकार पिण्डिका के सहारे करवट वदलते तथा घूमते हुए

---

मनुद्धमन्त्यामुत्त्वथिताना नाड्या शरेषिका-वंशदलकरञ्जाकपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घया व्यामार्धदीर्घया वा व्यामचतुर्भाग ष्टभागमूलाग्रपरिणाहस्रोतसा सर्वता वातहरपत्रसंवृतच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रो वाष्पमुपहरेत्, वाष्पो ह्यनृजुगामी विहतचण्डवेगस्त्वचमविग्हन् सुख स्वेदयतीति नाडीस्वेद ।' ( च सू १४ )

जब तुम्हे ऐसा प्रतीत हो कि तुम्हारा अभिष्यन्द ( शरीर का भारीपन ) दूर हो गया, स्वेद के सम्यक् निर्गमन से शरीर की पिच्छिलता नष्ट हो गई, सभी स्रोतें खुल गई, शरीर हलका हो गया, विबन्ध, स्तम्भ, सुप्ति, वेदना तथा गौरव आदि नष्ट हो गये, तब उक्त पिण्डिका के सहारे द्वार पर आ जाना। परन्तु इस बात का ध्यान रखना कि कूटागार से निकलते ही नेत्रो के दाह-शान्ति के लिए सहसा शीतल जल का उपयोग न करना। कूटागार में निकलने के कुछ काल बाद जब सन्ताप तथा क्लम दूर हो जाय तब सुखोष्ण जल से यथावश्यक परिषेक करना और पश्चात् पथ्य की व्यवस्था करना।[1]

७ **अश्मघनस्वेद**—जिस मनुष्य का स्वेदन करना हो उस मनुष्य के प्रमाण का ( लम्बाई-चौड़ाई का ) एक मोटा शिलाखण्ड ( पत्थर का टुकडा ) लेकर उसे वातहर काष्ठो से प्रदीप्त कर सन्तप्त करे। शिला के सन्तप्त हो जाने पर अगारो को बुझा दे और उष्ण जल से शिला को पोछ ले। पश्चात् उस शिला पर कौशेय तथा आविक ( कम्बल ) बिछा दे और उस पर सम्यक् अभ्यक्त सर्वाङ्ग-स्वेद्य पुरुष को सूती तथा कौशेय वस्त्र से आच्छादित कर सुला

---

१ 'अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत—तत्र पूर्वस्यां दिश्युत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवापपुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे सप्ताष्टौ वाऽरत्नीरुपक्रम्योदकात् प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्, उत्सेधविस्तारतः परमरत्नीः षोडश, समन्तात् सुवृत्तं मृत्कर्मसम्पन्नमनेकवातायनम्; अस्य कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेदाकपाटात्, मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कुमात्रं पुरुषप्रमाणं मृन्मयं कन्दुसंस्थानं बहुसूक्ष्मच्छिद्रमङ्गारकोष्ठकस्तम्भं सपिधानं कारयेत्, तं च खादिराणामश्वकर्णादीनां वा काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्, स यदा जानीयात् साधु दग्धानि काष्ठानि गतधूमान्यवतप्तं च केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति, तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्, प्रवेशयंश्चैनमनुशिष्यात्—सौम्य! प्रविश कल्याणायारोग्याय चेति, प्रविश्य चैनां पिण्डिकामधिरुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः, न च त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि सता पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्, भ्रश्यमानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद्‌ द्वारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणाञ्जह्याः, तस्मात् पिण्डिकामेनां न कथञ्चन मुञ्चेथाः, त्वं यदा जानीया विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक् प्रस्रुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघूभूतमपगतविबन्धस्तम्भ-सुप्ति-वेदना गौरवमिति, ततस्तां पिण्डिकामनुसरन् द्वारं प्रपद्येथाः, निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः, अपगतसन्तापक्लमस्तु मुहूर्तात् सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽश्नीयाः, इति जेन्ताकस्वेदः'। ( च सू १४ )

दे । रोगी को आदेश करे कि वह पार्श्वों को बदल-बदल कर सर्वाङ्ग का सम्यक् स्वेदन करे । इसको अश्मघनस्वेद कहते हैं ।[1]

**कर्षूस्वेद**—स्थान-विभाग का ज्ञान रखने वाला चिकित्सक सोने वाले पलग के नीचे कर्षू ( घूर ) खोदे । पुनः उस कर्षू को धूमरहित प्रदीप्त अङ्गारो से भर दे । पश्चात् इस कर्षू के ऊपर स्थित पलङ्ग पर स्वेद्य रोगी को सुला दे । यहाँ भी रोगी को वातहर तैलो से सम्यक् अभ्यक्त कर ले तथा वस्त्राच्छादित कर पलग पर सुलावे । इस प्रकार रोगी का जो स्वेदन होता है उसे कर्षूस्वेद कहते हैं ।[2]

९ **कुटीस्वेद**—एक ऐसी वृत्ताकार कुटी बनावे जो न अधिक विस्तार वाली हो और न अधिक उत्सेधवाली हो तथा जिसकी दिवाल मोटी हो और झरोखे से रहित हो । पुनः इस कुटी को कुष्ठादि औषधो के कल्क से लेप देवे । इस कुटी के मध्य मे एक शय्या ( पलङ्ग ) प्रावार ( चादर ) अजिन ( मृगचर्म ) कौशेय, कुथ, कम्बल तथा गोलक आदि से सुसज्जित कर रख । पश्चात् इस कुटी को चारो तरफ से ज्वलित अङ्गारो से भर दें । जब वह कुटी सन्तप्त हो जाय तब रोगी को वातहर तैल मे स्वभ्यक्त कर तथा वस्त्रो से आच्छादित कर प्रवेश करावे । इस प्रकार उसका स्वेदन अच्छी तरह होता है ।

**नोट**— यह कुटी तुन्दुर के समान मध्य प्रमाण की होगी ।

१० **भूस्वेद**—अश्मघन स्वेद के विधान के अनुसार ही भूस्वेद का विधान

---

१ शयानस्य प्रमाणेन घनामश्ममयीं शिलाम् ।
तापयित्वा मारुतघ्नैर्दारुभिः सम्प्रदीपितैः ॥
व्यपोह्य सर्वानङ्गारान् प्रोक्ष्य चैवोष्णवारिणा ।
तां शिलामथ कुर्वीत कौशेयाविकसंस्तराम् ॥
तस्यां स्वभ्यक्तसर्वाङ्गः स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ।
रौरवाजिनकौशेयप्रावाराद्यैः सुसंवृतः ॥
इत्युक्तोऽश्मघनः स्वेदः । ( च सू अ १४ )

२ ...... ...... ........ "कर्षूस्वेदः प्रवक्ष्यते ।
खानयेच्छयनस्याधः कर्षूं स्थानविभागवित् ॥
दीप्तैरधूमैरङ्गारैस्तां कर्षूं पूरयेत्ततः ।
तस्यामुपरि शय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ॥ ( च सू अ १४ )

३ 'अनत्युत्सेधविस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम् ।
घनभित्तिं कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः सम्प्रलेपयेत् ॥
कुटीमध्ये भिषक् शय्यां स्वास्तीर्णामुपकल्पयेत् ।
प्रावाराजिनकौशेयकुथकम्बलगोलकैः ॥
हसन्तिकाभिरङ्गारपूर्णाभिस्तां च सर्वशः ।
परिवार्यान्तरा रोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥' ( च सू १४ )

है। अर्थात् प्रशस्त निवात स्थान को अश्मघन-स्वेदोक्त औषधकाष्ठ को जलाकर सन्तप्त करे तथा सन्तप्त हो जाने पर ज्वलदङ्गारा को बुझाकर उस स्थान को उष्णजल से मोछ ले तथा उस पर कौशेय तथा आविक ( कम्बल ) विछा दे। पश्चात् स्वभ्यक्त सर्वांग रोगी को यथाविधि वस्त्रावगुण्ठित कर सुलावे।[1]

**११. कुम्भीस्वेद**—भूमि पर एक गड्ढा खोदे और उस गड्ढे मे वातहर द्रव्यो के क्वाथ से भरा हुआ घट ऐसा रखे कि उसका आधा अथवा तीन भाग गड्ढे मे चला जाय। इसके बाद उस गड्ढे के ऊपर एक ऐसी शय्या अथवा बैठने के लिए मोढा या कुर्सी आदि रखे जिनमे अनेक छिद्र हो तथा वह अत्यधिक मोटे वस्त्र मे न ढका हो अर्थात् उस शय्या तथा आसन पर पतला वस्त्र बिछा हो। पुन उक्त शय्या या आसन पर स्वभ्यक्त गात्र रोगी को बैठावे और उक्त क्वाथपूर्ण घट मे लाल किये हुए अङ्गार दग्ध अयोगोलक, पाषाण आदि को डाले। इस सन्तप्त अयोगोलकादि के प्रक्षेप मे जो वाष्प निकलेगा उससे रोगी का स्वेदन होगा इस स्वेद-विधि को कुम्भीस्वेद कहते हैं।[2]

**१२. कूपस्वेद**—प्रशस्त तथा निर्वात स्थान पर शयन-विस्तार से ( खाट की लम्बाई से ) द्विगुण विस्तार प्रमाण एक कूप खोदे। कूप का भीतरी भाग सुमार्जित होना चाहिए। पुन उस कूप को हाथी, घोडे, गदहे तथा ऊँट की उपलो से भरकर उसे दग्ध कर ले। कूप के सन्तप्त हो जाने पर उसमे बिछौना बिछी हुई शय्या रखे और उस पर स्वभ्यक्त गात्र तथा स्वावच्छन्न रोगी को सुलावे। इससे उसका सम्यक् स्वेदन हो जाता है।[3]

**१३ होलाकस्वेद**—यथोक्त ( गौ, अश्व, खर, उष्ट्र, आदि के ) शुष्क उपलो की 'धीतिका' ( गोहरा ) खाट के प्रमाण के अनुसार बनाकर जलावे। जब वह जलकर निर्धूम हो जाय तब उसके ऊपर शय्या बिछावे। इस प्रकार उक्त विधूम तथा सुदग्ध धीतिका से संतप्त शय्या पर बिछौना बिछाकर सम्यक्

---

१ य एवाश्मघनस्वेदविधिर्भूमौ स एव तु।
प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते ॥ ( च सू १४ )

२ 'कुम्भीं वातहरक्वाथपूर्णां भूमौ निखानयेत। अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि स्थापयेदासनं वाऽपि नातिसान्द्रपरिच्छदम्। अथकुम्भ्यां सुसन्तप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान्॥ पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति ना सुखम्। सुसंवृताङ्गः स्वभ्यक्त स्नेहैरनिलनाशनैः ॥' ( च सू १४ )

३ 'कूपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि वेधतः।
देशे निवाते शस्ते च कुर्यादन्तः सुमार्जितम्॥
हस्त्यश्वगोखरोष्ट्राणां करीषैर्दग्धपूरिते।
स्ववच्छन्नः सुसंस्तीर्णेऽभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम्॥' ( च सू, १४ )

अभ्यक्त गात्र पुरुष सोवे। इससे रोगी का सम्यक् स्वेदन हो जाता है। इस स्वेद को होलाक स्वेद कहते हैं।[1]

इन सभी प्रकार के स्वेदो के पुन. स्वेद्याग के अनुसार ( १ ) एकाङ्गस्वेद तथा ( २ ) सर्वाङ्गस्वेद के भेद से दो विभागो मे विभक्त किया है। पुन गुण, कर्म भेद से इनके ( १ ) स्निग्धस्वेद और ( २ ) रूक्षस्वेद—ये दो भेद किए गये हैं। इस प्रकार चरक के उद्देश्य भेद से विभक्त तीन स्वेद द्वन्द्वो का वर्णन किया है। जैसे—

| | | |
|---|---|---|
| प्रथम द्वन्द्व | ( १ ) अग्निस्वेद और | ( २ ) अनग्निस्वेद। |
| द्वितीय ,, | ( १ ) एकाङ्गस्वेद और | ( २ ) सर्वाङ्गस्वेद। |
| तृतीय ,, | ( १ ) स्निग्धस्वेद और | ( २ ) रूक्षस्वेद।[2] |

इन सभी स्वेदो के उपयोग करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि रोग, रोगी, ऋतु आदि के विचार ( अपेक्षा ) से प्रयुक्त नात्युष्ण, न अतिमृदु स्निग्ध रूक्षादि द्रव्यो से कल्पित स्वेद उपयुक्त देश मे प्रयुक्त होने पर ही सफल होते हैं।[3]

( १ ) महान्, ( २ ) मध्यम और ( ३ ) दुर्बल के भेद से भी स्वेद के तीन भेदो का वर्णन चरक ने किया है। यह भेद स्वेद के चण्ड ( उग्र ) ताप, मध्यम ताप तथा दुर्बल ताप के अनुसार किया गया है। यह एक प्रकार से स्वेद की मात्रा ही है। अतः इसके प्रयोग का आदेश करते समय आचार्यों ने कहा है कि महान् स्वेद का प्रयोग महाबलवान् व्याधि मे महाबली शरीर वाले पुरुष को शीतकाल मे करना उचित है। इसी प्रकार मध्यबल-व्याधि तथा मध्यबल शरीर मे मध्यम स्वेद का तथा दुर्बल व्याधि और दुर्बल शरीर मे दुर्बलस्वेद का प्रयोग करना उचित है।[4]

---

१ 'धीतिका तु करीषाणा यथोक्ताना प्रदीपयेत्।
शयानान्त प्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च॥
सुदग्धाया विधूमाया यथोक्तामुपकल्पयेत्।
स्ववच्छन्न स्वपस्तत्राभ्यक्त स्विद्यति ना सुखम्॥
होलाकस्वेद इत्येष सुख प्रोक्तो महर्षिणा।
इति त्रयोदशविध स्वेदोऽग्निगुणसश्रय.॥' ( च सू १४ )

२ 'एकाग सर्वागगत स्निग्धो रूक्षस्तथैव च।
इत्येतत्त्रिविध द्वन्द्व स्वेदमुद्दिश्य कीर्तित॥ ( च सू १४ )

३ रोगर्तुव्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽतिमृदुर्न च।
द्रव्यवान् कल्पितो देशे स्वेद. कार्यकरो भवेत्॥' ( च सू १४ )

४ 'व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले।
दुर्बले दुर्बल. स्वेदो मध्यमे मध्यमो हित॥' ( च सू १४ )

इसी प्रकार वात श्लेष्मज विकारो मे स्निग्धपूर्वक रूक्षस्वेद का, केवल वात-विकार मे स्निग्धस्वेद का तथा कफविकार मे रूक्षस्वेद का विधान आचार्यों ने किया है। पुन आशय भेद से आमाशयगत वात मे रूक्षपूर्वक स्वेद अर्थात् आमाशय कफ का स्थान होने से पहले रूक्षस्वेद देवे पश्चात् स्थानीय दोष का प्रतिकार हो जाने पर वात के लिए स्निग्धस्वेद करना उचित है। इसी प्रकार पक्वाशयगत कफ विकार मे पहले स्थानीय दोष अर्थात् वायु का प्रतिकार स्निग्ध स्वेद से कर पुन कफ दोष के प्रतिकारार्थ रूक्षस्वेद करना चाहिए।[1]

**शरीरावयव भेद से स्वेद विधान**—वृषण ( अण्डकोष ) पर उग्रस्वेद नही करना चाहिए, क्योकि यह शुक्रवह स्रोतो का मूल है। उग्रस्वेद मे शुक्र-क्षय होने का भय रहता है। इसी प्रकार हृदय और नेत्रो का भी स्वेद निषिद्ध है। हृदय से उर प्रदेश का ग्रहण है। हृदय ओज का स्थान है अत यहाँ उग्रस्वेद करने से ओजोक्षय का भय होता है। नेत्र आलोचक पित्त का स्थान है। अत स्वेद से उसके प्रकोप का भय रहता है। अत इन स्थानो पर स्वेद प्राय नही करना चाहिए। यदि आवश्यक हों तो अतिमृदुस्वेदन स्वेदनयोग्य-विकारो मे करना उचित है। वक्षण प्रदेश मे सदा मध्यम स्वेद अभीष्ट है। शेष अङ्गो मे यथेष्ट यथावश्यक स्वेद कर सकते हैं।[2]

इन, उपर्युक्त प्रतिषिद्ध स्थानो मे यदि स्वेद करना हो तो निम्न विधान मे स्वेद करना श्रेयस्कर है। यथा—स्वच्छ तथा शुद्ध आलक्तक ( लाक्षारस से रञ्जित तूलिका ), गेहूँ के आँटा का पिण्ड तथा कमलपत्र इनमे से यथावश्यक किसी एक से नेत्रो को ढँक कर स्वेदन करे। इसी प्रकार हृदय प्रदेश के स्वेद मे चिकित्सक को चाहिये कि वह मुक्तावली आदि शीतल द्रव्यो से, शीतल पात्र तथा जलार्द्र कमल पत्रो से अथवा आर्द्र हाथ से रोगी के हृदय को स्वेदन करते समय वार-बार स्पर्श करे।[3]

---

१ ( i ) 'वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते।
स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः॥
आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।
रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च॥' ( च सू १४ )

( ii ) 'स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधनः॥' ( वाग्भट )

२ 'वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा।
मध्यमं वंक्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः॥' ( च सू १४ )

३ 'सशुद्धैर्नक्तकैः पिण्ड्या गोधूमानामथापि वा।
पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी॥
मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि।
जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत॥' ( च. सू. अ. १४ )

**सम्यक् स्विन्न के लक्षण**—शरीर के अन्दर अनुभव होनेवाला शीत तथा शूल की जब शान्ति हो जाय तथा शरीर का स्तम्भ ( जकड़ाहट ) और गौरव नष्ट हो जाय तथा जिस स्थान का स्वेदन किया जाता हो वह स्थान मृदु हो जाय तो समझे कि सम्यक् स्वेदन हो गया। इन उपर्युक्त सम्यक् स्विन्न के लक्षणों को देखकर स्वेदन कर्म बन्द कर दे। इस प्रकार स्वेद ( पसीना ) निकलना, व्याधि का अभाव, शरीर मे लघुता, शीतल द्रव्य की इच्छा ये सम्यक स्विन्न के लक्षण हैं।[1]

**अतिस्विन्न के लक्षण**—पित्त तथा रक्त का प्रकोप, मूर्च्छा, शरीर सदन ( शरीर का शिथिल हो जाना ), सन्धि पीडा तृषा, विदाह, भ्रम, क्लम, स्वर तथा अङ्गो में दौर्बल्य एव स्फोटोत्पत्ति, ये लक्षण जब उत्पन्न होवें तब समझे कि स्वेदन का अतियोग हो गया। ऐसी अवस्था मे तस्याशितीय अध्याय मे उक्त ग्रीष्म ऋतु की विधियों का उपयोग उसके प्रतिकारार्थ करना चाहिये। अतिस्विन्न के लक्षणों को देखकर मधुर, शीतल तथा स्निग्ध द्रव्यो का उपयोग करना उचित है।[2]

**अस्वेद्य पुरुष**—कषाय तथा मद्य के अभ्यासी, गर्भिणी, रक्तपित्त से पीडित, पित्त विकार से पीडित, अतिसार रोगी, जिनका शरीर रूक्ष हो, ऐसे पुरुष, मधुमेही, विदग्ध तथा जो व्रण से पीडित हो, विष तथा मदात्यय रोगी, श्रान्त तथा सज्ञाहीन पुरुष, स्थूल पुरुष, पित्तज प्रमेही, तृषित, क्षुधित, क्रुद्ध तथा शोकाकुल पुरुष, कामला तथा उदर रोग से पीडित, क्षय रोगी, क्षत रोगी तथा वात रक्त से आक्रान्त रोगी; दुर्बल, अति शुष्क तथा जिसका ओज क्षीण

---

१ ( i ) 'शीतशूलव्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे।
सजाते मार्दवे स्वेदे स्वेदनाद्विरतिर्मता॥' ( च सू अ १४ )

( ii ) 'स्वेदस्रावो व्याधिहानिर्लघुत्व,
शीतार्थित्व मार्दव चातुरस्य।
सम्यक् स्विन्ने लक्षणे प्राहुरेतत्॥' ( सु चि ३२ )

२. ( i ) 'पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च शरीरसदन तृषा।
दाह स्वराङ्गदौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम्॥
उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिक सर्वशो विधि।
सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुर स्निग्ध शीतल॥' ( च सू अ १४ )

( ii ) 'स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडा विदाह, स्फोटोत्पत्ति पित्तरक्तप्रकोप.। मूर्च्छा भ्रान्तिर्दाहतृष्णे क्लमश्च, कुर्यात्तूर्णं तत्र शीत विधानम्॥' ( सु चि अ ३२ )

हो गया हो ऐसा पुरुष, तिमिर रोग से पीडित पुरुष, ये सब अस्वेद्य है अर्थात् इन्हें स्वेदन कर्म नही करना चाहिये ![1]

**स्वेदन के योग्य रोग तथा रोगी**—प्रतिश्याय, कास हिक्का, श्वास, शरीर का अलाघव ( गौरव ), कर्णशूल, मन्याशूल, शिर शूल, स्वरभेद, गलग्रह, अर्दित, एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात, पक्षाघात, विनामक ( शरीर का वात विकारवश जम जाना ) कोष्ठवात, आनाह, विबन्ध, मूत्राघात, विजृम्भा पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटीग्रह, गृध्रसी, मूत्रकृच्छ्र, मुष्को ( अण्डकोषो ) का बडा हो जाना, अङ्गमर्द, पादमर्द जानुपीडा, ऊरुपीडा, जघा पीड़ा, तथा इन अवयवो के ग्रह यथा—पादग्रह, आनुग्रह, जानुग्रह, जघाग्रह इत्यादि, शोथ, खल्ली, आमविकार, शरीरशैत्य, वेपथु ( कम्प ), वातकण्टक, अङ्गो का सकोच तथा आयाम, शूल, अङ्गो का स्तम्भ ( जकड जाना ), अङ्गगौरव, अङ्गसुप्ति, इन विकारो से आक्रान्त पुरुष का स्वेदन करना चाहिये। अर्थात् इन उपर्युक्त रोगो मे स्वेदन से लाभ होता है।[2]

स्वेदन कर्म सदा स्नेहन के पश्चात् करना ही श्रेयस्कर है। स्वेदनार्थ स्नेहन मे प्राय बाह्य स्नेहन अर्थात् अभ्यङ्ग अभीष्ट होता है। स्वेदन के पूर्व स्नेहन नही करने मे प्राय व्यापत्तियो का भय रहता है। अत चिकित्सक को स्वेदन

---

१ 'कषायमद्यनित्याना गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्।
पित्तिना सातिसाराणा रूक्षाणा मधुमेहिनाम ॥
विदग्धभ्रष्टब्रध्नाना विषमद्यविकारिणाम्।
श्रान्ताना नष्टसज्ञाना स्थूलाना पित्तमेहिनाम् ॥
तृष्यता क्षुधिताना च क्रुद्धाना शोचतामपि।
कामल्युदरिणा चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम् ॥
दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसा तथा।
भिषक् तैमिरिकाणा च न स्वेदमवतारयेत् ॥' ( अ सू अ १४ ),

२ 'प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वलाघवे।
कर्णमन्याशिरःशूले स्वरभेदे गलग्रहे ॥
अर्दितैकाङ्गसर्वाङ्गपक्षाघाते विनामके।
कोष्ठानाहविबन्धेषु मूत्राघाते विजृम्भके ॥
पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षिसग्रहे गृध्रसीषु च।
मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमर्दके ॥
पादजानूरुजङ्घार्तिसग्रहे श्वयथावपि।
खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकण्टके ॥
सकोचायामशूलेषु स्तम्भगौरवसुप्तिषु।
सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदन हितमुच्यते ॥' ( च. सू अ १४ )

के पूर्व यथावश्यक अङ्गो का स्नेहन अवश्य कर लेना चाहिये। कभी-कभी स्वेदन के लिये आभ्यन्तर स्नेहन अर्थात् स्नेहपान की भी आवश्यकता होती है।[1]

संशोधन के लिये स्नेहन तथा स्वेदन, ये दोनो पूर्व-कर्म परमावश्यक हैं। धातुओ मे स्थित तथा लीन दोष या मल तथा अपने-अपने स्थान तथा मार्ग मे भी लीन दोष या मल स्नेहन करने पर क्लिन्न ( ढीले ) हो जाते हैं जिससे स्वेदन करने पर ये दोष तथा मल पिघल कर ( द्रव होकर ) कोष्ठ मे आ जाते हैं। कोष्ठ मे दोष तथा मलो के आ जाने पर उनका निर्हरण सुविधाजनक हो जाता है।[2]

इन उपर्युक्त लाभो के अतिरिक्त स्वेदन मे अग्नि ( जाठराग्नि ) भी प्रदीप्त होती है तथा शरीर मे मृदुता उत्पन्न होती है तथा त्वचा का प्रसादन होता है। इससे भोजन मे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा शरीर की स्रोते शुद्ध और निर्मल हो जाती हैं। स्वेदन तन्द्रा तथा संधियो का स्तम्भ नाश कर शरीर मे स्फूर्त्ति प्रदान करता है तथा संधियो को सचेष्ट बना देता है।[3]

इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कृश तथा मध्यबल बालकों को आवस्थिक ( रोग तथा रोगी के बल के अनुसार ) स्वेदन करना चाहिये। बालको को स्वेदन करते समय उनके शीत आदि रोगो का तथा शरीर का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये। स्वेदन की मात्रा शीत, व्याधि, तथा बालक के स्वेद्यार्थ को भलीभाँति देखकर करना चाहिये।[4]

**संशोधन**--शोधन, संशोधन, देहसंशोधन तथा उभयतोभाग-हर, संशोधन के ही पर्याय हैं। जो द्रव्य ऊर्ध्व भाग अर्थात् मुख तथा नासिका और अधोभाग--गुदा, इन दोनो मार्गों से दोषो तथा मलो को शरीर से बाहर निकालें उन्हें संशोधन, शोधन तथा उभयतोभागहर कहते हैं। इनके अन्दर वमन, शिरो-

---

१ 'नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे, स्वेदो योज्य स्वेदविद्भि कथञ्चित्। दृष्टं लोके काष्ठमस्निग्धमाशु, गच्छेद्भङ्ग स्वेदयोगैर्गृहीतम् ॥' ( सु चि अ ३२ )

२ स्नेहक्लिन्ना धातुसंस्थाश्च दोषा,
स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीना।
सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्वं,
प्राप्ता कोष्ठं शोधनैर्यान्त्यशेषम् ॥' ( सु चि अ ३२ )

३ 'अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं,
भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम्।
कुर्यात्स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां,
सन्धीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्त ॥' ( सु चि. अ ३२ )

४ बालानां कृशमध्यानां स्वेद आवस्थिको हित।
शीतव्याधि-शरीराणां बालानां च विशेषत ॥' ( का. सू २२-८ )

विरेचन, विरेचन, निरूह तथा अनुवासन ये पांच कर्म आते हैं अत इन्हे पञ्च कर्म भी कहते हैं। शल्यतन्त्रविद् चिकित्सको ने निरूह तथा अनुवासन को पृथक्-पृथक् न कह वस्ति से ही इनका अभिधान किया है और पाँचवाँ शोणितावसेचन कर्म ( रक्त मोक्षण ) को भी सशोधन मे ग्रहण किया है। है। इन पञ्च कर्मों में वमन तथा शिरोविरेचन ये दो कर्म ऊर्ध्वभागहर सशोधन के अन्तर्गत आते हैं और विरेचन, निरूह तथा अनुवासन अधोभागहर सशोधन है।[1]

सशोधन द्रव्य पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु महाभूतो के गुणो को अधिकता वाले होते हैं। ये दोनो मार्गों से दोष तथा मलो को निकालते हैं अत. इन्हें उभयतो-भागहर कहा गया है। जो द्रव्य मलो ( पुरीष और दोष ) के सचय को उनके स्थान से हटाकर ऊपर तथा नीचे के मार्गों से बाहर निकाले उसको देहसशोधन' कहते हैं।[2]

देहसशोधन से यद्यपि वमन, विरेचन, आस्थापन शिरोविरेचन, मूत्र-विरेचन, शोणितावसेक, आदि सब कर्मो का ग्रहण हो जाता है तथापि यहाँ उभयतोभागहर से प्रधानत मुख तथा गुदा मार्ग से दोषो तथा मलो के निर्हरण का ग्रहण किया गया है।[3]

**वमन**—इसे ऊर्ध्वभागहर तथा छर्दन भी कहते हैं। जो द्रव्य ऊर्ध्व भाग ( मुख ) से दोषो को बाहर निकाले उसे 'वमन', 'ऊर्ध्वभागहर', या 'छर्दनीय' कहते हैं। वमनद्रव्य प्राय उष्ण तीक्ष्ण, सूक्ष्म व्यवायी तथा विकाशी गुणवाले होते हैं। वे अपने वीर्य से ( शक्ति या प्रभाव से ) हृदय प्रदेश मे जा अपने सूक्ष्म तथा व्यवायी गुणो के कारण वहाँ से धमनियो द्वारा समग्र शरीर मे पहुँच कर स्थूल तथा सूक्ष्म, सब प्रकार के स्रोतो से दोषो को अपने अग्निय गुण

---

१ 'उभयतश्चोभयगुणात्।' ( च क अ १ ) 'उभयतश्चेति ऊर्ध्वमधश्च क्षिप्यत इत्यर्थ। उभयगुणत्वादिति अग्निवाय्वात्मकत्वात् सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादूर्ध्वाधोभागप्रभावाच्चेत्यर्थः।' ( चक्र. ) 'उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्।' ( सु मू अ ४१ ) 'उभयगुणभूयिष्ठमिति विरेचन-वमन निर्दिष्ट-भूतचतुष्टय-गुण-भूयिष्ठमित्यर्थ।' ( डल्हण )

२. 'स्थानाद्बहिर्नयेदूर्ध्वमधश्च मलसञ्चयम्। देह-संशोधन तत्स्याद्देवदालीफल यथा॥' ( शा. पु. अ ४ ) 'यद्द्रव्य स्थानात् प्रकुपितस्थानात्, मलसञ्चय दोषादीना सञ्चय स्वस्थानाद् ऊर्ध्वमधश्च नयेत् बहि: करोति, तद्देहस्य शरीरस्य सशोधन कथितम्। यथा देवदालीफलम्। ऊर्ध्व मुखेन, अध. पायुमार्गेण।' ( आढमल्ल )

३. यद्यपि देहसशोधनशब्देन वमनविरेचनास्थापन-शिरोविरेचन मूत्रविरेचन शोणितावसेकानि सर्वाण्यपि प्राप्यन्ते तथापि तेषा पृथगुक्तत्वात् पारिशेष्याद् मुखगुदोभयभागनिर्हरणमेवात्र गृह्यते।' ( र. वै )

से द्रवीभूत ( पिघला ) कर तथा तीक्ष्ण गुण से विच्छिन्न कर ( तोड या उन्मूलन कर ), उस द्रवीभूत तथा विच्छिन्न ( अपने स्थान से हटे ) दोष को ( वमन से पूर्व ) शरीर के स्नेहभावित किए जाने के कारण, जैसे स्नेहभावित पात्र मे मधु नही चिपकता उस प्रकार शरीर मे कही न चिपकने के कारण तथा वमन द्रव्य के सूक्ष्मस्रोतोनुसरण और आमाशयगमनोन्मुख प्रभाव से आमाशय मे आकर उदान वायु से प्रेरित हो वमन द्रव्य के ऊर्ध्वभाज प्रभाव से मुख मार्ग से बाहर निकालते हैं। वमन द्रव्य अग्नि तथा वायु के गुणो की अधिकता से ऊर्ध्वभाज प्रभाववाले होते हैं।[1]

सक्षेप मे जो अपक्व पित्त, कफ या दोनो को तथा अपक्व अन्न को मुख द्वारा बाहर निकाले उसे 'वमन' कहते हैं। यद्यपि कफ के लिये वमन तथा पित्त के लिये विरेचन को प्रधान माना गया है तथापि अपक्वपित्त का निर्हरण वमन से ही होता है। इसीलिये अम्लपित्त की चिकित्सा मे प्रारम्भ मे वमन कराने का विधान है।[2]

वामक द्रव्यो को आधुनिक चिकित्सक एमेटिक्स ( Emetics ) कहते हैं। इनके दो भेद हैं। ( १ ) प्रत्यक्ष—जो द्रव्य आमाशय मे क्षोभ या दाह उत्पन्न कर वमन कराते हैं उन्हें प्रत्यक्ष वामक ( Direct emetics ) कहते हैं। ( २ ) अप्रत्यक्ष—जो द्रव्य रक्त मे मिलकर रक्तानुधावन द्वारा 'वमन-केन्द्र' मे पहुँचकर, उसे क्षुब्ध कर वमन कराते हैं उन्हे 'अप्रत्यक्ष वामक' कहते हैं।

वमन सामान्य रूप मे एक अनैच्छिक चेष्टा है। परन्तु अभ्यासवश कई पुरुषो मे इच्छानुसार वमन करने की शक्ति होती है। वस्तुत मे यह एक

---

१. ( i ) दोष-हरणमूर्ध्वभाग वमनसज्ञकम्।' ( च क १ ) तत्रोष्ण-तीक्ष्ण सूक्ष्म-व्यवायि विकासीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणु-स्रोतेभ्य केवल शरीरगत दोषसघातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयति तैक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्न परिप्लवनस्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजन-स्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते। ( च क अ १ )

( ii ) 'वमनद्रव्याणि अग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद् वमनमूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्।' ( सु सू ४१ )

२ ( i ) अपक्वपित्तश्लेष्माणौ बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत्।
वमन तद्धि विज्ञेय मदनस्य फल यथा॥' ( शा प्र अ ४ )

( ii ) 'यद्द्रव्यमपक्व पित्तश्लेष्मान्नचयमूर्ध्व नयेत, हि निश्चयेन, तद्वमन विज्ञेयम्।' ( का )

( iii ) 'तदाग्नेय वायव्य च।' ( र वै )

( iv ) 'तेजोवायुजमूर्ध्वगम्।' ( र वै )

'प्रनिसंक्रमित क्रिया ( Reflex action ) है। अन्य प्रतिसक्रमित क्रियाओ के समान इसमे भी दो प्रकार के नाडी सूत्र अङ्गभूत होते हैं। एक बहिर्मुख या सज्ञावह ( Afferent or Sensory ) तथा दूसरे अन्तर्मुख या चेष्टावह ( Efferent or Motor )। बहिर्मुख नाडीसूत्र वे हैं जो वमनोत्पादक क्षोभ उत्पन्न करनेवाले अवयवो ( आमाशय आदि ) से चलकर वमन के मस्तिष्कगत केन्द्र की ओर जाते हैं। अन्तर्मुख नाडीसूत्र वे हैं जो उक्त केन्द्र से वमन मे भाग लेनेवाले अवयवों की ओर जाते हैं।[1]

वमन का केन्द्र सुषुम्ना शीर्षक मे होता है। यह स्थान सभवत श्वसन केन्द्र के निकट है। क्योकि वमन के समय उन्ही पेशियो का सहसा सकोच होता है जो उच्छ्वास तथा नि श्वास मे भाग लेती हैं। ये पेशियाँ क्रमश उदरगत पेशियाँ तथा महाप्राचीरा पेशी हैं।

जिन अवयवो के सज्ञावह नाडीसूत्रो के क्षोभ के परिणामस्वरूप वमन होता है, उनमे सामन्य रूप से आमाशय प्रधान है। आमाशय की श्लेष्मल कला के अन्तर्गत नाडीसूत्रो का यह क्षोभ आमाशय मे अजीर्णवश हुए कोथ ( Fermentation ) के कारण उत्पन्न होता है, किंवा वमन की इच्छा से प्रयुक्त राई, लवण जल प्रभृति से भी होता है।

आयुर्वेद के अनुसार भी वमन को 'आमाशयोत्क्लेशभवा' कहा है। इनके हेतुओ को दर्शाते हुए स्पष्ट किया है कि 'आम दोष' से आमाशय जब अत्यधिक आक्रान्त होता है तब वमन उत्पन्न होता है।[2] छर्दि की चिकित्सा से भी इसका समर्थन प्राप्त होता है। वमन विकार मे लंघन तथा कफपित्तहर सशोधन का विधान इस तथ्य को सम्पुष्ट करता है कि छर्दि आमाशय के क्षोभ से उत्पन्न होती है।

आमाशय के अतिरिक्त अन्य अवयव, जिनसे, संज्ञावहसूत्रो के क्षोभ से वमन होता है वे निम्नलिखित हैं :—

( १ ) महास्रोतस के विभिन्न विभाग, जैसे—गले के पृष्ठभाग को अङ्गुली

१. ( i ) Pharmaglocoy by Drill
( ii ) Machinery of Human body

२. ( i ) 'आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा,
छर्द्यो मता लघनमेव तस्मात्।
प्राक्कारयेन्मारुतजा विमुच्य,
संशोधन वा कफपित्तहारि ॥' ( च. चि २० )

( ii ) 'आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वास्तस्माद्धित लघनमेव तासु।' (सु उ ४९-१५)

(iii) 'अत्यन्तामपरीतस्य छर्देवै सम्भवो ध्रुवम्।' ( सु. उ. ४९–५ )

मे स्पर्श करने पर वमन होता है, ( २ ) मूत्र तथा जनन सस्थान के अवयव, जैसे—वृक्क, गर्भाशय, वृषण इत्यादि, ( ३ ) यकृत् तथा अन्य आभ्यन्तरिक अवयव, ( ४ ) प्राणदा ( Vagus ) तथा अन्य सज्ञावह नाडियाँ, जिनके कृत्रिम क्षोभ से वमन होता है। ( ५ ) अप्रिय मनोभाव तथा ( ६ ) शरीर के समतुलन की प्रतीति मे विक्रिया होने मे भी वमन होता है। आयुर्वेद मे भी द्विष्ट ( अप्रियकर ) वा वीभत्स वस्तुओ के दर्शन से वमन होने का उल्लेख है। यह प्रथम कोटि का वमन है। समुद्र या विमान की यात्रा मे अथवा मोटर आदि द्वारा पहाड की ऊँचाइयो पर जाने मे जो वमन होता है वह द्वितीय कोटि या प्रकार का है। मस्तिष्क के विभिन्न भागो मे आघात वा रोग के कारण उत्पन्न हुई विकृति से वमन, केन्द्र पर साक्षात प्रभाव होकर भी वमन होता है। इसको केन्द्रीय वमन ( Central vomiting ) कहते हैं। एपोमार्फिन आदि कुछ द्रव्य साक्षात् वमन केन्द्र पर क्रिया कर वमन उत्पन्न करते हैं।

वमन मे आमाशयगत द्रव्य बाहर फेंका जाता है परन्तु प्रयोग से यह सिद्ध हुआ है कि इसमे आमाशय तो स्वय निष्क्रिय-सा रहता है। यह तो प्रत्येक पुरुष को स्वानुभव से विदित होना है, कि इस ( वमन ) काल मे उदर की पेशियो का सहसा तथा प्रवल आकुञ्चन होता है। इन पेशियो के आकुञ्चन-जन्य आमाशय पर पीडन का परिणाम वमन होता है। मेगेण्डी ( Magendi) ने प्रयोग से इस तथ्य को सिद्ध किया जैसे—उसने आमाशय को शल्यक्रिया द्वारा पृथक् कर दिया और उस स्थान पर एक जलपूर्ण वस्ति ( मूत्राशय ) जोड़कर उसका सम्बन्ध अन्ननलिका से कर दिया। पश्चात् वामक सूचीवस्ति दिया, जिसका परिणाम पूर्ववत् वमन हुआ। पुन. अन्य प्रक्रियाओ से उदर के पेशियो को नि सज्ञ कर वामक द्रव्य का प्रयोग किया जिसका परिणाम आमाशय मे वामक द्रव्य के होने पर भी वमन नही हुआ। इत्यादि। वमन के समय आमाशय के निष्क्रिय होने पर भी उसमे इतना परिवर्तन तो अवश्य दिखाई देता है कि मुद्रिका द्वार दृढ आकुञ्चन के कारण बन्द होता है। आमाशयकोण पर स्थित माससूत्रमय पट्ट भी दृढता से सकुचित होता है। परन्तु आमाशय का गात्रभाग ( Fundus ) तथा हार्दिक द्वार शिथिल और विस्तृत होता है। परिणामस्वरूप मास पट्ट से ऊपर स्थित द्रव्य उदर की पेशियो के तीव्र और सहसा सकोच होने पेर आमाशय पर पीडन होने से बाहर फेंक दिये जाते हैं।'

१ 'Vomiting is a complex reflex mechanism, and emetic drugs act at one or more locations along the reflex arc The three divisions of the Vomiting reflexes are—( 1 ) Perepheral excita-

वमन का विस्तारपूर्वक विधान चरक सूत्र अध्याय १५ ( उपकल्पनीयाध्याय ) मे उपलब्ध होता है। सुश्रुत ने इसका वर्णन चिकित्सा स्थान के ३३ वें अध्याय मे किया है। चरक कल्प स्थान के प्रथम छ अध्यायों मे वमन कल्पों का ही वर्णन है। इन अध्यायों मे ३५५ योग वमन के बतलाये गये है। इन योगों मे १३३ योग मदनफल ( मैनफल ) के, ३९ योग जीमूतक ( देवदाली ) के, ४५ योग इक्ष्वाकु ( कटुकालाबु ) के, ६० योग धामार्गव ( कड़वी तरोई ) के, १८ योग कुटज ( कोड़ैया ) के, तथा ६० योग कृतवेधन ( तरोई ) के हैं। इनका विस्तृत वर्णन परिशिष्ट मे देखे।[1]

**वमन विधान**—शोधन के लिये सामान्यत: ( उसके पूर्वकर्म ) स्नेहन तथा स्वेदन आवश्यक होता है। अत सर्वप्रथम रोगी का यथा विधि स्नेहन तथा स्वेदन कर ले। यदि इन पूर्वकर्मों के परिणामस्वरूप कोई शारीरिक या मानसिक व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उसका प्रतिकार शीघ्र कर ले। प्रतिकार में असावधानी कभी न करे। इस प्रकार यथा विधि सम्यक् स्निग्ध तथा स्विन्न पुरुष की शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं की सर्वतोभावेन परीक्षा कर ले। यदि समझे कि वमन कराने वाले व्यक्ति की मन स्थिति सब प्रकार से ठीक है अनुपहत है, रात्रि मे उसकी नींद मे किसी प्रकार की कमी नहीं हुई है अर्थात् वह सुखपूर्वक सोया है, रात्रि का किया हुआ भोजन उचित रूप मे पच गया है तो प्रात: उसे शिर से स्नान कराकर चोयाचन्दन आदि से उसके गात्र को चर्चित ( अनुलिप्त ) कर वस्त्र माला आदि पहनाकर, देवता, अग्नि, द्विज, गुरु, वृद्धजन तथा वैद्य की उसके द्वारा पूजा करवाकर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करा तथा आशीर्वचन लेकर इष्ट नक्षत्र तिथि तथा मुहूर्त्त मे मधु, मूलेठी, सेंधानमक तथा फाणित ( राब ) से युक्त मैनफल के कषाय ( क्वाथ ) को उचित मात्रा मे वमनार्थ पिलावे।[2]

---

tion of Sensory nerve, ( 2 ) The vomiting centers, and the ( 3 ) Effector sideof the vomiting reflexes

( Pharmacology by Drill )

१ अ सू अ १५; सु चि अ ३३।

२ ततस्तं पुरुषं यथोक्ताभ्यां स्नेहस्वेदाभ्यां यथार्हमुपपादयेत्। तं चेदस्मिन्नन्तरे मानसः शारीरो वा व्याधिः कश्चित्तीव्रतरः सहसाऽभ्यागच्छेत्, तमेव तावदस्योपावर्तयितुं यतेत ततस्तमुपावर्त्य तावन्तमेवैनं कालं तथाविधेनैव कर्मणोपाचरेत्।

ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तमिष्टे नक्षत्र-तिथिकरणमुहूर्ते कारयित्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचन

सभी संशोधन द्रव्यों की मात्रा सामान्य रूप से तथा मैनफल कषाय की मात्रा विशेष रूप में दिये जाने वाले पुरुष की अपेक्षा करती है। अर्थात् उसकी अग्निबल आदि के अनुसार होता है। वस्तुतः में शोधन द्रव्यों की वही मात्रा उपयुक्त समझी जाती है जो पीने पर विकृत दोषों का निर्हरण करने में समर्थ हो परन्तु उसका अतियोग अथवा अयोग न हो।[1]

इस प्रकार उचित मात्रा में वमन द्रव्य पीये हुए पुरुष को कुछ काल तक वमन की इच्छा करते हुए प्रतीक्षा करनी चाहिये। पश्चात् जब पसीना आने लगे तो समझे कि दोष पिघल रहे हैं, जब रोमाञ्च हो तो समझे कि दोष अपने स्थान से चल पड़ा और जब कुक्षि में आध्मान प्रतीत हो तो जाने कि कुक्षि में आ गया तथा जब हृल्लास, मुख से पानी का स्राव (प्रसेक) होने लगे तो समझे कि दोष ऊर्ध्वमुख हो गया है। ऐसी अवस्था में सुन्दर तकिया बिछौना आदि बिछाये हुए तथा आश्रय युक्त आसन पर जानुओं को बराबर कर (अर्थात् घुटके-मुटके) बैठ जाय और सामने प्रतिग्रह (पीकदान) रख ले। साथ ही वहाँ पर अनुकूल सुहृज्जनों को ललाट पकड़ने के लिये, पार्श्व पकड़ कर सहारा देने के लिये नाभिपीडन के लिये तथा पृष्ठोन्नति के लिये बुला ले।[2]

**अनुशासन**—उपर्युक्त आयोजन के बाद चिकित्सक वमन करने वाले पुरुष को अनुशासन करे (आदेश देवे) कि वह अपने ओठ, तालु तथा कण्ठ को खोल कर बिना अत्यधिक परिश्रम के ही (सुख पूर्वक) उदीर्ण वेगों को उदीरण करता हुआ सिर तथा गर्दन को थोड़ा झुका कर अप्रवृत्त उपवेगों को सुपरिलिखित नख वाली अङ्गुलियों से तथा कमल आदि के नाल से कण्ठ को

---

प्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रितां मधु-मधुक-सैन्धव फाणितोपहितां मदनफल कषाय मात्रां पाययेत्।' (च सू अ १५)

१ मदनफलकषायमात्राप्रमाणं तु खलु सर्वसंशोधनमात्राप्रमाणानि च प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानि भवन्ति। यावद्धि यस्य संशोधनं पीतं वैकारिकदोषहरणायोपपद्यते न चातियोगायायोगाय, तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।'
(च सू अ १५-१०)

(ii) सु चि अ ३०।

२ 'पीतवन्तं तु खल्वेनं मुहूर्त्तमनुकाङ्क्षेत, तस्य यदा जानीयात् स्वेदप्रादुर्भावेण दोषं प्रविलयनमापद्यमानं, लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रचलितं, कुक्षिसमाध्मापनेन च कुक्षिमनुगतं, हृल्लासास्यस्रवणाभ्यामपि चोर्ध्वमुखीभूतम्, अथास्मै जानुसमसमं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तरप्रच्छदोपधानं सोपाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत्, प्रतिग्रहांश्चोपचारयेत्, ललाटप्रतिग्रहे पार्श्वोपग्रहणे नाभिप्रपीडने पृष्ठोन्मर्दने चानपत्रपणीयाः सुहृदोऽनुमता प्रयतेरन्।' (च सू १५-२८)

(ii) सु चि अ ३३।

स्पर्श कर प्रवृत्त करता हुआ सुखपूर्वक वमन (के वेगो को प्रवृत्त) करे। रोगी को चिकित्सक के आदेश का यथावत पालन करना चाहिये। तत्पश्चात् अर्थात् वमन के वेग आ जाने पर पीकदान मे एकत्र हुए वान्तद्रव्य को सावधानीपूर्वक देखे, वेग विशेष के दर्शन से ही कुशल चिकित्सक वमन के सम्यक् योग अयोग तथा अतियोग का ज्ञान कर लेते हैं। वान्त पुरुष के अन्य लक्षणो को देखकर विशेषज्ञ वैद्य पश्चात् कर्म का निर्णय करे।'[1]

**वमन तथा विरेचन काल** - शरत्, वसन्त तथा प्रावृट् ऋतु मे वमन तथा विरेचन कराना श्रेष्ठ माना गया है। शरत् ऋतु मे पित्त का प्रकोप होने से पित्त का निर्हरण, वसन्त मे कफ का प्रकोप होने से कफ का निर्हरण तथा प्रावृट् मे वात का प्रकोप होने से वात का निर्हरण सुविधा पूर्वक होता है।[2]

**वमन योग्य रोगी**—जो मनुष्य बलवान् हो तथा कफ प्रधान व्याधियों से पीडित हो, हृल्लास आदि वमनोत्क्लेशक लक्षण जिनमे दृष्टिगोचर होते हो, तथा जो वमन के अभ्यासी हो अथवा जो वमन सह सकते हो, ऐसे वीर चित्त वाले पुरुषो को वमन कराना उचित है।[3]

**वमन योग्य विकार**—विष दोष (आमाशयस्थ विष) स्तन्यरोग, मन्दाग्नि, श्लीपद, अर्बुद, हृद्रोग, कुष्ठ, वीसर्प, प्रमेह, अजीर्ण, भ्रम, विदारिका, अपची, कास, श्वास, पीनस, अन्त्रवृद्धि, अपस्मार, ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार, नासापाक, तालुपाक, ओष्ठपाक कर्णस्राव, अधिजिह्वा, उपजिह्वा, गलशुण्डी, अतिसार, पित्त तथा कफ के रोग, मेदोरोग, अरुचि इन विकारो मे वमन कराना प्रशस्त है।[4]

---

१ 'अथैनमनुशिष्यात्—विवृतोष्ठतालुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीर्णानुदीरयन् किञ्चिदवनम्य ग्रीवामूर्ध्वशरीरमुपवेगमप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् सुपरिलिखितनखाभ्यामङ्गुलिभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन् सुखं प्रवर्तयस्वेति; स तथाविधं कुर्यात्, ततोऽस्य वेगान् प्रतिग्रहगतानवेक्षेतावहितः, वेगविशेषदर्शनाद्धि कुशलो योगायोगातियोगविशेषानुपलभेत। वेगविशेषदर्शी पुनः कृत्यं यथार्हमवबुध्येत लक्षणेन, तस्माद्वेगानवेक्षेतावहितः।' (च. सू. अ. १५-१७)
(ii) सु. चि. अ. ३३,

२. (i) 'शरत्काले वसन्ते च प्रावृट्काले च देहिनाम्।
वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक्॥' (शा. उ. अ. २)

३ (i) 'बलवन्तं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम्।
तथा वमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत्॥' (शा. उ. अ. ३)
(ii) ××× 'बलवन्तं बहुदोषं महात्याधिपरीतं वमनसात्म्यं च।' (सु. चि. ३३)

४ (i) 'वाम्यास्तु—विषशोषस्तन्यदोषमन्दाग्नि उन्मादापस्मारश्लीपदार्बुदविदारिकामेदोमेहगरज्वरारुच्यपच्यामातिसारहृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेकहृल्लासश्वासकासपीनसपूतिनासाकण्ठौष्ठवक्त्रपाककर्णस्रावाधिजिह्वोपजिह्वि-

**वमन के अयोग्य पुरुष**—कोमल प्रकृति (सुकुमार) कृश, बालक वृद्ध तथा भीरु (डरपोक) मनुष्य को वमन नहीं कराना चाहिये।[1]

**वमन के अयोग्य रोगी**—तिमिर, गुल्म तथा उदर रोगी, अत्यन्त कृश, अत्यन्त वृद्ध, गर्भिणी अतिस्थूल, उर क्षत से पीडित, मदात्यय रोगी, बालक, रूक्ष तथा क्षुधित, निरूहित (जिसको निरूह वस्ति दी गई हो), उदावर्त से पीडित, ऊर्ध्व रक्तपित्त से पीडित, छर्दि से पीडित, केवल वात रोगी, पाण्डु रोगी, कृमि रोगी, तथा अत्यध्ययन से जिसे स्वर भंग हो गया हो, ऐसे रोगियो को वमन नहीं कराना चाहिये। परन्तु यदि ये रोगी भी अजीर्ण से पीडित हो अथवा कफ से व्याप्त हो तो उन्हे भी मुलेठी के क्वाथ से अथवा मधुयुक्त क्वथित जल पिला कर वमन कराना चाहिये।[2]

**वमन मे विहित पदार्थ**—जिसको वमन कराना अभीष्ट हो उसको पहले स्निग्ध तथा स्विन्न कराना चाहिये। पुन उसे आकण्ठ अर्थात् भरपेट यवागू, दूध, मट्ठा वा दही पिलाकर अथवा प्रकृति विरुद्ध (रोगी के स्वभाव के विरुद्ध) तथा कफकारी पदार्थों का भोजन कराकर दोषों को उद्रिक्त कराना चाहिये। ऐसा करने के बाद वमनकारक औषधो का प्रयोग करने से सम्यक् रूप मे वमन होता है।[3]

---

कासालसशुण्डिकाध शोणितपित्तिन कफस्थानजेषु विकारेषु अन्ये च कफव्याधिपरीता इति।' (सु चि ३३)

(11) 'विषदोषे स्तन्यरोगे मन्देऽग्नौ श्लीपदेऽर्बुदे।
हृद्रोगकुष्ठवीसर्पमेहाजीर्णभ्रमेषु च॥
विदारिकापचीकासश्वासपीनसवृद्धिषु।
अपस्मारे ज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु॥
नासाताल्वोष्ठपाकेषु कर्णस्रावे द्विजिह्विके।
गलशुण्ड्यामतीसारे पित्तश्लेष्मगदे तथा॥
मेदोगदेऽरुचौ चैव वमन कारयेद्भिषक॥' (शा उ अ ३)

१ 'सुकुमार कृश बाल वृद्ध भीरु न वामयेत्॥'

२ 'न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृश।
नातिवृद्धो गर्भिणी च न स्थूल न क्षतातुर॥
मदार्तो बालको रूक्ष क्षुधितश्च निरूहित।
उदावर्त्यूर्ध्वरक्ती च दुश्छर्दी केवलानिली॥
पाण्डुरोगी कृमिव्याप्त पठनात्स्वरघातक।
एतेप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये विषपीडिता॥
कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुकाथस्य पानत॥' (शा उ अ ३)

३. 'पीत्वा यवागूमाकण्ठ क्षीरतक्रदधीनि वा।

**वमन मे हितकर पदार्थ**—सब प्रकार के वमनो मे सेंधानमक अथवा मधु हितकर होता है। इसके प्रयोग से कफ का विलयन तथा छेदन होता है। वमन द्रव्य का विभत्स होना सम्यक् वमन के लिये तथा इसके विपरीत विरेचन-द्रव्य के लिये अर्थात् विरेचन द्रव्य का रुचिकर या स्वादिष्ट होना अपेक्षित है।'

**वमनार्थ क्वाथ पान आदि का प्रमाण**—वमनार्थ क्वाथ पान की उत्तम मात्रा ९ प्रस्थ, मध्यम मात्रा ६ प्रस्थ, और कनिष्ठ मात्रा ३ प्रस्थ की मानी गई है। वमन मे कल्क, चूर्ण, अवलेह की श्रेष्ठ मात्रा ३ पल, मध्यम मात्रा २ पल तथा कनिष्ठ मात्रा १ पल की होती है।[2]

**वमन मे उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ वेग**—वमन मे आठवेग हो जाय तथा पित्त निकलने लगे तो उसे उत्तम वेग समझे, पाँच वेग अर्थात् पाँच वार वमन होवे तो मध्यम तथा चार वेग आवे तो अधम ( हीन ) वेग समझना चाहिये।[3]

यहाँ इस वात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वमन तथा विरेचन मे १३½ पल का प्रस्थ माना गया है।

**दोषानुसार वामक द्रव्य**—कटु, तीक्ष्ण तथा उष्ण द्रव्यो से कफ विकार मे, स्वादु ( मधुर ) और शीतल द्रव्यो से पित्त विकार मे तथा मधुर, लवण, अम्ल और उष्ण द्रव्यो से वातयुक्त कफ विकार मे यथावश्यक वमन कराना श्रेयस्कर है। जैसे—पीपल, मैनफल तथा सेंधानमक का कल्क बना कर कोष्ण जल के साथ कफ विकार मे वमनार्थ पिलावे। इसी प्रकार पित्त विकार मे पटोल पत्र, अडूसा और निम्ब पत्र को पीस कर शीतल जल से पिलाना श्रेयस्कर

---

अस्यात्य श्लेष्मरभव्यिदोषानुत्क्लिश्य देहिन ।
स्निग्धस्विन्नाय वमन दत्त सम्यक् प्रवर्तते ।'

१ (i) 'वमनेषु च सर्वेषु सैन्धव मधु वा हितम् ।
विभत्स वमन दद्याद् विपरीत विरेचकम् ॥' ( शा उ अ ३ )
(ii) ( च क १-१५ )

२ 'क्वाथपाने नव प्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता ।
मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता, त्रिप्रस्था च कनीयसी ॥
कल्कचूर्णावलेहाना त्रिपल श्रेष्ठमात्रया ।
मध्यमा द्विपला विद्यात्कनिष्ठा पलसम्मिताम् ॥' ( शा. उ. ३ )

३ 'वमने चापि वेगा स्युरष्टौ पित्तान्तमुत्तमा ।
षड्वेगा मध्यमा वेगाश्चत्वारस्त्ववरा मता ॥'

४. 'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्धत्रयोदशपल प्रस्थमाहुर्मनीषिण ॥'

है। कफयुक्त वायु के विकार मे मैनफल को पीस कर दूध के साथ देवे। अजीर्ण मे सुखोष्ण जल में सेंधा नमक मिलाकर वमनार्थ पिला वे।[1]

**सुवान्त के लक्षण**—सम्यक् वमन हो जाने पर हृदय, पार्श्व, कण्ठ और शिर की शुद्धि अर्थात् हृदय मे लघुता (हलकापन), कण्ठ साफ (कफ आदि से अलिप्त), तथा शिर में लघुता (हलकापन) का अनुभव होता है। जठराग्नि दीप्त हो जाती है। शरीर हलका प्रतीत होता है और कफ तथा पित्त का नाश होता है। स्रोतोशुद्धि, इन्द्रिय प्रसाद तथा आरोग्य लाभ होता है।[2]

**दुर्वान्त के लक्षण**—उचित रूप मे वमन न होने पर रोगी के मुख से पानी का स्राव होना (प्रसेक), हृद्ग्रह शरीर पर विस्फोट, कोठ (चकत्ते) तथा कण्डू की उत्पत्ति स्रोतो का शुद्ध न होना और गात्रगुरुता बनी रहती है।[3]

**अतिवान्त के लक्षण**—वमन के अतियोग होने से पिपासा अधिक होती है, हिचकी तथा डकार आते हैं, सज्ञानाश हो जाती है, जिह्वा बाहर निकल आती है अथवा भीतर चली जाती है, आँखें बाहर की ओर निकला आती है अथवा घूम जाती है, हनु (जबडे) जकड़ जाती हैं रक्त युक्त वमन होने लगता रक्तष्ठीवन तथा कण्ठ मे पीडा होती है।[4] वमन के अतियोग होने पर पित्तातिप्रवृत्ति, वलभ्रम तथा वायु का बलवान् प्रकोप होता है।

**वमन के बाद पथ्य**—वमन के बाद वान्त रोगी को भूख लगने पर अपराह्न मे मूँग की दाल के साथ साठी का भात, अथवा रक्तशाली के चावलो का भात, रुचिकर तथा हितकर मास रस, और यूप देना चाहिये। सामान्य रूप से पथ्य मे क्रमश सस्कृत तथा असस्कृत (यथावश्यक) मण्ड, पेया, विलेपी तथा यूप का देना लाभप्रद होता है।[5]

---

१ 'कफ कटुकतीक्ष्णोष्णै. पित्त स्वादुहिमैर्जयेत्।
सुस्वादुलवणाम्लोष्णै. ससृष्ट वायुना कफम्।

२ (i) हृत्कण्ठशिरसा शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वं च लाघवम्।
कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वान्तस्य लक्षणम्॥ (शा. उ ३)

(ii) च. सि अ. १;

३. (i) 'प्रसेको हृद्ग्रह कोठ कण्डूर्दुश्छर्दिते भवेत्।'
(ii) 'दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डूहृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च।' (अ नि १)

४ (i) अतिवान्ते भवेत्तृष्णा हिक्कोद्गारौ विसज्ञता।
जिह्वा नि सर्पण चाक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसहति॥
रक्तच्छर्दिष्ठीवन च कण्ठपीडा च जायते। (शा उ ३)

(ii) सु चि अ. ३४,

५. 'ततोऽपराह्णे दीप्ताग्नि मुद्गषष्टिकशालिभि।
हृद्यैश्च जाङ्गलरसै. कृत्वा यूप च भोजयेत्॥'

आधुनिक चिकित्साविज वमन द्रव्यो को एमेटिक्स, तथा वमन क्रिया को एमेसीस कहते हैं। एमेटिक्स ऐसे द्रव्य हैं जो एमेसिस या वोमिटिंग (वमन क्रिया) को व्यञ्जित करते है। वस्तुत मे वमन क्रिया जो प्रत्यावर्तित महास्रोतीया कुञ्चन प्रसार ( Revise Peristalsis , वातप्रति लोम्य , regurgitation of air ), आहार या लवणाम्ल जन्य विदाह, वामक द्रव्यो के प्रयोग, उत्क्लेश आदि के परिणामस्वरूप होता है, अनपेक्षित आमाशयस्थित द्रव्यो के निकालने का प्रयत्न है। महास्रोत का विपरीत आकुञ्चन प्रसार इस क्रिया मे सर्वप्रधान है। यह क्रिया पशुओ तथा मनुष्यो मे विशेषकर बच्चो मे बहुधा देखी जाती है। मनुष्य तथा कुत्तो मे यह प्रक्रिया सुविधा मे हो जाती है। बिल्लियो मे कृच्छ्रतापूर्वक तथा चूहो मे अत्यल्प प्रमाण मे दृष्टिगोचर होता है।

वमन एक जटिल प्रत्यावर्तित प्रक्रिया है। वामक द्रव्य इस क्रिया को उत्पन्न करने मे एक तथा अनेक स्थानो पर अपना प्रभाव उत्पन्न कर इस क्रिया को सम्पन्न करते हैं। वमन प्रत्यावर्तन (Vomiting reflex) के निम्नलिखित तीन विभाग होते हैं —

( १ ) शरीर के विविध विभागो मे स्थित सज्ञावह ग्राहक नाड़ियो का परिसरीय क्षोभ ( Perepheral excitation of sensory nerve receptors in many regions of the body ) जैसे—मस्तिष्क ( मानसिक वमन ), आभ्यन्तर कर्ण का अर्धचन्द्राकार कुहर ( motion sickness ) ग्रसनिका ( Gagging ) आमाशय तथा अन्त्र ( Gastro-enteritis ), आन्त्रभित्ति तथा आन्त्रावरण कला ( Peritonitis ), उदर तथा वस्ति के अन्य अवयव ( menstrual vomiting ) वक्ष के अवयव ( Cardiac vomiting ) ।

( २ ) मस्तिष्कस्थित वामक केन्द्रो का क्षोभ—यह केन्द्र वमन के वेग का नियन्त्रण करता है। यह सुषुम्ना-शीर्षक के पश्चात् भाग मे स्थित है।

( ३ ) वमन प्रत्यावर्तन से प्रभावित होने वाले अवयव—इनके अन्तर्गत आमाशयिक पेशियां तथा मुद्रिका द्वार आते हैं। वमन क्रिया मे मुद्रिका द्वार का सकोच ( Pyloric contraction ) तथा आमाशयिक पेशियो का शैथिल्य ( relaxation of gastric muscles ) होता है।

**विरेचन**—अधोभागहर सशोधन का एक अङ्ग विरेचन है। इस क्रिया से दोष तथा मलो को गुदा मार्ग द्वारा शरीर मे बाहर निकाला जाता है। जो द्रव्य अधोमार्ग ( गुदा ) से दोष तथा मलो को बाहर निकाले उसे रेचन,

---

( 11 ) 'पेया विलेपामकृत कृत च, यूप रस त्रिर्द्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकाय प्रधान-मध्यावरशुद्धिशुद्ध ॥ ( च सि ? )

विरेचन, अनुलोमन, तथा अधोभागहर द्रव्य कहते हैं। ये द्रव्य प्राय उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी, विकाशी तथा सरगुणयुक्त होते हैं। ये इन गुणो के प्रभाव से हृदय मे पहुँच कर अपने सूक्ष्म तथा व्यवायी गुण मे धमनियो द्वारा शरीर के स्थूल तथा अणुस्रोतो मे प्रवेश कर सम्पूर्ण शरीर मे पहुँचते है और समग्र शरीर स्थित दोषो तथा मलो के सघात को अपने तीक्ष्ण तथा आग्नेय गुण से छिन्न-भिन्न कर विलीन (द्रवीभूत) करते है। इस प्रकार छिन्न-भिन्न तथा द्रवीभूत दोष एव मलसघात सम्पूर्ण शरीर मे भ्रमण करता हुआ विरेचन के पूर्व शरीर के स्नेहभावित होने से, जिस प्रकार स्नेह से लिप्त पात्र मे मधु नहीं चिपकने पाता उसी प्रकार शरीरावयवो मे कही भी नहीं चिपकता हुआ अपने अणुप्रवण (अणु—सूक्ष्म स्रोतो मे सचार करनेवाले) तथा कोष्ठाभिमुखगमन स्वभाववाला होने से आमाशय के अधोभाग मे आ जाते है।'

विरेचन द्रव्य पृथिवी तथा जल महाभूत के गुणो (गुरु, स्थिर तथा अधोगति) की बहुलतावाले होने से अधोगमन स्वभाववाले अथवा अधोभागहर प्रभाववाले होते है। अत ये उक्त गुणो तथा प्रभाव विशेष के कारण नीचे की ओर गमन करते हुए अपने साथ अपान वायु द्वारा प्रेरित पच्यमान दोषो को बलपूर्वक नीचे की ओर लाकर बाहर निकालते है। इसी से कहा है कि जो द्रव्य पक्व तथा अपक्व मल आदि को द्रव कर के विरेचन के द्वारा बाहर निकाले उसे 'रेचन' कहते है।' जैसे निसोथ (त्रिवृत्)।

---

१ (i) 'दोषहरणमधोभाग विरेचनसंज्ञकम्।' (च क १) 'अधोगुदेन दोषनिर्हरण मलन इत्यधोभागम।' (च क )

(ii) 'तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्य [illegible] [illegible] व्यवायित्वाद्- (क ) धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्य [illegible] आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति स विच्छिन्न परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमागम्य सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याध प्रवर्तते।' (च क १)

२ (i) विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो [illegible] गुर्व्यस्ता अधो गच्छन्ति, तस्मात् विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्।' (सु सू )

(ii) 'विपक्व यदपक्व वा मलादि द्रवता नयेत्।
रेचयत्यपि तज्ज्ञेय रेचन त्रिवृता यथा ॥' (शा प्र ख ४)

(iii) 'यद् द्रव्य विपक्वमपक्व वा, मलादि दोषादिक द्रवता नयेत् द्रवभाव [illegible] इत्यर्थ, न केवल द्रवता नयेत् रेचयत्यपि च, तद् रेचन ज्ञेय [illegible]। यथा त्रिवृता। मलादिकमिति आदिग्रहणात् [illegible] सग्रह' (आढमल)।

चरक-संहिता के पचास कषाय वर्गों में केवल भेदनीय या भेदनगण का ही उल्लेख प्राप्त होता है, विरेचन गण का नहीं। चरक ने विरेचन द्रव्य के तीन भेद बतलाये हैं—( १ ) सुख-विरेचन—जैसे निसोथ ( त्रिवृत् ), ( २ ) मृदु-विरेचन जैसे अमलतास ( आरग्वध ) और ( ३ ) तीक्ष्ण विरेचन जैसे थूहर का दूध ( स्नुहीक्षीर )।[१] आयुर्वेद वाङ्मय में ऐसे द्रव्य जो अधोमार्ग द्वारा मलों को बाहर निकालने में सहायक होते हैं उन्हें ( १ ) अनुलोमन, ( २ ) सर, ( ३ ) स्रंसन, ( ४ ) भेदन तथा ( ५ ) विरेचन या रेचन इन पाँच शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इनमें अनुलोमन और सर एकार्थवाची है। ऐसे द्रव्य जो मलों और दोषों को पका कर तथा उनके विबन्ध को तोड़ कर अधोमार्ग ( गुदा ) द्वारा बाहर निकाले उन्हें 'अनुलोमन' या 'सर' कहते हैं जैसे हरड़।[२] वात, मूत्र, पुरीष प्रभृति की अप्रवृत्ति को विबन्ध कहा जाता है। दोषों के परस्पर ग्रथित होने की भी संज्ञा विबन्ध है।[३] ये अनुलोमन तथा सर द्रव्य भी अधोभागहर वर्ग के ही एक भेद हैं।

जो द्रव्य कोष्ठ के अन्दर चिपके हुए पच्यमान मलादिकों को पकाये बिना ही बाहर निकाल देता है उसे 'स्रंसन' कहते हैं जैसे अमलतास। यह भी अधोभागहर वर्ग का एक भेद है। चरक ने स्रंसन वर्ग को विरेचन वर्ग का ही पर्याय माना है। परन्तु शार्ङ्गधर ने इसे विरेचन से भिन्न माना है।[४] शरीर से मल और दोषों का निर्हरण करने वाला द्रव्य भेदन कहलाता है। भेदन द्रव्य शरीर में जमे हुए ( पिण्डित ) मल को द्रव करके बाहर निकालता है। शार्ङ्गधर ने इसकी परिभाषा में कहा है कि जो द्रव्य अबद्ध-द्रवरूप पुरीष और दोषादि को

---

( १४ ) 'तथानुलोमनीय-तत् पार्थिवमाप्यं च। ( च. वि. ४।४५ ) तथेति पूर्वोक्तमारुतानुलोमनादीनि सर्वान् रसान् सर्वान् गुणांश्चाश्रित्य वर्तन्त इति। पृथिवी गुरुत्वादधो गच्छति, आपो द्रवत्वात् सरणमुपजनयन्ति' इति ( भा. )। 'अभ्यासिजमधोभागम्'। ( च. वि. अ. ८ भाष्य )

अथवा दोषों द्वारा पिण्डित, विबद्ध, शुष्क पुरीष और दोषादि को तथा ग्रथित
वातादि के विबन्ध को तोड़ कर अधोमार्ग से बाहर निकालता है उसे भेदन[1]
कहते हैं जैसे कटुकी।

आधुनिक विज्ञान इन अधोभागहर द्रव्यों को पाँच भागों में विभक्त कर
दर्शाता है यथा—( १ ) लक्सेटिभ ( Laxatives ) ये द्रव्य मल तथा
अधोवात की स्वाभाविक गति या प्रवृत्ति के उत्तेजक होते हैं। इनमें मल मृदु
हो जाता है और आंतों की आकुञ्चन-प्रसारण गति ( Peristalsis ) कुछ
बढ़ कर मल को बाहर निकालती है। इनमें अपक्वमल नहीं निकलता। आयुर्वेद-
वाङ्मय में इन्हें अनुलोमन तथा सर कहते हैं। ( २ ) सिम्पुल पर्गेटिम्स
( Simple purgatives ) यह 'स्रंसन' के समान कार्य करता है। इनसे
आंतों की आकुञ्चन-प्रसारण क्रिया बढ़ जाती है, आंतों की ग्रन्थियों को कुछ
उत्तेजना प्राप्त होती है जिससे साधारण द्रव ( असहत-ढीला ) शौच होता है।
इनके प्रयोग से पक्व तथा अपक्व मल की गाठें निकलती हैं जैसे सनाय, एरण्ड
तैल आदि। ( ३ ) ड्रास्टीक पर्गेटिभ ( Drastic purgatives )—ये द्रव्य
स्रंसन के समान पर उससे जोरदार क्रिया करने वाले होते हैं। ये आयुर्वेद के
भेदन के समान हैं। इनके प्रयोग से आंतों में थोड़ा दाह और ऐंठन होकर द्रव
( पतला ) शौच आता है। जैसे निशोथ, इन्द्रायण आदि। ( ४ ) हाइड्रागाग्
( Hydragogue purgatives )—इनके प्रयोग से आंतों में अत्यधिक द्रव
उत्पन्न होता है और पानी जैसा शौच आता है। ये द्रव्य रक्तगत जलीयांश का
विरेचन कराते हैं जैसे—जयपाल आदि। ( ५ ) पित्त-विरेचक (Cholagogue
purgatives )—ये द्रव्य शौच द्वारा पित्त का निर्हरण करते हैं। इनसे हरे
तथा पीले रंग का पतला शौच आता है। इनकी यकृत् तथा ग्रहणी पर उत्तेजक
क्रिया होती है। यकृत् की उत्तेजना से पित्त का स्राव अधिक होता है और ग्रहणी
की उत्तेजना से स्रवित पित्त शीघ्र नीचे पक्वाशय में चला जाता है। यूनानी
वैद्यक में ( १ ) मुलय्यिन ( मृदुविरेचन ) और ( २ ) मुसहिल (तीक्ष्ण विरेचन)
ये दो भेद किये गए हैं। इनकी परिभाषा में कहा है कि जो द्रव्य कब्ज निवारण
कर सरलतापूर्वक मलोत्सर्ग करे तथा आमाशय और आंतों में स्थित दोष को
निकाले उसे 'मुलय्यिन' कहते हैं। जो द्रव्य सम्पूर्ण शरीरस्थ दोषों को मलमार्ग
( गुदा ) से बाहर निकाले उसे 'मुसहिल' कहते हैं।

मलोत्सर्ग-परिपाक क्रम में उत्सर्जित मल स्वाभाविक रूप से प्रगति करता हुआ
कटिप्रदेशीय स्थूलान्त्र ( Pelvic colon ) तथा उत्तर-गुद ( Rectum ) में

---

1 'मलादिकमबद्धं च बद्धं वा पिण्डितं मलैः। भित्त्वाऽधः पातयति तद्भेदनं कटुकी
यथा ॥' ( शा प्र ख ४

प्रवेश करता है। मानवो मे उत्तर गुद ८ से ५ इञ्च लम्बी नलिका होती है। इसमे मल के प्रवेशवश तनाव होकर मलोत्सर्जन की इच्छा होती है। इस इच्छा का पालन किया जाय तो कुछ अनैच्छिक कुछ ऐच्छिक चेष्टाएँ होकर गुदमार्ग से मलोत्सर्ग ( मलप्रवृत्ति ) होता है। इसमे प्रयुक्त ऐच्छिक चेष्टाओ का ही दूसरा नाम 'प्रवाहण' ( Straining ) या 'कांखना' या 'कुंथना' है।

मलोत्सर्ग होने के पूर्व मल दो सुपिरापेशियो द्वारा उत्तर गुद मे टिका रहता है। ये पेशियाँ गुदद्वार मे होती हैं और सकुचित रह कर उस ( गुदद्वार ) को अवरुद्ध रखती हैं। इनमे से एक आभ्यन्तर सुपिरा पेशी ( Internal sphincter) है जो अनैच्छिक मास सूत्रो का बना वलयाकार (वर्तुल) दृढ पट्ट है तथा उत्तर गुद की दीवार का एक अङ्ग है। मलोत्सर्ग की चेष्टा होने के पूर्व यह सकुचित रहती है जिससे मल आगे की ओर प्रवृत्त नही होने पाता। चेष्टा प्रारम्भ होने पर यह शिथिल होकर विस्तृत हो जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप मध्यवर्ती छिद्र के उद्घाटित हो जाने से मल को आगे सरकने की सुविधा हो जाती है। वाह्य सुपिरपेशी ( External sphincter ) रेखाङ्कित मास-सूत्रो की बनी तथा कुछ अशो मे इच्छाधीन होती है। मल-प्रवृत्ति के पूर्व, यह भी सकुचित रह कर छिद्र को वन्द रखती हुई मल का धारण करती है। मल-प्रवृत्ति के समय आभ्यन्तर पेशी के समान यह भी शिथिल होकर मलोत्सर्ग के लिये-द्वार प्रशस्त कर देती है। आभ्यन्तर पेशी का संकोच वाह्य पेशी की अपेक्षा ३० से ६० प्रतिशत न्यून होता है।

इस प्रकार मलोत्सर्ग अशत ऐच्छिक और अशत अनैच्छिक व्यापार है। अनैच्छिक क्रिया मे उत्तर गुद, वस्तुत सम्पूर्ण स्थूलान्त्र का प्रवल आकर्षण होता है और दोनो सुपिर पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं। ऐच्छिक क्रिया तथा प्रवाहण का स्वरूप निम्न प्रकार होता है। मनुष्य एक दीर्घ श्वास लेता है जिसके परिणाम स्वरूप महाप्राचीरा पेशी ( Diaphragm ) नीचे आकर स्थूलान्त्र को दबाती है। इस काल स्वरतन्त्रियाँ परस्पर सयुक्त होकर श्वासपथ को अवरुद्ध कर देती हैं जिससे श्वास क्रिया रुक जाती है और महाप्राचीरा पेशी इतने समय तक नीचे ही रह कर स्थूलान्त्र पर अविरत दवाव डाले रहती है। इस काल यदि क्ष-किरण ( x-ray ) से उस भाग का निरीक्षण करें तो अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र ( Transuren colon ) उक्त पीडन के कारण लगभग २ इञ्च नीचे उतरा हुआ पाया जाता है। अनुप्रस्थान्त्र वहुधा मलोत्सर्ग के एक घण्टा पीछे तक अपने मूलस्थान पर नही पहुँचता। इसी समय उदर की पेशियो का प्रवल सकोच होता है। यह सकोच उदरगत अवयवो को और अधिक पीडित करता है। इस प्रकार उत्तर गुद अथवा स्थूलान्त्र मात्र मे हुआ

अपकर्षण तथा महाप्राचीरा और उदर की पेशियो का पीडन—सब मिलकर मल को बाहर धकेलते हैं। गुदोत्तेजिनी पेशी ( Levator ani ) भी ऊपर उठ कर उक्त पीडन मे वृद्धि करती है। इस पीडन के प्रभाववश अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र मे स्थित मल अवरोही स्थूलान्त्र मे ( Descending colon ) तथा वहाँ से कुण्डलिका और उत्तर गुद मे आ जाता है। उत्तर गुद मे पहले से स्थित मल और नीचे उतरते हुए अधर गुद मे आकर मलद्वार से बाहर निकल जाता है। मल का रहा-सहा अंश भी गुदोत्तेजिनी पेशी के ऐच्छिक संकोचवश बाहर निकल जाता है।

उत्तरगुद तथा गुदद्वार की आभ्यन्तर सुषिर-पेशी की चेष्टाओ—अपकर्षण और संकोच-वैचित्र्य—का मूल कारण महास्रोतस के शेषभाग के समान आभ्यन्तर नाडीचक्र ( इन अवयवो की दीवाल मे स्थित नाडीचक्र ) ही है। सुषुम्ना भाग से इन अवयवो मे मध्य स्वतन्त्र तथा परिस्वतन्त्र नाडियाँ प्रविष्ट होती हैं और अवस्थानुसार इन अवयवो को तत्तत् कर्म करने की प्रेरणा करती हैं। मध्य स्वतन्त्र नाडीसंस्थान अत्यधिक सचेष्ट हो, किंवा परिस्वतन्त्र नाडी संस्थान मन्द ( अवसन्न ) हो तो तीव्र प्रकार का आनाह ( कब्ज ) होता है। गुदोत्तेजिनी पेशी तथा बाह्य सुषिर पेशी की ऐच्छिक नाडी का मूल भी सुषुम्ना मे होता है।

'मर' औषधें आंतो को पीडित कर अपकर्षण को उद्दीपित कर विरेचन कराती हैं। जैसे—पाराफीन ओयल। मैगसल्फ शीघ्र शोषित नही होता है। आन्त्रविवर मे तथा आस-पास जल और घन द्रव्यो का प्रमाण सम रखने के लिये जल आकृष्ट होकर आंतो मे आता है। यह आकृष्ट जल आंतो मे संचित हो आंतो को पीडित कर विरेचन कराता है। कुछ द्रव्य श्लेष्मलकला को क्षुभित करके श्लेष्मा के स्राव की वृद्धि कराकर अपकर्षण को उद्दीप्त करते हैं। कई द्रव्य मांससूत्रो या नाडीसूत्रो को प्रभावित कर अपकर्षण के उद्दीपक होते हैं। कुछ द्रव्य आंतो मे यकृत् पित्त के क्षरण को बढा कर अपकर्षण के उद्दीपन द्वारा रेचन कर्म करते हैं जैसे—रसपुष्प, कटुकी आदि, ऐसे द्रव्यो को 'पित्तविरेचक' (Cholagogue) कहते हैं। उपर्युक्त मेगसल्फ आदि 'जलविरेचक' ( Hydrogogue ) कहलाते हैं।

आंतो की विभिन्न चेष्टाएँ मांससूत्रो के संकोचवश होती हैं। इनका मूल स्वयं मांससूत्र हैं। आकुञ्चन या संकोच कोषमात्र का धर्म होते हुए भी मांस धातु मे उसकी पुष्टि सविशेष होती है। संकोचो मे एकसूत्रता ( Co ordination ) नाडीसूत्रो द्वारा होती है। ये नाडीसूत्र दो प्रकार के हैं। (१) आन्त्रो के मांसमय प्रकारो के अन्तर मे स्थित आभ्यन्तर नाडीचक्र और (२) बाह्य

नाडीसूत्र। बाह्य नाडीसूत्र स्वतन्त्र नाडीसंस्थान के दोनों भेदों का अङ्गभूत है। प्राणदा नाडियों ( Vagus nerves ) के साथ परिस्वतन्त्र नाडीसूत्र तथा आशय की नाडियों ( Splanchnic nerves ) एवं उत्तरान्त्रिक नाडीचक्रों ( Superior mesentric ganglion ) तथा अधरान्त्रिक नाडी चक्रों ( Inferior mesentric ganglion ) के साथ मध्यस्वतन्त्र नाडी संस्थान के सूत्र अन्त्र में प्रविष्ट होते हैं। प्रथम विभाग आँतों को संकुचित तथा द्वितीय विभाग शिथिल करता है। केन्द्रीय नाडीसंस्थान का भी इन सूत्रों के साथ सम्बन्ध है। कारण, मानसिक आवेशों का संकोचक या शैथिल्यकारक प्रभाव आंत्रों पर पडता है यह सुप्रत्यक्ष है।

इस प्रकार सर, अनुलोमन, स्रंसन, रेचन, विरेचन तथा भेदन औषधियाँ आंत्रों के अपकर्षण को उद्दीप्त कर मलों को द्रव कर, मलों के संघात को तोड कर, आंत्र विवर में जल स्राव कर, पित्तस्राव कर तथा आंत्र की श्लेष्मल कलाओं में क्षोभ उत्पन्न कर तथा आंत्र की मांसपेशियों में स्थित मांसतन्तुओं और नाडीसूत्रों को समुत्तेजित कर वातानुलोमन, मलस्रंसन, रेचन, विरेचन तथा भेदन कर्म को करती हैं।

चरक सूत्र १५वें अध्याय में विरेचन का विधान विस्तारपूर्वक उपलब्ध होता है। सुश्रुत ने इसका वर्णन चिकित्सास्थान के ३३वें तथा ३४वें अध्याय में किया है। चरक कल्पस्थान ७वें अध्याय से १२वें अध्याय तक विरेचन कल्पों का वर्णन है। इन अध्यायों में २४५ विरेचन के योग वर्णित हैं। इनमें ११० योग श्यामात्रिवृत् कल्प के, १२ आरग्वध कल्प के, १८ तिल्वक कल्प के, २० सुधाकल्प के, ३९ सप्तला-शंखिनी कल्प के तथा ४८ दन्ती-द्रवन्ती कल्प के, हैं। इनका विस्तृत वर्णन परिशिष्ट में देखें।

**विरेचन विधान**—विरेचन के पूर्व यथाविधि स्नेहन तथा स्वेदन कर ले। यदि इन पूर्वकर्मों के फल स्वरूप कोई शारीरिक या मानसिक विकार उत्पन्न हो जाय तो उसका प्रतिकार शीघ्र कर डाले। प्रतिकार में किसी प्रकार की असावधानी न करे। इस प्रकार यथाविधि सम्यक् स्निग्ध तथा स्विन्न पुरुष की मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाओं की सर्वतोभावेन सम्यक् परीक्षा कर ले। यदि परीक्षा करने पर यह ज्ञात हो जाय कि विरेचन करानेवाले पुरुष की मन स्थिति सब प्रकार से ठीक है अर्थात् अनुपहत है, उसे रात्रि में नींद अच्छी प्रकार सुखपूर्वक आई है अर्थात् वह सुखपूर्वक सोया है, रात्रि का किया हुआ भोजन उचित रूप में ठीक समय से पच गया है तब उसे प्रातःकाल स्नान, पूजा, होम, बलि, मङ्गल, प्रायश्चित्त आदि से निवृत्त करा कर शुभ तिथि-नक्षत्र या मुहूर्त में, देवता, द्विज, गुरु, अग्नि तथा वैद्य की उससे पूजा करवा कर तथा

ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर एव उनसे आशीर्वचन ग्रहण कराकर, उसके दोप, भेपज, देशकाल, वल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति, वय तथा अन्य अवस्थाओं का एव विकारों का विचार कर १ अक्ष प्रमाण त्रिवृत कल्क को यथावश्यक अनुपान के साथ पिलावे।[1]

सम्यक् विरेचन हो जाने पर धूम को छोड कर वमन विधानोक्त समर्जन क्रम का अनुसरण करे। ससर्जन क्रम उस समय तक करता रहे जब तक रोगी बलवर्ण से उपपन्न न हो जाय। इत्यादि।[2]

यहाँ इस बात का अवश्य ध्यान रखे कि स्निग्ध स्विन्न कर वमन कराने के पश्चात् ही विरेचन करावे, बिना वमन कराये विरेचन देने से कफ अधोभाग मे प्रवेश कर ग्रहणी को आच्छादित करता है जिससे मन्दाग्नि, शरीर मे भारीपन, तथा प्रवाहिका आदि विकार उत्पन्न होने की सभावना होती है। वमन के सम्यक् प्रकार से हो जाने पर सातवे दिन अर्थात् सात रात बीतने पर सुसस्कृत शरीर मनुष्य को विरेचन देना उचित तथा लाभप्रद होता है।[3]

अथवा यदि वमन अपेक्षित न हो तो सर्वप्रथम पाचन औपधों से आम कफ का पाचन करे। तदनन्तर स्नेह पान कराकर तथा स्वेदन कर विरेचन का प्रयोग करे।[4]

**विरेचन काल**—देह शुद्धि के निमित्त शरद् ऋतु और वसन्त ऋतु मे विरेचन देना श्रेयस्कर है। आत्ययिक विकार उत्पन्न होने पर अन्य ऋतुओं मे भी आवश्यकतानुसार देह शुद्धि के लिये वैद्य विरेचन दे सकते है।[5]

---

१ 'अथैन पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्यानुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोपित सुप्रजाण भक्त कृतहोमबलिमङ्गलजपप्रायश्चित्तमिष्टे तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्ते ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृत्कल्कमक्षमात्र यथार्हालोडन—प्रतिविनीत पाययेत् प्रसमीक्ष्य दोप भेपज देश-काल-वल-शरीराहार सात्म्य-सत्त्व प्रकृतिवयसा मवस्थान्तराणि विकाराश्च।' (च सू अ १५)

२ (च सू अ १५-१८)

३ (i) 'स्निग्धस्विन्नस्य वान्तस्य दद्यात्सम्यग्विरेचनम्। अवान्तस्य त्वध स्रस्तो ग्रहणीं छादयेत्कफ ॥ मन्दाग्नि गौरव कुर्यात् जनयेद्वा प्रवाहिकाम्।' (शा उ अ ४)

(ii) 'सम्यक्प्रवृत्ते वमने सप्तरात्रे गते सति। सुसस्कृतशरीरस्य प्रदातव्य विरेचनम् ।।'

(iii) 'वान्त पडहमसृष्ट पुन स्नेहितन तथा। उष्णे लघु त्र्यह युक्त पोडशेऽह्नि विरेचयेत ॥' (शा. उ अ ४)

४ 'अथवा पाचनैराम बलास च विपाचयेत्। स्निग्धस्य स्नेहन कार्यं स्वेदै स्विन्नस्य रेचनम् ॥' (शा उ अ ४)

५ 'शरदृतौ वसन्ते च देह शुद्धौ विरेचनम्। अन्यदात्ययिके काले शोधन शीलयेद् बुध ॥' (शा उ अ ४)

**विरेचन योग्य रोगी**—पित्त विकार से पीड़ित, आमजनित रोगों से पीड़ित, उदर रोगी, आध्मान से आक्रान्त रोगी, तथा ऐसा रोगी जिसका कोष्ठ शुद्ध नहीं हो अर्थात् कोष्ठबद्धता हो, उन्हें विरेचन देना चाहिये।[1]

**विरेचन योग्य रोग**—जीर्णज्वर, विषविकार, वातरक्त, भगन्दर, अर्श, पाण्डुरोग, अपस्मार, उदरविकार, ग्रन्थिरोग, अर्बुद, हृद्रोग, अरुचि, योनिरोग प्रमेह, गुल्म, प्लीहा, व्रण, विद्रधि, वीसर्प, छर्दि, विस्फोट, अलसिका, विसूचिका, पक्वाशयरुक्, विबन्ध, कुष्ठ, कर्णरोग, नासारोग, शिरोरोग, मुखरोग, गुदरोग, मेढ्ररोग, यकृद्विकार, शोथ, वृद्धि, नेत्ररोग, कृमिरोग, आनाह, वातव्याधि, शूल, तथा मूत्राघात, अग्निक्षारादिदग्ध, इन रोगों में विरेचन देना प्रशस्त है।[2]

**विरेचन के अयोग्य रोगी**—बालक, वृद्ध, अतिस्निग्ध, उरःक्षत से पीड़ित, धातुशोष आदि से क्षीण, भयभीत, थका हुआ, तृषित, अधिक स्थूल पुरुष, गर्भिणी, नवज्वरी, नवप्रसूता स्त्री, मन्दाग्नि तथा मदात्यय से पीड़ित, शल्य ( काँटा, बाण आदि शरीर में घुस जाने ) से दुःखित, रूक्ष प्रकृति पुरुष, तथा जिसे स्नेहपान न कराया गया हो ऐसे रोगियों को विरेचन नहीं देना चाहिये।[3]

**विरेचन की मात्रा**—विरेचन की मात्रा कोष्ठ के अनुरूप होती है। मनुष्यों के तीन प्रकार के कोष्ठ देखे जाते हैं। यथा अधिक पित्त वाले मनुष्य का कोष्ठ मृदु ( कोमल ) होता है, अधिक कफ वाले मनुष्य का कोष्ठ मध्यम और अधिक वात वाले मनुष्य का कोष्ठ क्रूर होता है। क्रूर कोष्ठ वाला मनुष्य स्वभावतः दुर्विरेच्य होता है। अतः मृदु कोष्ठ पुरुषों को विरेचन द्रव्य की मृदु मात्रा, मध्यम कोष्ठ वालों को मध्यम मात्रा तथा क्रूर कोष्ठ पुरुष को तीक्ष्ण विरेचन औषधियों की उत्तम मात्रा देनी चाहिये।[4] मृदु कोष्ठ पुरुष के लिये द्राक्षा, दूध, उष्ण जल तथा एरण्ड तैल का प्रयोग विरेचनार्थ पर्याप्त होता है। अर्थात् इन द्रव्यों के प्रयोग से ही इनका सम्यक् विरेचन हो जाता है। मध्यम

कोष्ठ वाले के लिये त्रिवृत्, कटुकी, तथा आरग्वध (अमलतास) की गुद्दी का प्रयोग उपयुक्त होना है। क्रूरकोष्ठ पुरुष को स्नुहीक्षीर, स्वर्णक्षीरी, दन्तीफल (जमालगोटा) आदि तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिये।[1]

विरेचन की उत्तम मात्रा मे सामान्य रूप से ३० वेग आते है। इसी प्रकार मध्यम मात्रा मे २० वेग तथा हीन मात्रा मे १० वेग आते है। विरेचन मे अन्तिम वेगो मे कफ आने पर सम्यक् विरेचन माना जाता है। विरेचनार्थ कषाय की श्रेष्ठ मात्रा २ पल, मध्यम मात्रा १ पल, तथा कनिष्ठ मात्रा आधा पल की मानी गई है। इसी प्रकार कल्क तथा चूर्ण एव मोदक की श्रेष्ठ मात्रा १ पल, मध्यम मात्रा २ कर्ष तथा कनिष्ठ मात्रा १ कर्ष की होती है। इनका प्रयोग मधु तथा घृत मे मिला कर करना श्रेयस्कर है। मात्रा का प्रयोग रोगी के बलाबल को देख कर उसके कोष्ठ के अनुसार करना चाहिये।[2]

**विरेचन मे निकलने वाले द्रव्य की समीक्षा**—जिस प्रकार वमन मे क्रमश (सर्वप्रथम) कफ, पुन वमन की औषधि तथा अन्त मे पित्त और वायु का निकलना अपेक्षित होता है उसी प्रकार विरेचन मे क्रमश मल, पित्त, औषधि, और अन्त मे कफ तथा वायु का निकलना अपेक्षित होता है।[3]

**विरेचनपान या सेवनान्तर कर्त्तव्य**—विरेचन औषध के सेवन के पश्चात् नेत्रों को शीतल जल मे अभिसिञ्चित कर सुगन्धित वस्तुओ को सूंघे तथा पान खावे। तदनन्तर निर्वात स्थान मे निवास करे तथा मल-मूत्र के वेगो के उपस्थित होने पर उन्हे रोकने का प्रयत्न कभी न करे। विरेचन सेवन के बाद शयन तथा शीतल जल का स्पर्श निषिद्ध है। वेग-प्रवर्तनार्थ बार-बार कोष्ण जल का सेवन करे।[4]

**सुविरिक्त के लक्षण**—सम्यक् विरेचन होने पर शरीर हलका अनुभव होता है, मन की प्रसन्नता होती है, वायु का अनुलोमन अर्थात् स्वस्थानगमन होता है। सम्यग् विरेचन मे स्रोतोशुद्धि, इन्द्रियप्रसाद, अग्निदीपन तथा आरोग्य लाभ होता है।[5]

---

१ शा उ अ ४, सु चि अ ३३, च सि अ १

२ च सि अ १, शा उ अ ४, सु चि अ ३८

३ ,, ,, ,,

४ ,, ,, ,,

५ (i) 'लाघव मनसस्तुष्टिरनुलोम गतेऽनिले।
सुविरिक्त नर ज्ञात्वा पाचन पाययेन्निशि ॥' (शा उ अ ४)
'स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ, लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्।' (च सि अ १)
(ii)

**दुर्विरिक्त के लक्षण**—विरेचन के सम्यक् नहीं होने पर नाभिप्रदेश में स्तब्धता का अनुभव, कुक्षिप्रदेश में शूल तथा मल और वायु का अवरोध, शरीर में कण्डू तथा चकत्ते का निकलना, शरीरगौरव, दाह (जलन), अरुचि, आध्मान, भ्रम तथा वमन आदि उपद्रव होते हैं।

ऐसी अवस्था में पाचन औषधियों का प्रयोग कर आमपाचन करना चाहिये। आमपाचनान्तर पुनः स्नेहन तथा स्वेदन कर विरेचन देना चाहिये। इससे दुर्विरेचनजन्य विकार नष्ट होते हैं तथा जाठराग्नि दीप्त होती है और शरीर में लघुता का अनुभव होता है।[1]

**अतिविरिक्त के लक्षण**—विरेचन का अतियोग होने पर मूर्च्छा, गुद, कफ का अधिक निकलना, मांसधावन सदृश अथवा मेद के समान अथवा जल सदृश द्रव पुरीष का निःसरण, तथा गुद मार्ग से रक्त का निःसरण, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त कफ, रक्त तथा पित्त के क्षयजन्य लक्षण एवं वात-विकार उत्पन्न होते हैं। इसमें सुप्ति, अङ्गमर्द, क्लम, कम्प, निद्रा तथा बल का अभाव, तम प्रवेश, उन्माद तथा हिक्का आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

ऐसी अवस्था में अतिविरिक्त पुरुष के शरीर को शीतल जल से धोकर मधुमिश्रित शीतल तण्डुलोदक (चावल का धोवन) पिलाना चाहिये। आवश्यकतानुसार मृदु वमन का भी प्रयोग करना चाहिये।[2]

**विरेचनानन्तर त्याज्य आहार-विहार**—विरेचन के पश्चात् अधिक वायु का सेवन तथा शीतल जल का प्रयोग नहीं करना चाहिये। तैल मालिश

---

(iii) 'प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत्क्रमेण।'
(च. सि. अ. १)

(iv) 'वलासौषधपित्तानि वायुर्वान्ते यथा व्रजेत्। रेकात्तथा मलं पित्तं भेषजं च कफो व्रजेत्॥' (शा. उ. अ. ४)

१ 'दुर्विरिक्तस्य नाभेस्तु स्तब्धत्वं कुक्षिशूलता।
पुरीषवातसङ्गश्च कण्डूमण्डलगौरवम्॥
विदाहोऽरुचिराध्मानं भ्रमश्छर्दिश्च जायते।' (शा. उ. अ. ४)

२ (i) 'विरेकस्यातियोगेन मूर्च्छा भ्रंशो गुदस्य च।
शूलं कफातियोगः स्यान्मांसधावनसन्निभम्॥
मेदोनिभं जलाभासं रक्तं चापि विरिच्यते।' (शा. उ. अ. ४)

(ii) 'कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्थाः सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्याः।
निद्राबलाभावतमःप्रवेशाः सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति॥'
(च. सि. अ. १)

( अभ्यङ्ग ), व्यायाम तथा मैथुन भी निषिद्ध है। भोजन ऐसा करे जिससे अजीर्ण न होवे।[1]

**विरेचनान्तर पथ्य**—विरेचन के पश्चात् विरिक्त पुरुष को शालिधान्य, रक्तशालि, या षष्टिक ( साठी ) चावलो तथा मूग आदि से निर्मित यवागू अथवा जंगली पशु-पक्षियो का मांस रस अथवा विष्किर पक्षियो ( लाव, तित्तिर आदि ) के मांसरस के साथ भात देना हितकर है।[2]

विरेचन मे भी सामान्य संसर्जन विधान का अर्थात् मण्ड, पेया, यवागू तथा विलेपी आदि का क्रमश प्रयोग विधिवत् करना चाहिये।[2]

**संसर्जन विधान**—इस विधान मे संशोधित पुरुष के पथ्य की व्यवस्था की जाती है। पूर्वोक्त मण्ड, पेया, यवागू तथा विलेपी आदि का क्रम, पथ्य की मात्रा किस प्रकार क्रमश बढ़ा कर साधारण भोजन पर संशोधित पुरुष को लाना चाहिये, इस विधान का ही नाम संसर्जन विधान है।

अच्छी प्रकार शुद्ध अर्थात् वमन विरेचन द्वारा जिसका शरीर शुद्ध हो गया हो, संशोधन के पश्चात् जिसे भोजन मे रुचि उत्पन्न हो गयी हो, संशोधन के परिणामस्वरूप जिसको शरीर मे लघुता का अनुभव होता हो, तथा स्रोतो के शुद्ध हो जाने से सम्पूर्ण अङ्ग निर्मल हो गए हो, जिसकी सभी इन्द्रियाँ प्रसन्न हो तथा सुखोष्ण जल से जिसने सर्वाङ्ग स्नान कर लिया हो और शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यो का लेप लगा लिया हो, शरीर को आभूषणो से अलङ्कृत कर लिया हो, देवता, ब्राह्मण तथा वृद्ध पुरुषो की पूजा तथा नमस्कार कर आशीर्वचन ले लिया हो ऐसे संशुद्ध पुरुष को सुन्दर आसन पर समासीन कर पुराने लाल शालि के चावलो से सिद्ध, आवश्यकतानुसार दीपनीय द्रव्यो से संस्कृत मण्ड को सर्वप्रथम अग्निबलानुसार उचित मात्रा मे पिलावे। तदनन्तर

---

( iii ) 'तस्य शीताम्बुभि सिक्त्वा शरीर तण्डुलाम्बुभि ।
मधुमिश्रैस्तथा शीतै कारयेद्वमन मृदु ॥' ( शा उ अ ४ )

१ 'प्राग्वातमेवाशनाम्बुस्नेहाभ्यङ्गमजीर्णताम् ।
व्यायाम मैथुन चैव न सेवेत विरेचित ॥' ( शा उ अ ४ )

२ ( i ) 'शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागू भोजयेत्कृताम् ।
जाङ्गलैर्विष्किराणा वा रसै शाल्योदन हितम् ॥' ( शा उ अ ४ )

( ii ) 'पेया विलेपीमकृत कृत च, यूष रस त्रिर्द्विरथैकशश्च ।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकाय , प्रधान मध्यावरशुद्धिशुद्ध ॥' ( च सि अ १ )

३ ( i ) 'ससर्जनम्—विरेकादनन्तर पेयादिक्रमे' ( वै श सि )

( ii ) 'पेया विलेपीमकृत कृत च, यूष रस त्रीनुभय तथैकम् । क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधा, मध्यावरशुद्धिशुद्ध ॥' ( शा उ अ ४–आढमल )

( iii ) 'क्रमेणानेन भुञ्जानो भजेत्प्रकृतिभोजनम् ।'

क्रमश पेया, यवागू, विलेपी, तथा ओदन रूप मे पथ्य की व्यवस्था करे। साधारणत इसका क्रम इस प्रकार होना चाहिये, जैसे—प्रथम अन्नकाल के समान ही द्वितीय तथा तृतीय अन्नकाल मे मण्डपूर्वक सुखोष्ण यवागू का पथ्य देवे। इन ( द्वितीय तथा तृतीय ) काल मे प्रदत्त पेया तथा यवागू के पच जाने पर चतुर्थ अन्नकाल मे उसी प्रकार शालि चावलो का बनाया हुआ यथावश्यक स्नेह तथा लवण से युक्त अथवा रहित विलेपी का पथ्य देवे। यही विधान पाँचवें तथा छठे अन्नकाल मे भी चालू रखे। इन विधानो मे पीने तथा अन्य व्यवहार के लिये सदा उष्ण जल का ही उपयोग करे।

सातवें अन्नकाल पर उसी प्रकार से शालि चावलो से निर्मित सुपक्व ओदन ( भात ) यथा आवश्यक स्नेह ( घृत ), लवण ( सैंधव ) से युक्त मूँग की पतली यूष के साथ भोजन के लिये देवे। अनुपान मे उष्णोदक का ही उपयोग करे। इस व्यवस्था को आठवें तथा नवें अन्नकाल मे भी चालू रखे। दसवें अन्नकाल मे लावा, तित्तिर तथा अन्य इस प्रकार के लघुगुण वाले पक्षियो के मांसरस के साथ ओदन ( भात ) का पथ्य देवे। यह व्यवस्था ११वें तथा १२वें दिन भी कायम रखे। इस प्रकार उक्त क्रम से सात दिनो बाद रोगी को प्रकृत पथ्य पर लावे।[1]

## शिरोविरेचन

शिरोविरेचन, शीर्ष-विरेचन, मूर्धविरेचन, नावन, नस्य, नस्त कर्म ये सब पर्याय अर्थात् एकार्थवाची शब्द है। ये कर्म ऊर्ध्वभागहर संशोधन के अन्तर्गत आते हैं। शिर अथवा जत्रूर्ध्वभाग के दोषो का निर्हरण इस क्रिया मे सम्पन्न होने के कारण इसकी संज्ञा 'शिरोविरेचन' तथा 'शीर्षविरेचन' और 'मूर्धविरेचन' है। इस कर्म में औषधियो का प्रयोग नासा द्वारा होने से इसे 'नस्य' तथा 'नस्त कर्म' कहा गया है। औषध द्रव्यो का चूर्ण, औषध द्रव्यो से सिद्ध स्नेह, औषध द्रव्यो का स्वरस नासिकाओ ( नासापुटो ) द्वारा इसमे दिया जाता है

[1] 'अथैनं सायाह्ने परे वाऽह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्ववक्लिन्नानां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य, एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले, चतुर्थे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालितण्डुलानामुत्स्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत्. एवं पञ्चमे षष्ठेऽन्नकाले, सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनुस्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्, एवमष्टमे नवमे चान्नकाले, दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यतमस्य मांसरसेनौदकलावणिकेन नातिसारवता भोजयेदुष्णोदकानुपानम्, एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले, अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत्।' ( च. सू. अ. १५–१६ )

अत इनकी संज्ञा 'नस्य' है। इसे 'नावन' भी कहते हैं। 'नावन' उस कर्म को कहते हैं जिसमें औषध द्रव्यों का चूर्ण, औषध द्रव्यों से सिद्ध स्नेह घृत तथा तैल, औषध द्रव्यों का स्वरस, तथा दूध आदि द्रवद्रव्य एवं औषध द्रव्यों का धूम नासिका द्वारा दिया या लिया जाय। यद्यपि व्यवहार में नावन तथा नस्य शब्द सामान्य रूप से सब प्रकार के नस्यों के लिये प्रयुक्त होता है तथापि नासापुटों में जो स्नेह डाला जाता है उसके लिये विशेष अर्थ में नस्य या नावन शब्द का प्रयोग होता है।[1]

शिरोविरेचन तथा शिरःस्नेहन इनका द्विविध कर्म है। कर्मानुसार द्विविध होने पर भी प्रयोग भेद से यह पांच प्रकार का होता है। जैसे—(१) नस्य या नावन, (२) शिरोविरेचन, (३) प्रतिमर्श, (४) अवपीडन, (५) प्रधमन। इनमें नस्य तथा शिरोविरेचन प्रधान हैं। नस्य का ही विकल्प प्रतिमर्श है और शिरोविरेचन का विकल्प अवपीड तथा प्रधमन है। इस प्रकार नस्यों को पाँच प्रकारों में नियमित किया गया है।[2]

नस्य का प्रयोग प्राय श्लेष्म विकारों की शान्ति के लिये होता है। वाग्भट्ट ने कर्मानुसार नस्यों के तीन भेद कहे हैं। जैसे—(१) विरेचन, (२) बृंहण और (३) शमन।[3]

शिरोविरेचन ऐसे रोगियों को देना चाहिये जिनका तालु, कण्ठ और शिर श्लेष्म से अभिव्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हो तथा जो अरोचक, शिरोगौरव, शिरःशूल, पीनस, अर्धावभेदक, नासाक्रिमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गन्ध का ज्ञान न होना, तथा जत्रूर्ध्व कफज विकार से पीडित हो।[4]

---

१. (i) औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्। (सु चि अ ४०)

(ii) 'नासिकाभ्यामिति द्विवचनं पुटद्वयापेक्षया। शिरोविरेचनद्रव्यैर्वा दीयते स शिरोविरेचन ॥' (डल्हण)

(iii) 'नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम्। नावनं नस्यकर्मेति तस्य नामद्वयं मतम् ॥' (शा उ अ ८)

(iv) 'ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते।' (अ हृ सू. ८)

(v) 'तत्र च ××× स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्यशब्द।' (सु चि ४०)

२ 'तद्द्विविधं शिरोविरेचनं स्नेहनं च। तद्द्विविधमपि पञ्चधा—तद्यथा—नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शो, अवपीड, प्रधमनं च। तेषु नस्यं प्रधानं शिरोविरेचनं च। नस्यविकल्प प्रतिमर्श, शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीड प्रधमनं च। ततो नस्यशब्दः पञ्चधा नियमित।' (सु चि अ ४०)

३ 'नस्तु त्रिविध—विरेचनं, बृंहणं, शमनं च। (अ चि सू अ २९)

४. 'शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकण्ठशिरसामरोचकशिरोगौरवशूलपीनसार्धाव-

**नस्य**—शिर, ग्रीवा, स्कन्ध तथा उर प्रदेश जिनका शून्य या प्रतीन होना हो गये पुरुषों को इन उपर्युक्त अवयवों में बलोत्पादनार्थ तथा दृष्टिप्रसाद उत्पन्न करने के लिये नासापुटों द्वारा स्नेहनार्थ जो स्नेह का प्रयोग किया जाता है उसको 'नस्य' कहते हैं। इसका प्रयोग वात से आक्रान्त शिर विकारों में दन्त, केश, त्वचा तथा श्मश्रु ( दाढ़ी या मोछ के केशों ) के प्रपतन ( गिरने ) में, दारुणक, कर्णशूल, कर्णक्ष्वेड, तिमिर, स्वरोपघात, नासारोग, आस्यशोष, अपबाहुक, असमय उत्पन्न वलि तथा पलित एवं वात-पित्तज मुखरोगों में होता है। इस कर्म में प्रयुक्त होने वाले स्नेहन को यथाविधि वातपित्तहर द्रव्यों से सिद्ध किया जाता है।[1]

स्नेह से यहाँ यथावश्यक घृत, तैल, वसा तथा मज्जा, इन चारों स्नेहों का ग्रहण होता है। इनमें तैल का नस्य वात-कफहर तथा घृत का नस्य पित्त तथा रक्त दोष को नष्ट करने वाला होता है। भोज ने इसका प्रयोग यथावश्यक एक दिन तथा दो दिन के अन्तर से करने का आदेश दिया है। सात दिन के पश्चात् नस्य देना बन्द कर विश्राम देना श्रेयस्कर है। तत्पश्चात् पुनः नस्य प्रारम्भ करना चाहिये और यथावश्यक १५ अथवा २० अथवा इससे भी अधिक रोगमुक्ति पर्यन्त नस्य देना चालू रखना उचित है।[2]

**शिरोविरेचन**—श्लेष्म से अभिव्याप्त तालु-कण्ठ तथा शिरोरोग, अरोचक, शिरोगौरव, शिर शूल, पीनस, अर्धावभेद, शिर तथा नासा-प्रदेशस्थ कृमि, प्रतिश्याय, अपस्मार और गन्धज्ञान का न होना तथा अन्य जत्रूर्ध्व-विकारों में शिरोविरेचन का प्रयोग शिरोविरेचन-द्रव्यों से तथा उनसे सिद्ध स्नेहों से किया जाता है। इनमें शिरोविरेचनार्थ जब शिरोविरेचक द्रव्यों के स्वरस तथा क्वाथ आदि का प्रयोग पिचुओं द्वारा अर्थात् स्वरस, क्वाथ तथा उनसे सिद्ध स्नेह से पिचु को अभिषिक्त कर उसे नासापुटों में अवपीडित ( निचोड़ दिया ) किया जाता

---

...हाभिष्यन्दाद्यास्यभाग...ष्यन्देषु चोर्ध्वजत्रुषु कफजेषु विकारेषु शिरो-विरेचनद्रव्यैः सिद्धेन वा स्नेहेनेति।' ( सु. चि. अ. ४० )

[1] 'तत्र ... शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां च बलजननार्थं दृष्टिप्रसादनार्थं वा स्नेहं विदध्यात् तस्मिन् स्नेहोपहितो नस्यशब्दः। तत्तु देयं वाताभिभूते शिरसि दन्तकेशश्मश्रुप्रपाते दारुणक-कर्णशूल-कर्णक्ष्वेड-तिमिर-स्वरोपघात-नासारोगास्यशोषा-पबाहुकासु। तथाऽकालवलिपलितप्रादुर्भावेषु वातपैत्तिकेषु मुखरोगेष्वन्येषु च वातपित्तहरसिद्धेन स्नेहेनेति।' ( सु. चि. अ. ४० )

[2] ( i ) 'एकाहान्तरं द्व्यन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः। सप्ताहं तु परं देयं विश्रान्तस्य पुनः पुनः।' पक्षं त्रिंशद्दिनाद्वा यावद्वा नातुरः स्वस्थः।' ( भोज. )

( ii ) 'तत्र तैलं नस्ये वातकफहरं, पित्तरक्तहरं तु सर्पिरिति ज्ञेयम्।' (डल्हण)

है तो उसकी संज्ञा 'अवपीड' होती है। और जब शिरोविरेचक द्रव्यों के चूर्ण को मुख से कागज की नाड़ी या अन्य नाड़ीयन्त्र से नासापुटों में प्रधमन (फूँक दिया जाता है) करते हैं तब उसे 'प्रधमन' कहते हैं।[1]

उपर्युक्त दोनों प्रकार के नस्यों को खाली पेट (अभुक्त) रोगी को देना चाहिये। इनका प्रयोग श्लेष्म-विकारों से पीड़ित रोगी को पूर्वाह्न में, पित्तरोगी को मध्याह्न में, तथा वातरोगी को अपराह्न में करना चाहिये।[2] वाग्भट ने कहा है कि स्वस्थवृत्तानुसार शीतकाल में मध्याह्नकाल शरद्, वसन्त ऋतुओं में पूर्वाह्न काल तथा ग्रीष्म ऋतु में अपराह्न काल एवं वर्षा ऋतु में सूर्य के दर्शन होने पर अर्थात् मेघ के न रहने पर नस्य देना उचित है। पञ्चकर्माचरण में वस्तिकर्म के पश्चात् नस्य देना चाहिये।[3]

**नस्यभेद** —(१) स्नेहन और रेचन के भेद से नस्य के दो प्रकार होते हैं। स्नेहन को 'बृंहण' तथा रेचन को 'कर्षण' भी कहते हैं। परन्तु वाग्भट ने तीसरा भेद 'शमन' भी कहा है। त्रिविध नस्यों का वर्णन करते हुए इन्होंने कहा है कि सिर का द्वार नासा है, अतः शिरोविरेचन द्रव्य नासा द्वारा प्रविष्ट हो ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों (दोषों) में विरेचन, बृंहण तथा शमन क्रिया द्वारा दोषों तथा मलों का निर्हरण होता है। अतः यह कर्म ऊर्ध्वभागहर संशोधन के अन्तर्गत विहित है। बृंहण तथा शमन नस्य शोधन के अन्तर्गत नहीं आते।[4]

(२) चरक सिद्धिस्थान में पाँच प्रकार के नस्य कर्मों का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे—(१) नावन, (२) अवपीड, (३) ध्मापन, (४) धूम

---

१ (i) सु. चि. अ. ४०,
(ii) 'कल्कस्वरसादीनां पिचुनाऽवपीडनाद् अवपीड, चूर्णस्य मुखेन नाड्या वा प्रधमापनात् प्रधमनम्।' (डल्हण)

२ 'तदेतद् द्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां, मध्याह्ने पित्तरोगिणाम्, अपराह्ने वातरोगिणाम्।' (सु. चि. ४०)

३ 'स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने, शरद्वसन्तयोः पूर्वाह्णे, ग्रीष्मेऽपराह्णे, वर्षास्वादित्यदर्शने, पञ्चकर्मणामाचरणे बस्तिकर्मोत्तरकाले एव।' (डल्हण)

४ (i) 'नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा।
रेचनं कर्षणं प्रोक्तं, स्नेहनं बृंहणं मतम्॥' (शा. उ. अ. ८)
(ii) 'नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्।
विरेचनं बृंहणं च, शमनं च त्रिधाऽपि तत्॥' (अ. हृ. सू. २०)
(iii) 'नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित्।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्॥' (च. सि. अ. ९)
(iv) 'स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतम्।
शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मतः॥' (च.)

तथा ( ५ ) प्रतिमर्श। पुन स्नेहन और शोधन के भेद से नावन के दो प्रकारो का, तथा शोधन और स्तम्भन के भेद से अवपीड के दो प्रकारो का वर्णन उपलब्ध होता है। दीपिका-टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—ये सभी शिरोविरेचन के अन्तर्गत ही आ जाते है। इनमे प्रधमन और अवपीड कर्षण के अन्तर्गत, प्रतिमर्श तथा मर्श बृंहण के अन्दर और धूम शोधन तथा शमन दोनो होने से इन दोनो के अन्दर आ जाते हैं। किसी-किसी ने तर्पण नामक नस्य का भी वर्णन किया है।[1]

**नस्य देने का समय**—कफविकार को नष्ट करने के लिये प्रातःकाल, पित्तविकार को शान्त करने के लिये मध्याह्नकाल और वातविकार के विनाश के लिये सायकाल मे नस्य का प्रयोग करना उचित है। नस्य का प्रयोग प्राय दिन मे ही करना श्रेयस्कर है, परन्तु आत्ययिक अवस्था मे रात्रि मे भी आवश्यकतानुसार नस्य का प्रयोग कर सकते हैं।[2]

**नस्य के लिये निषिद्धकाल**—( १ ) भोजनान्त मे, ( २ ) दुर्दिन ( मेघाच्छन्नदिवस ), ( ३ ) अपतर्पणकाल, ( ४ ) नये प्रतिश्याय ( ५ ) गर्भावस्था, ( ६ ) गरविषाक्रान्त, ( ७ ) अजीर्णावस्था, ( ८ ) वस्तिप्रयोगकाल, ( ९ ) स्नेह, जल तथा आसव पान करने पर, ( १० ) क्रुद्धावस्था, ( ११ ) शोकावस्था, ( १२ ) तृषितावस्था, ( १३ ) वृद्धावस्था, ( १४ ) बालावस्था, ( १५ ) मल-मूत्रादि वेगावस्था, ( १६ ) स्नानोत्तरावस्था, इन अवस्थाओ मे नस्य का प्रयोग निषिद्ध है।[3]

---

१ ( i ) 'नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्यं कर्म तु पञ्चधा ॥' ( च सि ९ )
( ii ) च पा टीका।
( iii ) 'नस्यं शिरोविरेकश्च प्रतिमर्शोऽवपीडनम्।
ज्ञेयं प्रधमनं चेत्यस्त कर्म तु पञ्चधा ॥' ( विष्णुगुप्त )
( iv ) 'अवपीडः प्रधमनं नस्यं रेचन-तर्पणम्।
प्रतिमर्शश्च धूमश्च नस्यं कर्म तु षड्विधम् ॥' ( विष्णुगुप्त )
२ ( i ) 'कफपित्तानिलध्वंसे पूर्वमध्यापराह्णके।
दिनस्य गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे ॥' ( शा उ अ ८ )
( ii ) 'अथ नस्यं प्रयोजयेत्—प्रातः श्लेष्मणि, मध्याह्ने पित्ते, सायंनिशोश्चले।'
( अ हृ सू २० )
३ 'नस्यं त्यजेद्भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पणे।
तथा नवप्रतिश्याये गर्भिणी गरदूषिते ॥
अजीर्णी दत्तबस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः।
क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषार्तो वृद्धबालकौ ॥
वेगावरोधी स्नातश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत् ॥' ( शा उ ८ )

**बालक तथा वृद्ध के लिये नस्यकर्म**—आठ वर्ष की अवस्था के बालक को नस्य दिया जा सकता है। ८० वर्ष से अधिक आयु वाले पुरुष को नस्य नही देना चाहिये। तात्पर्य यह कि ७ वर्ष की अवस्था तक बालक को नस्य नही देना चाहिये।[1]

**विरेचन नस्य**—तीक्ष्ण (सरसो आदि के) तैलो से अथवा तीक्ष्ण औषधियो (मरिच, पीपल, सोठ, सहजन के बीज आदि) से सिद्ध स्नेह, क्वाथ, अथवा स्वरसो मे शिरोविरेचनार्थ नस्य का जो प्रयोग किया जाता है वह 'विरेचन-नस्य' कहलाता है। इसका प्रयोग शिरःशूल, जडता, स्यन्द, गलरोग, शोफ, गण्डमाला, क्रिमि, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार, पीनस, जत्रूर्ध्वविकार, कफजरोग, स्वरभग, अरुचि, प्रतिश्याय, इन रोगो मे लाभ करता है।[2]

**विरेचन नस्य की मात्रा**—शिरोविरेचन के निमित्त नासापुटो (नाक के छिद्रो) मे तैल आदि की आठ बूदें छोडना उत्तम, छः बूद छोडना मध्यम तथा चार बूदें छोडना अधम या कनिष्ठ मात्रा है।[3]

सुश्रुत ने मात्रा निर्देश करते हुए यह स्पष्ट किया है कि प्रदेशिनी अङ्गुली के दो पर्वों को तैल मे डुबोने के पश्चात् बाहर निकाल ले और उससे जो बूद निकले उसे बूद का प्रमाण समझे। ऐसी ८ बूदो की प्रत्येक नासपुट मे अर्थात् १६ बूदो की प्रथमा या कनिष्ठा मात्रा माने। मध्यमा मात्रा एक शुक्ति अर्थात् ३२ बूदो की और उत्तमा मात्रा पाणिशुक्ति अर्थात् ६४ बूदो की माने। जयदास ने भोज के अनुसार स्वस्थ पुरुष के प्रायोगिक नस्य के लिये प्रत्येक नासापुटो मे आठ बूदे, तथा स्नेहनार्थ प्रायोगिक के द्विगुण अर्थात् शुक्तिप्रमाण (३२

---

१ (i) 'अष्टवर्षस्य बालस्य नस्यकर्म समाचरेत्।
अशीतिवर्षादूर्ध्वं च नावन नैव दीयते॥' (शा उ अ ८)
(ii) 'न नस्यमूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे।' (अ हृ सू २०)

२ (i) 'अथ वैरेचन नस्य ग्राह्य तैलं सुतीक्ष्णकैः।
तीक्ष्णभेषजसिद्धैर्वा स्नेहं क्वाथैः रसैस्तथा॥' (शा उ अ ८)
(ii) 'विरेचन शिरःशूलजाड्यस्यन्दगलामये।
शोफगण्डक्रिमिग्रन्थिकुष्ठापस्मारपीनसे॥' (अ हृ सू २०)
(iii) 'ऊर्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे स्वरसक्षये।
अरोचके प्रतिश्याये शिरःशूले च पीनसे॥
शोफापस्मारकुष्ठेषु नस्य वैरेचन हितम्।' (शा उ ८)

३ (i) 'नासिकारन्ध्रयोरष्टौ षट् चत्वारश्च बिन्दव।
प्रत्येक रेचने योज्या मुख्य-मध्यान्त्यमात्रया॥' (शा उ अ ८)
(ii) 'चत्वारो बिन्दव षट् वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम्।
शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत्॥' (सु चि अ ४०)

बूँदें ) मात्रा का आदेश किया है। साथ ही यह भी कहा है कि दोषोच्छ्राय के अनुसार द्विगुण, त्रिगुण तथा चतुर्गुण मात्रा का व्यवहार भी कर सकते हैं। वाग्भट ने इस नस्य को 'मर्श' संज्ञा दी है तथा इसकी उत्तम मात्रा १० बिन्दु, मध्यम मात्रा ८ बिन्दु, और कनिष्ठ मात्रा ६ बिन्दु लिखी है।[1]

**शिरोविरेचन नस्य के भेद**—( १ ) अवपीड तथा ( २ ) प्रधमन ये दो विरेचन नस्य के भेद हैं। तीक्ष्ण औषधियों के कल्क को नासापुटों में निचोडने से जो रस निकलता है उसे 'अवपीड' कहते हैं। तीक्ष्ण औषधों के चूर्ण को ६ अङ्गुल लम्बी और दो मुँहवाली नलिका में भरकर उसके एक सिरे को नाक में लगाकर दूसरे सिरे पर मुँह में फूँक देने को 'प्रधमन' नस्य कहते हैं। नासापुटों में अवपीडन ( निचोड ) कर प्रयोग करने से 'अवपीड नस्य' तथा नासापुटों में प्रधमन ( फूकने ) करने से 'प्रधमन नस्य' कहा जाता है। चरक ने 'प्रधमन' को 'ध्मापन' कहा है। इसका कर्म देह-स्रोतों का विशोधन करना है।[2]

---

१. ( i ) 'तस्य प्रमाणमष्टौ बिन्दवः, प्रदेशिनीपर्वद्वयनिःसृता प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्ति, तृतीया पाणिशुक्तिरित्येतास्तिस्रो मात्रा यथाबलं प्रयोज्याः।' ( सु. चि. अ. ४० )

( ii ) 'स्नेहस्य चाल्प-मध्यमोत्तमप्रमाणान्याह—तस्येत्यादि। तस्य स्नेहस्य। अष्टाविति प्रत्येकं नासापुटयोः, एवं षोडश बिन्दवः। × × × मध्यमा मात्रा शुक्तिर्द्वात्रिंशद् बिन्दवः। उत्तमा पाणिशुक्तिश्चतुःषष्टिबिन्दवः। गयी तु भोजदर्शनात् स्वस्थस्यैव प्रायोगिके नस्ये प्रत्येकं नासापुटयोरष्टबिन्दवः, स्नेहनार्थे तद्द्विगुणाः शुक्तिप्रमाणा इति प्रतिपादयति। तथा च भोजः—प्रायोगिकं स्नैहिकं च द्विविधं नस्यमुच्यते। प्रायोगिके बिन्दवोऽष्टौ स्नैहिके शुक्तिरिष्यते॥ दोषोच्छ्रायं समासाद्य दद्याद् द्वि त्रि-चतुर्गुणम्।' ( डल्हण )

( iii ) 'मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया।
प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् ॥
यावत्पतत्यसौ बिन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते।
मर्शस्योत्कृष्टमध्यान्ता मात्रास्ता एव च क्रमात् ॥' ( अ. हृ. सू. २० )

२. ( i ) 'अवपीडप्रधमनौ द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ।
शिरोविरेचनस्यात्र तौ तु देयं यथायथम् ॥' ( शा. उ. ८ )

( ii ) 'कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः।
सोऽवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥
षडङ्गुला द्विवक्त्रा या नाडीचूर्णं तया धमेत्।
तीक्ष्णं काले मितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हि तत् ॥' ( शा. उ. ८ )

( iii ) 'चूर्णस्याध्मापनं तद्धि देहस्रोतोविशोधनम्।' ( च. सि. अ. ९ )

**नस्य कर्म में औषध द्रव्यों का प्रमाण**—नस्य कर्म मे तीक्ष्ण औषध द्रव्य १ शाण, हींग यवप्रमाण, सेंधानमक १ माशा, दूध ८ शाण और जल ३ कर्ष तथा मधुर द्रव्य ( मधु-मिश्री आदि ) १ कर्ष तक ग्रहण करना चाहिये ।[1]

**अवपीड नस्य के उपयोग**—गलरोग, सन्निपात, निद्राधिक्य, विषम ज्वर, मनोविकार तथा कृमिरोग ( शिरप्रदेश मे ) मे इसका व्यवहार लाभप्रद होता है ।[2]

**प्रधमन नस्य के उपयोग**—उन्माद, अपस्मार तथा विषविकार आदि अति कठिन विकारो मे तथा मूर्च्छा आदि की अवस्था मे प्रधमन नस्य का उपयोग करना चाहिये ।[3]

**स्नेहन नस्य की कल्पना**—इसका कर्म बृंहण होने से इसकी सज्ञा 'बृंहण-नस्य' भी है । मर्श और प्रतिमर्श ये दो भेद स्नेहन नस्य के माने गए हैं । मर्श की तर्पणी मात्रा मुख्या या उत्तमा आठ शाण की, मध्यमा मात्रा चार शाण की और कनिष्ठा मात्रा एक शाण की कही गई है । यह मात्रा प्रत्येक नासापुट मे देनी चाहिये । दोषो के बलाबल का विचार कर मर्श की मात्रा दो-तीन बार आवश्यकतानुसार दे सकते हैं । इसका प्रयोग एक दिन अथवा दो दिन के अन्तर से करना श्रेयस्कर है अर्थात् प्रति तीसरे, पाँचवें, अथवा सातवें दिन इसका प्रयोग करना चाहिये ।[4]

**बृंहण नस्य मे स्नेह का ग्रहण**—वात तथा कफ के विकार मे तैल का, स्वतत्र वात विकार मे वसा का, तथा पित्त विकार मे घृत और मज्जा का ग्रहण करना चाहिये । अणु तैल, नारायण तैल, माषादि तैल अथवा जिस-जिस दोष की शान्ति के लिये नस्य का प्रयोग करना अभीष्ट हो उस-उस दोष

---

१. 'नस्यकर्मणि दातव्य शाणैक तीक्ष्णमौषधम् ।
हिङ्गु स्याद्यवमात्र तु माषैक सैन्धव मतम् ॥
क्षीर चैवाष्टशाण स्यात् पानीय च त्रिकार्षिकम् ।
कार्षिक मधुर द्रव्य नस्यकर्मणि योजयेत् ॥' ( शा उ म ८ )

२ 'गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे ।
मनोविकारे क्रिमिषु युज्यते चावपीडनम् ॥' ( शा. उ अ. ८ )

३ 'अत्यन्तोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते ।
चूर्ण प्रधमन धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतर यत ॥' ( शा उ. अ. ८ )

४ 'मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ ।
मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैः स्मृताष्टभिः ॥
मध्यमा च चतुःशाणैर्हीना शाणमिता स्मृता ।
एकैकस्मिन्स्तु मात्रेय देया नासापुटे बुधैः ॥' ( शा उ. ८ )

के प्रशामक औषधो मे सिद्ध किए हुए घृत तथा तैल का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये।[1]

**बृंहण नस्य का प्रयोग**—क्षय मे उत्पन्न शिर, नासा, और आंख के रोगो मे, सूर्यावर्त, अर्धावभेद, दन्तरोग, दुर्बलता, मन्या, बाहु और अंस के रोगो मे, मुखशोष, कर्णनाद तथा वात-पित्त विकारों मे, अकालपलित, शिर, दाढी तथा मूँछो के केश झड़ने पर बृंहण नस्य का प्रयोग किया जाता है।[2]

**प्रतिमर्श की मात्रा**—मर्श तथा प्रतिमर्श की मात्रा प्रत्येक नासापुट मे दो-दो बूँद है। यह मात्रा घृतादि स्नेह से दिए जाने वाले प्रतिमर्श की है। नस्य मे प्रयुक्त होने वाले द्रव्यो की मान-मर्यादा इस प्रकार है —

८ बूंद = १ शाण। बूंद के मान का वर्णन किया जा चुका है।[3]

**प्रतिमर्श नस्य का समय**—प्रतिमर्श स्नेह नस्य है। इसका प्रयोग उभय कर्म ( स्नेहन तथा विरेचन ) के लिये होता है। इसके प्रयोग के निम्नाङ्कित १४ समय शास्त्रो मे प्रतिपादित है। जैसे—( १ ) प्रातःकाल, ( २ ) दन्तधावन के पश्चात्, ( ३ ) घर से बाहर निकलने के समय, ( ४ ) व्यायाम के पश्चात् ( ५ ) मार्ग चल कर आने पर ( ६ ) मैथुन के अन्त मे, ( ७ ) मल, ( ८ ) मूत्र त्याग के बाद, ( ९ ) नेत्राञ्जन के बाद, ( १० ) कवल-धारण के अन्त मे, ( ११ ) भोजन के पश्चात्, ( १२ ) दिवाशयन से उठने पर, ( १३ ) वमन के अन्त मे तथा ( १४ ) सायंकाल।[4]

चरक ने सम्पूर्ण नस्यो को क्रमानुसार तीन भागों मे विभक्त कर वर्णन किया है। यथा—( १ ) रेचन ( शिरोविरेचन ), ( २ ) तर्पण ( शिरस्तर्पण ),

---

१ ( i ) 'तैलं कफे स्याद् वाते च केवले पवने वसाम्।
दद्यान्नस्य सदा पित्ते सर्पिर्मज्जानमेव च॥'
( ii ) 'नस्यं स्यादणुतैलेन तथा नारायणेन वा।
माषादिना वा सर्पिर्भिस्तत्तद्भेषजसाधितै॥' ( शा उ अ. ८ )

२ 'अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम्।
शिरोनासाक्षिरोगेषु सूर्यावर्तार्धभेदके॥
दन्तरोगे बले हीने मन्याबाह्वंसजे गदे।
मुखशोषे कर्णनादे वातपित्तगदे तथा॥
अकालपलिते चैव केशश्मश्रुप्रपातने।
युञ्ज्यते बृंहणं नस्यं स्नेहैर्वा मधुरद्रवै॥'

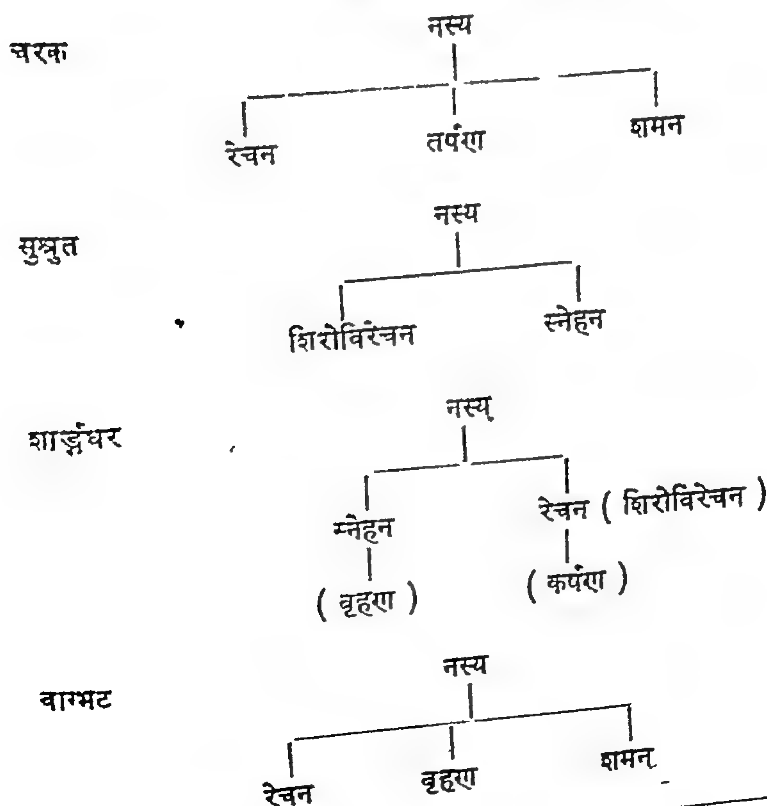
३ प्रमाणं प्रतिमर्शस्य बिन्दुद्वितयमुच्यते। ( अ हृ सू २० )

४. ( i ) च सि अ ९, ( ii ) शा उ अ ८,

और ( ३ ) शमन। श्लैष्मिक शिरोविकार में जैसे—स्तम्भ, सुप्ति, गुरुता, आदि में रेचन ( शिरोविरेचन ) नस्य का प्रयोग करना उचित है। शिरःकम्प, अर्दित आदि वातज शिरोरोग में तर्पण ( शिरस्तर्पण ) नस्य का व्यवहार करना चाहिये। रक्तपित्त आदि पैत्तिक विकारों में शमन नस्य का प्रयोग प्रशस्त है।[1]

चरक ने रोग-भिषग्जितीयाध्याय ( वि० ८ ) में फल, पत्र, पुष्प, मूल, कन्द, निर्यास तथा त्वक् भेद से सात प्रकार के शिरोविरेचन-द्रव्यों का वर्णन किया है। इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर तथा उनसे स्नेह सिद्ध कर यथावश्यक यथाविधि नस्यकर्म ( शिरोविरेचनार्थ ) करने का आदेश किया है। इसी प्रकार मधुर स्कन्ध के द्रव्यों से सिद्ध स्नेह को नस्य रूप में शिरस्तर्पणार्थ भी प्रयोग का विधान दिया है।[2]

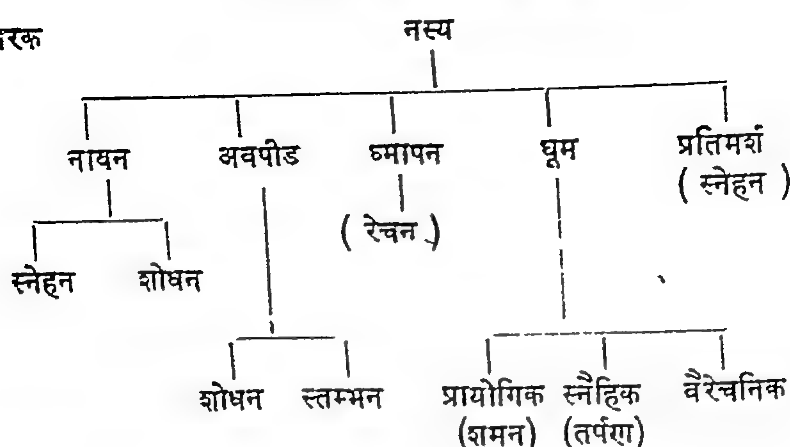
## १—कर्मानुसार नस्य के भेद



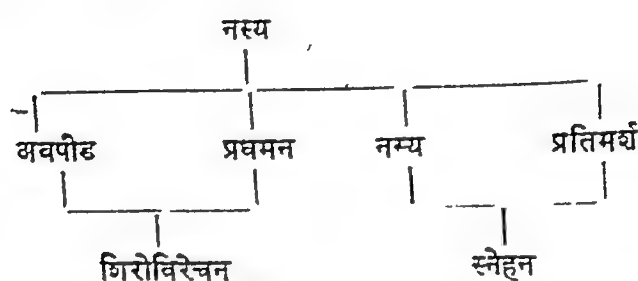

१. च. सि अ ९; २ च. सि अ ९;

## प्रयोगानुसार नस्य के भेद

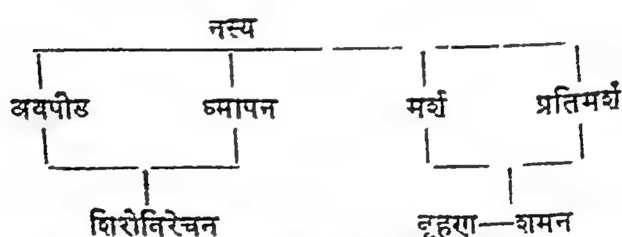
चरक




सुश्रुत




वाग्भट




इस उपर्युक्त तालिका मे यह स्पष्ट हो जाता है कि चरक ने सर्वप्रथम नस्य के कर्मानुसार तीन भेद किए हैं यथा ( १ ) रेचन, ( २ ) तर्पण और ( ३ ) शमन। पुन. प्रयोगानुसार उसके पाँच भेदो का वर्णन किया है जैसे—( १ ) नावन, ( २ ) अवपीड, ( ३ ) ध्मापन, ( ४ ) धूम और ( ५ ) प्रतिमर्श। पुन स्नेहन और शोधन के भेद से दो प्रकार के नावनो का वर्णन किया है। इसी प्रकार शोधन और स्तम्भन भेद से दो प्रकार के अवपीडो का वर्णन किया है। प्रायोगिक या शमन, वैरेचनिक तथा स्नैहिक धूमो का ग्रहण भी चरक ने पञ्चविध न ो के अन्तर्गत किया है, क्योंकि ये भी ऊर्ध्वभागहर अर्थात् शरीर के ऊर्ध्वभाग शिर स्थित अवयवो के मलो तथा दोषो का शोधन (निर्हरण) और शमन करते हैं।[1]

१ च सि ९ ९,

सुश्रुत ने सर्वप्रथम नस्य के दो विभाग कर्मानुसार किए हैं जैसे ( १ ) शिरोविरेचन और ( २ ) स्नेहन । पुनः शिरोविरेचन के दो विकल्पो का वर्णन किया है जैसे —( १ ) अवपीड और ( २ ) प्रधमन, स्नेहन नस्य के दो विकल्पो का भी अर्थात् ( १ ) मर्श और ( २ ) प्रतिमर्श का वर्णन किया है।[1] वाग्भट ने सर्वप्रथम नस्य के तीन भेदो का वर्णन किया है जैसे—( १ ) विरेचन ( २ ) बृंहण और ( ३ ) शमन । पुन विरेचन के दो भेद अर्थात् ( १ ) अवपीड और ( २ ) ध्मापन का वर्णन किया है । इसी प्रकार बृंहण के ( १ ) मर्श तथा ( २ ) प्रतिमर्श का वर्णन किया है। तत्पश्चात् शमन नस्य का वर्णन किया है। शार्ङ्गधर ने ( १ ) स्नेहन तथा ( २ ) रेचन का वर्णन करते हुए कहा है कि इन्हे क्रमश. बृंहण और कर्षण भी कहते है ।[2]

**नस्य विधान**—वायु तथा धूल से रहित स्थान मे दन्तधावन किए हुए तथा धूमपान से शिर और गले को शुद्ध एव स्विन्न किए हुए मनुष्य को सीधा लिटा दे और उसके शिर को ईषत् लम्बा फैलाकर हाथो तथा पैरो को भी फैला देवे और आँखो को कपडे मे ढँक कर तथा नाक को थोडा ऊँचा कर नासापुटो मे कोष्ण नस्य द्रव्य की अविच्छिन्न धार छोडे । नस्य औषध सोने, चाँदी तथा सीप के बने पात्रो से नासा मे डाले अथवा नस्य औषध से तर ( अभिषिक्त ) रुई के फाहे ( प्लोत ) से युक्तिपूर्वक औषधस्नेह या द्रव को नासापुटो मे निचोडे ।[3]

नस्य देने के समय शिर को हिलावे नही, क्रोध न करे, बोले नही, तथा छीके और हँसे भी नही । क्योकि ऐसा करने से नस्य द्रव्य नासा के अन्दर प्रविष्ट नही होता तथा कास, प्रतिश्याय, शिरोरोग और नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं ।[4] नस्य द्रव्य मे शृङ्गाटक मर्म ( भ्रूमध्य पर्यन्त नासाविवर ) को आप्लुत कर पाँच, सात अथवा दश अङ्क गिनने मात्र तक रोक कर रखे, निकाले नही ।

---

१ सु चि अ ४०, २ ( 1 ) अ हृ सू अ २०, शा उ अ ८,

३ 'देशे वात-रजोमुक्ते कृतदन्तनिघर्षणम् ।
विशुद्ध धूमपानेन स्विन्नभालगल तथा ॥
उत्तानशायिन किञ्चित्प्रलम्बशिरस नरम् ।
आस्तीर्णहस्तपाद च वस्त्राच्छादितलोचनम् ॥
समुन्नमितनासाग्र वैद्यो नस्येन योजयेत् ।
कोष्णमच्छिन्नधार च हेमताराद्रिशुक्तिभि ॥
शुक्त्या वा यत्र युक्त्या वा प्लोतैर्वा नस्यमाचरेत् ॥' ( शा उ अ ८ )
( 11 ) सु चि अ ४०,

४. 'नस्येऽभिषिच्यमानेषु शिरो नैव प्रकम्पयेत् ।
न कुप्येन्न प्रभाषेत नोच्छिन्देन्न हसेत्तथा ॥' इत्यादि ॥

तत्पश्चात् बैठ कर नासा और मुख मे प्राप्त द्रव को अपने बाये तथा दाहिने पार्श्व स्थित पीकदान मे थूके। सीधा मुख रख कर सामने न थूके।

**नस्य लेने पर परहेज**—नस्य लेने के बाद मनस्ताप, धूल तथा क्रोध का सर्वथा परित्याग करना चाहिये। २ मिनट तक ( सौ गिनने पर्यन्त ) सीधा लेटे रहना चाहिये परन्तु सोना ( निद्रा ) नही चाहिये। विरेचन नस्य लेने के पश्चात् धूमपान तथा कवलग्रह हितकर है।[1]

नस्य प्रयोग के बाद उसके हीनयोग, अतियोग तथा सम्यक् योग का भी ध्यान रखना परमावश्यक है। इनके लक्षण निम्नप्रकार के होते हैं :—

**नस्य के सम्यग् योग तथा शिरःशुद्धि के लक्षण**—नस्य के सम्यग् योग से शिर तथा जत्रूर्ध्व प्रदेश मे लघुता ( हलकापन ) का अनुभव होता है तथा मन निर्मल प्रतीत होता है। नासास्रोतो की शुद्धि होने मे तद्गत व्याधियो का नाश तथा चित्त और इन्द्रियो की प्रसन्नता होती है।[2]

**नस्य के हीन योग**—होने पर मुख, नासिका आदि मे कण्डू, उपदेह ( कफ से लिप्त की तरह प्रतीति ), शिर मे भारीपन, तथा कफ का स्राव होने लगता है।[3]

**नस्य के अतियोग**—होने पर मस्तिष्क का स्राव, वायु की वृद्धि, इन्द्रियो का विभ्रम ( नाश या विकार ) तथा शिर की शून्यता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।[4]

शिरोविरेचन नस्य का अतियोग तथा हीनयोग होने पर क्रमश वातघ्न तथा कफघ्न चिकित्सा करनी चाहिये। शिरोविरेचन के सम्यक् योग होने पर अर्थात् शिर की सम्यक् शुद्धि हो जाने पर घी से नासारन्ध्रो का सेचन करे। इसका प्रयोग एक दिन तथा दो दिन के अन्तर से सप्ताह, २ सप्ताह अथवा ३ सप्ताह, अथवा रोगमुक्ति-पर्यन्त यथावश्यक करना चाहिये।'

---

१ ( i ) 'नस्ये नीते मनस्तापं रज. क्रोध च सत्यजेत्।
शयीत निद्रा त्यक्त्वा च प्रोत्तानो वाक्शत नर.॥
तथा वैरेचनस्यान्ते धूमो वा कवलो हित·। ( शा उ अ ८ )
( ii ) सु चि अ ४०;

२ 'लाघव मनस· शुद्धिः स्रोतसां व्याधिसक्षयः।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरस शुद्धिलक्षणम्॥'

३ 'कण्डूपदेहौ गुरुता स्रोतसा कफसंस्रव·।
मूर्ध्नि हीनविशुद्धे तु लक्षण परिकीर्तितम्॥'

४. शा. उ. अ. ८; सु चि अ ४०;

वात से आक्रान्त रोगियो मे कभी-कभी दिन मे दो बार भी नस्य प्रयोग की आवश्यकता होती है।[1]

शिरोविरेचन के समान ही 'अवपीड' नस्य को मेद तथा कफ मे अभिव्याप्त शिर के विकारो मे पिप्पली, विडङ्ग आदि शिरोविरेचन द्रव्यो का कल्क बना कर अथवा इनके क्वाथ मे पिचु अभिषिक्त कर यथावश्यक १६ या ३२ या ६४ बूंद नासापुटो मे निचोडे। रक्तपित्त के विकार मे क्षीण पुरुष को शर्करा, इक्षुरस, क्षीर, घृत, मांसरस, इनमे से किसी एक का यथाविधि 'अवपीडननस्य' आवश्यकतानुसार देवे।[2]

कृश, दुर्बल, भीरु तथा सुकुमार पुरुषो को और स्त्रियो को यथावश्यक यथायोग्य क्वाथ, स्नेह तथा कल्क का अवपीड देकर शिर शुद्धि करे।[3]

**नस्य के अतियोग होने पर यत्न**—मर्शसंज्ञक नस्य तथा शिरोविरेचन, दोनो के अतियोग होने पर अर्थात् अधिक प्रयोग होने पर नानाप्रकार के व्यापद् होते हैं। जैसे—दोषो का उत्क्लेश तथा क्षय प्रभृति, जिससे अनेक प्रकार की व्याधिया उत्पन्न होती हैं। अत. दोषो के उत्क्लेश होने पर तथा उनसे उत्क्लेशजन्य रोग होने पर वमन तथा विरेचन का यथावश्यक प्रयोग करना उचित है। इसी प्रकार दोषो के क्षयजन्य व्याधियो के उत्पन्न होने पर यथायोग्य बृहण का प्रयोग करना चाहिये।[4]

वाग्भट ने कहा है कि नस्य कर्म अथवा शिरोविरेचन किये हुए अथवा करते हुए पुरुष को सदा उष्ण जल का ही व्यवहार करना उचित है। इस कर्म करने वाले पुरुष को ब्रह्मचारी रहना चाहिये तथा मल-मूत्रादि के वेगो को रोकना नही चाहिये। इस कर्म मे मैथुन, व्यायाम, क्रोध, शोक, हिम ( शीत ), आतप ( धूप ), प्रवात, मद्यपान, उत्कटयान का सेवन, मार्ग चलना (पैदल

---

१ 'ईषानिशुद्धे शिरसि कफवानप्रमाचरेत्।
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्य निषेचयेत् ॥
एकान्तर द्व्यन्तर वा सप्ताह वा पुन पुन ।
एकविंशतिरात्र वा यावद्वा साधु मन्यते ॥
मारुतेनाभिभूतस्य वाऽत्यन्त यस्य देहिन ।
द्विकाल चापि दातव्य नस्य नस्य विजानता ॥' ( सु चि अ. ४० )

२ सु चि अ ४०-४४, ३ सु चि अ ४०-४५

४ 'मर्शे शिरोविरेके च व्यापदो विविधा' स्मृता ।
दोषोत्क्लेशात् क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥
दोषोत्क्लेशनिमित्तासु युञ्ज्याद् वमनशोधनम् ।
अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृहण हितम् ॥' ( शा उ. अ. ८ )

[illegible] । [illegible] बोलना, इत्यादि निषिद्ध है । इस कर्म करने वाले को जितेन्द्रिय [illegible] आवश्यक है । इसे शीत, अन्तुष्ण उपधान, दिवास्वप्न तथा धूम एवं धूल [illegible] से बचना चाहिये ।'

## बस्ति कर्म

'बस्ति' मूत्राशय का नाम है । प्राचीन काल में गुदा मार्ग से किसी भी द्रव [illegible], [illegible] तथा आत्रों को सबल बनाने के लिये [illegible] इस उपाय का बहु रूप में प्रयोग होता था अत. इस [illegible] 'बस्ति कर्म' [illegible] । [illegible] इस प्रकार के यन्त्र रबर के बने प्राप्त [illegible] के समान ही जो [illegible] मुख होते हैं और उनका मध्य [illegible] है । [illegible] मुख औषध द्रव के पात्र में द्रव में डुबा [illegible] है और [illegible] गुदमार्ग में प्रवेश कराया जाता है । जब [illegible] और [illegible] औषधयुक्त द्रव उसमें चला [illegible] है और [illegible] गुदमार्ग द्वारा आंतो में प्रविष्ट होता है । [illegible] इसका नाम 'बस्तियन्त्र' तथा इस बस्तियन्त्र [illegible] ) गुदद्वार में अथवा मूत्रमार्ग में औषध द्रव [illegible] 'बस्तिकर्म' [illegible] । निष्कर्ष यह कि [illegible] अथवा [illegible] बस्तियन्त्र की सहायता से जो [illegible] पहुँचाया जाय उसे 'बस्तिकर्म' कहते हैं । [illegible] है—( १ ) [illegible] बस्तिकर्म, या आस्थापन [illegible] ) [illegible] और ( ३ ) [illegible] बस्तिकर्म ।'

[illegible] के अतिरिक्त [illegible] शास्त्र [illegible] । [illegible] बस्ति के [illegible] ( [illegible] [illegible] । [illegible]

[illegible]

कर्म मूत्र या मेढ्र मार्ग द्वारा मूत्राशयशोधनार्थ तथा बृंहणार्थ किया जाता है
अत. इसको उत्तर वस्ति कहते हैं।[1]

**निरूह वस्ति**—शरीर के दोष तथा मलों को निकालने ( निर्हरण करने )
से इसका नाम 'निरूह वस्ति' है। वय स्थापन तथा आयु स्थापन इस कर्म
का फल होने से इसको आस्थापन वस्ति भी कहते हैं। कर्मभेद से इसके अन्य
अनेक विकल्प हैं। जैसे—उत्क्लेशन, संशोधन, संशमन लेखन, वाजीकरण,
माधुतैलिक यापन, युक्तरथ तथा सिद्धवस्ति। इनका वर्णन यथास्थल किया
जायगा। निरूहवस्ति शोधन तथा लेखन कर्म द्वारा शरीर को शुद्ध करती है।[2]

**अनुवासन वस्ति**—यह स्नेहप्रधान वस्ति है। इसका कर्म स्नेहन तथा
बृंहण है। यह शोधन के समान मल का निर्हरण करने पर भी दुर्बलता नहीं
उत्पन्न करती। कितने आचार्य इसके बृंहण कर्म करने से इसे शोधन के अन्तर्गत
नहीं मानते। शरीर में रह कर ( अनुवास कर ) भी दूषित नहीं होने से तथा
प्रतिदिवस दिये जाने से 'अनुवासन वस्ति' कहलाती है। इसका विकल्प
मात्रावस्ति है।[3] मात्रा के विकल्प होने से इसे 'मात्रावस्ति' कहते हैं जैसे—
षट्पलप्रमाणा, त्रिपलप्रमाणा मात्रावस्ति इत्यादि। यह स्नेह मात्रा की होती
है और इसका निर्धारण रोग तथा रोगी की अवस्था तथा बलाबल को देख कर
किया जाता है। षट्पलमात्रा वस्ति को श्रेष्ठा, त्रिपल को मध्यमा तथा १½ पल
को कनिष्ठामात्रा वस्ति कहते हैं।

आस्थापन वस्ति की उत्तम मात्रा १२ प्रसृत अर्थात् २४ पल ( ९६ तोला )
होती है। अनुवासन की उत्तम मात्रा २४ तोला, मध्यम मात्रा १२ तोला, और
कनिष्ठ मात्रा ६ तोला है। अवस्था के अनुसार आस्थापन की मात्रा १ वर्ष के

---

१ ( i ) 'वस्तिर्द्विधाऽनुवासाख्यो निरूहश्च ततः परम्।
य स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासननामक ॥
कषायक्षीरतैलैर्यो निरूह स निगद्यते।' ( शा उ अ ८ )

( ii ) 'निरूहोऽनुवासनो वस्तिरुत्तर।' ( अ हृ सू १९ )
'यदा तूत्तरेण मार्गेण मेढ्रादिना दीयते इत्युत्तरवस्ति।' ( अरुणदत्त )

२ ( i ) 'स दोषनिर्हरणाच्छरीरनिरोहणाद्वा निरूह, वय स्थापनादायु स्थापनाद्वा
आस्थापनम्। तस्य विकल्प माधुतैलिक, तस्य पर्यायशब्दो यापनो,
युक्तरथ सिद्धवस्तिरिति। × × निरूह संशोधनो लेखी × ×।'
( सु चि अ ३५ )

( ii ) 'तस्य भेदा —उत्क्लेशन, संशोधन संशमन, लेखन, बृंहण, वाजीकरण
माधुतैलिकम्।' ( अ. हृ सू २८ )

३. सु चि. अ. ३५

बालक के लिये १ पल ( ४ तोला ) की होती है। इसके अनन्तर १२ वर्ष तक के बालक के लिये प्रतिवर्ष एक एक पल बढाता जाय अर्थात् १२ वर्ष के बालक की पूर्ण मात्रा १२ पल ( ४८ तोला ) होनी चाहिये। १२ वर्ष के बाद १८ वर्ष तक प्रतिवर्ष २ पल के हिसाब से बढावे अर्थात् १८ वर्ष के पुरुष के लिये पूर्ण मात्रा २४ पल ( ९६ तोला ) होगी। पुन १८ वर्ष से ७० वर्ष तक के लिये यही मात्रा रहेगी। ७० वर्ष के बाद २० पल की मात्रा ( ८० तोला ) होगी।[१]

माधुतैलिक वस्ति मे अवस्थानुसार जो आस्थापन वस्ति की मात्रा बतलाई गई है उससे एक चतुर्थांश न्यून मात्रा ग्रहण करनी चाहिये।[२] इस माधुतैलिक वस्ति का ही पर्याय यापन, युक्त-रथ, और सिद्ध वस्ति है।[३] मधु और तैल की प्रधानता होने से इसको माधुतैलिक वस्ति कहते हैं।

**उत्तर वस्ति**— पुरुषो के मूत्र मार्ग मे तथा स्त्रियो के मूत्र तथा योनिमार्ग मे पिचकारी के द्वारा जो औषध द्रव का प्रयोग किया जाता है उसे 'उत्तर-वस्ति' कहते हैं। उत्तरवस्ति के भी अनुवासन और निरूह ये दो भेद होते हैं। केवल स्नेह से जो उत्तरवस्ति दी जाती है उसे अनुवासन और क्वाथ आदि की जो उत्तरवस्ति दी जाती है उसे निरूह उत्तरवस्ति कहते हैं।[४]

**वस्ति देने के क्रम**—क्रमश ३० वस्तियो के प्रयोग को कर्म-वस्ति कहते हैं यह क्रम इस प्रकार का होता है जैसे—आरम्भ मे एक अनुवासन तदनन्तर एक आस्थापन तथा एक अनुवासन का क्रम १२ तक अर्थात् बारी बारी से १२ आस्थापन और १२ अनुवासन इस प्रकार २४ वस्तियाँ, पुन अन्त मे ५ अनुवासन वस्तियो का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रारम्भ मे १ अनु-वासन, मध्य मे १२ अनुवासन तथा अन्त मे ५ अनुवासन और मध्य के १२ आस्थापन, कुल मिलाकर ३० वस्तियो का एक क्रम होता है जिसे 'कर्म वस्ति'

---

१ च सि अ ३, अ स सू २९

२. ( i ) निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे, ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः।
आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद् द्वादशत परं स्युः॥
आसप्ततेस्तद्विहितं प्रमाणमत परं षोडशवद्विधेयम्।' ( च सि अ. ३ )

( ii ) 'षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा, मध्यमा त्रिपली भवेत्।
कनीयस्यप्यर्धपला, त्रिधा मात्राऽनुवासने॥ ( नि. स व्याख्या से उद्धृत )

( iii ) 'यथास्वमास्थापनमात्रा पादहीना माधुतैलिके प्रयोज्या।'
( अ स सू अ २९ )

३. 'मधुतैलप्राधान्यान्माधुतैलिकः।' ( अ स सू २९ )
'तस्य पर्यायशब्दो यापनो, युक्तरथः, सिद्धवस्तिरिति।' ( सु चि अ. ३५ )।

४. 'यदा मूत्रेण मार्गेण मेढ्रादिना दीयते इत्युत्तरवस्तिः।' ( अरुणदत्तः )

कहते हैं।' इसी प्रकार प्रारम्भ में एक अनुवासन, मध्य में एक आस्थापन और एक अनुवासन के क्रम से ६ आस्थापन और ६ अनुवासन का प्रयोग और अन्त में २ अनुवासन का प्रयोग अर्थात् १५ वस्तियों का प्रयोग 'काल वस्ति' कहलाता है।[2] आदि में एक अनुवासन पश्चात् मध्य में एक आस्थापन और एक अनुवासन के क्रम से ३ आस्थापन और ३ अनुवासन का प्रयोग और अन्त में १ अनुवासन का प्रयोग इस प्रकार ८ वस्तियों के प्रयोग को 'योग वस्ति' कहते हैं।[3] तात्पर्य यह कि उपर्युक्त प्रयोग क्रम के भेद से वस्तियों के (१) कर्म वस्ति, (२) काल वस्ति और (३) योग वस्ति ये तीन भेद होते हैं।

वस्ति देने के लिये जो पिचकारी बनाई जाती है उसे 'वस्ति यन्त्र' कहते हैं। प्राचीनकाल में भैंसा आदि पशुओं के वस्ति (मूत्राशय—Urinary bladder) को सुखा कर उसे स्वच्छ कर लेते थे और उसका फूंकना बनाकर उसमें धातु, हाथी दांत आदि की नली बांधकर उसका वस्ति यन्त्र बनाया जाता था। निरूह तथा अनुवासन वस्ति यन्त्र के फूंकने में जो नली लगाई जाती थी उसको वस्ति नेत्र कहते थे। उत्तर वस्ति यन्त्र में जो नली बांधी जाती थी उसका नाम चरक ने 'पुष्पनेत्र' दिया है। वस्ति नेत्र के मध्य में एक 'कर्णिका' बनी होती थी जिससे वह (वस्तिनेत्र) प्रमाण से अधिक मलद्वार या मूत्रमार्ग अथवा अपत्यपथ में प्रवेश न कर सकती थी। वस्तियन्त्र के मूल में फूंकना बांधने के लिए दो कर्णिकायें बनी होती थीं। प्राचीन वस्तियन्त्र का यही स्वरूप संक्षेप में है। आजकल अनेक प्रकार के रबर, एनामिल अथवा कांच या धातु का बना हुआ एनिमा या डूसकेन के नाम से इस कार्य के लिये यन्त्र उपलब्ध होते हैं। इन्हें हम 'वस्ति यन्त्र' कह सकते हैं और उनका प्रयोग भी वस्ति कर्म के लिये सुविधापूर्वक कर सकते हैं।

**वस्ति की उपादेयता**—स्नेहादि कर्मों में कर्म को आचार्यों ने प्रधान माना है। क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। वस्ति कर्म में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य अनेक गुणोंवाले होते हैं अतः नानाविध द्रव्यों के संयोग से यह दोषों का संशोधन, संशमन, संग्रहण आदि कर्म करते हैं। यह क्षीणशुक्र पुरुष के लिये वाजीकरण का कार्य भी करता है। कृश पुरुषों को पुष्ट बना देता है अर्थात्

---

१ 'प्राक् स्नेह एक: पञ्चान्ते, द्वादशास्थापनानि च। सान्वासनानि कर्मैवं वस्तिस्त्रिंशदिरीरिता॥' (अ. सं. सू. २८)

२ 'काल: पञ्चदशैकोऽत्र प्राक् स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा। षट्पञ्च वस्त्यन्तरिता।' (अ. सं. सू. २८)

३ 'योगोऽष्टौ वस्तयोऽत्र तु। त्रयो निरूहा: स्नेहाश्च स्नेहावाद्यान्तयोरुभौ।' (अ. सं. सू. २८)

बृंहण कर्म भी करता है, स्थूल पुरुषों को कृश करता है। नेत्रों में बल प्रदान करता है। वलि-पलित का नाश कर वय स्थापन भी करता है।[1]

वस्ति कर्म के सम्यक् प्रयोग होने पर शरीर उपचित होता है, बल, वर्ण, आरोग्य तथा आयु की वृद्धि होती है। इसमें अग्नि, मेधा, स्वर तथा सुखायु प्राप्त होता है। यह सर्वथा लाभप्रद होता है तथा आबाल-वृद्ध के लिये निरापद है। यह शरीर में विट्, श्लेष्म, पित्त, अधोवात, तथा मूत्र प्रभृति मलों का निर्हरण कर शरीर को दृढ बनाता है तथा शुक्र और बल को प्रदान कर शरीर को निरोग रखता है। इससे वात, पित्त, कफ तथा रक्त के विकार शान्त होते हैं, यह दोषों के संसर्ग तथा सन्निपात सभी अवस्थाओं में प्रशस्त है।[2]

ज्वर, अतिसार, तिमिर, प्रतिश्याय, शिरोरोग, अधिमन्थ, अर्दित, आक्षेपक, पक्षाघात, एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात, आध्मान, उदरशूल, योनिशूल, मूत्रशर्करा, शूल, वृद्धि, उपदंश, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वातरक्त, वातोदावर्त, मूत्रोदावर्त, पुरीषोदावर्त, शुक्रनाश, आर्तवनाश, स्तन्यनाश, हृद्रोग, हनुग्रह, मन्याग्रह, शर्करा, अश्मरी, मूढगर्भ, प्रभृति रोगों में वस्ति के प्रयोग से लाभ होता है। अतः इसका इन रोगों में यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये।[3]

---

१. सु चि अ. ३५।

२ (i) 'शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च वस्तिः सम्यगुपासितः॥' (सु चि अ. ३५)

(ii) 'वस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्ययः सर्वगदापहश्च॥
विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च।
विष्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य, सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः॥'
(च. सि. अ १)

(iii) 'वस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते।
संसर्गे सन्निपाते च वस्तिरेव हितः सदा॥' (सु. चि अ ३५)

(iv) 'तत्र स्नेहादीनां कर्मणां वस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः, कस्मात् ? अनेककर्मकरत्वाद्वस्तेः, इह खलु वस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद्दोषाणां संशोधन-संशमन-संग्रहणानि करोति, क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, कृशं बृंहयति, स्थूलं कर्षयति, चक्षुः प्रीणयति, वलि-पलितमपहन्ति, वयः स्थापयति।'
(सु. चि. अ. ३५)

३. 'तथा ज्वरातीसारतिमिरप्रतिश्यायशिरोरोगाधिमन्थार्दिताक्षेपकपक्षाघातैकाङ्गसर्वाङ्गरोगाध्मानोदर-योनिशूल-शर्करा-शूल-वृद्धि-उपदंशानाह-मूत्रकृच्छ्र-गुल्म-वातशोणित-वात मूत्रपुरीषोदावर्त-शुक्रार्तवस्तन्यनाश-हृद्धनुमन्याग्रह-शर्कराश्मरीमूढगर्भ प्रभृतिषु चात्यर्थमुपयुज्यते।' (सु चि. अ ३५)

इनके अतिरिक्त जिनका शरीर स्तब्ध तथा सकुचित हो गया हो, जो पङ्गु हो, जो भग्न से पीडित हो, वायु जिनकी शाखाओ मे सचार करती हो, ऐसे रोगियो को वस्ति देनी चाहिये, जिनका उदर म आध्मान (फूल गया) हो तथा जिनकी आँतो मे मल की गाठें पड गई हो, भोजन मे अरुचि हो गई हो, तथा इस प्रकार के अन्य कुक्षिविकारो से जो पीडित हो उन्हे वस्ति देना अभीष्ट है। जिन स्त्रियो को वातोपद्रववश गर्भधारण नही होता हो तथा जिस पुरुष की इन्द्रिय-(शिश्न) शक्ति क्षीण हो गई हो और वह कृश हो गया हो ऐसे पुरुषो के लिये वस्ति का प्रयोग प्रशस्त है।[1]

शाखागत, कोष्ठगत तथा मर्मगत, अर्थात् सभी व्याधियो मे यथावश्यक वस्ति का प्रयोग अभीष्ट है। क्योकि सभी विकार वायु के कारण होते हैं और वायु की शान्ति के लिये वस्ति से बढ कर कोई चिकित्सा नही है। वायु ही विट्, मूत्र तथा पित्तादि मलो के आशयो का विक्षेप तथा सघात करने वाला है। अत इन विकारो की शान्ति के लिये वस्ति का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है। यही कारण है कि वस्ति चिकित्सा को चिकित्सार्ध अथवा सम्पूर्ण चिकित्सा माना गया है।[2]

निरूह वस्ति द्वारा सम्पूर्ण शरीरस्थित मल तथा दोष बाहर निकल आते हैं जिससे शरीर शुद्ध और निर्मल हो जाता है। इससे शरीर के सभी स्रोत मल तथा दोष से रहित हो जाते हैं। पुन निरूह के पश्चात् अनुवासन वस्ति के प्रयोग से शारीर स्रोतो का तथा सम्पूर्ण शरीर का स्नेहन हो जाता है जिससे शरीर बल-वर्ण से युक्त हो जाता है। आचार्यो ने कहा भी है कि वाताक्रान्त विकार के लिये तैलदान से बढ़कर कोई औषध नही। इसका कारण यह है कि तैल के स्नेह गुण से वायु के रौक्ष्यगुण का, गुरुगुण से लघुगुण का, उष्णगुण से शैत्यगुण का, अर्थात् सर्वतोभावेन वायु की शान्ति तैल से होती है। इसके साथ साथ उक्त विकारों

---

१ (i) 'स्तब्धाश्च ये सकुचिताश्च येऽपि, ये पङ्गवो येऽपि च भग्नरुग्णा। येषा च शाखासु चरन्ति वाताः, शस्तो विशेषेण हि तेषु वस्ति॥ आध्मापने विग्रथिते पुरीषे, शूले च भक्तानभिनन्दने च। एवप्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ, ये चामयास्तेषु च वस्तिरिष्ट॥' (च सि अ १)

(ii) 'याश्च स्त्रियो वातकृतोपसर्गाद् गर्भं न गृह्णन्ति नृभि' समेता.। क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च वस्ति प्रशस्त. परम च तेषु॥' (च. सि अ १)

२ 'शाखागता कोष्ठगताश्च रोगा, मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च। ये सन्ति तेषा न च कश्चिदन्यो वायो पर जन्मनि हेतुरस्ति॥ विण्मूत्रपित्तादिमलाशयाना विक्षेपसघातकराश्च यस्मात्। तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् वस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित्॥ तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि वस्तिमेके।' (च सि. अ. २)

का नाश कर तैल मन को भी प्रसन्न करता है। इसके प्रयोग से बल, वर्ण, वीर्य तथा अग्नि की पुष्टि होती है। जिस प्रकार वृक्ष के मूल मे जलाभिषेचन से वह वृक्ष कोमल पल्लवो, पुष्पो तथा फलो से समृद्ध हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी अनुवासन वस्ति के प्रयोग से सभी वात विकारो से मुक्त हो स्वस्थ हो जाता है।[1]

किस प्रकार के पुरुष को कौन-सी वस्ति का प्रयोग उचित है, इस सम्बन्ध मे आचार्यों ने कहा है कि जो पुरुष उष्ण अर्थात् गर्मी से पीडित हो अथवा पित्त विकारो से आक्रान्त हो उन्हे शीतल वस्ति का प्रयोग अभीष्ट है। इसी प्रकार जो व्यक्ति शीत अथवा कफज विकारो से पीडित हो उन्हे सुखोष्ण वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। जिनके विकार स्निग्धसमुत्थ हो उन्हे रूक्ष वस्ति तथा जिनके विकार रूक्षसमुत्थ हो उन्हे स्निग्ध वस्ति का प्रयोग अभीष्ट है। अर्थात् रोगारम्भक कारणो का विचार कर उसके विपरीत गुण वस्ति का प्रयोग करना उचित है।[2]

जिन पुरुषो को विशोधन वस्ति देनी उचित है अर्थात् जिनके रोग ऐसे हैं जिसमे विशोधन वस्ति देना अपेक्षित है उन्हे भूल कर भी बृंहणीय वस्ति नही देनी चाहिये। जैसे कुष्ठी, प्रमेही तथा मेदस्वी प्रभृति पुरुषो को सदा विशोधनीय वस्ति देनी उचित है। इन्हे बृंहण वस्ति नही देनी चाहिये। इसी प्रकार क्षीण-क्षत-शोष रोगी तथा अत्यन्त दुर्बल पुरुष एव विशोधित पुरुष को विशोधनीय वस्ति देना उचित नही है। अर्थात् जो विशोधन के योग्य नहीं हैं, जैसे मूर्च्छा प्रभृति रोगो से पीडित तथा जिनकी आयु दोषो मे ही निबद्ध है अर्थात् वस्ति द्वारा दोष निर्हरण करने पर जिनका जीवन नष्ट हो सकता है, ऐसे पुरुषो को भी विशोधनीय वस्ति नही देनी चाहिये।[3]

---

१. 'देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे, ससनेहन वर्णबलप्रद च। न तैलदानात्परमस्ति किञ्चिद् द्रव्य विशेषेण समीरणार्ते॥ स्नेहेन रौक्ष्य, लघुना गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्य पवनस्य हत्वा। तैल ददात्याशु मन प्रसाद वीर्य बल वर्णमथाग्निपुष्टिम्॥ मूले निषिक्तो हि यथा द्रुम स्यान्नीलच्छद कोमलपल्लवाग्र्य। काले महान् पुष्पफलप्रदश्च, तथा नरा स्युरनुवासनेन॥' (च सि अ १)

२ 'उष्णाभिभूतेषु वदन्ति शीताच्छीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णात्। तत्प्रत्यनीकौषधसम्प्रयुक्तान् सर्वत्र वस्तीन् प्रविभज्य युञ्ज्यात्॥' (च सि अ १)

३ 'न बृंहणीयान् विदधीत बस्तीन्, विशोधनीयेषु गदेषु वैद्य।
कुष्ठप्रमेहादिषु मेदुरेषु, नरेषु ये चापि विशोधनीया॥
क्षीणक्षताना न विशोधनीयान्, न शोषिणा नो भृशदुर्बलानाम्।
न मूर्च्छिताना न विशोधिताना, येषा च दोषेषु निबद्धमायु॥' (च. सि अ १)

वस्ति-द्रव्य कटि, पार्श्व तथा कुक्षि एवं नाभि प्रदेश तक पहुंच कर मलो को विलोडित कर तथा शरीर को स्निग्ध कर मलसहित दोषो का निर्हरण करता है।[1]

## अनुवासन वस्ति

केवल शुद्ध वात से पीडित रूक्ष पुरुष को जिनकी अग्नि तीक्ष्ण है, अनुवासन वस्ति देनी चाहिये। कुष्ठ, प्रमेही, अतिस्थूल, तथा उदर रोगी अनुवासन देने योग्य नही होते। अजीर्ण, उन्माद, तृष्णा, शोक, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास, कास तथा क्षय से पीडित रोगियो को अनुवासन तथा निरूह दोनो प्रकार की वस्ति वर्जित है अर्थात् इन रोगो से पीडित पुरुष को वस्ति नही देनी चाहिये।[2]

शोधन अर्थात् वमन-विरेचन द्वारा अथवा निरूह द्वारा शोधित (शुद्ध) शरीर पुरुष को स्नेह वस्ति (अनुवासन वस्ति) देना ही हितकर होता है, क्योकि शुद्ध शरीर के स्रोत निर्मल रहते हैं जिससे स्नेह-द्रव्य अबाध रूप से स्रोतो मे पहुंच कर निःशेष दोष-निर्हरण कर जीवन प्रदान करता है अर्थात् आयु की वृद्धि करता है तथा शरीरोपचय, वर्ण, बल, आरोग्य तथा आयु की वृद्धि करता है।[3]

**अनुवासन वस्ति के प्रयोगकाल**—शीतकाल (हेमन्त और शिशिर) तथा वसन्त ऋतु मे स्नेह-वस्ति का प्रयोग दिन मे करना चाहिये। ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद्‌ऋतु मे अनुवासन वस्ति का प्रयोग रात्रि मे करना उचित है। अधिक स्निग्ध भोजन करा कर अनुवासन वस्ति का प्रयोग नही करना चाहिये क्योकि दो बार प्रयुक्त हुआ स्नेह मद तथा मूर्च्छा उत्पन्न कर सकता है। साथ ही अत्यन्त रूक्ष पदार्थों का भोजन करा कर वस्ति प्रयोग से भी बल तथा वर्ण की हानि होती है।[4]

---

१ 'नाभिप्रदेशं कटिपार्श्वकुक्षिं, गत्वा शकृद्दोषचयं विलोड्य। सस्नेह्य कायं सपुरीषदोषं, सम्यक् सुखेनैति च यः स वस्तिः ॥' (च सि. अ. १)

२ 'अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिली। नानुवास्यस्तु कुष्ठी स्यान्मेही स्थूलस्तथोदरी॥ नास्थाप्या नानुवास्याः स्युरजीर्णोन्मादतृट्‌युताः। शोकमूर्च्छा-रुचिभय-श्वासकास-क्षयातुराः॥' (शा उ अ. ५)

३ (i) 'निरूहशोधितान् मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति। अपेतसर्वदोषासु नालीष्विव वहज्जलम्॥ सर्वदोषहरश्चासौ शरीरस्य च जीवनः। तस्मा-द्विशुद्धदेहस्य स्नेहवस्तिर्विधीयते॥' (सु चि अ ३५)

(ii) 'शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः। कुरुते परिवृद्धिं च वस्तिः सम्यगुपासितः॥' (शा उ. ५-१५)

४ 'दिवा शीते वसन्ते च स्नेहवस्तिः प्रदीयते। ग्रीष्मवर्षाशरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनम्॥

वस्ति की हीन मात्रा मे प्रयोग मे उत्तम लाभ नही होता और अति मात्रा मे प्रयोग होने पर आनाह, ग्लानि, या क्लम तथा अतिसार की उत्पत्ति होती है।[1] अत वस्ति का प्रयोग उचित मात्रा मे ही करना चाहिये।

**अनुवासन की मात्रा**—उत्तम बल तथा अग्नि वाले पुरुष के लिये अनुवासन वस्ति की मात्रा ६ पल, मध्यम बल तथा अग्निवाले के लिये ३ पल, और हीन बल तथा अग्निवाले के लिये १½ पल की मात्रा देनी चाहिये।[2] इनके प्रयोग मे भी पहले दिन दो पल की मात्रा मे स्नेह का प्रयोग करना श्रेयस्कर है। इसके बाद एक दिन विश्राम देकर अर्धपल की मात्रा और बढा कर देनी चाहिये। इस क्रम मे ९ दिन मे स्नेह की पूर्ण मात्रा अर्थात् ६ पल की मात्रा पर लाना चाहिये। यही क्रम मध्यम मात्रा मे भी अनुसरण करना चाहिये अर्थात् प्रथम दिन १ पल स्नेह की मात्रा से प्रारम्भ कर एक दिन के अन्तर से एक-एक कर्ष की मात्रा बढानी चाहिये। तृतीय अर्थात् हीन मात्रा के प्रयोग मे भी प्रथम दिन २ कर्ष तदनन्तर एक दिन के अन्तर से आठ-आठ माषा की वृद्धि करनी चाहिये।[3]

**स्नेह वस्ति में सैंधव आदि द्रव्यों का प्रयोग**—अनुवासन वस्ति के स्नेह मे सौंफ तथा सेंधा नमक का सूक्ष्म चूर्ण कर यथाक्रम ६ माषा, ४ माषा और २ माषा, उत्तम, मध्यम तथा हीन मात्रा स्नेह वस्ति मे मिलाना हितकर है।[4]

विरेचन के पश्चात् सात दिन समाप्त हो जाने पर तथा शरीर मे बल के आ जाने पर भोजन कराकर अनुवासन योग्य पुरुष को यथाविधि अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। अनुवासन योग्य पुरुष को प्रथम तैलाभ्यङ्ग

---

न चातिस्निग्धमशन भोजयित्वानुवासयेत्।
मद मूर्च्छा च जनयेद्विधिस्नेह प्रयोजित.॥
रूक्ष भुक्तवतोऽत्यन्त बल वर्ण च हीयते।' (शा उ. अ ५)

१. 'हीनमात्रावुभौ वस्ती नातिकार्यकरौ स्मृतौ।
अतिमात्रौ तथाऽनाहक्लमातीसारकारकौ॥'

२. 'उत्तमस्य पलै षड्भिर्मध्यमस्य पलैस्त्रिभि.।
पलस्यार्धेन हीनस्य युक्ता मात्रानुवासने॥' (च उ अ ५)

३. 'अस्याभिप्रायमाह—यस्योत्तमा षट्पला मात्राऽर्हति तस्य द्विपल प्रथम देयम्। ततश्च दिनमेक विश्राम्य पलार्धेन वृद्धि, एव नवभिर्दिनै षट्पला मात्रा स्यात्। यस्य मध्यमा त्रिपला मात्रार्हति तस्य पलमेक प्रथम देयम् ततश्च कर्षेण वृद्धि', एव नवभिर्दिनैस्त्रिपला मात्रा स्यात्। कनीयसी यस्य मात्रा सार्धा पलमात्रान्विता तस्य प्रथममर्धपलोचितम्। ततो वृद्धिरष्टमाषकैरेव नवभिर्दिनै सार्धपल स्यात्।' (आढ्यमल्ल)

४. शा उ अ. ५-२१।

कराकर उष्णोदक से शनै शनै परिषेक स्नान करावे और तदनन्तर शास्त्र-विहित लघु भोजन कराकर थोडी देर घुमावे और पश्चात् मलमूत्र से निवृत्त कराकर स्नेह वस्ति का यथाविधि प्रयोग करे।

रोगी को वामपार्श्व (बायें करवट) लिटाकर बाँई जाँघ को फैला देवे और दाहिनी जांघ को सिकोड कर स्निग्ध किए हुए गुदमार्ग मे स्निग्ध किए हुए वस्तिनेत्र को प्रविष्ट करावे। वस्तिनेत्र के सम्यक् प्रविष्ट हो जाने पर वस्ति नेत्र की कर्णिका को घुमाकर खोल दे जिससे नलिका द्वारा वस्तिस्थित द्रव-द्रव्य गुदमार्ग मे आँतो मे चला जाय। इस (वस्ति देने के) काल मे रोगी को जँभाई लेना तथा खाँसना अथवा छींकना नही चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से वस्तिनेत्र गुदमार्ग से बाहर निकल जाता है।[1]

**सम्यग् अनुवासित के लक्षण**—जिसका अनुवासन द्वारा प्रविष्ट स्नेह-द्रव्य अपान वायु और मल के साथ विना किसी (दाह, पीडा आदि) उपद्रव के यथासमय बाहर निकल आवे उसका अनुवासन उचित रूप मे हुआ समझना चाहिये। अनुवासित मनुष्य का स्नेह जब उचित समय से बाहर निकल आवे तब पूर्व भुक्तान्न के जीर्ण हो जाने पर तथा क्षुधोदय (भूख लगने) होने पर सायंकाल यथेष्ट लघु भोजन करावे।[2]

अनुवासित पुरुष को दूसरे दिन धनिया और सोंठ शृत कोष्ण (सुखोष्ण) जल तथा केवल सुखोष्ण जल स्नेहविकार-शान्त्यर्थ पिलावे। वस्तिप्रयोग के बाद कुछ काल पर्यन्त अनुवासित रोगी को हाथ-पैर फैला कर सुला देवे जिससे स्नेह का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाय। तदनन्तर रोगी की हथेली तथा तलवो को शनै. शनै· दबावे अथवा मुक्की लगावे। इसी प्रकार उसके श्रोणि प्रदेश को भी दबावे। तत्पश्चात् पैर पकड़ कर श्रोणि प्रदेश को ऊँचा उठावे, इत्यादि।[3]

---

१ 'विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातबलाय च।
भुक्तान्नायानुवास्याय वस्तिर्देयोऽनुवासन ॥' (शा उ अ ५)

२ 'सानिल. सपुरीषश्च स्नेह प्रत्येति यस्य वै।
उपद्रवं विना शीघ्र स सम्यगनुवासित ॥
जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुन·।
लघ्वन्न भोजयेत्काम दीप्ताग्निस्तु नरो यदि ॥
अनुवासिताय देय स्यादितरेऽह्नि सुखोदकम्।
धान्यशुण्ठीकषायो वा स्नेहव्यापत्तिनाशनम् ॥' (शा उ अ ५)

३ 'प्रसारितै सर्वगात्रैर्यथा वीर्यं प्रसर्पति।
ताडयेत्तलयोरेन त्रीन् वारांश्च शनै· शनै ॥
स्फिचोश्चैव तत श्रोणिं शय्या चैवोत्क्षिपेत्तत·।
जाते विधाने तु तत कुर्यान्निद्रां यथासुखम् ॥' (शा उ. अ ५)

**वस्ति प्रयोग की संख्या**—इस उपर्युक्त विधान से ६, ७, ८ अथवा ९ वस्तियो का प्रयोग यथावश्यक करना चाहिये। इनके बीच-बीच मे निरूह वस्ति का यथाविधि प्रयोग करना श्रेयस्कर है।[1]

**वस्ति संख्या के गुण**—प्रथम वस्तिप्रयोग वस्ति और वक्षण प्रदेश को स्निग्ध करता है। द्वितीय सम्यक् प्रयुक्त वस्ति शिर स्थित प्रकुपित वायु को शान्त करता है। तृतीय वस्ति के सम्यक् प्रयोग से बल तथा वर्ण की वृद्धि होती है। चौथी तथा पांचवी वस्ति से रस तथा रक्त धातु का स्नेहन होता है। छठी वस्ति से मास तथा सातवें से मेद धातु का स्नेहन होता है। आठवी तथा नवी वस्ति अस्थि तथा मज्जा को स्निग्ध करती है।

इन से द्विगुण अर्थात् १८ वस्तियो के प्रयोग से वीर्यगत दोष शान्त होते हैं। जो मनुष्य ३६ बार यथाविधि वस्ति का प्रयोग करता है वह हाथी की तरह बलवान् और घोडे के समान वेगवान तथा देवताओ की भी कान्ति वाला हो जाता है।[2]

रूक्ष तथा अधिक वातयुक्त पुरुष को प्रतिदिन स्नेह वस्ति देनी चाहिये। परन्तु स्निग्ध पुरुष को अग्निमान्द्य के भय से प्रतिदिन न दे कर तीन दिन पर स्नेह वस्ति देनी चाहिये। कारण रूक्ष पुरुष को अल्प मात्रा में स्नेह वस्ति प्रतिदिन दीर्घकाल तक देने पर भी कोई व्यापत्ति नही होती। इसी प्रकार स्निग्ध पुरुषो को अल्प मात्रा मे निरूह वस्ति दीर्घ काल तक देने पर भी कोई व्यापत्ति नहीं होती।[3]

**स्नेह के तत्काल निकल जाने पर यत्न**—अनुवासन वस्ति मे प्रयुक्त स्नेह यदि मल के बिना तत्काल ही बाहर निकल आवे तब उस पुरुष को पुन. अल्प स्नेह युक्त वस्ति दुबारा देनी चाहिये। क्योकि स्नेह जब तक कुछ काल तक अन्दर नही ठहरता तब तक उचित प्रकार से आंतो का स्नेहन नहीं होता।[4]

---

१. 'अनेन विधिना षट् वा सप्त चाष्टौ नवापि वा।
विधेया वस्तयस्तेषामन्तरा तु निरूहणम्॥' (शा उ अ ५)

२ 'दत्तस्तु प्रथमो वस्ति स्नेहयेद् वस्तिवंक्षणौ।
सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्थमनिल जयेत॥
बल वर्ण च जनयेत्तृतीयस्तु प्रयोजित ।
चतुर्थपञ्चमौ दत्तौ स्नेहयेता रसासृजौ॥
षष्ठो मास स्नेहयति सप्तमो मेद एव च।
अष्टमो नवमश्चास्थि मज्जान च यथाक्रमम्॥
एव शुक्रगतान् दोषान् द्विगुण साधु साधयेत्।
अष्टादशाष्टादशकान् वस्तीना यो निषेवते॥
स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवेस्तुल्योऽमरप्रभु.॥' (शा उ अ. ५)

३. शा उ अ ५-३९ ४०, ४ शा उ अ ५-४१;

**स्नेह के न निकलने पर उपद्रव तथा उसका प्रतिकार**—वमन विरेचन द्वारा जिसकी शुद्धि न की गई हो ऐसे पुरुष को प्रयुक्त हुआ अनुवासन स्नेह जब मल के साथ मिल जाता है तब वाहर निकलता नही। ऐसी दशा मे अनुवासित पुरुष को शैथिल्य, आध्मान, शूल तथा श्वासकष्ट उत्पन्न हो जाते है और पक्वाशय मे भारीपन का अनुभव होता है। ऐसी स्थिति मे तीक्ष्ण विरेचन औषधियो से युक्त निरूह वस्ति का प्रयोग करना उचित है। अथवा तीक्ष्ण विरेचन औषधियो से युक्त फलवर्त्ति का प्रयोग करना चाहिये जिससे वायु का अनुलोमन होकर मल तथा स्नेह वाहर निकल आवे। ऐसी परिस्थिति मे तीव्र विरेचन तथा तीक्ष्ण नस्य भी प्रशस्त है।[1] परन्तु यदि रूक्षता के कारण अनुवासन वस्ति मे प्रयुक्त स्नेह सम्पूर्ण रूप से वाहर न निकल आवे अर्थात् थोडा निकले पर कोई उपद्रव न हो तो चिकित्सक को उसकी उपेक्षा करनी चाहिये।[2]

**अहोरात्र मे स्नेह न निकलने पर यत्न**—अनुवासन वस्ति मे प्रयुक्त स्नेह यदि २४ घन्टे के अन्दर वाहर न निकल आवे तब उसे शोधन वस्ति देकर निर्हरण का प्रयत्न करना चाहिये। क्योकि वस्ति मे प्रयुक्त स्नेह के वाहर न निकलने पर पुन स्नेह वस्ति का प्रयोग निषिद्ध है।[3]

**वस्ति व्यापद् और उनकी चिकित्सा**—वस्ति कर्म के दूषित हो जाने मे ७६ प्रकार की व्यापत्तियाँ होती हैं जिनका प्रतिकार करना आवश्यक है।[4]

## वस्ति-व्यापत्तियाँ :—

१ **नेत्रप्रणिधानजन्य**—६ व्यापत्तियाँ होती हैं—जैसे—(१) नेत्रचालित, (२) नेत्रविवर्त्तित, (३) नेत्रपार्श्वपीडित, (४) नेत्रात्युत्क्षिप्त, (५) नेत्रावसन्न और (६) तिर्यक्क्षिप्तनेत्र।

२. **नेत्रदोष**—११ प्रकार के होते हैं यथा—(१) अतिस्थूल, (२) कर्कश, (३) अवनत, (४) अणु, (५) भिन्न, (६) सन्निकृष्ट, (७) विप्रकृष्ट-कर्णिक, (८) सूक्ष्म, (९) अतिच्छिद्र, (१०) अतिदीर्घ और (११) अतिह्रस्व।

३ **वस्तिदोष**—५ प्रकार के होते हैं यथा—(१) वहुलता, (२) अल्पता, (३) सच्छिद्रता, (४) प्रस्तीर्णता और (५) दुर्वद्धता।

४ **वस्तिपीडन दोष**—४ प्रकार के होते हैं यथा—(१) अतिपीडनता, (२) शिथिलपीडनता, (३) भूयोभूयोवपीडनता और (४) कालातिक्रम।

५ **द्रव्य दोष**—११ प्रकार के होते हैं जैसे—(१) आमता, (२)

---

१ शा उ. अ ५–४२, ४३, ४४, २ शा उ अ ५–४५,
३ ,, ,, ,, ६६, ४ सु चि अ ३७,

हीनता, ( ३ ) अतिमात्रता, ( ४ ) अतिशीतता, ( ५ ) अतिउष्णता, ( ६ ) अतितीक्ष्णता, ( ७ ) अतिमृदुता, ( ८ ) अतिस्निग्धता, ( ९ ) अतिरूक्षता, ( १० ) अतिसान्द्रता तथा ( ११ ) आतद्रवता।

**शय्या दोष**—७ प्रकार के होते हैं जैसे—( १ ) अवाक्शीर्ष, (२) उच्छीर्ष, ( ३ ) न्युब्जशीर्ष, ( ४ ) उत्तानशीर्ष, ( ५ ) संकुचित, ( ६ ) देहस्थितता तथा ( ७ ) दक्षिणपार्श्वशायी।

ये उपर्युक्त ४४ व्यापत्तियाँ वैद्य की असावधानी से होती हैं।[1] इनके अतिरिक्त रोगी के कारण भी १५ व्यापत्तियाँ होती है जो इस प्रकार हैं[2] —( १ ) क्रोध, ( २ ) आयास, ( ३ ) शोक, ( ४ ) मैथुन, ( ५ ) दिवास्वप्न, ( ६ ) उच्चसम्भाषण, ( ७ ) यानायान, ( ८ ) चिरासन, ( ९ ) अतिचक्रमण, ( १० ) शीतोदकसेवन, ( ११ ) चिरस्थान, ( १२ ) वातातप सेवन, ( १३ ) विरुद्धाध्यशन, ( १४ ) असात्म्यभोजन और ( १५ ) अप्रमाण भोजन।

इसी प्रकार वस्तिप्रयुक्त स्नेह निम्नलिखित आठ दोषो से बाहर निकल आते हैं जैसे—( १ ) तीनो दोषो के विकारवश, ( २ ) अर्शसाभिभूत होने से, ( ३ ) मलव्यामिश्र होने से, ( ४ ) दूरानुप्रविष्ट होने से, ( ५ ) अस्विन्न होने से, ( ६ ) अनुष्ण होने से, ( ७ ) अल्पभोजन से तथा ( ८ ) अल्पस्नेह से।

इनके अतिरिक्त वैद्य की असावधानी से ९ व्यापत्तियाँ और होती हैं जैसे—( १ ) अयोग, ( २ ) आध्मान, ( ३ ) परिकर्त्तिका, ( ४ ) परिस्राव, ( ५ ) प्रवाहिका, ( ६ ) हृदयोपसरण, ( ७ ) अङ्गग्रह, ( ८ ) अतियोग और ( ९ ) जीवादान।

इस प्रकार कुल मिलकर ७६ व्यापत्तियाँ होती हैं जिनमे ४४ + ९ = ५३ व्यापत्तियाँ वैद्य की असावधानी के कारण, १५ व्यापत्तियाँ रोगी की असावधानी से तथा ८ व्यापत्तियाँ आहार-विहार तथा दोषो के कारण होती हैं।[3] अतः चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह सावधानी से वस्ति का प्रयोग करे तथा प्रमादरहित हो वस्ति, वस्तिनेत्र, वस्तिद्रव्य, शय्या आदि की परीक्षा व्यवहार करने के पूर्व सर्वतोभावेन कर ले। साथ ही प्रयोगकाल मे वस्तिप्रणिधान, वस्तिपीडन मे भी सतर्क रहे जिससे उक्त दोष न आने पावे। जिस पुरुष को वस्ति देनी हो उसे भली भाँति समझा देवे और उक्त दोषो के लिये सावधान कर दे।

---

१. सु चि. अ ३६; २ सु चि अ ३६,
३ सु चि अ ३६,

**अनुवासन वस्ति में पथ्य विधान**—स्नेह पान के प्रकरण मे जो अन्न, पान ( आहार ), विहार तथा परिहार वतलाये गये है वे सब अनुवासन वस्ति के प्रयोग मे भी करना चाहिये ।[1]

## निरूह वस्ति

अनेक कारणों से निरूहवस्ति के अनेक भेद होते हैं तथा उन कारणों के अनुसार ही उनके नाम भी विभिन्न प्रकार के दिये गए हैं। निरूहवस्ति को आस्थापन वस्ति भी कहते हैं। दोष तथा धातुओ को अपने-अपने स्थान मे स्थापित करने के कारण इसकी सज्ञा 'आस्थापन' हुई है।[2]

**निरूहवस्ति की मात्रा**—निरूहवस्ति की उत्तम मात्रा १½ प्रस्थ की होती है। मध्यम मात्रा एक प्रस्थ की तथा हीन मात्रा तीन कुडव की मानी गई है।[3]

**निरूहवस्ति के योग्य पुरुष**—वातव्याधि, उदावर्त, वातरक्त, विषम-ज्वर, मूर्च्छा, तृष्णा, उदररोग, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, रक्तप्रदर, मन्दाग्नि, प्रमेह, शूल, अम्लपित्त और हृद्रोग इन रोगो से पीडित व्यक्ति को यथाविधि निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिये।[4]

**निरूहवस्ति के अयोग्य पुरुष**—अतिस्निग्ध, उत्क्लिष्ट ( वमनोन्मुख ), दोषयुक्त, उर क्षत के रोगी, कृश तथा आध्मान, वमन, हिक्का, अर्श, कास, श्वास, गुदशोथ, अतिसार, विसूचिका तथा कुष्ठ से पीडित रोगी, गर्भिणी, मधुमेह तथा जलोदर रोगी को निरूहवस्ति का प्रयोग नही करना चाहिये।[5]

---

१ 'पानाहारविहाराश्च परिहारश्च कृत्स्नश. ।
स्नेहपानसमा. कार्या नात्र कार्या विचारणा ॥' ( शा उ अ ५ )

२ 'निरूहवस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणान्तरै. ।
तैरेव तस्य नामानि कृतानि मुनिपुङ्गवै ॥
निरूहस्यापर नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधै ।
स्वस्थानस्थापनाद्दोषधातूना स्थापन मतम् ॥' ( शा उ अ ६ )

३ 'निरूहस्य प्रमाण तु प्रस्थ पादोत्तर मतम् ।
मध्यम प्रस्थमुद्दिष्ट हीन च कुडवत्रयम् ॥' ( शा उ अ. ६ )

४, 'वातव्याधावुदावर्ते वातासृग्विषमज्वरे ।
मूर्च्छातृष्णोदरानाह-मूत्रकृच्छ्राश्मरीषु च ॥
वृद्ध्यसृग्दरमन्दाग्निप्रमेहेषु निरूहणम् ।
शूलेऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद्विधिवद् बुध ॥' ( शा उ अ. ६ )

५ शा उ. अ ६,

**निरूहवस्ति देने की विधि**—स्निग्ध, स्विन्न तथा अभुक्त अर्थात् जिसका स्नेहन और स्वेदन आदि विधि सम्पन्न हो गया हो तथा जो भोजन न किया हो ऐसे पुरुष को मल, मूत्र तथा अधोवायु का त्याग कर लेने के पश्चात् मध्याह्न काल में घर के भीतर यथायोग्य निरूहवस्ति का प्रयोग करे। निरूहवस्ति के प्रयोगानन्तर रोगी को निरूहवस्ति में प्रयोग किए गये द्रव्य के बाहर निकलने के लिये मुहूर्त्त भर ( दो घडी ) ऊकुडू बैठना चाहिये। मुहूर्त्त भर में निरूह-प्रयुक्त क्वाथादि बाहर न निकल आवे तो शोधन करने वाले क्षार, मूत्र अम्लरस तथा सेंधा नमक आदि से निर्मित निरूहवस्ति का पुन प्रयोग करे जिसमे निरूहप्रयुक्त द्रव्य बाहर निकल आवे।[1]

**सम्यक् निरूह के लक्षण**—निरूहवस्ति देने के बाद जिस पुरुष के मल, पित्त, कफ तथा अधोवात क्रमश. बाहर निकल आवे, शरीर में हलकापन ( लघुता ) का अनुभव होवे तो समझे कि निरूहवस्ति सम्यक् हुई है।[2]

**दुर्निरूढ के लक्षण**—जिस निरूहवस्ति के प्रयोगानन्तर वेग कम होने के कारण वायु ( अधोवात ) तथा मल न्यून मात्रा मे बाहर निकले, मूत्रोत्सर्ग मे पीडा हो, शरीर मे जडता तथा अरुचि होवे उसको निरूहवस्ति का उचित प्रयोग न हुआ अर्थात् दुर्निरूह समझे।[3]

आस्थापन ( निरूह ) तथा स्नेहवस्ति ( अनुवासन ) दोनो के उचित ( सम्यक् ) प्रयोग होने पर एकान्तप्रियता, मन की प्रसन्नता, शरीर मे स्निग्धता, व्याधिनाश, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस ( उपर्युक्त ) विधि से निरूहवस्ति का प्रयोग आवश्यकतानुसार दो, तीन अथवा इससे भी अधिक बार करना चाहिये।

**दोषानुसार निरूहवस्ति के प्रयोग**—वात विकार मे स्नेहयुक्त एक वस्ति, पित्त विकार मे दूध के साथ दो वस्ति तथा कफ के विकार मे कषाय,

---

१ 'उत्सृष्टानिलविण्मूत्र स्निग्ध स्विन्नमभोजिनम्।
मध्याह्ने गृहमध्ये च यथायोग्य निरूहयेत॥
स्नेहवस्तिविधानेन बुध. कुर्यान्निरूहणम्।
जाते निरूहे च ततो भवेदुत्कटकासन.।
तिष्ठेन्मुहूर्त्तमात्र च निरूहागमनेच्छया॥
अनायाते मुहूर्त्ते तु निरूह शोधनैर्हरेत्।
निरूहैरेव मतिमान् क्षारमूत्राम्लसैन्धवै॥' ( शा उ अ ६ )

२ 'यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायव।
लाघव चोपजायेत सुनिरूढ तमादिशेत्॥' ( शा उ अ ६ )

३ 'यस्य स्याद् वस्तिरल्पाल्पवेगो हीनमलानिल.।
मूत्रार्तिजाड्यारुचिमान् दुर्निरूढ तमादिशेत्॥' ( शा उ अ. ६ )

कटु तथा रुक्षादि औषधियों से निर्मित कोष्ण क्वाथ की तीन ( निरूह ) वस्ति देनी चाहिये।[1]

**पथ्य व्यवस्था**—पित्त, कफ और वात विकार से युक्त पुरुष को निरूह वस्ति देने के बाद क्रमश ( पित्तविकार मे ) दूध, ( कफविकार मे ) यूष तथा ( वातविकार मे ) मांसरस के साथ भात खिलाकर आवश्यकतानुसार अनुवासन का प्रयोग करना चाहिये।[2]

सुकुमार ( कोमलाङ्ग पुरुष ), वृद्ध तथा बालक को सदा मृदु निरूहवस्ति का ही प्रयोग प्रशस्त है। क्योंकि तीक्ष्ण वस्ति के प्रयोग से इनके बल तथा आयु का ह्रास होता है।[3]

**निरूहवस्ति के प्रकार**—कर्मभेद से निरूहवस्ति अनेक प्रकार के होते है। जैसे—( १ ) उत्क्लेशनवस्ति ( २ ) दोषहरवस्ति, ( ३ ) शोधनवस्ति, ( ४ ) शमनवस्ति ( ५ ) लेखनवस्ति, ( ६ ) बृंहणवस्ति ( ७ ) पिच्छावस्ति इत्यादि। सर्वप्रथम दोषों को उत्क्लिष्ट करने के लिये उत्क्लेशन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। तदनन्तर दोषहर तथा शोधनवस्ति का प्रयोग कर अन्त में शमनवस्ति का प्रयोग करना श्रेयस्कर है। लेखन, बृंहण तथा पिच्छा या पिच्छिल वस्ति का प्रयोग यथावश्यक करना चाहिये।[4]

वस्तिप्रयोग मे इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि जिसको वस्ति का प्रयोग किया गया हो उसे उष्ण जल का ही पान तथा स्नान मे व्यवहार करना उचित है. दिवास्वप्न तथा अजीर्णजनक भोजन उसको कदापि नही करना चाहिये। निरूहवस्ति मे भी स्नेहवस्ति-निर्दिष्ट सभी आचरण अभीष्ट हैं।[5]

**निरूहवस्ति में द्रव्यों का परिमाण**—सर्वप्रथम सैंधानमक १ कर्ष

---

१ समूत्र( ? ) एरु पवने, पित्त द्वौ पयसा सह।
कषायकटुरूक्षाश्च कफे कोष्णास्त्रयो मता ॥ ( शा उ अ ६ )

२ पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात्।
निरूढं भोजयित्वा च ततस्तमनुवासयेत् ॥ ( शा उ अ ६ )

३ 'सुकुमारस्य वृद्धस्य बालस्य च मृदुर्हित।
वस्तिस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु तेषां हन्याद् बलायुषी ॥' ( शा उ अ ६ )

४ 'दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं ततः।
पश्चात् संशमनीयं च दद्याद् वस्तिं विचक्षणः ॥' ( शा उ अ ६ )

५ 'स्नानमुष्णोदकैः कुर्याद् दिवास्वप्नमजीर्णताम्।
वर्जयेदपर सर्वमाचरेत्स्नेहवस्तिवत् ॥' ( शा

और मधु ४ पल, इन दोनो को मिलाकर मथ ले तथा इसमे ६ पल स्नेह मिलाकर एक कर लेवे और इसमे २ पल अपेक्षित कल्क मिलावे। इन सबके खूब मिल जाने पर अपेक्षित क्वाथ आठ पल मिलावे। पुन इन सबको खूब मथ ले और निरूहवस्ति का कुशल वैद्य विधिवत् प्रयोग करे। वातविकार मे मधु ४ पल तथा स्नेह ६ पल, पित्तविकार मे मधु ४ पल और स्नेह ३ पल, तथा कफविकार मे मधु ६ पल और स्नेह ४ पल निरूहवस्ति के लिये ग्रहण करना चाहिये।[1]

## उत्तरवस्ति

उत्तरवस्ति की नली १२ अङ्गुल लम्बी होनी चाहिये। उसके बीच मे कर्णिका (वस्तिनिबन्धन) बनानी चाहिये। नली की आकृति मालतीपुष्प की डण्डी के समान मोटी और उसका छिद्र सरसों निकल सके इस प्रमाण का होना चाहिये।[2]

**उत्तरवस्ति मे स्नेह की मात्रा**—पच्चीस वर्ष से नीचे की आयु वाले पुरुष के लिये उत्तरवस्ति मे स्नेह की मात्रा १ कर्ष की होनी चाहिये। इससे ऊपर की आयु मे स्नेह की मात्रा एक पल तक कही गई है।[3]

**उत्तरवस्ति का विधान**—आस्थापन से शुद्ध तथा स्नान और भोजन से तृप्त मनुष्य को जानुप्रमाण ऊँचे आसन पर बिठा कर स्निग्ध शलाका से मार्ग का अन्वेषण कर मेढ्रमार्ग मे उत्तरवस्ति के स्निग्ध नेत्र को शनैः शनैः प्रवेश करे। उत्तरवस्ति-नेत्र का ६ अङ्गुल प्रमाण तक ही प्रवेश करावे। तत्पश्चात् धीरे-धीरे वस्तियन्त्र को दबावे स्नेह के प्रविष्ट हो जाने पर धीरे-धीरे वस्तिनेत्र को निकाल लेवे। पश्चात् यथासमय स्नेह के बाहर निकल जाने पर

---

१ 'दत्त्वादौ सैन्धवस्याक्ष मधुनः प्रसृतिद्वयम्।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम्॥
एकीभूते तत स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत्।
सम्मूर्च्छिते कषाय तु चतु प्रसृतिसम्मितम्॥
क्षिप्त्वा विमथ्य दद्याच्च निरूह कुशलो भिषक्।
वाते चतुष्पल क्षौद्र दद्यात्स्नेहस्य षट्पलम्॥
पित्ते चतुष्पल क्षौद्र स्नेह दद्यात्पलत्रयम्।
कफे च षट्पल क्षौद्र क्षिपेत्स्नेह चतुष्पलम्॥' (शा उ अ ६)

२ शा उ अ ७-१; ३. शा उ. अ. ७-२,

स्नेहवस्ति ( अनुवासन ) मे प्रतिपादित आहार-विहार का क्रम पालन करे।[1]

**स्त्रियों को उत्तरवस्ति देने की विधि**—स्त्रियो के लिये उत्तरवस्ति का नेत्र ( नली ) कनिष्ठिका अङ्गुली के समान मोटा और दश अगुल लम्बा तथा मूँग प्रवेश योग्य छिद्र वाला होना चाहिये। यह योनि के अन्दर ४ अगुल तक प्रविष्ट किया जाना चाहिये। मूत्रमार्ग के लिये वस्तिनेत्र पतला होना चाहिये और २ अगुल तक मूत्रमार्ग मे प्रविष्ट किया जाना चाहिये।[2]

**वालकों के उत्तरवस्ति का प्रमाण**—मूत्रकृच्छ्र रोग मे वालको के मूत्रमार्ग मे एक अगुल लम्बी सूक्ष्म ( पतली ) नलो को पूर्ण सावधानी मे शनै शनै हाथ न हिले इसका ध्यान रखते हुए प्रवेश करना चाहिये।[3]

**स्त्रियो तथा वालको मे उत्तरवस्ति के लिये स्नेह की मात्रा**—स्त्रियो के योनिमार्ग मे यदि उत्तरवस्ति का प्रयोग करना हो तो स्नेह की मात्रा २ पल और यदि मूत्रमार्ग मे देना हो तो स्नेह की मात्रा १ पल लेनी चाहिये। वालको के मूत्रमार्ग मे देने के लिये स्नेह की मात्रा २ कर्ष तक लेनी चाहिये।[4]

**उत्तरवस्ति देने की विधि**—स्त्री को सीधे ( उत्तान ) लेटा कर तथा घुटने ऊपर को उठवा कर यथावश्यक योनि तथा मूत्रमार्ग मे उत्तरवस्ति का प्रयोग करें। यदि उत्तरवस्ति का स्नेह लौट कर बाहर न आवे तो शोधन द्रव्यो से युक्त उत्तरवस्ति का पुन प्रयोग करे। अथवा सूत से निर्मित तथा चिकनी एवं शोधन द्रव्यो से युक्त सुदृढ फलवर्ती योनिमार्ग मे लगानी चाहिये। फलवर्ती के लगाने से यदि दाह उत्पन्न हो जावे तो क्षीरी-वृक्षो के त्वक् के क्वाथ की अथवा शीतल जल की उत्तरवस्ति का प्रयोग करना चाहिये। उत्तर-

---

१ 'आस्थापन-विशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजन।
स्थितस्य जानुमात्रे च पीठेऽन्विष्य शलाकया॥
स्निग्धया मेढ्रमार्गं च ततो नेत्रं नियोजयेत्।
शनै. शनैर्घृताभ्यक्तं मेढ्ररन्ध्रेऽङ्गुलानि षट्॥
ततोऽवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत्।
तत प्रत्यागते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हित॥' ( शा उ अ ७ )

२. 'स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलनेत्रं कुर्याद्दशाङ्गुलम्।
मुद्गप्रवेशयोग्यं च योन्यन्तश्चतुरङ्गुलम्॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत्।' ( शा उ अ ७ )

३ शा उ. अ. ७-८;

४ 'योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालिकी।
मूत्रमार्गे पलोन्माना वालाना च द्विकार्षिकी॥' ( शा उ अ ७ )

वस्ति पुरुषो के शुक्रविकार तथा स्त्रियो के ऋतुसम्बन्धी रोगो को नष्ट करता है। प्रमेह के रोगियो को उत्तरवस्ति का प्रयोग निषिद्ध है।[1]

**उत्तरवस्ति के गुण दोष**—सम्यक् प्रदत्त वस्ति के लक्षण तथा असम्यक् उत्तरवस्ति की व्यापत्तियाँ तथा उनका प्रतिकार स्नेहवस्ति के समान होते हैं।[2]

**फलवर्ति**—घृताभ्यक्त गुदा मे रोगी के अगुष्ठ प्रमाण मोटी तथा मल को प्रवृत्त करने वाली वर्ति के प्रयोग को फलवर्ति कहते हैं। यह फलवर्ति मल को प्रवृत्त कराती है।[3]

अनुवासनवस्ति मे प्रयुक्त होने वाले स्नेहो की सूची—

१ **गुडूच्यादि तैल**—( शा उ अ ५ ) गिलोय, एरण्डमूल की त्वचा, करञ्जत्वक्, नारगी, अडूसा, रोहिषतृण, शतावरी, पियावासा और कौआठोठी, प्रत्येक द्रव्य चार तोला तथा उडद, अलसी, वेर और कुलथी प्रत्येक ८ तोला प्रमाण लेवे। इन सब द्रव्यो को जौखड कर ४ द्रोण जल मे पकावे। जब एक द्रोण शेष रह जाय तब उतार कर छान लेवे। इस क्वाथ के साथ एक आढक मूर्च्छित तैल ( तिलतैल ) तथा जीवनीयगण के द्रव्य प्रत्येक ८ तोला प्रमाण से बने कल्क के साथ यथाविधि तैल सिद्ध करे। सिद्ध हो जाने पर उतार कर छान लेवे और यथावश्यक अनुवासनवस्ति मे इस तैल का उपयोग करे। इसके उपयोग से सब प्रकार के वातविकार शान्त होते हैं।

२ **दशमूलादि तैल**—( च सि ४ ) इसको बिल्वादि तैल भी कहते हैं। दशमूल, वला, रास्ना, अश्वगन्ध, पुनर्नवा, गुडूची, एरण्ड, गन्धतृण, भारगी, अडूसा, रोहिषतृण, शतावरी, सहचर ( पियावासा ), कौआठोढी प्रत्येक १ पल, जौ, कुलथी, उडद, अलसी वेर प्रत्येक २ पल लेकर जौखड कर ले और ४ द्रोण जल मे पकावे। जब चतुर्थांश शेष रह जावे तब उतार कर छान लेवे। इस क्वाथ मे तथा जीवनीयगणोक्त औषध द्रव्यो के कल्क ( प्रत्येक द्रव्य १ पल की मात्रा मे लेकर कल्क बनावे ) तथा स्नेह के समान मात्रा मे गाय का दूध लेकर यथाविधि १ आढक तिलतैल का पाक करे। सिद्ध हो जाने पर तैल को

---

१. शा उ अ ७-१० से १३,

२ 'सम्यग् दत्तस्य लिङ्गानि व्यापद. क्रम एव च। वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानं स्नेहवस्तिना ॥' ( शा उ अ ७ )

३ 'घृताभ्यक्ते गुदे क्षेप्या श्लक्ष्णा स्यादङ्गुष्ठसन्निभा। मलप्रवर्तिनी वर्ति: फलवर्तिश्च सा स्मृता ॥' ( शा उ. अ. ७ )

उतार कर छान लेवे। इस सिद्ध तैल का यथावश्यक अनुवासनबस्ति मे प्रयोग करे। इसके प्रयोग से सब प्रकार के वातव्याधि नष्ट होते हैं।

३ **शताह्वादि तैल**—( च० सि० अ० ४ ) शताह्वा ( सौफ ), जौ, बिल्व की छाल, इनका यथाविधि क्वाथ एवं कल्क तैयार कर अम्लो ( काञ्जिको ) के योग से यथाविधि तैल सिद्ध करे और इनका अनुवासनवस्ति मे यथावश्यक प्रयोग करे। यह सब प्रकार के वात-विकार मे लाभ करता है।

४. आनूप पशुओ की वसा को दशमूलादि मे उक्त क्वाथ्य द्रव्यो के क्वाथ तथा जीवनीयगण के औषधो के कल्क मे यथाविधि तैल सिद्ध करे और उसका अनुवासनवस्ति मे यथावश्यक प्रयोग करे। इसके प्रयोग से वात-विकार शान्त होते हैं।[1]

५. सेधा नमक से सिद्ध किया हुआ घृत भी अनुवासनवस्ति मे प्रयोग किया जाता है। इससे भी वात-विकार मे लाभ होता है।[2]

६ **चन्दनादि घृत**—यथालाभ ज्वरोक्त चन्दनादि तैल के द्रव्यो के कल्क तथा चतुर्गुण क्षीर से यथाविधि सिद्ध घृत को चतुर्थांश, तैल के साथ अनुवासनवस्ति मे प्रयोग करने से पित्तविकार शान्त होते हैं।[3]

७ **जीवन्त्यादि यमक**—( च० सि० अ० ४ ) जीवन्ती, मैनफल, मेदा, श्रावणी ( मुण्डी ), मुलेठी, बला, सौंफ, ऋषभक, कृष्णा ( पिप्पली ), कौआ-ठोठी, शतावर, कौंचबीज, क्षीरकाकोली, काकड़ाश्रृङ्गी, कचूर, वच, इन द्रव्यो के कल्क तथा स्नेह के चतुर्गुण दूध से यथाविधि सिद्ध घृत और तैल ( यमक ) का अनुवासनार्थ प्रयोग करने से शरीर का बृंहण होता है। वात तथा पित्त के विकार नष्ट होते है। बल, अग्नि तथा शुक्र की वृद्धि होती है। मूत्रदोष, शुक्रदोष तथा आर्त्तवदोष नष्ट होते हैं।

८ **सैन्धवादि तैल**—( च० सि० अ० ४ ) सेधानमक, मैनफल, कूठ, सौंफ, अम्लवेत, वच, सुगन्धवाला, मुलेठी, भार्गी, देवदारु, कायफल, सोठ, पुष्करमूल, मेदा, चाभ, चित्रक, कचूर, विडग, अतीस, त्रिवृत्, हरेणु, नीलिनी, शालपर्णी, बिल्व, अजमोदा, पिप्पली, दन्ती तथा रास्ना, इनके कल्क से यथाविधि सिद्ध एरण्डतैल का अनुवासन कफविकार को शान्त करता है।

९. **विडंगादि अनुवासन**—( च० सि० अ० ४ ) वायविडग, एरण्ड-मूल, हलदी, पटोलपत्र, त्रिफला, गुडूची, चमेली की पत्ती, निर्गुण्डी, दशमूल,

१. च. सि. स्था. अ ४, २ च सि स्था अ ४, ३ च सि अ ४,

मूसाकानी, निम्ब, पाठा, कटसरैया, अमलतास की छाल, कनेर, इन द्रव्यो का यथाविधि क्वाथ बनावे। मैनफल, विल्व, त्रिवृत्, श्यामा, रास्ना, भूनिम्ब, देवदारु, सप्तपर्ण, वच, उशीर, दारुहरिद्रा, कूठ, इन्द्रजौ, मजीठ, हरिद्रा, सौंफ, चित्रक, कचूर, शखपुष्पी, पुष्करमूल, इनका यथाविधि कल्क बनावे। इन उपर्युक्त क्वाथ तथा कल्को से यथाविधि तिलतैल सिद्ध करें। इस तैल के अनुवासन मे सब प्रकार के कुष्ठ, क्रिमि, प्रमेहविकार, अर्श तथा ग्रहणीविकार नष्ट होते हैं। इसके प्रयोग से नपुमकता, विषमाग्नि तथा तीनो दोषो के विकार शान्त होते है। पान तथा अभ्यग दोनो मे इसका व्यवहार होता है। स्नेहवस्ति के प्रयोग से व्याधि-व्यायाम-अध्व इनके कारण जो बल तथा ओज का क्षय होता है, उसकी पूर्त्ति होती है। क्षीणशुक्र पुरुषो के लिये यह ( अनुवासन ) अत्यन्त उपयोगी है। इसके प्रयोग से पाद, जघा, ऊरु, पृष्ठ, अस तथा कटि मे पर्याप्त स्थिरता आती है तथा जिन स्त्री-पुरुषो को सन्तान नही है उन्हे सन्तान-लाभ होता है।

## निरूहवस्ति के कुछ योग

१ **उत्क्लेशन वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–१० ) एरण्डबीज, मुलेठी, पिप्पली, सेंधानमक, वच, हाऊबेर, इनके कल्क से निर्मित निरूहवस्ति उत्क्लेशन करती है।

२. **दोषहर वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–१८ ) सौंफ, मुलेठी, विल्व, कुटजफल ( इन्द्रजौ ) इन द्रव्यो का कल्क, काजी तथा गोमूत्र, इनसे निर्मित निरूहवस्ति दोषो का निर्हरण करती है।

३, **दोषसंशमन वस्ति**—(शा० उ० अ० ६–१९) प्रियङ्गु, मुलेठी, नागरमोथा, रसाञ्जन, इन द्रव्यो के कल्क तथा दूध ( गोदुग्ध ) से निर्मित वस्ति दोषो का सशमन करती है।

४ **शोधन वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–२० ) शोधन द्रव्यो के क्वाथ तथा कल्क से निर्मित स्नेह और सैंधव ( सेंधा नमक ) से युक्त, मथनी से मथ कर तैयार की हुई निरूहवस्ति आँतो मे स्थित दोषो का संशोधन करती है।

५ **लेखन वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–२१ ) त्रिफला-क्वाथ, गोमूत्र, मधु, क्षार, इनमे निर्मित तथा सैंधव, शिलाजीत, कासीस तथा हिंगु से निर्वापित निरूहवस्ति लेखन कार्य करती है। यह मेदोरोग आदि से पीडित स्थूल पुरुषो के लिये हितकर है।

६. **बृंहण वस्ति**—बृहण द्रव्यो के क्वाथ तथा कल्क से निर्मित मधुर द्रव्यो तथा मासरस या घृत से युक्त निरूहवस्ति बृंहण कर्म करती है।

७. **पिच्छिल वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–२३ ) बेर, नागवला, श्लेष्मातक, सेमर की छाल, नागरमोथा, इनसे सिद्ध क्षीर तथा मधु से युक्त निरूहवस्ति को पिच्छिल वस्ति कहते हैं। इसमे बकरी, भेड तथा हरिण का मासरस भी देते हैं। इस वस्ति की मात्रा १२ पल की है।

८ **मधुतैलिक वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–२८, २९, ३० ) एरण्ड क्वाथ, मधु तथा तैल एक-एक पल की मात्रा मे लेवे। आधे पल की मात्रा मे सौंफ तथा सेंधा नमक मिलावे। इनको मथनी मे मथे। इस प्रकार निर्मित वस्ति को मधुतैलिक वस्ति कहते हैं। यह मेदोरोग, गुल्म, कृमि, प्लीहा तथा पुरीषोदावर्त को नष्ट करती है और बल, वर्ण करने वाली, वृष्य तथा बृंहण एव दीपन होती है।

९ **यापन वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–३१ ) मधु, घृत, क्षीर और तैल प्रत्येक प्रसृति प्रमाण ( २ पल की मात्रा ) मे लेवे और हाऊबेर तथा सेंधा नमक प्रत्येक को २ कर्ष लेकर प्रक्षेप करे और मथनी से मथकर वस्ति तैयार करे। यह परम दीपन होती है।

१० **युक्तरथ वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–३२ ) एरण्डमूल का क्वाथ, मधु, तैल और सेंधा नमक, वच, पिप्पली तथा मैनफल से यथाविधि निर्मित निरूहवस्ति को युक्तरथ वस्ति कहते हैं।

११. **सिद्ध वस्ति**—( शा० उ० अ० ६–३३ ) बृहत् पञ्चमूल का क्वाथ, तैल, पिप्पली, मधु, सेंधा नमक और मुलेठी से प्रस्तुत निरूहवस्ति की सिद्ध-वस्ति संज्ञा है।



# षष्ठाध्याय

## काय-चिकित्सा का क्षेत्र

'कायचिकित्सा' की व्याख्या करते समय यह कहा जा चुका है कि 'काय' शब्द अग्निवाचक है और 'कायचिकित्सा' का अर्थ है कि अग्नि के विकारो की चिकित्सा। अत अग्नि के स्वरूप तथा कर्मों एवं विकृतियो का वर्णन आवश्यक है। आयुर्वेद-वाड्मय मे यथास्थल अग्नि, देहाग्नि, कायाग्नि, जाठराग्नि तथा पाचकाग्नि इन शब्दो द्वारा अग्नि का वर्णन उपलब्ध होता है। सुश्रुत ने रञ्जकाग्नि, साधकाग्नि, आलोचकाग्नि तथा भ्राजकाग्नि का भी उल्लेख किया है।[1]

'देहाग्नि' शब्द से १३ अग्नियो का ग्रहण होता है जैसे—(१) जाठराग्नि, (२) पञ्चभूताग्निया तथा (३) सात धात्वग्नियाँ। वाग्भट ने कहा है कि आत्रेय के अनुशासनानुसार तीन दोषाग्नियो, सत धात्वग्नियो तथा तीन मलाग्नियो का ग्रहण देहाग्नि से होता है। सुश्रुत ने पित्त और अग्नि की व्याख्या कर यह निर्णय दिया है कि दहन, पाचन आदि अनलकर्मों (अग्नि के कर्मों) को सम्पन्न करने के कारण ही पित्त की सज्ञा अग्नि हुई है। यह संज्ञा औपचारिक है। इस अग्नि से ज्वलन स्वरूप अग्नि का ग्रहण नही करना चाहिये।[2]

इस 'अग्नि' का माहात्म्य बतलाते हुए कहा गया है कि आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, उपचय (शरीर की वृद्धि), प्रभा, ओज, अग्नियाँ तथा प्राणें, ये सब अग्निहेतुक हैं अर्थात् शरीर मे ये सब अग्नि के कारण ही होते हैं। देहधातुओ तथा बल, वर्ण आदि एव ओज का पोषक जो अन्न है, उसमे भी अग्नि

---

१ (i) च सू अ ३०-२८, (ii) सु सू. अ २१, (iii) वा सू अ. १२;

२ (i) 'भौमाप्याग्नेयवायव्या· पञ्चोष्माणः सनाभसा। सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुन। यथास्वमग्निभि· पाक यान्ति किट्टप्रसादवत्॥'

(च सि अ १५)

(ii) 'दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम्।' (अ हृ शा ३)

(iii) सु सू. अ २१,

(iv) 'आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानोऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति।' (सु सू अ २१-९)

(v) 'न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, क्षीणे ह्यग्निगुण तत्समानद्रव्योपयोगात, अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात, आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति।' (सु सू. अ २१-९)

ही हेतु है। क्योंकि अपक्व आहार से उपर्युक्त रसादि देहधातुओ आदि का पोषण असभव है। अग्नि ही अन्न का पाक कर पोषक रसादि का निर्माण करती है। इसीलिये अग्नि को विशेषकर 'जठराग्नि' को जो अन्न का पाचक है भगवान् तथा ईश्वर शब्द से सज्ञित किया है।[1]

'अग्नि' के सर्वाधिक कार्य 'जठर' मे होने से 'जाठराग्नि' सज्ञा हुई है। यह अन्न का पाचक होने से 'पाचकाग्नि' कहलाती है। सभी अग्नियो मे इसको प्रधान माना है। अन्य अग्नियो का भी यह मूल है और इस अग्नि का क्षय तथा वृद्धि होने से ही अन्य अग्नियो का तथा देहधातुओ का क्षय तथा वृद्धि होती है अत इस अग्नि की रक्षा सदा सावधानीपूर्वक अन्न-पान रूपी इन्धनो से करनी चाहिये।[2]

अग्नि का माहात्म्य बतलाते हुए आचार्य ने कहा है कि यदि यह अग्नि शान्त अर्थात् नष्ट हो जाय तो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है और यदि यह (अग्नि) विकृत हो तो वह (मनुष्य) नानाविध रोग से आक्रान्त होता है। किन्तु मनुष्य की अग्नि ठीक रहती है वह बिना किसी रोग से आक्रान्त हुए चिरकाल तक जीवित रहता है अर्थात् दीर्घजीवन लाभ करता है।[3]

---

१. (i) 'आयुर्वर्णो बल स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नय प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुका॥' (च चि अ १५)

(ii) 'यदन्न देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्नह्यपक्वाद् रसादय॥' (अ हृ शा ३)

(iii) 'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचक।
सौक्ष्म्याद् रसानाददानो विवेक्तु नैव शक्यते॥' (सु सू अ ३५)

(iv) 'जाठर प्राणिनामग्नि काय इत्यभिधीयते।
यस्त चिकित्सेत्सीदन्त स वै कायचिकित्सक॥'
(भोज'—च चि अ ३०-२८ पर चक्र)

(v) 'तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थ पित्त चतुर्विधमन्नपान पचति विवेचयति च दोष-रस मूत्र-पुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानाना शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रह करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति सज्ञा।' (सु सू अ २१-१०)

२ (i) 'अन्नस्य पक्ता सर्वेषा पक्तॄणामधिपो मत।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मका॥
तस्मात्त विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितै।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थिति॥' (च. चि अ १५)

(ii) वा. सू. अ १२,

३ 'शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरजीवत्यनामय।
रोगी स्याद् विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥' (च चि अ १५)

**अग्नि और पित्तधरा कला**—पित्त तथा अग्नि का साम्य पहले कहा जा चुका है। अतः इसको धारण करने वाली कला का नाम पित्तधरा या अग्निधरा कला है। यह 'पित्तधरा कला' षष्ठी (छठी) कला है जो आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य स्थित है। इसका कार्य आमाशय से प्रच्युत पक्वाशय में जाने के लिये समागत चतुर्विध अन्नपान को पच्यमानाशय में पाकार्थ रोक कर रखना है तथा उसे पित्त की तेज से पचाना है तथा पकने पर शोषण करना है। चतुर्विध अन्नपान को ग्रहण करने के कारण इसकी संज्ञा ग्रहणी भी है। ग्रहणी स्थित अग्नि का नाम 'अन्तरग्नि' भी है।

**ग्रहणी का स्थान तथा स्वरूप**—ग्रहणी अग्नि का अधिष्ठान है। अन्नपान के ग्रहण तथा धारण करने से इसका नाम ग्रहणी है। यह नाभि के ऊपर अग्निबल से उपस्तम्भित तथा उपबृंहित हो स्थित है। इसका कार्य अपक्व अन्न का धारण तथा पक्व अन्न का पार्श्व से विसर्जन है। इस स्थान पर ही अशित, खादित, पीत तथा लीढ (चतुर्विध) कोष्ठ-समागत अर्थात् महास्रोत के मुद्रिका द्वार (Pylorus) से उण्डुक तक के भाग में आये हुए अन्न पाचक पित्त द्वारा सम्यक् परिपाक को प्राप्त होते हैं। इस ग्रहणी के दुष्ट होने पर तथा इसके अग्निबल के दुर्बल होने पर यह अपने पूर्वोक्त कार्य को करने में असमर्थ हो जाती है और आम अन्न को ही विमुक्त करने लगती है।[2] इस प्रकार इसके दुर्बल तथा दुष्ट होने से नानाविध व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

---

१ (i) 'षष्ठी पित्तधरा, या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात्प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति।' (सु. शा. अ. ४-१८)
'षष्ठीत्यादि। पित्तधरान्त निरुक्तम्; आमाशयात्प्रच्युतं कफाशयाद् भ्रष्टं, पक्वाशयोपस्थितं पक्वाशयगमनायोपस्थितं पित्तस्थानं सम्प्राप्तं, धारयति पाकार्थमिति शेषः।' (डल्हण)

(ii) षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था, सा ह्यन्तरग्न्यधिष्ठानतयाऽऽमपक्वाशययोर्मध्ये चतुर्विधमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचति।' (अ. सं. शा. ५)

(iii) 'अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा॥' (सु. शा. ४-१९)
यथाकालं कालानतिक्रमेण—तीक्ष्ण-मध्य-मन्दाग्निषु मात्राद्रव्यगुरुलघुत्वितकालानतिक्रमेण। (डल्हण)

२. (i) 'षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥
ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीश्रितः।
तस्मात् संदूषिते वह्नौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति॥' (सु. उ. अ. ४०-अ. हृ. शा. ३)

**पाचक पित्त**—अन्न को पकाने वाले पित्त का नाम पाचक पित्त है। यह पित्त पक्वाशय तथा आमाशय के बीच प्रदेश मे अपने कार्य को सम्पन्न करता है। यह पाञ्चभौतिक ( पञ्चभूतात्मक ) होने पर भी तैजसगुणबहुल होने से त्यक्तद्रवस्वभाव वाला है और पाकादि कर्म के सम्पन्न करने से 'अनल' शब्द से संज्ञित होता है अर्थात् अग्नि कहलाता है। यह अन्न को पकाकर सार और किट्ट भाग मे उसका विभाजन करता है। तथा शेष पित्तो को भी बल-प्रदान कर अनुगृहीत करता है। जठर प्रदेश मे रह कर अपने कर्म को सम्पन्न करने से यह जठराग्नि भी कहलाता है।[1]

इस पाचक पित्त का वह अश जो धातुओ मे ( रसादि धातुओ मे ) स्थित होता है उसे धात्वग्नि कहते हैं। जाठराग्नि द्वारा अन्न का परिपाक हो जाने पर अर्थात् अन्नरस का निर्माण हो जाने पर पुन धात्वग्नियो द्वारा उनका परिपाक होता है और परिपक्व अन्नरस का रसादि धातुओ के रूप मे तथा कफादि मलो के रूप मे द्विधा निर्माण होता है। तात्पर्य यह कि अन्नरस का रसादि धातुओ मे स्थित अग्नियो से यथाकाल परिपाक होने के परिणाम-स्वरूप प्रसाद

---

( 1. ) 'अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
नाभेरूर्ध्वं ह्यग्निबलेनोपष्टब्धोपबृंहिता॥
अपक्व धारयत्यन्न पक्व सृजति पार्श्वत।
दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥' ( च चि अ १५ )

'सम्प्रति × × × × ग्रहण्या स्वरूप प्राकृत कर्म चाह— × × अग्न्यधिष्ठानम्—अग्नेराश्रय इत्यर्थ। × × × × ग्रहणाद् इति धारणात्, नाभेरुपर्यन्नस्य धारणादित्यर्थः। किंवा नाभेरुपरि अग्नेरूर्ध्वं ज्वलनेन बलेनोपस्तम्भिता उपबृंहिता च सती अपक्वमन्न धारयति, पक्व च पार्श्वत' सृजति इति वामपार्श्वत सृजति।'

२. ( i ) '× × × तत्र पक्वामाशयमध्यगम्।
पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात्॥
त्यक्तद्रवत्व पाकादि कर्मणाऽनलशब्दितम्।
पचत्यन्न विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा॥
तत्रस्थमेव पित्ताना शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचक नाम तत्स्मृतम्॥' ( अ हृ सू १२ )

( ii ) 'तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थ पित्त चतुर्विधमन्न पचति, विवेचयति च दोष-रस मूत्र पुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणा पित्तस्थानाना शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रह करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरितिसज्ञा।' ( सु सू अ २१ )

( iii ) 'अन्नस्य पक्ता पित्त तु पाचकाख्य पुरेरितम्।' ( अ हृ शा ३ )

भाग या सार भाग तथा किट्ट भाग का निर्माण होता है। प्रसाद भाग से रसादि धातुओं का तथा किट्ट भाग से कफादि मलों का पोषण होता है।[1]

अन्न का जाठराग्नि द्वारा परिपाक होने पर अन्नरस तथा विट् (पुरीष) और मूत्र का निर्माण होता है। पुनः अन्नरस का रसाग्नि से परिपाक होने पर पोषक रस धातु का तथा पोषक कफ का निर्माण होता है जिससे पोष्य रस धातु और पोष्य कफमल का पोषण होता है। इसी क्रम से रक्ताग्नि द्वारा पाक के परिणामस्वरूप पोषक प्रसाद रक्त का तथा पित्त का निर्माण होकर पोष्य रक्त धातु का तथा पित्त का पोषण होता है। मांसाग्नि द्वारा पाक होने पर पोषक मांस धातु का तथा शरीर के छिद्रों में रहने वाले मलों की उत्पत्ति होती है और उनसे मांसधातु का तथा खमलों का पोषण होता है। मेदाग्नि से पाक होने पर पोषक मेद धातु का तथा स्वेद की उत्पत्ति होती है जिससे मेद धातु का तथा स्वेद मल का पोषण होता है। अस्थ्यग्नि के परिपाक स्वरूप पोषक अस्थि-धातु का निर्माण होता है। तथा किट्ट लोम-केश-नखादि के उपादानों की उत्पत्ति होती है जिनसे अस्थि धातु तथा केश आदि मलों का यथाक्रम पोषण होता है। इसी प्रकार मज्जाग्नि से परिपाक होने पर पोषक मज्जा का तथा अक्षि स्नेह का निर्माण होता है तथा उनका यथाक्रम पोषण होता है। इत्यादि।[2]

**अग्नि**—मानव शरीर में चार प्रकार की अग्नि बलभेद से होती है। यथा—(१) तीक्ष्णाग्नि, (२) मन्दाग्नि, (३) समाग्नि और (४) विषमाग्नि। इनमें तीक्ष्णाग्नि सब प्रकार के अपचारों (आहारसम्बन्धी) को सहन करने वाली

---

1. (i) '[illegible] × × × ×।' (अ. सं. सू. १०)
   (ii) '[illegible] धातून् [illegible]।' (अ. सं. सू. ११)
   (iii) '[illegible] पुनः।
   [illegible]॥' (च. चि. अ. १५-१५)
   (iv) '[illegible] मलानभिनिर्वर्तन्ते। [illegible] स्वेदमूत्र- [illegible] केश- [illegible] धातुमला [illegible]।' (च. सू. अ. २८)
2. [illegible] (च. चि. अ. १५)

होती है। इसके विपरीतलक्षणवाली मन्दाग्नि होती है। समाग्नि अपचार से विकृति को प्राप्त हो जाती है और आहारसम्बन्धी अनपचार में प्रकृतावस्था में रहती है। समाग्नि के विपरीत लक्षणवाली विषमाग्नि होती है। ये चार प्रकार की अग्नियाँ चार प्रकार के पुरुषों में पायी जाती हैं। जिस मनुष्य की प्रकृति सम अर्थात् समवात-पित्त-श्लेष्मवाली होती है उसकी अग्नियाँ सम अर्थात् समाग्नि होती हैं। वातल अर्थात् वातप्रकृति पुरुषों की अग्नियाँ अन्न्यधिष्ठान के वाताभिभूत होने से विषम होती हैं अर्थात् वातप्रकृति पुरुष स्वभावत विषमाग्नि वाला होता है। इसी प्रकार पित्तप्रकृतिवाला पुरुष अग्नि अधिष्ठान के पित्ताभिभूत होने से तीक्ष्ण अग्निवाला तथा श्लेष्मप्रकृतिवाला पुरुष अग्न्यधिष्ठान के श्लेष्माभिभूत होने से मन्दाग्निवाला स्वभाव से ही होता है।[1]

यहाँ शरीरस्थित अग्नियों का कारण दोषभेद से बतला कर शरीरगत सभी अग्नियों का यद्यपि संकेत किया है तथापि इन अग्नियों का विवरण करते समय जठराग्नि का ही निर्देश किया है। जैसे—तीक्ष्णाग्नि आहारसम्बन्धी सभी अपचारों को सहने में समर्थ होती है इत्यादि वाक्यों में जो अग्नियों का वर्णन किया है उसका सम्बन्ध जठराग्नि से ही है। चरक चिकित्सा अध्याय १५वें में इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह जाठराग्नि ही सब अग्नियों का मूल है और इस अग्नि के क्षय होने से अन्य अग्नियों का क्षय तथा वृद्धि होने से उनकी वृद्धि होती है।[2]

**समाग्नि**—निर्विकार होने से यह अग्नि प्रधान या श्रेष्ठ मानी गई है। सभी दोषों के साम्य होने के कारण समाग्नि होती है। जो अग्नि मात्रा में

---

१. 'अग्निषु तु शरीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति। तद्यथा—तीक्ष्णो, मन्द, समो विषमश्चेति। तत्र तीक्ष्णोऽग्नि सर्वापचारसह, तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्द। समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारतस्तु प्रकृताववतिष्ठते, समलक्षण-विपरीतस्तु विषम इति। एते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम्। तत्र समवातपित्तश्लेष्मणा प्रकृतिस्थाना समा भवन्त्यग्नयः, वातलाना तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः, पित्तलाना तु पित्ताभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नय, श्लेष्मलाना तु श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नय।' (च वि अ ६-१२)

'दोषभेदविकारभेदमभिधाय शरीरस्थिते प्रधानकारणस्याग्नेर्भेदमाह—अग्निष्वित्यादि। शरीरेष्विति सामान्यवचनेन सर्वशरीरगतानग्नीन् आह्यति। विवरणे तु जठराग्नेरेव।' (चक्र)

२. 'तीक्ष्णोऽग्नि· सर्वापचारसह' इत्यादिना यच्चतुर्विधमुक्त तज्जठराग्नितीक्ष्णतादिमूलकमेव त्वगग्न्यादितीक्ष्णत्वादिकमिति ज्ञापयति वचन हि—'तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मका' (च चि १५) इति (च वि अ ६-१२)

उपयुक्त आहार को उचित समय पर सम्यक् रूप से पचा देवे उसे 'समाग्नि' कहते हैं। युक्त अर्थात् उचित मात्रा आदि मे भुक्ताहार को यथाकाल पाचन कर समाग्नि धातुसाम्य उत्पन्न करती है जिसमे शरीर स्वस्थ तथा अरोग रहता है। इसीसे इस अग्नि को श्रेष्ठ माना गया है।[1]

**विषमाग्नि**—समाग्नि के विपरीत लक्षण वाली अग्नि को विषमाग्नि कहा है। यह अग्नि वातज पुरुषो मे अग्न्यधिष्ठान के वाताभिभूत होने से होती है। भोजनसम्बन्धी अपचार होने पर भी विषमाग्नि कभी अन्न को सम्यग् रूप से पचाती है और कभी नही पचाती है। इसी प्रकार भोजनसम्बन्धी अनपचार होने पर भी कभी पचाती है और कभी नही पचाती है। वात के कारण विषम-अग्नि होती है। जो अग्नि कभी तो सम्यग् रूप मे अन्न को पचावे और कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, जठरगौरव, अन्त्रकूजन तथा प्रवाहण आदि उत्पन्न कर अन्न को पचावे उसे विषम अग्नि कहते हैं। विषमाग्नि वात-विकारो को उत्पन्न करती है तथा धातुओ मे वैषम्य उत्पन्न करती है। विषमाग्नि का पाक अनियत है।[2]

**तीक्ष्णाग्नि**—यह भोजन-सम्बन्धी सभी अपचारो को सहने वाली होती है। अर्थात् सब प्रकार के गुरु आदि अन्न को पचा देती है। पित्तज पुरुषो के अग्न्यधिष्ठान पित्ताभिभूत होने पर यह अग्नि होती है। इस अग्नि की उत्पत्ति मे पित्त कारण है। यह प्रभूत मात्रा मे उपयुक्त अन्न को भी पका देती है यही बढकर अत्यग्नि (भस्मक) का रूप धारण कर लेती है। बार-बार भोजन करते रहने पर भी इनका शीघ्र पाक होता है तथा पाक के अन्त मे गला, तालु, ओष्ठ

---

१ (i) 'समोऽग्नि'—समस्य हि प्राधान्य निर्विकारत्वेनैव सुस्थितम्।' (चक्र)। 'समाग्नि' श्रेष्ठ उच्यते' (मा. नि)

(ii) 'चतुर्थ' सम. सर्वसाम्यादिति। तत्र यो यथाकालमुपयुक्तमन्न सम्यक् पचति स सम', समैर्दोषैः। (सु सू. ३५–२४)
'युक्त भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्य समं पचन्।' (च चि अ. ५)
'समैर्हान्युत्कर्षवर्जित समः' (अरुणदत्त)

(iii) 'समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।' (मा नि)
'समः अविकृतः धातुसाम्यहेतुरित्यर्थ × × समा उचिता, मात्रा आहारस्य, सम्यग् यस्य विपच्यते स समाग्नि।' (मधुकोष)

२ 'समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषम.' (च वि ६) 'वातलाना तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नय.' (च वि ६) कदाचिद् विषमेऽप्यपचारादपि न विक्रियते' (चक्र) 'य कदाचित्सम्यक् पचति कदाचिद् आध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा' (सु. सू ३५) 'विषमो वातजान् रोगान्' (सु सू ३५) 'विषमो धातुवैषम्य करोति विषम पचन्।' (च चि १५)

आदि सूखने लगते हैं, तथा इनमें दाह उत्पन्न होता है। तीक्ष्णाग्नि पुरुष यदि भोजन कम करता है तो उसके धातुओं को उनकी अग्नि जलाने लगती है तथा पित्तज व्याधियों को उत्पन्न करती है।[1]

**मन्दाग्नि**—तीक्ष्णाग्नि के विपरीत लक्षण वाली मन्दाग्नि होती है अर्थात् भोजन-सम्बन्धी स्वल्पापचार को भी सहने में असमर्थ होती है। स्वल्प अपचार में भी विकृत हो जाती है। अग्न्यधिष्ठान के श्लेष्माभिभूत होने पर मन्दाग्नि होती है। इसकी उत्पत्ति में कफ का कर्तृत्व होता है। जो अग्नि स्वल्प मात्रा में उपभुक्त अन्न को भी पचाने में समर्थ नहीं होती तथा उदर-शिरोगौरव-कास-श्वास-प्रसेक-छर्दि-गात्रसाद आदि विकारों को उत्पन्न कर अत्यधिक काल में अन्न को पचाती है उसे मन्दाग्नि कहते हैं। इस में कफज विकार उत्पन्न होते हैं। यह अग्नि अन्न का विदाह कर उसे ऊपर (मुख) तथा अधो (गुदा) मार्ग से बाहर निकालती है। तात्पर्य यह कि मन्दाग्नि अन्न को उचित रूप में पकाने में समर्थ नहीं होती जिससे अन्न अर्धपक्व होने से विदाह को प्राप्त होता है और वमन तथा विरेचन द्वारा बाहर निकल जाता है।[2]

**पचन व्यापार**—मानव शरीर में पचन व्यवहार को सम्पन्न करने वाली अग्नि का नाम पाचकाग्नि, पाचकपित्त, जाठराग्नि अथवा कायाग्नि है। काय शब्द स्वयं अग्निवाचक है इसका संकेत किया जा चुका है और साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है काय-चिकित्सा का अर्थ अग्नि की विकृतियों की चिकित्सा है। तात्पर्य यह कि शरीर में होने वाले नानाविध पाकों के विकृत होने से जो विकार या रोग उत्पन्न होते हैं वे सब काय-रोग हैं और उनकी चिकित्सा

---

१ 'तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः' पित्तलानां तु पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः।' (च वि ६) 'तीक्ष्णः पित्तेन' ×× यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति, पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोष-दाह-संतापाञ्जनयति, स एव वर्धमानोऽत्यग्निरिति आभाष्यते।' (सु सू ३५) 'तीक्ष्णः पित्तनिमित्तात्' (सु सू ३५)

२ (i) 'तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्दः' श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः।' (च वि ६-१०) 'तद्विपरीतलक्षण इति स्वल्पापचारमपि यो न सहते, स मन्द इत्यर्थः।' (चक्र)

(ii) 'मन्दः श्लेष्मणा' ×× यस्त्वल्पमप्युपभुक्तमुदरशिरोगौरव-कास-श्वास-प्रसेक-छर्दि-गात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्दः।' (सु सू ३५)

(iii) 'तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्।' (सु सू अ. ३५)

(iv) 'दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा।' (च. चि. अ १५)

(v) 'कफोत्कर्षेण मन्दः' (अरुणदत्त.) 'विरपाको मन्दः' (हेमाद्रि)

(vi) 'स्वल्पापि नैव मन्दाग्नेः' (मा नि.)

काय-चिकित्सा है। काय-चिकित्सा सम्पन्न करने वाले भिषक् को काय-चिकित्सक कहते हैं।[1]

आयुर्वेद वाङ्मय में तीन प्रकार के पाकों का वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—( १ ) अवस्थापाक, ( २ ) भूताग्निपाक तथा ( ३ ) धात्वग्निपाक।

**अवस्थापाक**—महास्रोत[2] में समागत नानाविध पाचक रसों द्वारा जो पाक होता है उसे अवस्थापाक कहा गया है। महास्रोत कोष्ठगत वह अवयव है जो मुख-कुहर से प्रारम्भ होकर गुदपर्यन्त नाल के रूप में स्थित है। अर्वाचीन शारीर-विज्ञ इसे पचनप्रणाली ( Alimentry Canal ) कहते हैं। यह महानली ( महास्रोत ) अनेक विभागों में विभक्त है। इसके मुख्य विभाग ये हैं —मुखकुहर, गल, अन्ननलिका, आमाशय, पच्यमानाशय या ग्रहणी, उण्डुक, पक्वाशय या मलाशय, उत्तरगुद तथा अधरगुद। आमाशय के बाद का अंश अंत्र नाम से भी संज्ञित हुआ है। इस अंत्र को आकृति के अनुसार दो भागों में प्रथम विभक्त किया गया है यथा—( १ ) क्षुद्रान्त्र और ( २ ) स्थूलान्त्र। क्षुद्रान्त्र तथा स्थूलान्त्र के भी अनेक उपविभाग हैं।

महास्रोत के उक्त अवयवों में अनेक प्रकार के पाचक रसों का स्राव होता है और उनके द्वारा भुक्तान्न का यथाविधि पाक होता है। मुखकुहर में लालारस, आमाशय में आमाशयिक रस, ग्रहणी में अग्निरस तथा पित्त और पच्यमानाशय ( क्षुद्रान्त्र ) में आन्त्ररस का स्राव होता है जिनके द्वारा विविध अन्न-घटकों का यथास्थल पाक होता है। ये सभी पाचक रस पाचक पित्त या पाचकाग्नि के ही अवान्तर भेद हैं। मुखकुहर से प्रारम्भ कर आमाशय के ऊर्ध्वभाग तक कफ का स्थान होने से तथा अन्नघटक के मधुरांश का वहाँ पाक होने से इस को 'मधुरावस्थापाक' कहा गया है। सर्वप्रथम अन्नसंघात का समागत लाला-द्रवों तथा दन्तादि से भेदन होता है तथा भिन्न अन्नसंघात लालारसगत स्नेह से मृदुता को प्राप्त होता है। इस प्रकार षड्रसात्मक भुक्तान्नमात्र के प्रपाक ( प्रथम पाक ) के परिणाम स्वरूप फेन के समान कफात्मक मधुर अन्नरस की निष्पत्ति होती है।[3] आधुनिक शारीरविज्ञ कहते हैं कि लालागत स्राव

---

१ 'जाठरं प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत्सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥' ( भोज—च. सू. २७—चक्र )

२ 'कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति।'
( च. सू. ११-४८ )

३ ( १ ) 'अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥ ६॥

( Salivary secreation ) के अन्दर एक प्रकार का पाचक तत्त्व ( Salivary amylase ) होता है जिसे टायलीन ( Ptyalin ) कहते हैं। इनका प्रधान कर्म यह है कि यह अन्न के पिष्टांश या शर्कराजांश ( Starch ) को तोडकर अर्थात् उसके जटिलभाव (Complex molicule ) को सरलभावो ( Simpler Components ) मे परिवर्तित करना है। इस क्रिया से जो अन्नरस निष्पन्न होता है वह मधुर प्राय होता है।'

'द्वितीय अवस्थापाक' आमाशय के अधोभाग से प्रारम्भ होता है। भिन्न सघात फेनभूत अन्न जब आमाशय के अध प्रदेश मे आता है तो समान वायु से सधुक्षित हो, औदर्याग्नि अपना कार्य प्रारम्भ करती हैं अर्थात् उपर्युक्त भिन्न सघात फेनभूत अन्न के आमाशय प्राप्त होते ही समान वायु का अदृष्ट कर्म प्रारम्भ होता है जिसके परिणामस्वरूप क्रमश आमाशयिक रसो का तथा क्षुद्र रस एव पित्त का स्राव होने लगता है और अन्न के विविध घटको पर यथास्थल समागत पाचक रसो का पाक कर्म होने लगता है। इस काल मे आमाशय से लेकर ग्रहणी पर्यन्त जो पाचक रस निकलते हैं अथवा आते है वे प्राय अम्ल होते है तथा उनके कार्यों के परिणामस्वरूप अन्न भी विदग्ध

---

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकत ।
मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते ॥ ९ ॥ ( च चि. अ १५ )

'मुखप्रवेशादारभ्यान्नस्य व्यापार इहोच्यते। आदानमाहारप्रणयन कर्म यस्य स तथा, प्रकर्षति इति नयति। द्रवैरिति पानीयादिभि। भिन्न-संघातमिति अवयवशैथिल्यमापन्नम्।' × × × भुक्तमात्रस्येति भुक्तान्तर-मेव। षड् रसस्येति प्राशस्त्येनाभिधानम् किंवा षड्रसस्यापि प्रथम मधुरता निरुक्ता भवति इति दर्शयति प्रपाकत इति प्रथमपाकत प्रशब्दो रमादिकर्मणि। मधुरश्चासौ आद्यश्चेति मधुराद्य, फेनभूत इति फेनसदृ-शोत्पन्न इत्यर्थ। ( चक्र० )

( ११ ) 'अन्न कालेऽभ्यवहृत कोष्ठ प्राणानिलाहृतम्।
द्रवैर्विभिन्नसघात नीत स्नेहेन मार्दवम् ॥ ५५ ॥
आदौ षड्रसमप्यन्न मधुरीभूतमीरयेत्।
फेनीभूत कफ यातम ·· ·· ·· ·· · ·· ··॥' ( ५७ ) ( अ हृ शा ३ )

२ 'Saliva Contains a digestive enzyme called salivaz amylase ( or ptyalin ) which is manufactured by salivery gland cells Salivary amylase is an enzyme which splits cooked starch It breaks down the large Complex molecule to simpler Components' ( Mchhinery of the body by—Anton J Carlson victor gonslon.

हो अम्ल भाव को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्थापाक को 'अम्लावस्थापाक' भी कहते हैं।[1] आधुनिक शारीरविद इस क्रिया का इस प्रकार वर्णन करते हैं—आमाशय ( Stomach ) में जो पाचक रस—आमाशयिक रस ( Gastric juice ) स्रवित होता है उसमें 'पेप्सीन' ( Pepsin ) नामक पाचक तत्त्व ( digestive enzyme ) होता है जिसका कार्य अन्न के आमिषांश—प्रोटीन ( Protein ) घटकों को तोड़ना ( संघात-भेद करना ) है। इसके अतिरिक्त इस रस में एक अम्ल ( Acid ) होता है जिसे लवणाम्ल ( Hydrochloric acid ) कहते हैं। इसका कार्य प्रथम पाक में उत्पन्न अन्न के क्षारीय भाव को अम्लभाव में परिवर्तित करना है। क्योंकि पेप्सीन का कार्य अम्लभाव अन्न घटकों पर ही संभव है। लवणाम्ल का दूसरा कार्य अन्न के साथ समागत जीवाणुओं का नाश करना भी है। इस पाचक तत्त्व के परिणामस्वरूप अन्न का प्रोटीन घटक प्रोटीयोसेज और पेप्टोन में परिवर्तित हो जाता है। यह भिन्न संघात अन्न जब आगे बढ़ता है तब अग्न्याशय तथा पित्त ( Pancreatic juice & Bile ) का कार्य अन्न के अन्य घटकों पर भी प्रारम्भ हो जाता है। पित्त यकृत से पित्तनलिका द्वारा तथा अग्निरस क्लोमनलिका द्वारा क्लोम ( Pancease ) से ग्रहणी प्रदेश ( Duodenum ) में आता है। पित्त तथा रक्त के रञ्जक से उत्पन्न हुआ होता है अर्थात् रक्त का मल होता है।[2] यद्यपि पाककर्म में इस का कोई मुख्य भाग नहीं होता तथापि इसके अन्दर एक लवण होता है ( Bile salts ) जिसका वसा ( Fats ) पर कार्य होता है। यह वसा के संघात का भेदन कर एक प्रकार का स्नेह द्रव ( Emulsion ) तैयार कर देता है। जिस पर अग्निरस ( Pancreatic juice ) के वसाविभाजक ( Fat-splitting ) पाचक तत्त्व ( Enzyme ) का पाक कर्म होता है।

अग्निरस (Pancreatic juice) के अन्दर अनेक पाचक तत्त्व ( digestive enzymes ) होते हैं जिनके कार्य अन्न के कार्बोहाईड्रेट, फैट तथा प्रोटीनांश पर होता है। जैसे—ट्रीप्सीन नामक ( Trypsin ) पाचक तत्त्व

---

१ ( i ) 'समानेनावधूतोऽग्निरुदर्य. × × × ।
परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावत. ।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥' ( च. चि. अ. १५ )

( ii ) '× × × + विदाहादम्लतां गत. ।
पित्ताशयात्तुर्याच्च्यवमान च्युतं पुन' ॥' ( अ. ह. शा ३ )

२. ( i ) 'असृज. पित्तम्' ( च. चि. अ. १५ ), 'पित्तं रक्तस्य, विकृति'
( अ ह शा. ३ )

( ii ) ( The Machinery of the bady Page 272 )

प्रोटीन का संघात भेद कर एमायनो एसिड मे परिवर्तित करना है तथा एमायलेज स्टार्च का सघात भेद कर द्विशर्करा ( Double sugar ) मे एव स्टीयेप्सीन नामक तत्त्व वसा का सघात-भेद कर वसाम्ल ( Fatty acid ) और ग्लायसरोल मे परिवर्त्तित कर देता है। इसके अतिरिक्त इस पाचक रस के पाचक तत्त्व ( Enzymes ) अन्य पाचक तत्त्वो द्वारा अर्ध पाचित स्टार्च तथा प्रोटीन का भी पुन पाक होता है। जठर या कोष्ठगत यह क्लोम ग्रन्थि ही ऐसी ग्रन्थि है जिससे पर्याप्त मात्रा मे अन्न के वसाश का सघात-भेदक पाचक तत्त्व स्रवित होता है। यही कारण है कि इस ग्रन्थि के विकृत होने पर पाक-प्रक्रिया मे पर्याप्त विघ्न हो जाता है।

**तृतीयावस्था पाक**—उपर्युक्त पाचक तत्त्वो द्वारा पाक के बाद जब भुक्तान्न क्षुद्रान्त्र के पच्यमानाशय प्रदेश मे आता है तो आन्त्र-पाचक रस ( Succusentericus ) का स्राव समान वायु से उदराग्नि के सधुक्षित होने पर होता है। यहाँ अच्छपित्त का उदीरण होना है और शेष अन्न घटको का परिपाक हो परिपक्व अन्न रस का शोषण होता है। इस पाक के परिणामस्वरूप जो अन्न रस निर्मित होता है वह प्राय कटु होता है। अत इसे कटु अवस्था पाक भी कहते है।[2] आधुनिक शारीरविज्ञ कहते हैं कि यह आन्त्ररस क्षुद्रान्त्र के दिवारो मे स्थित सूक्ष्म ग्रन्थियो का स्राव है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि यकृत् से यकृन्नलिका द्वारा समागत पित्त तथा क्लोम से क्लोमनलिका द्वारा समागत अग्निरस का पचन व्यापार भी इस पच्यमानाशय मे चालू रहता है। ये तीनो स्राव क्षारीय होते है और अन्न भी इस प्रदेश मे क्षारभाव को प्राप्त रहता है जिससे इनके कार्य मे कोई विरोध नहीं होता। उपर्युक्त आन्त्ररस मे अनेक पाचक तत्त्व होते हैं जैसे—(1) एरेप्सीन (Erepsin)- इसका कार्य अर्धपक्व प्रोटीन पर होता है। यह इसको पका कर एमायनो एसिड मे परिवर्तित करता है। अन्य पाचक तत्त्व द्विशर्करा के सघात का भेद कर सरल शर्करा मे परिवर्तित करना है। इसको एनटेरोकिनेज (Enterokenase) कहते हैं।

**भूताग्निपाक**—भौम्य, आप्य, आग्नेय, वायव्य तथा नाभस अग्नियो द्वारा पाञ्चभौतिक अन्न के पाञ्चभौतिक अन्नघटको का यथाक्रम अपने-अपने अग्नियो मे परिपाक होता है। पाञ्चभौतिक आहारगत पञ्चाग्नियाँ ( जाठराग्नि पाकानन्तर ) जाठराग्नि से सधुक्षित बल हो अपने-अपने पार्थिवादि अशो का

१ ( The machinary of the human bohy—by Anton Cjarlson

२ ( ii ) 'पक्वाशय तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायु स्यात्कटुभावत ॥' ( च चि अ १५ )

( ii ) 'अग्निना शोषित पक्व पिण्डित कटुमारुतम्।' ( अ. हृ शा ३ )

पाक कर उनके गन्धादि गुणों मे विलक्षणता उत्पन्न करते हैं। तात्पर्य यह कि आहारगत पार्थिवाग्नि जाठराग्नि से सधुक्षित हो पार्थिवांश का परिपाक कर उसमे विलक्षण गन्धगुण उत्पन्न करती है। इसी प्रकार आहारगत आप्याग्नि आप्यांश का, आग्नेयाग्नि आहारगत तेजांश का, वायव्याग्नि आहारगत वायव्यांश का तथा नाभसाग्नि आहारगत नाभसांश का परिपाक कर क्रमश विलक्षण-रस, रूप, स्पर्श तथा शब्दादि गुणो को उत्पन्न करते हैं। यह पाक जाठराग्नि-पाक के बाद तथा धात्वग्नि-पाक के पूर्व सम्पन्न होता है। इस पाक के अनन्तर ही धात्वग्नियाँ अपना कर्म करने मे समर्थ होती हैं।[1] यह पाक शरीर के किस अवयव विशेष मे होता है इसका स्पष्ट सकेत उपलब्ध शास्त्रो मे प्राप्त नहीं होता। जाठराग्नि-पाक जो महास्रोत मे सम्पन्न होता है उसके अनन्तर यह पाक प्रारम्भ होता है ऐसा सकेत चक्रपाणिदत्त ने अपनी व्याख्या मे किया है। इससे यह सकेत प्राप्त होता है कि महास्रोतेतर किसी अवयव मे इसका पाक होता है। अस्तु—

अर्वाचीन शारीरविज्ञो ने यह पता लगाया है कि आहार के विविध घटको का महास्रोत मे पाक हो जाने पर धातुद्वारा सात्म्यीकरणार्थ यकृत्प्रदेश मे पुन पाक होता है। यकृत् मे प्रोटीन आदि अन्नघटको का विलक्षण रूप मे परिपाक होता है। यह विलक्षणता इस रूप मे होती है जैसे—आवश्यकतानुसार स्टार्च का वसा मे परिवर्तन, तथा प्रोटीन का वसा मे परिवर्तन और उनसे ऊर्जा की उत्पत्ति इत्यादि।[2]

---

१ (i) 'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान्पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥' (च नि अ. १५)

(ii) भौमाद्य· पञ्चोष्माण पार्थिवादिद्रव्यव्यवस्थिता जाठराग्निसधुक्षितबला अन्तर्गीय द्रव्य पचन्त स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पूर्वपार्थिवगन्धत्वाद्यविलक्षणान् गुणान् निर्वर्तयन्ति। × × × जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते सघातभेदे पश्चाद् भूताग्नय· पञ्च स्व स्व द्रव्य पचन्ति।' (चक्र)

(iii) 'अन्तरग्निना जाठरेण वह्निना सधुक्षित बल यस्य तेनान्तरसधुक्षितबलेन। यथा स्वेनोष्मणेति पृथिव्यादिरूपाशिनादेर्यस्य य ऊष्मा पार्थिवाग्न्यादिरूपस्तेन,—(च सू. २८-३—पर चक्र)

२ 'The ability of animal body to Convert starch into fat is well known In terms of animal economy this phenomenon is a conversion of an excess of quickly available energy reserves into a more permanant storage from which may again be converted back into glucose in a time need (The machinary of body P 319)

**धात्वग्निपाक**—भूताग्नि पाक के बाद धात्वग्निपाक प्रारम्भ होता है। मानव-शरीर में धात्वग्नियाँ सात हैं जिनके द्वारा आहारगत धातु-उपादानों का पुनः पाक होता है और शारीर धातुओं द्वारा उनका ग्रहण ( सात्म्यीकरण ) होता है। इन धात्वग्नियों द्वारा पाक होने के परिणाम स्वरूप दो प्रकार के उपादान निर्मित होते हैं जैसे—सार-धातु-उपादान तथा किट्ट-धातु-उपादान। ये दोनों ही पोषक धातु हैं अर्थात् इनके द्वारा शारीर धातुओं तथा किट्टों का पोषण होता है। अर्थात् रसाग्नि द्वारा पाक के परिणाम स्वरूप पोषक रस तथा पोषक कफ की उत्पत्ति होती है और उनसे शारीर रस धातु तथा कफ का पोषण होता है। इसी प्रकार रक्ताग्नि पाक के फलस्वरूप पोषक रक्त तथा पोषक पित्त का निर्माण होता है जिससे शारीर रक्तधातु और पित्त का पोषण होता है। इसी क्रम में मांसाग्नि, मेदसोऽग्नि अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि तथा शुक्राग्नि द्वारा अन्न रसगत धातु उपादानों का पाक होता है और उनके पाक के फलस्वरूप तत्तत् पोषक धातुओं और किट्टों की उत्पत्ति होती है जिनसे शारीर मांसादि धातुओं का तथा मलों का पोषण होता है।[1]

**अग्निव्यापद अथवा अग्निदोष**—अग्नि (जाठराग्नि, भूताग्नि तथा धात्वग्नि) का प्रधान कार्य पाक ( भुक्तान्न को पचाना ) तथा परिणमन ( षड्सात्मक अन्न को अन्नरस, अन्नरस को रस-रक्तादि धातुओं में परिणमन करना ) एवं परावर्तन ( द्रव्यान्तर-रूपान्तर तथा रसान्तर में परिवर्तन ) है। इसकी विकृति होने पर ये कार्य विघ्न हो जाते हैं और नानाविध व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इनकी विकृति के अनेक कारण हैं।

---

१ (१) 'सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः॥ (च. चि. १५)

(२) 'विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति शरीरधातूनूर्जयति च। धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते।' (च. सू. अ. २८)

तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः। ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वं मानमनुवर्तन्ते यथावयः शरीरम्। (च. सू. अ. २८)

इन उपर्युक्त अग्नियों में सर्वाधिक महत्त्व पाचक अग्नि का प्रतिपादित किया जा चुका है। पाचकाग्नि या जाठराग्नि अन्य सभी अग्नियों का मूल है अर्थात् इससे ही अन्य अग्नियों ( भूताग्नियों तथा धात्वग्नियों ) का बल प्राप्त होता है। इसकी विकृति से अन्य अग्नियाँ भी विकृत होती हैं और इसकी क्षय-वृद्धि पर ही शरीर धातुओं की क्षय-वृद्धि निर्भर है। अतः सर्वप्रथम जाठराग्नि या पाचकाग्नि की विकृति का वर्णन अभीष्ट है।

**जाठराग्नि के विकृति के कारण**—अभोजन ( भोजन नहीं करने से ), अजीर्ण ( भुक्तान्न के नहीं पचने से ), अतिभोजन ( अधिक भोजन करने से ), विषमाशन ( मात्रा से अधिक अथवा न्यून एवं असमय में भोजन करने से ), असात्म्यभोजन ( देश, काल तथा शरीर के अननुकूल भोजन ) गुरु भोजन ( मात्रागुरु तथा द्रव्यगुरु ), शीत भोजन, अतिरूक्ष भोजन, सदुष्ट भोजन ( क्रिमि-विष आदि से दूषित भोजन से ) विरेक-विभ्रम ( विरेचन विधि के उचित रूप में नहीं होने से ), वमन-विभ्रम ( वमन की विधि में दोष रहने से ), स्नेहविभ्रम ( उचित रूप में स्नेह के प्रयोग नहीं होने से ), व्याधिकर्षण ( अधिक काल तक स्थित व्याधि के कारण शरीर धातुओं के कर्षण होने से ), देशवैषम्य, कालवैषम्य, ऋतुवैषम्य, वेगविधारण ( मलमूत्रादि के वेग के रोकने से ), इन कारणों से अग्नि ( जाठराग्नि ) दुष्ट हो जाती है। जिससे वह लघु अन्न का पाक करने में भी असमर्थ हो जाती है। इस प्रकार अन्न के परिपाक न होने से अपक्व या अर्धपक्व अन्न शुक्तता तथा विषरूपता को प्राप्त हो जाता है।[1]

शुष्क विरुद्ध तथा विष्टम्भि अन्न वह्निव्यापद् उत्पन्न करता है। इस वह्निव्यापद् से चार प्रकार के अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। जैसे—( १ ) आमाजीर्ण, ( २ ) विदग्धाजीर्ण ( ३ ) विष्टब्धाजीर्ण और रसशेषाजीर्ण।[2]

---

१ 'अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात् ।
असात्म्य-गुरु-शीतातिरूक्षसंदुष्टभोजनात् ॥
विरेक-वमन-स्नेह विभ्रमाद् व्याधिकर्षणात् ।
देश कालर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात् ॥
दुष्यत्यग्निः, स दुष्टोऽन्नं न तत्पचति लघ्वपि ।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् ॥' ( च चि अ १५ )

२ ( i ) शुष्क विरुद्ध विष्टम्भि वह्निव्यापदमावहेत् ।
आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः ॥
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ।'
( सु सू अ ४६, ४९८, ४९९ )
'शुष्कान्नप्रसङ्गेन शुष्कस्येनरस्य च वह्निमान्द्यकरत्वमाह— × × ×

अत्यधिक ( भोजनकाल मे ) जल पीने से, विषम भोजन करने से, मल-मूत्रादि के वेग को धारण करने से, स्वप्नविपर्यय ( रात्रि मे जागरण करने से ) से उचित समय पर भोजन किया हुआ लघु अन्न भी उचित रूप से नही पचता। इनके अतिरिक्त मानसिक विकारो जैसे ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, प्रद्वेष, शोक, दैन्य आदि भावो से युक्त हो भोजन करने पर भी अन्न का सम्यक् परिपाक नही होता।[1]

अग्नि के मन्द होने पर भुक्तान्न का सम्यक् विपाक नही होता है जिससे पूर्वोक्त चार प्रकार के अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। अजीर्ण ( अन्न के नही पचने ) मे दो प्रकार के आम दोष की उत्पत्ति होती है। आमदोष शरीर के लिये अनुपादेय होने से ऊपर ( मुख-मार्ग ) तथा अधोमार्ग ( गुदा ) से बाहर निकलने लगता है अर्थात् वमन तथा विरेचन होने लगता है। इस आम दोष को विसूचिका कहते है। यह आम दोष स्रोतोरोधवश जब ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग से निकलने नही पाता तो वह अलसक का रूप धारण कर लेता है। यह अलसक बढकर दण्डालसक तथा विलम्बिका का लक्षण उत्पन्न करता है। इस प्रकार अजीर्ण मे अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न होते है। वायु के कारण अन्न के विष्टब्ध होने से उदर मे अत्यधिक तोद, शूल, आनाह, अङ्गमर्द, मुख-शोष, मूर्च्छा, भ्रम, अग्निवैषम्य, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह, सिराकुञ्चन, उदर मे

---

वह्निव्यापदम्—अग्निमान्द्यम्। × × × तामेव वह्निव्यापद विप्रकृष्टकारणोपजनितमभिधाय सन्निकृष्टवातादिकृताजीर्णलक्षणमाह—( डल्हण )

( ii ) विशुष्कमन्नमभ्यस्त न पाक साधु गच्छति।
पिण्डीकृतमसक्लिन्न विदाहमुपगच्छति॥
स्रोतस्यन्नवहे पित्त पक्तौ वा यस्य तिष्ठति।
विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्न विदह्यते॥' ( सु. सू अ ४६ )

'शुष्कान्नस्य विप्रकृष्टविदाहप्रसङ्गेन सन्निकृष्टहेतुजमपि विदाह दर्शयन्नाह—स्रोतस्यन्नवहे—आमाशये, पक्तौ अग्निस्थाने, विदाहिभुक्तमन्नम् अन्यद्वेति अविदाहि अन्नम् विदह्यते विदाहमुपयाति। ( डल्हण )

१ ( i ) अत्यम्बुपानाद् विषमाशनाद्वा, सधारणात्स्वप्न-विपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्य लघु चापि भुक्तमन्न न पाक भजते नरस्य॥
ईर्ष्याभय क्रोधपरिप्लुतेन, लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्न न सम्यक् परिणाममेति॥'
( सु सू अ ४६ )

( ii ) 'माधुर्यमन्न गतमामसज्ञ विदग्धसज्ञ गतमम्लभावम्। किञ्चिद्विपक्व भृशतोदशूल विष्टब्धमानद्धविरुद्धवातम्। उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य॥ 'रसावशेषेण' तु सप्रसेक चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम्।'

वायु-सञ्चय से स्तम्भ आदि विकार उत्पन्न होते हैं। पित्त के कारण भुक्तान्न के विदग्ध ( अम्ल भाव प्राप्त ) होने से ज्वर, अतीसार, अन्तर्दाह, तृषा, मद, भ्रम, प्रलाप, दाह आदि विकार उत्पन्न होते हैं। श्लेष्मा के कारण अन्न के मधुरभाव प्राप्त होने से छर्दि, अरुचि, अविपाक, शीत ज्वर, आलस्य, गात्रगौरव आदि विकार होते हैं।[1] इस आम दोष को 'आमविष' या 'अन्नविष' भी कहते हैं। यह आमविष तथा अन्नविष जब पित्त से संसृष्ट होता है तो अनेक प्रकार के मुख रोग, तृष्णा रोग, अम्लपित्त तथा अन्य पित्तविकारों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जब वह कफसंसृष्ट होता है तब यक्ष्मा, पीनस, मेह प्रभृति कफरोगों को उत्पन्न करता है। वात से संसृष्ट होने पर यह नानाविध वात-विकारों को उत्पन्न करता है। मूत्रसंसृष्ट होने पर मूत्ररोगों को तथा शकृद्गत होने पर विविध कुक्षिरोगों को उत्पन्न करता है। रस रक्तादि धातुओं में पहुँच कर यह रसदुष्टिजन्य तथा रक्तप्रदोषज विकारों को उत्पन्न करता है। मांस धातु के आम-सम्पृक्त होने पर मांसदोषज विकार, मेद के आमसम्पृक्त होने पर मेददोषज विकार, अस्थि के आमसम्पृक्त होने पर अस्थिदोषज विकार तथा मज्ज एवं शुक्र के आमसम्पृक्त होने पर मज्जागत एवं शुक्रगत विकार उत्पन्न होते हैं।[2]

---

1. 'तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजः विसूचिकाम्, अलसकं च। तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्। अलसकमुपदेक्ष्यामः—दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविनस्तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखीभवति, ततश्छर्द्यतीसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि। अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति, ततस्तं दण्डालसकमसाध्यं ब्रुवते।' (च. वि २-१२-१५)
'ये हि भूतानामाहारविकारेण मौहित्यं गत्वा पश्चादूर्ध्वमतृप्तिमापद्यते भूयस्तस्यामाशयगता वातपित्तश्लेष्माणोऽभ्यवहारेणातिमात्रेणातिप्रपीड्यमानाः सर्वे युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिमपरिणतमाविश्य कुक्ष्येकदेशमन्नाश्रिता विष्टम्भयन्तः सहसा वाऽप्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथगिमान् विकारानभिनिर्वर्तयन्त्यतिमात्रभोक्तुः। तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषमूर्च्छाभ्रमाग्निवैषम्यपार्श्वपृष्ठकटिग्रहसिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति, पित्तं पुनर्ज्वरातिसारान्तर्दाहतृष्णामदभ्रमप्रलपनानि, श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकाविपाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाभिनिर्वृत्तिकरः सम्पद्यते॥' ( च. वि २-८९ )

2. ( i ) 'विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते भिषजः, विषसदृशलिङ्गत्वात्।' ( च. वि २-१५ )
( ii ) घोरमन्नविषं च तत्। संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान्। जनयति...' ( च. चि. १५ )

इन उपर्युक्त वर्णनो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्निदोष से आम की उत्पत्ति होने पर पित्तज, कफज, वातज, मूत्ररोग, कुक्षिगत रोग, रसप्रदोषज विकार, रक्तप्रदोषज विकार मांसप्रदोषज विकार, मेदोदोषज विकार, अस्थि-दोषज विकार, मज्जदोषज विकार, शुक्रदोषज विकार, तथा दाह, तृष्णा, मुख-रोग, अम्लपित्त, यक्ष्मा, पीनस, प्रमेह प्रभृति नानाविध रोग उत्पन्न होते हैं।

यह अग्नि-दोष केवल अतिमात्र भोजन से ही नही उत्पन्न होता अपितु गुरु-रूक्ष-शीत-शुष्क-द्विष्ट-दूषित-विष्टम्भी-विदाही-अशुचि-विरुद्ध अन्नपान के सेवन से तथा अकाल मे भोजन करने से एवं लोभ-क्रोध-काम-मोह-ईर्ष्या-लज्जा-शोक-मान-मनोद्वेग-भय-मानसोपताप आदि मानसिक कारणो से भी उत्पन्न होता है। जो 'आम दोष' नानाविध उपर्युक्त व्याधियो को उत्पन्न करता है।[1]

अग्नि दोष से प्रायः सभी रोग उत्पन्न होते हैं। अग्निदोषो मे भी मन्दाग्नि का रोगोत्पत्ति में सर्वाधिक भाग होता है। मानव शरीर में जठर (उदर) प्रदेश सब से बड़ा कार्यालय है जहा शारीर धातुओ का मूलोपादान आहार द्रव्यो से निर्मित होता है। अत. जाठराग्नि की विकृति जठररोग के ही नही अपितु सम्पूर्ण कायगत रोगो की विकृतियो का मूल माना गया है। जाठराग्नि के मन्द होने से भुक्तान्न का परिपाक उचित रूप मे नही होता जिससे आम दोष की उत्पत्ति होती है जो नानाविध रोगो को उत्पन्न करता है। मन्दाग्निवश भुक्तान्न जीर्ण नहीं होता जिससे सभी रोगों का मूल अजीर्ण रोग उत्पन्न होता है।[2]

---

अम्लपित्त च पित्तजाश्चापरान् गदान् ॥ यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान कफ-सङ्गतम्। करोति वातसंसृष्ट वातजांश्च गदान् बहून् ॥ मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थ कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्। रसादिभिश्च संसृष्ट कुर्याद् रोगान् रसादिजान् ॥' (च. चि अ. १५)

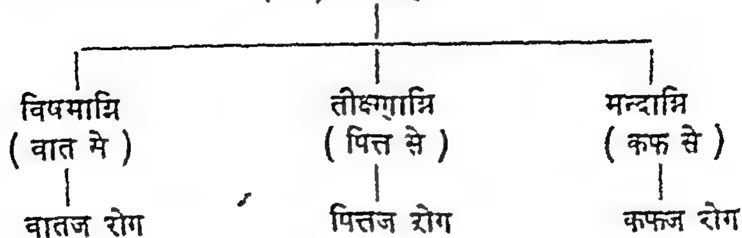
१. 'न खलु केवलमतिमात्रमेवाहारराशिमामप्रदोषकरमिच्छन्ति, अपि तु खलु गुरु-रूक्ष शीत शुष्क-द्विष्ट विष्टम्भि-विदाह्यशुचिविरुद्धानामकाले चान्नपानानामुप-सेवन कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्री शोक-मानोद्वेगभयोपतप्तमनसा वा यदन्न-पानमुपयुज्यते, तदप्याममेव प्रदूषयति। उक्त—मात्रयाप्यभ्यवहृत पथ्य चान्न'न्न जीर्यति। चिन्ता-शोक-भय-क्रोध-दु खशय्याप्रजागरै ॥' (च वि २-१०-११)

२ (i) 'अग्निदोषान्मनुष्याणा रोगसङ्घा' पृथग्विधा।
मल-वृद्धया प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु ॥' (च चि १३-९)
'अग्निदोषोऽत्राग्निमान्द्यमेव विवक्षितम्—तस्यैव ह्युदरकारण दोषत्रयकर्तृत्व-मुक्त—'वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादय ॥'
(च सू अ ६) इति चक्र'।

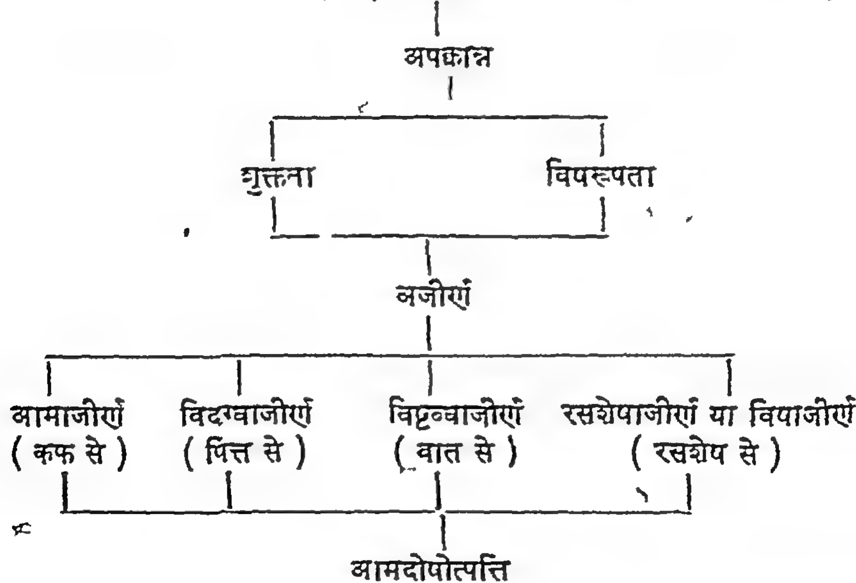
(ii) रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि तु।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसञ्चयात् ॥' (अ हृ. नि. १०)

अजीर्ण प्रधानतया तीन प्रकार का तीनों दोषों से उत्पन्न होता है जैसे—वायु से विष्टब्धाजीर्ण, पित्त से विदग्धाजीर्ण, और कफ से आमाजीर्ण। अपक्वान्न-रस के शेष रहने से चौथा रस-शेषाजीर्ण भी होता है। शार्ङ्गधर ने रसशेषाजीर्ण को विपाजीर्ण कहा है। इन अजीर्णों के उचित प्रतिकार नहीं होने पर विसूचिका, अलसक, दण्डालसक तथा विलम्बिका आदि भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं।[1]

( १ ) अग्निदोष




( १ ) मन्दाग्नि



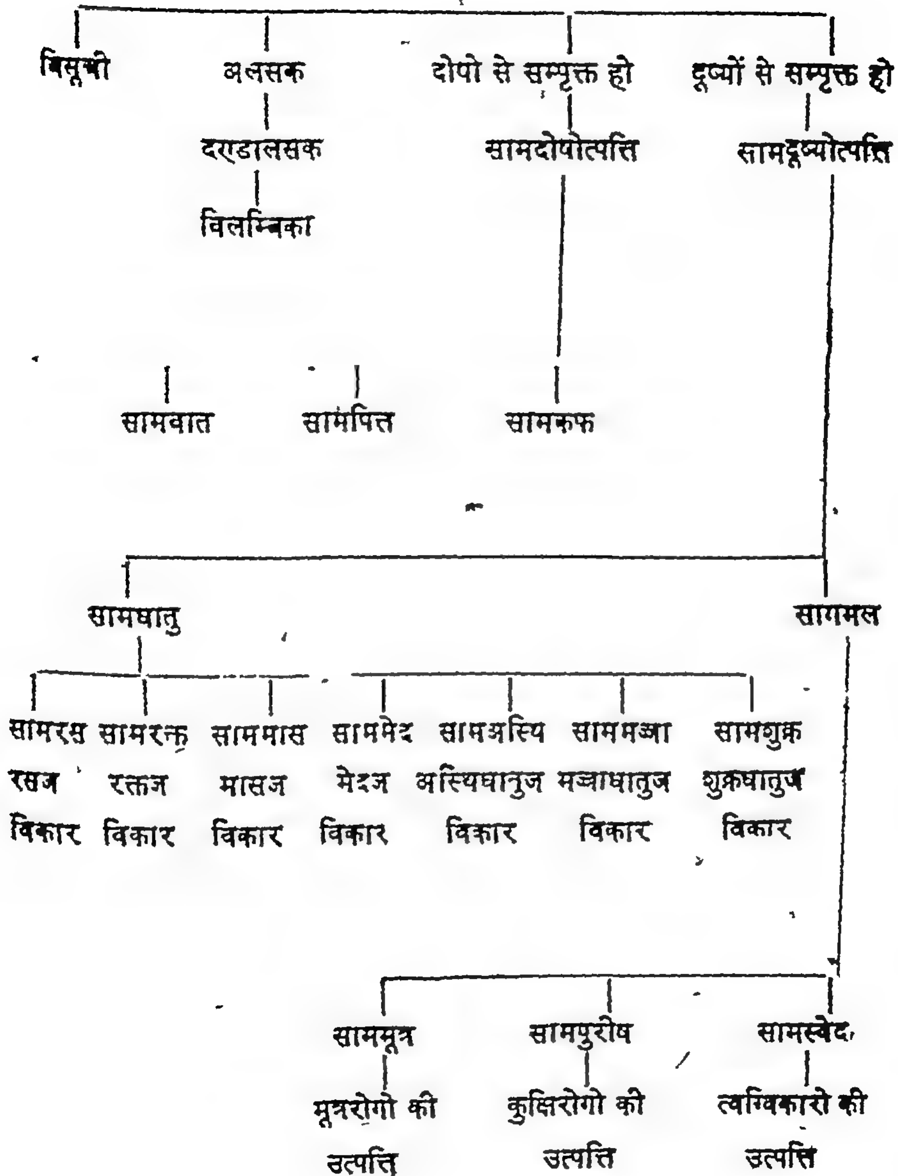

( iii ) 'अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥' ( मा. नि )

१ ( i ) 'अजीर्णं त्रिविधं प्रोक्तं विष्टब्धं वायुना मतम्।
पित्ताद्विदग्धं विज्ञेयं कफेनामं तदुच्यते ॥
विपाजीर्णं रसादेकम् ...................... ॥' ( शार्ङ्गधर प्र. ७ )

( ii ) अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत्।
पीड्यमाना हि वाताद्या युगपत्तेन कोपिताः ॥
आमेनान्नेन दुष्टेन तदेवाविश्य कुर्वते।
विष्टम्भयन्तोऽलसकं च्यावयन्तो विसूचिकाम् ॥
अधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवाजितात्मनः। ( अ. हृ. सू. ८ )

२—( आमविषोत्पत्ति )

( द्विविधम् )




३—मन्दाग्नि
|
ग्रहणीविकार

अग्नि

| अग्निनाम | दोषारम्भकत्व | विकृति | लक्षण |
|---|---|---|---|
| समाग्नि (युक्त भोजन करने वाले की) | समवात-पित्त कफ-प्रकृति पुरुषों का | अपचार से विकृति अनपचार से अविकृति, धातुसाम्यकर | समपाक प्रकृतिस्थापन |
| विषमाग्नि | वात से, वातल पुरुषों की | वाताभिभूत अग्न्यधिष्ठान, धातुवैषम्यकर | विषमपाक अनियत पाक वातजरोगोत्पादक |
| तीक्ष्णाग्नि | पित्त से, पित्तल पुरुषों की | पित्ताभिभूत अग्न्यधिष्ठान, धातुविशोषण (मन्देन्धन होने पर) | सर्वापचारसह आशुपाक पित्तज रोगोत्पादक |
| मन्दाग्नि | कफ से, कफप्रकृति पुरुषों की | श्लेष्माभिभूत अग्न्यधिष्ठान, अन्न का विदाह ऊर्ध्वाधोगमन (आमदोष का) | लघु अन्न का भी पाक न होना, चिरपाक विदाह, अजीर्ण, आमाजीर्ण, ग्रहणीविकार |

ग्रहणी विकार[1]

विषमाग्नि — मन्दाग्नि — तीक्ष्णाग्नि (भस्मक) — वातज ग्रहणी — पित्तज ग्रहणी — कफज ग्रहणी — सन्निपातज ग्रहणी

शारङ्गधर ने पाँचवाँ ग्रहणी रोग 'आमजग्रहणी' भी कहा है।[2]

---

१. 'यश्चाग्नि' पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विध ।
त चापि ग्रहणीदोष समवर्ज प्रचक्ष्महे ॥' (च चि १५)

२ (i) 'वातात् पित्तात् कफाच्च स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एव च ।' (च चि. १५)

(ii) एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः । (सु. उ ४०)

(iii) × × × ग्रहणी पञ्चधा मता । पृथग्दोषैः सन्निपातात्तथा चामेन पञ्चमी ।'

(शार्ङ्गधर)

## अग्निदोषजानां विकाराणां सूच्यः

### (१) सामान्या अग्निदोषजा विकृतयः

(१) मन्दाग्नि (कफेन)
(२) विषमाग्नि (वातेन)
(३) तीक्ष्णाग्नि (पित्तेन)
(४) ग्रहणीविकारा —

१. वातेन
२ पित्तेन
३ कफेन
४ सन्निपातेन
५ आमेन

### (५) अजीर्णानि—

१. आमाजीर्णम् (कफेन)
२. विदग्धाजीर्णम् (पित्तेन)
३ विष्टब्धाजीर्णम् (वातेन)
४ रसशेषाजीर्णम्–विषाजीर्णम् वा– (रसशेषेण, अन्नविषेण वा)

### (६) आमविषम्–आमदोषं वा—

१. विसूचिका
२ अलसकः
३ दण्डालसकः
४ विलम्बिका

### (७) आम सम्पृक्तविकाराः—

१ सामवात-विकारा.
२ सामपित्त „
३ सामकफ „
४. साम रसजा „
५ „ रक्तजा „
६ „ मांसधातुजा „
७. „ मेदो „ „
८. „ अस्थि „ „
९ „ मज्ज „ „
१०. साम-शुक्रधातुजा विकाराः
११. „ मूत्रज „
१२ „ पुरीषजा „
१३ „ स्वेदजा „

### (८) मन्दाग्निजन्यकफजा विकाराः
### (९) विषमाग्निजन्यवातजा „
### (१०) तीक्ष्णाग्निजन्यपित्तजा „

#### सामवातविकाराः „

१ आमवातः (अ सं सू २१)
२. विबन्धः „
३. अग्निसादः „
४ तन्द्रा „
५ अन्त्रकूजनम् „
६. अङ्गवेदना „ (अङ्गमर्दः)

७. शोथ· (अ. सं. सू. २१)
( शूनताङ्गानाम् )
८. निस्तोदः ( अ सं. सू० २१ )
९. अङ्गग्रहः „
१० स्रोतोरोध: (आमदोषस्य सामान्य-
विकारः)
११ बलभ्रंशः „
१२ गौरवम् „
१३ अनिलमूढता „ (वायोरसञ्चारः)
१४. आलस्यम् „
१५ अपाकः „
१६. निष्ठीवः „
१७. मलसङ्गः „
१८ अरुचिः „
१९ क्लम. „
२० अर्ति ( अ. सं सू २१ )
२१. आध्मानम् „
२२. स्तैमित्यम् (अ. हृ नि १६-२९)
२३. तृष्णा
२४. ज्वर
२५. सरुजः शोथ· ( हस्तपादशिरो
गुल्फ-त्रिकजानूरुसन्धिषु )
२६ प्रसेक
२७ उत्साहहानिः
२८ वैरस्यम्
२९. दाह
३०. बहुमूत्रता
३१ कुक्षौ कठिनता
३२ कुक्षौ शूलम्
३३ निद्रानाश.
३४. छर्दि·
३५ भ्रम
३६ मूर्च्छा
३७. हृद्‌ग्रह
३८ जाड्यम्
३९ आनाह

## सामपित्तविकाराः—

१ अम्लपित्तम् ( च चि १५ )
२ दाह· „
३ तृष्णा „
४. मुखामया. „
५ अम्लिका (अ. हृ सू. १३ टीकासु)
६. कण्ठदाहः „
७ हृद्दाह· „
८ दुर्गन्धियुक्तपित्तवमनम् „
९. हरित „ „
१०. श्याव „ „
११ अन्ये पित्तविकारा. (च चि १५)
१२ सामान्यसामदोषलिङ्गानि

## सामकफविकाराः—

१. यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) (च चि १५)
२. पीनस. „
३. मेहा. „
४. दुर्गन्धकफनि·सरणम्
„ (अ. हृ. सू १३)
५. [illegible] „
६ तन्तुलकफनि.सरणम् „
७. स्त्यान „ „
८. कफस्य कण्ठदेशेऽवस्थानम् „
९ क्षुद्-विघात· „
१०. उद्गार „ „
११ प्रलेपिपिच्छिलकफनि सरणम्
( अ हृ. सू १३ )

१२ अन्ये कफविकारा· (च चि १५) १३ सामान्यंसामदोषलिङ्गानि—

**सामानलविकाराः—**

१ दोषापाचनम् (अ हृ सू ८) ३ अशितापाचनम् ”
२ औषधापाचनम् ”

**साममूत्रविकाराः—**

१. मूत्ररोगा. (च चि. १५) २ मूत्रायतनरोगाः (सु सू २४)

**सामशकृद्विकाराः—**

१ कुक्षिरोगा. (च. चि १५) २. मलायतनरोगा. (सु सू २४)

**सामस्वेदविकाराः—**

१ त्वग्दोषा. (सु सू २४)

**(१) सामरसजा (रसप्रदोषजा) विकाराः**

१ अश्रद्धा (अन्ने) (च सू २८) १२ स्रोतसा रोध (च सू २८)
२. अरुचि. ” मार्गोपरोध (सु सू २४)
३ आस्यवैरस्यम् ” १३ क्लैब्यम् (च सू २८)
४ अरसज्ञता ” १४ अङ्गावसाद ”
५ हृल्लास. ” १५ कृशाङ्गता (च सू २८)
६ गौरवम् ” कार्श्यम् (सु सू. २४)
७ तन्द्रा ” १६ अग्निनाश (च सू २८)
८ अङ्गमर्द ” १७ अयथाकाल वलय ”
९ ज्वरः ” १८ ” पलितानि
१० तम ” १९ अविपाक (सु. सू २४)
११ पाण्डुत्वम् (च सू २८) २० तृप्ति ”
पाण्डुरोग. (सु सू. २४) २१. हृद्रोग. ”

**(२) सामरक्तजाः (रक्तप्रदोषजाः) विकाराः**

१. कुष्ठ (च सू अ २८) ९ प्लीहा (वृद्धि.) ”
२ वीसर्प. ” १० गुल्म. ”
३. पिडका ” ११ विद्रधि ”
४ रक्तपित्तम् ” १२ नीलिका ”
५ असृग्दर. ” १३ कामला ”
६ गुदपाक ” १४ व्यङ्ग ”
७. मेढ्रपाक. ” १५ पिप्लव. ”
८ आस्यपाक ” १६ तिलकालका· ”

१७. दद्रुः ”
१८. चर्मदलम् ”
१९ श्वित्रम् ”
२०. पामा ”
२१ कोठ ”
२२. रक्तमण्डलम् ”
२३ मषक (सु. सू. अ २४)
२४ न्यच्छ ”
२५ इन्द्रलुप्त ”
२६ वातशोणितः ”
२७. अर्श. ”
२८. अर्बुद ”

## (३) साममांसजाः (मांसप्रदोषजाः) विकाराः

१. अधिमांस (च सू अ. २८)
२. अर्बुद ”
३ चर्मकीलम् ”
४. गलशालूक ”
५. गलशुण्डिका ”
६. पूतिमांस ”
७ अलजिका ”
८. गलगण्डः ”
९ गण्डमाला ”
१०. उपजिह्विका (सु सू अ २४)
११. अधिजिह्वा ”
१२. अर्श ”
१३ उपकुश ”
१४. अलजी ”
१५ मांससंघात. ”
१६. ओष्ठप्रकोपः ”

## (४) साममेदोजाः (मेदः प्रदोषजाः) विकाराः

१ प्रमेहाना पूर्वरूपाणि (च सू अ २८)
२. ग्रन्थि. (सु सू २४)
३ वृद्धि (कोपवृद्धि) ”
४ गलगण्ड. ”
५. अर्बुद (मेदोज) (सु सू २४)
६. ओष्ठप्रकोप ”
७ मधुमेह ”
८. अतिस्थौल्यम् ”
९ अतिस्वेदः ”

## (५) सामास्थिजाः (अस्थिप्रदोषजाः) विकाराः

१. अध्यस्थि (च सू अ. २८)
२. अधिदन्तः ”
३. दन्तभेद ”
४. दन्तशूलम् ”
५ अस्थिभेद ”
६ अस्थिशूलम् ”
७ विवर्णता ”
८ केशदोष (च सू अ. २८)
९ लोमदोष. ”
१०. नखदोषः ”
११. श्मश्रुदोषः ”
१२ कुनख. (सु सू २४)
१३. अस्थितोदः ”

### (६) साममज्जजाः (मज्जप्रदोषजाः) विकाराः

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ पर्वणां रुक् | (च सू. अ २८) | ५ अरूंषि | (च सू अ २८) |
| २ भ्रम | ” | ६ पर्वस्थूलमूलता | ” |
| ३ मूर्च्छा | ” | ७ नेत्राभिष्यन्दः | (सु सू २४) |
| ४ तमसोदर्शनम् | ” | | |

### (७) सामशुक्रजाः (शुक्रप्रदोषजाः) विकाराः

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. क्लैब्यम् | (च सू अ. २८) | ७ गर्भस्राव. | (च सू अ. २८) |
| २. अहर्षणम् | ” | ८. दारबाधा | ” |
| ३ अल्पायुस्त्वम् | ” | ९ शुक्राश्मरी | (सु सू २४) |
| ४ विरूपत्वम् | ” | १० शुक्रमेह | ” |
| ५ गर्भाजनकत्वम् | ” | ११. शुक्रदोष. | ” |
| ६. गर्भपात. | ” | | |

### (८) मलायतनदोषाः

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. त्वग्दोषाः | (सु सू. २४) | ३ मलातिप्रवृत्तिः | (सु सू २४) |
| २. मलसङ्ग. | ” | ४ मलाप्रवृत्तिः | ” |

### (९) इन्द्रियायतनदोषाः

| | |
|---|---|
| १. इन्द्रियाणामप्रवृत्तिः | २ ” अयथाप्रवृत्तिः |

| कफजाः विकाराः (मन्दाग्निजन्याः) | | पित्तजाः (तीक्ष्णाग्निजन्याः) विकाराः | |
|---|---|---|---|
| १. तृप्ति | (च सू अ २०) | १. भस्मकः (अत्यग्निः) | (च चि १५) |
| २ तन्द्रा | ” | २. ओष. | (च सू अ २०) |
| ३. निद्राधिक्यम् | ” | ३ प्लोष. | ” |
| ४ स्तैमित्यम् | ” | ४ दाह | ” |
| ५ गुरुगात्रता | ” | ५ दवथुः | ” |
| ६ आलस्यम् | ” | ६ धूमक | ” |
| ७ मुखमाधुर्यम् | ” | ७ अम्लक | ” |
| ८. मुखस्राव | ” | ८. विदाहः | ” |
| ९ श्लेष्मोद्गिरणम् | ” | ९. अन्तर्दाहः | ” |
| १०. मलाधिक्यम् | ” | १० असदाह | ” |
| ११ बलासक | ” | ११ ऊष्माधिक्यम् | ” |
| १२. अपक्तिः | ” | १२ अतिस्वेद. | ” |
| १३ हृदयोपलेप | (च सू अ २०) | १३ अङ्गगन्ध | ” |
| १४ कण्ठोपलेपः | ” | १४ अङ्गावदरणम् | ” |
| १५ धमनीप्रतिचयः | ” | १५. शोणितक्लेद | ” |
| १६ गलगण्ड | ” | १६ मासक्लेदः | ” |

| कफजा विकाराः (मन्दाग्निजन्याः) | | पित्तजाः (तीक्ष्णाग्निजन्याः) विकाराः | |
|---|---|---|---|
| १७ अतिस्थौल्यम् | (च सू अ २०) | १७. त्वग्दाह. | (च सू अ २०) |
| १८. शीताग्निता | " | १८ मासदाह | " |
| १९ उदर्द· | " | १९ त्वगवदरणम् | " |
| २० श्वेतावभासता | " | २० चर्मदलनम् | " |
| २१. श्वेतमूत्रत्वम् | " | २१ रक्तकोष्ठ· | |
| २२. श्वेतवर्चस्त्वम् | " | २२ रक्तविस्फोट· | " |
| २३. श्वेतनेत्रत्वम् | " | २३ रक्तपित्तम् | (च सू. अ २०) |
| २४ श्वैत्यम् | " | २४ रक्तमण्डलानि | " |
| २५. शैत्यम् | " | २५ हरितत्वम् | " |
| २६ कण्डू. | " | १६ हारिद्रत्वम् | " |
| २७ स्थैर्यम् | " | २७ नीलिका | " |
| २८ स्निग्धत्वम् | " | २८ कक्षा | " |
| २९. सुप्ति | " | २९ कामला | " |
| ३०. क्लेद | " | ३० तिक्तास्यता | " |
| ३१ उपदेह | " | ३१ लोहितगन्धास्यता. | " |
| ३२ बन्ध | " | ३२ पूतिमुखता | " |
| | | ३३ तृष्णाधिक्यम् | " |
| | | ३४ अतृप्ति | " |
| | | ३५ आस्यविपाक | " |
| | | ३६ गलपाक | " |
| | | ३७ अक्षिपाक | " |
| | | ३८ मुखपाक | " |
| | | ३९ गुदपाक. | " |
| | | ४० मेढ्रपाक | " |
| | | ४१ जीवादानम् | " |
| | | ४२ तमःप्रवेशः | " |
| | | ४३ हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वम् | " |

उपर्युक्त सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राय ७५ प्रतिशत रोग अग्निदोष से उत्पन्न होते हैं। काय चिकित्सा मे प्रयुक्त 'काय' शब्द अग्निवाचक है यह पहले कहा जा चुका है। अग्निदोष से उत्पन्न सभी विकार काय चिकित्सा के क्षेत्र के अन्दर आ जाते हैं।

काय चिकित्सा को आधुनिक विज्ञान 'इनर मेडसिन' ( Inner medicine ) कहता हैं। इस चिकित्सा क्षेत्र के अन्तर्गत वे सभी रोग आते हैं जो पचन-प्रणाली तथा मेटाबोलिक विकारो से उत्पन्न होते हैं।

# परिशिष्ट

## स्रोतो-विवेचन

(Opening, meatuses, passages, channels, tubes ducts, tracts)

**( १ ) स्रोत की परिभाषा तथा स्रोत शब्द की निरुक्ति**—चरक में स्रोत-शब्द व्यापक रूप में प्रयुक्त हुआ है। स्रोत शब्द की निरुक्ति करते हुए चरक ने कहा है कि शरीर में रसादि पोषक धातुओं का स्रवण तथा अभिवहन करने वाले सभी मार्गों को 'स्रोत' कहते हैं[१]। इनकी व्यापकता को और अधिक स्पष्ट करने के लिये यहाँ तक उल्लेख किया है कि शरीर में जितने भी मूर्त्तिमान् भाव विशेष हैं उतने प्रकार के स्रोत भी शरीर में विद्यमान हैं। शरीर के किसी भी भाव की उत्पत्ति, वृद्धि तथा क्षय स्रोतों के बिना सम्भव नहीं। शरीर में परिणाम को प्राप्त होने वाले सभी शारीर धातुओं के अभिवाहक स्रोत ही हैं। स्रोत का प्रयोग 'अयन' ( मार्ग ) के अर्थ में हुआ है[२]। आगे चलकर कहा है कि सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाडी, पन्थ, मार्ग, शरीरच्छिद्र, संवृतासंवृत, स्थान, आशय, निकेत तथा स्रोत ये सब लक्ष्य तथा अलक्ष्य शारीर-धात्ववकाशों के ही नाम हैं[३]। चक्रपाणि दत्त ने इन उपर्युक्त शब्दों को स्रोत का पर्याय माना है[४]।

---

१. ( i ) 'स्रवणात् स्रोतांसि।' ( च. सू ३०-१२ )

( ii ) 'स्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्रवणात्।' ( चक्र )

( iii ) 'रसस्यैव पोषकस्य स्रवणात्' इति पाठो युक्त ( यादव )

( iv ) 'स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन।' ( च वि अ ५ )

२ ( i ) 'यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः। सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति।' ( च वि अ ५-३ )

( ii ) 'मूर्तिमन्त इति असर्वगतद्रव्यपरिमाणवन्तः, असर्वगतद्रव्यपरिमाणं हि मूर्तिरुच्यते। भावविशेषा इति उत्पत्तिमन्तो विशेषाः। अत्र हेतुमाह—सर्वे इत्यादि। अभिनिर्वर्तन्त इति सतानन्यायेन। स्रोतांसीत्यादि। खलु शब्दो हेतौ। परिणाममापद्यमानानाम्। अयनार्थेनेति वचनात् न स्थिराणां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति स्रोतांसि, किन्तु देशान्तरप्रापणेनाभिवाहीनि भवन्ति।' ( चक्र )

३ 'स्रोतांसि, सिराः, धमन्यः, रसायन्यः, रसवाहिन्यः, नाड्यः, पन्थानः, मार्गाः, शरीरच्छिद्राणि, संवृतासंवृतानि, स्थानानि, आशयाः, निकेताश्चेति शारीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति।' ( च वि अ ५-९ )

४ 'स्रोतसां व्यवहारार्थं पर्यायानाह—स्रोतांसीत्यादि।' ( चक्र )

उपर्युक्त चरकोक्त स्रोतो-वर्णन मे समागत 'परिणाममापद्यमानाना धातूनामभिवाहीनि भवन्ति अयनार्थेन' वाक्य स्रोत के स्वरूप को अधिक स्पष्ट कर देता है। इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर के स्थायी या स्थिर धातुओ का अभिवहन स्रोत नही करते। ये पोषक अस्थिर रस रक्तादि धातुओ का ही अभिवहन करते हैं। चक्रपाणि दत्त ने इसकी व्याख्या मे कहा है कि ये स्रोत अन्न रस से उत्पन्न पोषक रस धातु को स्थायी रस धातु के पास पोषणार्थ पहुँचाते हैं। पुन. रस जब रक्त बन जाता है तब यह पोषक रक्त स्रोतो द्वारा शरीर के स्थायी रक्तधातु के पास पहुँचाया जाता है जिससे उसका पोषण होता है। इसी प्रकार पोषक मास अपने स्रोतो द्वारा पोष्य स्थायी मास धातु के पास, पोषक मेद अपने स्रोतो द्वारा पोष्य मेद धातु के पास, पोषक अस्थि धातु पोष्य अस्थि धातु के पास, पोषक मज्जा पोष्य मज्जाधातु के पास तथा पोषक शुक्रधातु पोष्य शुक्रधातु के पास अपने-अपने स्रोतो द्वारा पहुँचकर उनका पोषण करता है[1]।

प्रत्यक्ष शारीर ( क्रियाओ ) द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि ये कार्य आन्त्रस्थ सिराओ ( Veins ) रसायनियो ( Lymphaics ) तथा पयस्विनियो ( Lacteals ) द्वारा याकृत रक्तवाहिनियो तथा रसकुल्या से होकर अधरा महाशिरा मे जाता है और वहाँ से हृदय मे पहुँचता है। हृदय मे पहुँचकर वहाँ से वह सर्वशरीर-धातूपदानमय रक्त फुफ्फुस मे जाता है और पुन. वहाँ से लौटकर हृदय के वाम भाग मे आता है जहाँ से सम्पूर्ण शरीर मे महाधमनी द्वारा प्रेषित होता है। महाधमनी ( Aorta ) अपनी शाखा, प्रशाखाओ ( Arteris & capillaries ) द्वारा शारीर-धातूपादानमय रक्त को शरीर के सूक्ष्म तथा स्थूल सभी अवयवो मे पहुँचाती है जिससे उनका पोषण होता है। रक्त द्वारा सभी धातुओ के पोषण का सङ्केत स्पष्ट रूप मे सुश्रुत ने—'धातूना क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते' इस पद द्वारा किया है[2]।

स्रोतो के स्वरूप का जो वर्णन चरक मे उपलब्ध होता है वह भी चरका-

---

१ 'एव मन्यते—रक्तस्य वृद्धि शोणितरूपनया परिणमता रसेन मिलितेन कर्त्तव्या, स च स्थानान्तरस्थस्य रसस्य रुधिरेण सम मेलको न गमनमार्ग स्रोत सज्ञकमन्तरा भवति। अय तावदभिसन्धि —स्रोत कारणिको हि धातूना प्रायो रक्तादीनामुत्तरधातुपोषकभागपरिणामो भवति, तच्चापि उत्तरधातुपोषण नान्तरेण स्रोतो भवति, यथ रक्ते न्याय, स सर्वत्र शारीरे भावे, न चान्यस्रोतसाऽन्यधातुपुष्टि. सभवति, सर्वपोष्याणा भिन्नदेशत्वात्। नह्यभिन्नेन स्रोतसा भिन्नदेशवृत्तयो सेचनमस्ति।'

( चक्र च वि अ ५-३ )

२ 'एषा ( धातूना ) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते।' ( सु. सू अ १४- )

निमत स्रोत को समझने मे सहायक है। जैसे—जो धातु जिस स्रोत मे अभिवाहित होते हैं उनका ( उस स्रोत का ) वर्ण उसी धातु के वर्ण के समान होता है। अर्थात् रसवाही स्रोत का वर्ण रसवर्ण का, रक्तवाही स्रोत का वर्ण रक्तवर्ण का, मासवाही स्रोत का वर्ण मासवर्ण का, मेदोवाही स्रोत का वर्ण मेदोवर्ण का, अस्थिवाही स्रोत का वर्ण अस्थिवर्ण का मज्जावाही स्रोत का, वर्ण मज्जावर्ण का तथा शुक्रवाही स्रोत का वर्ण शुक्रवर्ण का होना चाहिये। इनकी आकृति के सम्बन्ध मे कहा है कि ये वृत्त ( नलकाकार ), स्थूल, अणु ( सूक्ष्म ) दीर्घ ( लम्बा ) तथा प्रतान सदृश होते हैं[1]।

प्रत्यक्ष शारीर के अनुसार शारीर-धातूपादानो को अभिवहन करने वाली नालियाँ जैसे रक्तवाहिनियाँ ( Blood vessels ) नीली ( Veins ) रक्तवर्ण ( Arteries ) श्वेतपीताभ ( Lymphatics ) तथा दुधिया ( Lacteals ) रंग की होती हैं। आयुर्वेद मे भी रक्तवाहिनियो के वर्णपरक नाम जैसे—अरुणा, रोहिणी, गौडी, नीला प्राप्त होते हैं[2]। वेदो मे 'हीरा' शब्द भी प्राप्त होता है।

चरक शारीर स्थान पाँचवें अध्याय मे ९ स्रोतो का वर्णन उपलब्ध होता है। यहाँ स्रोत से ( १ ) नासास्रोत, ( २ ) नयनस्रोत, ( ३ ) वदन ( मुख )-स्रोत, ( ४ ) श्रवण ( कर्ण )-स्रोत, ( ५ ) गुदस्रोत, ( ६ ) मेढ्रस्रोत, ( ७ ) स्तनस्रोत, ( ८ ) रक्तवह स्रोत या योनिस्रोत का ग्रहण किया है[2]। इन स्रोतो को वहिर्मुख स्रोत कहा है।

चरक सूत्र स्थान अध्याय २८ मे कहा है कि ये स्रोत मल सज्ञक तथा प्रसाद सज्ञक धातुओं के 'अयनमुख' है। ये यथा विभाग अपने-अपने धातुओ का आपूरण करते हैं[3]। चक्रपाणि दत्त ने इसकी व्याख्या मे कहा है कि 'प्रवेशमार्ग' को अयनमुख कहते हैं। अर्थात् जिस मार्ग से मल सज्ञक तथा प्रसाद सज्ञक धातुयें अपने-अपने स्थायी धातुओ मे प्रवेश करती हैं वे 'अयनमुख' हैं।

चरक ने आगे चल कर कहा है कि शारीर धातुओ का पोषण आहारगत धातूपादानो से अपने-अपने स्रोतो द्वारा होता है। अर्थात् चतुर्विध भुक्तान्न का परिपाक होने पर जो आहार या अन्नरस-निर्मित होता है उस अन्नरस मे सम्पूर्ण शारीर धातुओ का उपादान रहता है। इस अन्नरस के विभिन्न धात्वग्नियो द्वारा परिपक्व होने पर प्रसादसंज्ञक पोषक रसादि धातुओ की तथा पोषक मलो की

१ 'स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतासि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥' ( च वि अ ५ )

२ 'श्रवण-नयन-वदन-घ्राण-गुद-मेढ्राणि नव स्रोतासि नराणा वहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद् रक्तवह च।' ( च शा ५-१० )

३ 'च सू. अ. २८-५-चक्रः।'

उत्पत्ति होती है जिनसे तत्तद् पोष्य धातुओं तथा मर्मों का अपने-अपने स्रोतों द्वारा पोषण होता है।[1]

त्रिविधकुक्षीयाध्याय विमानस्थान में (चरक ने) कहा है कि आहार का आमाशय में पाक हो जाने पर आहाररस (अन्नरस) धमनियों द्वारा मर्मों आशयो में पहुँचता है।[2] यहाँ धमनी शब्द स्रोत के अर्थ में ही प्रयुक्त प्रतीत होता है। पुन चिकित्सा स्थान अध्याय १५ (ग्रहणीरोगाधिकार) में कहा है कि भोज्य धातुओं की चक्रवत् परिवृत्ति होती रहती है और उनका सम्पूर्ण शरीर में अनवरत सचार भी होता रहता है। भोजन से उत्पन्न यह पोषक रसादि धातु व्यान वायु द्वारा शरीर के सभी भागों में अवयवों के पोषणार्थ अजस्र रूप में युगपत विक्षिप्त होता रहता है।[3] चक्रपाणिदत्त ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि यहाँ रसधातु से रसरूप धातु किम्वा रुधिरादि सभी द्रव धातु का ग्रहण करना चाहिये। भोज्य धातु की व्याख्या करते हुए कहा है कि भोजन में उपयुक्त आहार से उत्पन्न रसादि धातुओं की चक्रवत् परिवृत्ति अर्थात् अविश्रान्त समुत्पत्ति होती रहती है। 'धातवो हि धात्वाहारा प्रकृतिमनुवर्तन्ते।' की व्याख्या करते हुए चक्रपाणिदत्त ने स्पष्ट किया है कि शरीर के स्थायी रसादि धातुएँ शरीर-व्यापार को सम्पन्न करने में सदा क्षीण होती रहती हैं जिनकी, पूर्ति या पोषण असितादि भोजन (आहार) से उत्पन्न उपादान रसादि धातुओं से होता है जिससे इन रसादि स्थायी धातुओं का स्वास्थ्य (प्रकृति) अक्षुण्ण रहता है।[4]

चरकोक्त स्रोत के व्यापारो के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष-शारीरविज्ञों ने आहाररस के आचूषण (Absorption) तथा सात्म्यीकरण (Assimilation) के जिन मार्गों का वर्णन किया है वे सभी आयुर्वेद-वाङ्मय में स्रोत ही हैं।

---

१. (i) 'स्रोतसा च यथास्वेन धातु पुष्यति धातुन.।' (च चि ८-३९)

(ii) पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रिय-द्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवा'।'

(च. सू २८-४)

२. 'आमाशयगत पाकमाहार- प्राप्य केवलम।
पक्व' सर्वाशय पश्चाद्धमनीभि. प्रपद्यते ॥' (च. वि २-१८)

३ 'सततं भोज्यधातूना परिवृत्तिस्तु चक्रवत्।'
'व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥' (च चि १५)

४. 'धातुराहारो येषा ते धात्वाहारा, धातवो रसादयो नित्यं क्षीयमाणा अशितादिजनित धात्वाहारा एव सन्त- पर स्वास्थ्यमनुवर्तन्ते, नान्यथा इत्यर्थ.।'

(च. चि. २८-३ चक्र')

सुश्रुत ने स्रोतो का वर्णन करते हुए कहा है कि सिरा तथा धमनी को छोड कर हृदयादि छिद्रो से फैली हुई अवकाशयुक्त नालियाँ जो धात्वादि का अभिवहन करती हैं वे सब स्रोत हैं ।[1] इसके समर्थन मे वे पुन. कहते हैं कि ऐसे आचार्य भी हैं जो सिराधमनी तथा स्रोतो मे कोई भेद नही मानते । वे सिरा के ही अवान्तर रूप को धमनी तथा स्रोत मानते हैं । डल्हण ने इस पूर्वपक्ष के समर्थन मे एक और वचन उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि शरीर मे आकाशीय अवकाशो का ही नाम स्रोत, सिरा, धमनी, मार्ग, ख, नाडी एव आशय है[2] । परन्तु सुश्रुत ने उसका खण्डन करते हुए कहा है कि ऐसा मानना उचित नही । क्योकि इन ( सिरा तथा धमनियो ) के भिन्न लक्षण शास्त्रो मे उपदिष्ट है । जैसे—वातादि वहन करने वाले सिराओ के अरुण, नील, लोहित, शुक्ल आदि वर्ण कहे गये हैं परन्तु शब्दादिवह धमनियो का कोई वर्ण शास्त्रो मे प्रतिपादित नही है । अत उनमे वहन करने वाले धातुओ का वर्ण ही धमनियो का वर्ण स्रोतो के समान् मानना चाहिये । स्रोतो के भिन्न होने का दूसरा कारण 'मूलसन्नियम' बतलाते हैं अर्थात् सिरा तथा स्रोत के मूल का प्रकारो का जो वर्णन है उसमे भी भेद है जैसे—मूल सिरायें ४० हैं, जो पुनः ७०० हो जाती हैं इत्यादि । इसी प्रकार २४ धमनियाँ हैं इत्यादि । स्रोतो का वर्णन करने हुए कहा है कि २२ स्रोते हैं । पुनः कहते हैं कि सिरा, धमनी तथा स्रोतो के कर्मों मे भी भेद है । अत· स्रोत, सिरा तथा धमनो से भिन्न हैं । अपने मत का उपसहार करते हुए सुश्रुताचार्य कहते हैं कि जो लोग 'सरणात् सिरा, ता एव ध्मानाद्धमन्य., स्रवणात् स्रोतासि' इस निरुक्ति के आधार पर इन्हे एक मानते हैं तथा 'सिरा.धमन्यो योगवहानि स्रोतासि' ( शा. अ ५ ) इस वचन के आधार पर इन्हे एक मानते हैं उन्हें यह भी विचार करना आवश्यक है कि यदि ये ( सिरा, धमनी तथा स्रोतें ) भिन्न नही हैं, एक ही हैं तो इनके पृथक्-पृथक् गुण कर्मों का वर्णन क्यो किया गया ? यह तो सम्भव है कि इनके

---

१ 'मूलात् खादन्तर देहे प्रसृत त्वभिवाहि यत् ।
स्रोतस् तदिति विज्ञेय सिराधमनीवर्जितम् ॥' ( सु शा ९-१३ )
'मूलात् खादिति हृदयादिच्छिद्रात्, प्रसृत अभिवहनशील, यदन्तरम् अवकाश, तत् स्रोतो विज्ञेयम् ।' ( डल्हण )

२ 'तत्र केचिदाहु·—सिराधमनीस्रोतसामविभाग, सिराविकारा एव धमन्य स्रोतासि-चेति । तत्तु न सम्यक् । अन्या एव हि धमन्य स्रोतासि च सिराभ्य । कस्मात् ? व्यञ्जनान्यत्वात्, मूलसन्नियमात्, कर्मवैशेष्यात् आगमाच्च; केवल तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामपि अविभाग इव कर्मसु भवति ।' ( सु शा. ९-३ )

परस्पर सन्निकर्ष होने से तथा अनेक गुण कर्म में सादृश्य होने से तथा अति सूक्ष्म भेद होने से इन्हें यथास्थल व्यापक बुद्धि से एक अर्थात् परस्पर अभिन्न प्रतिपादित किया गया है[१]। परन्तु ये हैं भिन्न ही।

शारीर स्थान ५वें अध्याय में सुश्रुत ने भी ९ स्रोतों का वर्णन किया है और चरक के समान ही उनका नामकरण किया है[२]। डल्हण ने अपनी व्याख्या में यह भी स्पष्ट किया है कि धमनी व्याकरणाध्याय में जो स्रोतों का वर्णन है वे 'अन्तर्मुख स्रोत' हैं। अतः ये ९ स्रोत बहिर्मुख स्रोत हैं। इस प्रकार बहिर्मुख स्रोतों के वर्णन में चरक तथा सुश्रुत में कोई मतभेद नहीं है[३]।

**स्रोतोरचना**—सुश्रुत ने कहा है कि वायु यथार्थ ऊष्मा से युक्त हो स्रोतों का निर्माण करती है। डल्हणाचार्य ने अपनी व्याख्या में कहा है कि पित्त के साथ वायु ९ प्रकार के स्रोतों को बनाती है।[४] यथार्थ का अभिप्राय उन्होंने यथा प्रयोजन बतलाया है। स्थूल तथा सूक्ष्म स्रोतों का वायु भेत्ता तथा प्रवर्तक है।

---

१. (i) सु. शा. ९-३ पर डल्हण।
(ii) 'आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः॥' (डल्हण)
(iii) 'सरणात् सिराः, ता एव ध्मानाद्धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि इति।' (डल्हण)
(iv) 'तत्र सिराणां वातादिवहानामरुण-नील-लोहित-शुद्धवर्णत्वं लक्षणं, शब्दादिवहधमनीनां तु वर्णानुक्ते स्वधातुसमवर्णत्वम्, एवं स्रोतसामपि। यदुक्तं चरके-(वि. अ. ५)।
मूलसन्नियमो द्वितीयो भेदो यथा—'तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्' इत्यारभ्य यावत्—'एवमेतानि सप्तसिराशतानि' (शा. अ. ७)
धमनीनां तु 'चतुर्विंशतिधमन्यः' स्रोतांसि पुनर्द्वाविंशतिः स्रोतांसि। (डल्हण)
(v) 'सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि' (सु. शा. ५)
'स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि × × × × नव स्रोतांसि।' (सु. शा. ५)
२. (i) 'श्रवण-नयन वदन घ्राण-गुद-मेढ्राणि नवस्रोतांसि बहिर्मुखानि।' एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च।' (सु. शा. ५-१०)
'ननु स्रोतांसि प्रत्यङ्गेषु किमिति न निर्दिष्टानीत्याह। स्रोतांसीत्यादि वक्ष्यमाणानि इति आश्रितेषु त्वगाद्यवयवेषु इति।' (डल्हण)
(ii) 'स्रोतांसि नासिके कर्णौ नेत्रे पाय्वास्यमेहनम्। स्तनौ रक्तपथश्चेति नारीणामधिकं त्रयम्॥' (अ. हृ. शा. ३)
३. 'ननु अन्यान्यपि धमनीव्याकरणोदितानि स्रोतांसि वक्तव्यानीत्याह—× × × धमनीव्याकरणोदितानि त्वन्तर्मुखानि।' (सु. शा. ५-१० डल्हण)
४ (i) यथार्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत्।' (सु. शा. ४-२८)
'यथार्थमिति। ऊष्मणा पित्तेन सह युक्तो वायुः नवैव स्रोतांसि दारयेत् कुर्यात्। कथं? यथार्थं—यथाप्रयोजनमिति।' (डल्हण)
(ii) स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, (च. सू. अ. १२-८)

**स्रोतःस्वरूप**—चरक ने स्रोतो के स्वरूप वर्णन मे कहा है कि ये स्रोतें वृत्त ( नलकाकार ) स्थूल ( मोटी ) अणु ( सूक्ष्म ) दीर्घ ( लम्बी ) तथा प्रतान ( लताओ ) सदृश होती हैं। इनका वर्ण ( रङ्ग ) इनमे वहने वाले धातुओं के समान होता है। ये अवकाश युक्त होते हैं।[1] सुश्रुत मे इनके स्वरूपो का कोई वर्णन नहीं किया है। डल्लनाचार्य ने सिरा तथा धमनी से इनका पार्थक्य दर्शाने के लिये जो पद ( व्यञ्जनान्यत्वात् ) व्यवहृत हुआ है उसकी टीका मे कहा है कि धमनी तथा स्रोतो के वर्ण का वर्णन नहीं होने से चरकोक्त वर्णन ही मानना चाहिये।[2]

**स्रोतःप्रसार**—चरक मे एकीय मत का उद्धरण देते हुए कहा है कि सर्वत्रगामी होने के कारण तथा सब जगह दोष-प्रकोपण तथा दोष-प्रशमन ( द्रव्यो ) को अभिवहन ( सरण ) करने के कारण एक आचार्य मानव शरीर को स्रोतो का ही समुदाय मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना उचित नही है, क्योंकि जिनसे स्रोतो का निर्माण हुआ है, अथवा स्रोतें जिनका ( रसादि धातुओ का ) अभिवहन करती हैं, अथवा जिन धातुओ का पोषण करती हैं तथा जिन अवयवो मे ये स्थित या फैली हुई हैं वे स्रोतो से भिन्न हैं।[3] इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्रोतें सम्पूर्ण शरीर मे फैली हुई हैं। सुश्रुत ने भी कहा है कि स्वभाव से ही जिस प्रकार कमल नाल मे तथा विस ( कमल की जड़ ) मे छिद्र होते हैं उसी प्रकार मानव शरीर मे भी धमनियो के स्रोत फैले हुए हैं जिनसे रस का अर्थात् अन्नरस द्वारा रसादि धातुओ का उपचय ( पोषण ) होता है।[4]

---

१ च वि अ ५-२५।

२ 'व्यञ्जनान्यत्वात् लक्षणान्यत्वात्— × × × × शब्दादिवद्धमनीना तु वर्णानुक्ते स्वधातुसमवर्णत्वम्, एव स्रोतसामपि, तदुक्तं चरके—
स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥' ( च. वि. ५, डल्हण )

३. 'अपि चैके स्रोतसामेव समुदय पुरुषमिच्छन्ति, सर्वगतत्वात्, सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपनप्रशमनानाम्। न त्वेतदेव, यस्य हि स्रोतांसि, यच्च वहन्ति, यच्चावहन्ति, यत्र चावस्थितानि सर्वं तदन्यत्तेभ्य.। अतिबहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयानि आचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये।' ( च वि अ ५-४ )
'यस्य हि स्रोतांसि—यद्घटितानीत्यर्थ। यच्च वहन्ति इति यद् रसादि वहन्तीत्यर्थ। यच्चावहन्ति इति यच्च पुष्यन्ति इत्यर्थ। यत्र चावस्थितानि इति यत्र मांसादौ सम्बद्धानीत्यर्थः।' ( चक्र )

४ ( i ) 'यथा स्वभावत खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीना तथा खानि रसो यैरुपचीयते॥' ( सु शा. ९-१० )
( ii ) 'खानि-स्रोतांसि' ( डल्हण )

वाग्भट्ट ने भी इसका समर्थन किया है। सुश्रुत ने और भी कहा है कि स्रोतो का प्रतान मासधरा कलाओ मे फैला हुआ है।[1]

चरक का यह वाक्य 'ध्मानाद्धमन्य. स्रवणात् स्रोतांसि सरणात् सिरा'[2] स्रोतो को समझने मे परम सहायक प्रतीत होता है। चक्रपाणिदत्त ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि उपर्युक्त परिभाषा या निरुक्ति रक्तवाहिनियों के तीन व्यापार की बोधक है। हृदय से प्रक्षिप्त रक्त जब रक्तवाहिनियो को ध्मान अर्थात् भरते हैं तब उनमे प्रक्षेप जनित वेग ( Pulsation ) होता है। यह वेग शनै. शनै· ज्यो ज्यो रक्तवाहिनियो मे रक्त आगे बढ़ता है क्रमश. न्यून होने लगता है। रक्त जब इसकी शाखा प्रशाखाओ ( Minute arteries ) द्वारा केसिकाओं ( Capillaries ) मे पहुँचता है तो स्रवित होने लगता है और पुन जब वह अभिसरण करने वाली रक्तवाहिनियो मे पहुँचता है तो अपनी प्रशाखाओ शाखाओ द्वारा महासिरा तक सरण कर हृदय मे पहुँचता है। इस प्रकार केशिकाओ ( Capillaries & villi ) से लेकर रसायिनियो, सिराओ, पयस्विनियो ( Lyxphatics Veins & lacteals ) तथा महासिराओं तक समाभिसरण करने वाले स्रोत, महाधमनी ( Aorta ), धमनी ( Arteries ) तथा उनकी शाखा प्रशाखायें रक्त का ध्मान करने वाले स्रोत तथा छोटी रक्तवाहिनियाँ या केशिकायें (Minute vessels & Capillaries) स्रवण करने वाली स्रोतें हैं। इसी से चरक ने धमनी, सिरा, रसायनी, तथा रसवाहिनियो को भी स्रोत कहा है।[3] चरक का यह वचन कि ये स्रोतादि शरीर के लक्ष्य तथा अलक्ष्य धात्वावकाशो के ही नाम हैं, स्रोत के क्षेत्र को और भी व्यापक बना देता है। इस वर्णन से निःस्रोतस ग्रन्थियो का भी ग्रहण होता है।

---

१. ( i ) 'बिसानामिव सूक्ष्माणि दूर प्रविसृतानि च।
दाराणि स्रोतसां देहे रसो यैरुपचीयते ॥' ( अ. हृ शा. ३-४६ )
( ii ) 'तासां प्रथमा मासधरा नाम—यस्यां सिरास्नायुस्रोतसां प्रतानाः भवन्ति।' ( सु. शा. ४-८ )

२. ( i ) च सू. अ. ३०।
( ii ) 'ध्मानाद् धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः।' (च. सू. अ. ३०-१२)
'धमनीशब्दादिनिरुक्तिमाह—ध्मानादित्यादि। ध्मानात् पूरणात् बाह्येन रसादिनेत्यर्थः। स्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्रवणात्। सरणाद् देशान्तरगमनात्।' ( चक्रः )
'रसस्यैव पोषकस्य स्रवणात् इति पाठो युक्त', सरणात् अवयवान्तरगमनात्...... इति पा० ।' ( यादवाचार्य )

३. च. वि. ५.।

**स्रोतों के प्रकार**—इनके प्रकारो तथा भेदो का वर्णन अनेक दृष्टि-कोणो से प्रतीत होना है। जैसे—

१ लक्ष्य तथा अलक्ष्य स्रोतें—शरीर के अन्दर कुछ स्रोत ऐसे हैं जिनका चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव है। ये लक्ष्य स्रोतें हैं। उदाहरण रूप–धातुवह स्रोतें जैसे रसवह स्रोतें, रक्तवह स्रोतें आदि, महास्रोत—मूत्रवह स्रोत, स्वेदवह स्रोत, पुरीषवह स्रोतें इत्यादि। कुछ ऐसे स्रोत हैं जिनका चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव नही जैसे—मनोवह स्रोत, संज्ञावह स्रोत आदि।[1]

२ स्थूल स्रोत ( Big openings, vessels & duct ) अणुस्रोत तथा सूक्ष्म स्रोत ( Minute openings, vessels & ducts )—यह भेद स्रोतों के आकार के अनुसार है। कुछ स्रोत स्थूल हैं, कुछ सूक्ष्म या अणु हैं।[2] स्थूल स्रोतो को महतीस्रोत भी कहते हैं।

३ वाह्यस्रोत ( External or excretary orfices ) तथा आभ्यन्तर स्रोत (Internal or secretary orfices)—वाह्य स्रोत वह हैं जिनको हम बाहर से भी देख सकते हैं जैसे—स्वेदवह स्रोत, मुखस्रोत, कर्णस्रोत प्रभृति। आभ्यन्तर स्रोत वे हैं जिनका दर्शन बाहर से नही हो सकता। वे शरीर के भीतर होते हैं अत शरीर का छेदन करने पर ही उनका प्रत्यक्ष सम्भव है।[3]

४. वहिर्मुख स्रोत ( External or excretary orifices ) तथा अन्तर्मुखस्रोत (Internal or secretary orifices)—वहिर्मुख स्रोत वे हैं जिनका मुख ( निकास ) बाहर ( शरीर के वहिर्भाग मे ) है जैसे—कान, आँख, नाक, मुख, गुद, मेढ़ आदि।[4] अन्तर्मुख स्रोत वे हैं जिनका मुख शरीर के भीतर ही है जैसे रक्तवानिहिया, रसायिनियाँ, प्रभृति।

५. ऊर्ध्वग स्रोतें ( Upper tract ) तथा अध स्रोत या ( Anal or urethal passage ) अधोग स्रोत ( Lower tracts )—शरीर के ऊर्ध्व भाग मे फैली हुई स्रोतो को ऊर्ध्वग स्रोत तथा अध प्रदेश मे फैली हुई स्रोतो को अधोग स्रोत कहते हैं।[5]

---

१ 'स्रोतांसि × × × शरीरधात्ववकाशाना लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति।' ( च वि. अ ५ )

२. च क. अ. १; का. शा. पेज ७७, 'स्रोतांसि द्विविधानि-स्रोतांसि द्विविधान्याहु सूक्ष्माणि च महान्ति च। महान्ति नव जानीयाद् द्वे चाव. संस चोपरि। नाभिश्च रोमकूपश्च सूक्ष्मस्रोतांसि निर्दिशेत्॥' ( का. शा. १० )

३ अ. ह. नि. १२। ४. च. शा. अ ५। ५. च चि १८।

६ दोषवह स्रोतें—वातवह, पित्तवह तथा कफवह स्रोतें दोषवह स्रोत हैं। इन स्रोतो की कोई पृथक् स्थिति नहीं क्योंकि ये सर्वस्रोतोचर हैं।[1]

७. धातुवहस्रोत—रस-रक्तादि धातुओं का अभिवहन करने वाली स्रोतें धातुवहस्रोतें कहलाती हैं। जैसे—(१) रसवहस्रोत, या रसवाहिनी नाली, रसवहवर्त्म, रसवहधमनी। (२) रक्तवहस्रोत या शोणितवहस्रोत या रुधिरवहस्रोत या असृग्वहस्रोत, (३) मांसवहस्रोत (४) मेदोवहस्रोत या मेदोवहनाडी, (५) अस्थिवहस्रोत, (६) मज्जवहस्रोत, (७) शुक्रवहस्रोत या रेतोवहासिरा या शुक्रवाहिनी नाडी, (८) आर्तववहस्रोत या रक्तमय, (९) ओजोवहस्रोत।[2]

८ मलवहस्रोत—पुरीष-मूत्र तथा स्वेद का अभिवहन करने वाले स्रोतो को मलवहस्रोत कहते हैं। जैसे—(१) पुरीषवहस्रोत, या वर्चोवहस्रोत या विट्वहस्रोत या मलवहनाडी। (२) मूत्रवहस्रोत या मूत्रस्रोत या मूत्रनाडी। (३) स्वेदवहस्रोत या वाह्यस्रोत।[3]

९ महास्रोत—यह वह स्रोत है जो मुख से आरम्भ होकर गुदा पर्यन्त फैली हुई है। इसको कोष्ठ, महानिम्न, शरीरमध्य तथा आभ्यन्तररोग मार्ग भी कहा गया है। इसके विविध अवयव हैं जैसे गलनाली या अन्ननाली, आमाशय, ग्रहणी, पक्वाशय, उण्डुक, उत्तरगुद तथा अधरगुद। इसको प्राणवहस्रोतो का मूल भी कहा है।[4]

इन उपर्युक्त वर्णनो से आधुनिक शारीरविज्ञो द्वारा वर्णित एलेमेन्ट्री ट्रैक्ट (Elementary tract) प्रतीत होता है।

---

१. च. शा अ. ७।

२ च वि अ. ५, सु. शा अ. ९।        ३. च वि. अ. ५, सु. शा. अ. ९।

४ (i) 'कोष्ठ पुनरुच्यते महास्रोत शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः।' (च. सू अ. ११-४८)

(ii) 'प्राणवहस्रोतसां × मूलं महास्रोतः।' (च. वि. अ ५)

(iii) 'अन्ननाडी—अन्नपाकनाड्यान्। सा च २० हस्तमिता कलापेशीनिर्मिता। तदुक्तं—हस्तविंशतिप्रमाणा कलापेशीविनिर्मिता। अन्नपाकक्रियायां च पाकनाडी प्रकीर्तिता॥ ऊर्ध्वांशो मुखमारभ्य अधोंऽशो गुदनामकः। कण्ठादामाशय यावदन्ननाडी तु कथ्यते॥ ततश्चामाशयस्तस्मात् स्थूलान्त्रः-स्थूलमन्त्रकः। आमाशयात्समारभ्य भाग. प्रथम आन्त्रिक॥ ग्रहणी चान्त्रविज्ञान बुधैरार्यै. प्रकीर्तित। ततः पक्वाशयः प्रोक्तः पक्वान्नपरिधारणात्॥ स्थूलान्त्रस्याधोभाग. सरलो गुदसंज्ञक। अन्नकिट्ट मलं सर्वं बहिर्निसारयत्ययम्॥' आत्रेयः (वै. श. सि.

१० अवयववाचीस्रोत—आयुर्वेद के उपलब्ध संहिता ग्रन्थो मे यथास्थूल (१) मुखस्रोत, (२) कर्णस्रोत, (३) नासास्रोत, (४) शिर स्रोत, (५) कण्ठस्रोत, (६) उर स्रोत, (७) हृत्स्रोत या हृदयस्रोत, (८) स्तन्यस्रोत, (९) योनिस्रोत, (१०) योनिकर्णिकास्रोत, (११) मुष्कस्रोत, (१२) फलस्रोत, (१३) देहस्रोत, (१४) नेत्रस्रोत, (१५) पायुस्रोत तथा (१६) मेहनस्रोत, इतने अवयववाचीस्रोतो का उल्लेख प्राप्त होता है। इन स्रोतो के जो संकेत शास्त्रो मे इनकी रचना, स्वरूप तथा विकृति सम्बन्धी वर्णन मे प्राप्त होते हैं उनके आधार पर आधुनिक शारीर विज्ञो द्वारा प्रसिद्ध निम्न अवयव प्रतीत होते हैं।[1] जैसे—

(१) मुखस्रोत—मुखकुहर (Buccal cavity), (Different openings of the mouth cavity)
(२) कर्णस्रोत—श्रवण मार्ग (Auditory passage external auditory metus)
(३) नासास्रोत—नासामार्ग (Nasal duct, Nasal metus, Nostril)
(४) शिर स्रोत—(Channels of the Head)
(५) कण्ठस्रोत—कण्ठमार्ग (Oesophageal passage–throat, Larangeal Passage)
(६) उर स्रोत—(Channels of the thorax)
(७) हृत्स्रोत या हृदयस्रोत—(Chamber of the heart)
(८) स्तन्यस्रोत—(Lacteals of the breast)
(९) योनिस्रोत—(Vaginal orifice)
(१०) योनिकर्णिकास्रोत—(Pudendal cleft)
(११) मुष्कस्रोत—(Testicular vessels-spermetic cord)
(१२) फलस्रोत—(Oviduct Fallopean tube, Spermatic cord)
(१३) देहस्रोत—(Channel of the body)
(१४) नेत्रस्रोत—(Lachrymal duct) अश्रुवह स्रोत
(१५) पायुस्रोत—(Rectum) या गुदस्रोत
(१६) मेहनस्रोत—(Urethera)

---

१. च चि. अ १७-४९, सु सू ४६-५२०, सु सू अ. २९-३०, सु उ अ २०, सु उ अ ४८; सु उ अ २०, सु शा अ १०; च. चि अ ३०, वै श सि।

११ **अन्नवहस्रोत**—अन्नवाहिनी धमनी, गलनाली, अन्न विपाक नाडी तथा अन्न नाडी, इन सज्ञाओ द्वारा अन्नवह स्रोतो का वर्णन उपलब्ध होता है ( Oesophagus, Small intestines connected with stomach )।

१२ **उदकवहस्रोत**—अम्बुवह स्रोत, अम्बुवाही नाडी, जलवह नाडी, आपावाहीस्रोत, तोयवाहीस्रोत, जलवाहीस्रोत तथा अम्बुमार्ग, इन संज्ञाओ द्वारा उदकवह स्रोतो का वर्णन शास्त्रो मे उपलब्ध होता है ( Paths of circulating fluids, tubes of fluid circulation )।

१३ इन उपर्युक्त स्रोतो के अतिरिक्त ( १ ) प्राणवह स्रोत तथा प्राण-सज्ञक-वातवह स्रोत, ( २ ) स्वरवहस्रोत तथा शब्दवह स्रोत या शब्दवह धमनी, ( ३ ) नाभि स्रोत, ( ४ ) रोमकूप स्रोत, ( ५ ) विपुल स्रोत ( गर्भाशय ), ( ६ ) मनोवह स्रोत, या मनोबुद्धिवहासिरा, ( ७ ) चेतनावह स्रोत, ( ८ ) धीवह स्रोत, ( ९ ) चित्तवह स्रोत, ( १० ) सज्ञावह स्रोत, ( ११ ) मर्मसज्ञक स्रोत, ( १२ ) इन्द्रियसज्ञक स्रोत तथा ( १३ ) इन्द्रियप्राणवह स्रोतो के वर्णन शास्त्रो मे उपलब्ध होते हैं।

१४ शास्त्रो मे स्रोतोमुख तथा स्रोतोमार्ग का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

इन उपर्युक्त नानाविध स्रोतो के अविकल ज्ञान के लिये इन स्रोतो के स्वरूप, व्यापार, विकृति तथा इन पर होने वाले औषधो के प्रभाव का अध्ययन आवश्यक है।

**स्रोतोवैगुण्य**—जो आहार-विहार दोषो के समानगुण वाले होने से दोषवर्धक या प्रकोपक होते हैं तथा जो आहार-विहार धातुओ मे वैगुण्य उत्पन्न करते हैं अर्थात् धातुओ से विरुद्ध गुण वाले होते हैं वे सब स्रोतो के प्रदूषक अर्थात् स्रोतो मे वैगुण्य उत्पन्न करने वाले हैं।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि दोष तथा धातुओ को दुष्ट करने वाले सभी आहार-विहार स्रोतों को भी दुष्ट करते हैं।

**स्रोतोवैगुण्य के लक्षण**—स्रोतो के विकृत होने पर स्रोत मे अभिवाहित होने वाले रसादि द्रव्यो की अति प्रवृत्ति अर्थात् अधिक नि सरण होना तथा उनका सङ्ग अर्थात् न निकलना ( स्रोतो मे ही रुका रहना ), सिराग्रन्थियो

१ ( i ) 'आहारश्च विहारश्च य. स्याद्दोषगुणै सम ।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसा स प्रदूषक ॥' ( च वि ५ )
( ii ) 'तेषा सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माण. प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावादिति ।' ( च. वि ५ )

और अभिवहन करने वाले धातु तथा मलो का विमार्ग गमन ( अपने मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग मे चला जाना ), ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ।[1]

स्रोतो में अभिवहन करने वाले, दोष, धातु, मल तथा अन्य भावो का अति प्रवर्तन शरीर मे अनेक विकारो को उत्पन्न करते हैं। उदाहरण स्वरूप वात के अति प्रवर्तन से वातज विकार, पित्त के अति प्रर्वतन से पित्तज विकार कफ के अति प्रवर्तन से कफज विकार तथा रसादि धातुओ के अति प्रवर्तन से रसआदि धातुजन्य विकार और मलातिप्रवर्तन से मलजन्य विकार उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार इनके सङ्ग से सङ्गजन्य ( अवरोधज तथा आवरणज ) विकार उत्पन्न होते हैं। उदाहरण स्वरूप—वात के सङ्ग होने पर शरीर चेष्टाओ की कमी होकर तज्जन्य अकर्मण्यता, तथा मलवात के सङ्ग होने पर अधोवात निरोधज उदावर्त, पित्त के सङ्ग होने पर पाकादि कर्म मे व्यवधान तथा मल पित्त के सङ्ग होने पर कामला आदि की उत्पत्ति तथा कफ के सङ्ग होने पर कफज विकार उत्पन्न होते हैं। रसादि धातुओ के सङ्ग होने पर उत्तरोत्तर धातुओ का अपोषण तथा स्रोतोरोधजन्य आमदोषसंचय, गौरव, बलभ्रंश, अनिलमूढता प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा पुरीषादि मलो के सङ्ग होने पर तज्जन्य उदावर्त के विकार उत्पन्न होते हैं।

व्याधि की सम्प्राप्ति का वर्णन करते समय आचार्य ने स्पष्ट कहा है कि—स्वप्रकोपणों से प्रकुपित दोष प्रतिकार के अभाव में जब उन्मार्गगामी हो प्रसर करने लगते हैं तब स्रोतोवैगुण्यवश जहाँ उनका सङ्ग अर्थात् स्थान संश्रय होता है वहाँ पर उसी प्रकार रोग की उत्पत्ति होती है जिस प्रकार आकाश मे प्रसर करते हुए मेघ से वर्षा की उत्पत्ति होती है।[2]

**स्रोतोरोध**—दोष, धातु, तथा मल जब आम सम्पृक्त होते हैं तब स्रोतों मे अवरोध उत्पन्न होता है। साम धातुओं से धातुवह स्रोतो में तथा साम मल से मलवह स्रोतों में अवरोध उत्पन्न होता है। दोष सर्वस्रोतोचर हैं अतः जब ये आम सम्पृक्त होते हैं तब सभी स्रोतो मे अवरोध संभव है।[3]

---

१ 'अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥' ( च वि अ ५ )

२. ( i ) 'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र सङ्गः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥' ( सु सू अ २४-१० )

( ii ) 'क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ॥' ( च चि १५-३० )

३. ( i ) 'आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च मूर्च्छिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥

स्रोतोरोध के अन्य भी कारण सभव हैं जैसे—( १ ) स्रोतःशोथ, ( २ ) स्रोत क्षय, ( ३ ) स्रोतोगतशल्य, ( ४ ) स्रोतो ग्रन्थि, ( ५ ) स्रोत. पाक, ( ६ ) स्रोत सकोच, ( ७ ) स्रोतोनाश, ( ८ ) स्रोतो विवन्ध, तथा ( ९ ) अन्य-स्रोतो दुष्टि जैसे ( i ) स्रोतोऽपचिति ( ii ) स्रोतः परम पुष्टि आदि। जब स्रोतो मे अवरोध होता है तो स्रोतो मे अभिवहन करने वाले तथा स्रोतो मे रहने वाले शारीर धातुओ का भी प्रकोप हो जाता है।[1] शारीर धातुओ के प्रकुपित होने से नानाविध रोगो की उत्पत्ति होती है। जैसे—सताप ( ज्वर ), स्वेदाभाव, राजयक्ष्मा, हिक्का, श्वास, कास, तथा अन्य रोग।[2]

स्रोतो मे जब किसी प्रकार की विकृति नही होती तथा अवरोध नहीं होता तो भुक्तान्न से प्राप्त शारीर धातुओ द्वारा धातुओ की यथा क्रम पुष्टि होती रहती है। प्रयुक्त आहार तथा औषध द्रव्यो का भी प्रभाव स्रोतो की शुद्धि रहने पर ही पड़ता है। इसीलिये आचार्यों ने रसायन तथा वाजीकरण औषधो के प्रयोग मे स्पष्ट रूप से स्रोतोशुद्धि का आदेश किया है।[3]

इन उपर्युक्त वर्णनो से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक रोग मे स्रोतोवैगुण्य अवश्य होता है। इनका और भी स्पष्टीकरण नानाविध स्रोतो की दुष्टि के वर्णन से हो जायगा।

---

स्रोतोरोधो बलभ्रंशः गौरवानिलमूढता।' ( अ. हृ. सू. १३ )

( ii ) 'आमाशयं प्रविश्याममनुगम्य पिधाय च। स्रोतांसि × ×।' ( अ. हृ. नि. २ )

( iii ) आमवाते ( मा नि. )

१ 'तेषां स्रोतसां रोधात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते।' ( च. वि ५ )

२. ( i ) 'स्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ताः केवलं देहमुल्बणाः।
सतापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा॥
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते।' ( च. चि. अ ३ )

( ii ) 'स्रोतसां सन्निरोधात् स्वेदं नानाधिगच्छति।'

( iii ) 'स्रोतसां सन्निरोधात् × × × राजयक्ष्मा प्रवर्तते।' ( च चि ८ )

( iv ) 'प्राण स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च।' ( च चि. अ. १७ )

( v ) 'यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुत कफपूर्वक।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति हि॥' ( च चि. अ. १७ )

३. ( i ) 'स्रोत सु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्यं यदा ना मितमत्ति काले।' ( च चि अ २ )

( ii ) 'स्रोतोमुखेषु रुद्धेषु धातूष्मस्वल्पकेषु च। ( अ. हृ नि. २ )
दोषैर्वातपित्तकफैः कफोल्बणत्वात् स्रोतोद्वारेषु रुद्धेषु पिहितेषु सत्सु रस स्वस्थान एव विदह्यमानो न सम्यग् रक्तत्वं प्राप्नुवतस्तांस्ताननेकानुपद्रवान् कुर्यात्।' ( अ. हृ नि. ५ )

अनेक क्रियाक्रमो तथा औषधो के प्रभाव वर्णन मे स्पष्ट रूप से, स्रोतोविशोधन, स्रोतोरोधहरण तथा स्रोतोविबन्धभेदन, स्रोतोमार्दवकरण, स्रोतो के आवरण को दूर करना आदि वर्णन होने से उनसे स्रोतो के स्वरूप के ज्ञान मे पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। जैसे—चरक ने उष्ण जल को स्रोतो का शोधन करने वाला कहा है।[1] मण्ड को स्रोतोमार्दवकर तथा स्रोतोविशोधन, सुरा को स्रोत शोधन, हरीतकी को स्रोतोविबन्धजित्, मद्य को स्रोतोविबन्धनुद्, आदि कहा है।[2] गुल्म रोग के क्रियाक्रम मे, कहा है कि स्रोतो को मृदु कर तथा उल्वणवायु को जीत कर शोधन आदि क्रम करना चाहिये।[3] यक्ष्मा में स्रोतोविबन्ध की मुक्ति के लिये सुरा आसव तथा अरिष्टों के प्रयोग का विधान है।[4] विष के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि विष अपने तेज से रक्त का क्षरण करता है तथा स्रोतो मे रुकावट उत्पन्न कर मनुष्य के प्राण का नाश कर डालता है।[5] पुनः मद्य का प्रभाव वर्णन करते हुए कहा है कि मद्य के प्रभाव मे जब दोष उत्क्लिष्ट हो स्रोतो मे वायु को अवरुद्ध कर देते हैं तब शिर तथा अस्थिसधियो मे नानाविध तीव्र पीडा उत्पन्न होती है।[6] इत्यादि।

चरक सिद्धिस्थान मे कहा है कि विरेचन तथा निरूह वस्ति से स्रोतो की विशुद्धि होती है तथा स्रोतो की शुद्धि हो जाने पर वायु निराबाध अपने अपने मार्ग मे संचार करती हुई अपने प्रकृत कार्य को सम्पन्न करती है।[7] यदि स्रोत रिक्त हो जायें तो वायु उन्हे आपूरित कर नानाविध वातविकारो को उत्पन्न

---

१. 'उष्ण जलम्—स्रोतसा शोधन बल्य रुचिस्वेदकर परम्।' (च. चि. अ ३)

२ (i) '× × × मण्ड स्रोतोविशोधन.' (च. सू २६-२२८)

(ii) '× × × स्रोतसा शोधन (सुरा)' (च सू १९३)

(iii) '× × × मृदूकरोति स्रोतांसि (मण्डः)' (च सू २५२)

(iv) '× × × स्रोतोविबन्धनुन्मद्यम्' (च चि अ २४)

३ 'स्रोतसा मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम्।' (च चि. अ ५)

४ (i) 'मद्यं × × सूक्ष्मत्वात् स्रोतसा मुखम्।'

(ii) 'स्रोतोविबन्धमोक्षार्थम् .. ... ... .. ॥' (च चि अ ८-१७४)

५ 'क्षरति विषतेजसाऽसृक्, तत्खानि निरुद्ध्य मारयति जन्तुम्।' (च चि. अ. २३)

६. 'मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण रुद्ध स्रोत तु मारुत।
करोति वेदना तीव्रा शिरस्यस्थिषु सन्धिषु॥' (च चि अ २४)

७ (i) 'स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ × × × सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण।' (च सि अ १-१७)

(ii) 'स्रोतोविशुद्ध्यर्थमतो निरूहान्।' (च. सि अ १)

(iii) 'स्रोत सु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिल।' (च चि १७-७५)

करती है।[१] वात व्याधि के क्रियाक्रम मे कहा है कि वायु स्रोतो में विबन्ध उत्पन्न कर उनमे अवरोध कर देता है अत वायु का अनुलोमन करना चाहिये।[२] विष के असाध्य लक्षण की सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि जब कफ मार्ग विषके प्रभाव से दूषित हो जाता है तब उसके परिणामस्वरूप स्रोतो-संरोध के कारण वायु के रुद्ध हो जाने पर विषार्त मनुष्य मृत के समान श्वास लेने लगता है। ऐसा विषार्त असाध्य होता है।[३] इसी प्रकार मेद रोग की सम्प्राप्ति मे कहा है कि स्रोतो के मेद से आवृत हो जाने पर अन्य धातुओ का पोषण नहीं होता तथा मेद मार्ग ( स्रोत ) के आवृत हो जाने पर वायु विशेष कर कोष्ठ मे ही विचरण करने लगता है। इत्यादि।[४]

शोथ रोग की सम्प्राप्ति मे कहा है कि जब वायु बाह्य सिराओ ( स्रोतो ) मे प्राप्त होकर कफ-रक्त तथा पित्त को दूषित करता है और उन दूषित कफ-पित्त तथा रक्त से मार्गों ( स्रोतों ) मे अवरोध उत्पन्न करता हुआ विसर्पण करता है तब उत्सेध लिङ्ग श्वयथु को उत्पन्न करता है।[५] इसी प्रकार श्लेष्मोदर की सम्प्राप्ति में कहा है कि सब प्रकोपणों से प्रकुपित कफ के द्वारा स्रोतों में जब वायु आवृत हो जाता है तो वह आवृत वायु उदर रोग को उत्पन्न करती है।[६] मृद्भक्षणज पाण्डु की सम्प्राप्ति मे भी कहा है कि रोगी जब मृद्भक्षण करता है तो वह मृद् ( मिट्टी ) रसादि धातुओ को दुष्ट कर देती है तथा भुक्तान्न को भी अपनी रूक्षता से रूक्ष बना देती है जिससे उनका पाक नहीं होता और वह अपक्व मृद् तथा भुक्तान्न स्रोतों मे अवरोध उत्पन्न कर पाण्डु रोग को उत्पन्न करते हैं।[७] विषमाशनज शोथ मे भी कहा है कि विषमाशन से उत्पन्न आमदोष

---

१ 'देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।' ( च चि २८ )

२ 'स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं रुन्ध्यात् तस्मात्तमनुलोमयेत्।' ( च चि. २८ )

३ 'विषदूषितकफमार्गः स्रोत-संरोधरुद्धवायुस्तु।
मृत इव श्वसेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गविहीनश्च॥' ( च. चि. अ २३ )

४. ( i ) 'मेदसावृतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः।' ( मा. नि. )
( ii ) 'मेदसावृतमार्गत्वाद् वायुः कोष्ठे विशेषतः।' ( मा. नि. )

५ 'बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि संदूषयतीह वायुः।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति॥' (च. चि अ. १२)
'सिराशब्देन स्रोतसां सामान्येन ग्रहणम्॥' ( चक्र. )

६ 'क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृतेष्वावृतोऽनिलः।
तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं बहिरन्यगः॥' ( च चि. अ. १३ )

७ 'कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं विरूक्षयेत्।
पूरयित्वाविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च॥' ( च. चि अ १६ )

स्रोतो के अयनमुख मे अवरोध उत्पन्न कर देता है जिससे उत्तरोत्तर धातुओ का पोषण नहीं होता और परिणामस्वरूप शोक रोग उत्पन्न होता है।[1] राजयक्ष्मा की सामान्य सम्प्राप्ति मे भी स्रोतोरोध का सकेत किया है। इत्यादि।

सन्निपात ज्वर में स्रोतो का पाक हो जाता है। यहाँ स्रोत से मुख नासादि स्रोतो का ग्रहण होता है।[2] पुन. गुल्मरोगाधिकार मे कहा है कि गुल्म जब पक जाता है तो स्रोतो में क्लेद उत्पन्न कर ऊपर तथा नीचे के मार्ग से प्रवृत्त होने लगता है।[3] मद्य का गुण वर्णन करते हुए कहा है कि मद्य सूक्ष्म गुण विशिष्ट होने से स्रोतो के मुख मे शीघ्र प्रवेश कर अपना प्रभाव दिखाता है।[4] आमवात की सम्प्राप्ति मे कहा है कि वात, पित्त तथा कफ से दूषित नानावर्णवाला पिच्छिल अन्नरस ( आमरस ) स्रोतो मे उपलेप उत्पन्न कर देता है।[5] इत्यादि।

इसी प्रकार स्रोतोविद्ध के लक्षणो मे कहा है कि स्रोतो के विद्ध होने पर मोह, कम्प, आध्मान, वमन, ज्वर, प्रलाप, शूल, मल-मूत्र का अवरोध तथा मृत्यु तक हो जाती है अत. वैद्य को स्रोतोविद्ध की चिकित्सा प्रत्याख्यान कर करनी चाहिये।[6] इनके अतिरिक्त कफ ज्वर मे स्रोतोरोध, पित्त ज्वर मे स्रोतो का पाक, तथा पीनस मे स्रोतो का सदा स्पर्श होते रहने से कास और क्षवथु का लगातार आना, रक्त पित्त के अधिक उग्र होने पर सभी स्रोतो से रक्त का प्रवर्तन होना इत्यादि का वर्णन उपलब्ध होता है।[7]

---

१ ( i ) '× × × ते विषमाः शरीरमनुसृत्य यदा स्रोतास्ययनमुखानि प्रति-
वार्यावतिष्ठन्ते तदा…… ‥।' ( च नि ६ )

( ii ) 'स्रोतसा सन्निरोधाच्च रक्तादीना च सक्षयात्।
धातूष्मणा चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥' ( च. चि ८ )

२. 'मूकत्व स्रोतसा पाक' ( च चि अ ३ )
'स्रोतसा पाक' मुखनासादिरन्ध्राणा पाक ' ( चक्र. )

३ 'पक्व स्रोतासि सक्लेद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा।' ( च चि अ. ५ )

४ 'मद्य सूक्ष्मत्वात् × × × स्रोतसा मुखम्।' ( च चि अ. ८-२८ )

५ 'वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रस।
स्रोतास्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिल ॥' ( मा नि. )
'स्रोतास्यभिष्यन्दयति-लिम्पति-अतिपिच्छिलत्वात्।' ( आ द. )

६. 'व्यधे तु स्रोतसा मोहकम्पाध्मानवमिज्वराः।
प्रलापशूलविण्मूत्ररोधा मरणमेव वा ॥'
'स्रोतोविद्धमतो वैद्य. प्रत्याख्याय प्रसाधयेत्।' ( अ. हृ शा ६ )

७. सु उ. अ. २९, काश्यप-पे २१६।

इन उपर्युक्त वर्णनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्रोत शब्द यथास्थल मुख नासादि स्रोतो से लेकर सूक्ष्म रक्त वाहिनियो (Capillaries), सिराओ, धमनियो नाड़ियो, रस वाहिनियो, पयस्विनियो ( Veins, Arteries, Nerves, Lymphatics, Lacteals ) आदि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

## अन्नवह स्रोतें

अन्नवह स्रोतो के वर्णनार्थ (१) अन्नवाहिनी धमनी, ( २ ) अन्नविपाक नाडी, ( ३ ) अन्न नाडी, ( ४ ) गलनाली, ( ५ ) अन्नवाही, इन शब्दो का प्रयोग शास्त्रो मे उपलब्ध होता है।

**अन्नवाहिनी धमनी**—अन्नवह स्रोतो का मूल आमाशय तथा अन्नवाहिनी धमनियाँ मानी गई हैं।[1] चरक ने अन्नवह स्रोतो का मूल 'वाम पार्श्व' भी कहा है। सुश्रुत ने कहा है कि अन्नवह स्रोतें दो हैं और इनके विद्ध होने पर ( १ ) आध्मान, ( २ ) शूल, ( ३ ) अन्न द्वेष, ( ४ ) छर्दि, ( ५ ) पिपासा, ( ६ ) आन्ध्य तथा मरण ( मृत्यु ) के लक्षण होते हैं। चरक ने कहा है कि अहित, अकाल मे तथा अतिमात्रा मे भोजन करने से एव अग्निदोष से अन्नवाही स्रोतें विकृत होती हैं और इनके विकृत होने पर ( १ ) अनन्नाभिलाष, ( २ ) अरोचक, ( ३ ) अविपाक तथा ( ४ ) छर्दि उत्पन्न होती है।[2] त्रिविध कुक्षीय अध्याय मे चरक ने कहा है कि अशित, खादित, पीत, तथा लीढ अन्न का आमाशय मे पाक होता है और वहाँ से पक्व अन्न ( अन्नरस ) धमनियो द्वारा सम्पूर्ण शरीर के विविध अवयवो मे पहुँचता है।[2]

वैद्यक शब्द सिन्धु मे 'अन्नवहा' का अर्थ करते हुए कहा है कि अन्नवहा युगल ( दो ) धमनियाँ हैं जिनके द्वारा भुक्तान्न उदर मे ले जाया जाता है।[3] इन उपर्युक्त वर्णनो मे धमनी शब्द स्रोत के लिये स्पष्ट रूप से व्यवहृत हुआ है।

---

१ ( i ) 'अन्नवहे द्वे—तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्य., तत्र विद्धस्याध्मानं शूलोऽन्नद्वेषश्छर्दि पिपासाऽऽन्ध्य मरणं च।' ( सु शा ९-१२ )

( ii ) 'अन्नवहाना स्रोतसामामाशयो मूल वाम च पार्श्व, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिद विशेषविज्ञान भवति तद्यथा—अनन्नाभिलषणम्, अरोचकाविपाकौ, छर्दि च दृष्ट्वाऽन्नवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।' ( च वि. अ ५ )

( iii ) 'अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्।
अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात्पावकस्य च॥' ( च वि )

२ 'आमाशयगत पाकमाहार प्राप्य केवलम्।
पक्व सर्वाशय पश्चाद् धमनीभि प्रपद्यते॥' ( च वि २-१० )

३ ( i ) 'अन्नवहा-स्त्री। धमनीयुगले। याभ्या भुक्तमन्नमुदरं नीयते। ( सु शा ९ )
तयोर्मूलमामाशयः अन्नवाहिधमन्यश्च। ( वै. श. सि. )

**अन्नविपाक नाडी**—वैद्यक शब्द सिन्धु में आत्रेय का वचन उद्धृत कर अन्ननाडी और अन्नविपाक नाडी के स्वरूप तथा व्यापार का वर्णन किया है।[1] जैसे—

**अन्ननाडी**—यह मांस तथा पेशी से निर्मित २० हस्त प्रमाण की नाली अन्नपाक क्रिया को सम्पन्न करने के लिये मानव शरीर में निर्मित है। इसका ऊर्ध्व अंश मुख से प्रारम्भ होता है तथा अधोभाग ( अन्तिम भाग ) गुद कहलाता है। कण्ठ से लेकर आमाशय तक का भाग 'अन्न नाडी' है। इसके बाद

---

( ii ) '[illegible] ।' ( वै. श सि. )

( iii ) '[illegible] महास्रोतः' ( न. सि. गु हु वा )

( iv ) 'अन्नमन्नवहानि चात्र स्रोतांसि' ( [illegible], अ. हृ. शा. ३ )

१. ( i ) अन्नविपाकनाडी स्त्री। अन्ननाड्याम्। सा च विंशतिहस्तमिता कला पेशीनिर्मिता—तदुक्तम्—

'हस्तविंशतिप्रमाणा कला पेशीविनिर्मिता ।
अन्नपाकक्रियार्थी च पाकनाडी प्रकीर्तिता ॥
ऊर्ध्वांशो मुखनाम्नाऽधोंऽशो हि गुदनामक ।
कण्ठादामाशयं यावदन्ननाडी तु कथ्यते ॥
तदधो नाड्यमस्मात् स्थूलान्त्रं स्थूलमन्तरं ।
आमाशयात् समारभ्य भाग प्रथम आन्त्रिक ॥
ग्रहणी चाप्यभिधान सुश्रुताद्यैः प्रकीर्तित ।
ततः पक्वाशय प्रोक्त पक्वान्नपरिधारणात् ॥
स्थूलान्त्रस्याप्यधोभाग सरलो गुदसंज्ञक ।
अन्नकिट्टं मलं सर्वं बहिर्निःसारयत्ययम् ॥
श्वासनाड्याः स्थिता पश्चादन्नाद्यन्नवाहिनी ।
अधस्तात् कुण्डलीभूता नाडी चोदरमध्यगा ॥
कण्ठादधोगतिर्नाडी भित्त्वा वक्षःस्थलाश्रया ।
पेशीमुखद्वयवती प्रविष्टेयमधो गुहाम् ॥' ( आत्रेय –वै श सि )

( ii ) 'विचित्रविधिना पश्चात् सत्त्वानि जीवयेत् ।
अन्नग्रासो रसैः पिष्टो लालाक्लिन्नोऽन्ननाडिकाम् ॥
श्वासरन्ध्रं नासारन्ध्रञ्चातिक्रम्य सुखं विशेत् ।
निरुणद्ध्युपजिह्वा सा सर्वथा श्वासनाडिकाम् ॥
जिह्वा प्रयाति पश्चाच्च पाकनाडी ततोऽभितः ।
किञ्चिदूर्ध्वमुखी भूत्वा पिण्डं ग्रसति यत्नत ॥
आद्यरन्ध्रं प्रविष्टश्चेदन्नं कासैर्विनिःसरेत् ।
द्वितीयं क्षवथुना क्षणेन प्रकृतेर्बलात् ॥
अतो नैवातित्वरणं श्रेय पानान्नकर्मणि ॥' ( आत्रेय, वै. श सि )

आमाशय और आमाशय से पश्चात् भाग की अन्त्र संज्ञा है। इस अन्त्र का आद्य भाग (क्षुद्रान्त्र) जो अग्नि का अधिष्ठान माना गया है 'ग्रहणी' कहलाता है। इसके बाद का अंश पक्वान्न धारण करने से 'पक्वाशय' कहलाता है जिसे स्थूल मस्तक वाला स्थूलान्त्र भी कहते हैं। इस स्थूलान्त्र के अधोभाग का नाम 'गुद' है जो अन्न किट्ट रूप मल को बाहर निकालती रहती है। अन्न नाडी श्वास नाडी के पश्चात् भाग मे स्थित हो नीचे की ओर जाती है और कुण्डलिकाकार हो उदर मे प्रवेश करती है। यह नाली भुक्तान्न को उदर मे ले जाती है। विधि के विचित्र निर्माण वश भुक्तान्न का ग्रास जब मुख मे अन्न नलिका मे प्रवेशोन्मुख होता है तो उपजिह्वा द्वारा श्वास-पथ बन्द हो जाता है जिससे लाला रस से क्लिन्न अन्न ग्रास श्वास-पथ तथा नासारन्ध्र मे न जाकर अन्न नलिका मे प्रवेश करता है। अनवधानता वश यदि उपजिह्वा द्वारा उक्त श्वास-पथ तथा नासारन्ध्र बन्द न होवे तो अनेक व्यापद् उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे भोजन आदि के ग्रहण मे त्वरा (शीघ्रता) करने पर यदि अन्न श्वास-पथ मे चला जाय तो प्रकृति उसे कास द्वारा बाहर निकाल देती है और यदि वह नासारन्ध्र मे चली जाय तो छींको द्वारा वह बाहर निकाला जाता है। कभी-कभी अन्न के श्वासपथ मे अन्तरप्रवेश हो जाने पर अनेक उपद्रव हो जाते हैं।

सुश्रुत मे शुष्क तथा विदाही अन्न के पाक का वर्णन करते हुए कहा है कि विदाही अन्न के भोजन करने पर अथवा अन्य प्रकार के अन्न के भोजन करने पर जब पित्त अन्नवह स्रोतो मे अथवा पक्तिस्थान मे स्थित होता है तो वह भुक्तान्न विदाह को प्राप्त हो जाता है।[1] डल्हण ने यहाँ अन्नवह स्रोत से आमाशय का ग्रहण किया है।

अन्नवह स्रोतो के स्वरूप, व्यापार तथा विकृतियों के उपर्युक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि अन्नवह स्रोत से यथास्थल, आधुनिक शारीर शास्त्रियो द्वारा संज्ञित गल नाली (औसोफेगस), आमाशय (स्टोमक), तथा महास्रोत (एलेमेन्टरी कानेल) का ग्रहण हुआ है। अन्नवह धमनी से आंतो मे स्थित सिराओ (Veins) तथा पयस्विनियो (Lacteals) का भी ग्रहण है। अन्नपाक नाडी से महास्रोत (Alimentary canal) का तथा अन्न नाडी से गलेट (Gullet-oesophagus) का ग्रहण किया गया है।

---

१. 'स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति।
विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते॥' (सु. सू. ४६-४९७)
'स्रोतस्यन्नवहे–आमाशये।' (डल्हण)

## उदकवह स्रोतें

उदकवह स्रोतो का वर्णन—अम्बुवह स्रोत, अम्बुवह नाडी, जलवह नाडी, अपांवाही स्रोत, तोयवाही स्रोत, जलवाही स्रोत तथा अम्बुमार्ग, इन शब्दो द्वारा शास्त्रो में उपलब्ध होता है।

चरक तथा सुश्रुत ने उदकवह स्रोतो का मूल तालु तथा क्लोम वतलाया है। सुश्रुत ने कहा है कि उदकवह स्रोतें दो हैं और इनके विद्ध होने पर अत्यधिक प्यास लगती है तथा मृत्यु हो जाती है। चरक ने कहा है कि जब जिह्वा, तालु, कण्ठ, क्लोम तथा ओष्ठ मे शुष्कता ( शोष ) होने तथा पिपासा अत्यधिक होवे तो समझे कि उदकवह स्रोतें विकृत हो गई हैं।[1] चरक ने उदकवह स्रोतो की दुष्टि का कारण अत्यधिक ऊष्मा, आमदोष, भय, मद्यपान, अतिशुष्क पदार्थों का सेवन, तथा तृष्णा का निरोध वतलाया है।[2] इनकी विकृतियो में तृष्णोपशमनी चिकित्सा का निर्देश किया है।[3] चरक ने सिद्धि-स्थान में सभी अम्बुवह स्रोतो का अधिष्ठान बस्ति बतलाया है और समुद्र की उपमा दी है। कहा है कि जिस प्रकार नदियो का अधिष्ठान समुद्र है उसी प्रकार सभी अम्बुवह स्रोतो का अधिष्ठान वस्ति है।[4] वैद्यक शब्द सिन्धु मे उदकवह स्रोतो की व्याख्या करते समय कहा है कि उदकवह स्रोत जलवह नाडी का नाम है। ये दो हैं और इनका मूल तालु और क्लोम है। पुन कहा है कि मूत्र-वस्ति मे गई हुई दो धमनियो को उदकवह स्रोत कहते हैं जिनका मूल तालु और क्लोम है।[5]

---

१. ( i ) 'उदकवहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च; प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेष विज्ञानं भवति तद्यथा—जिह्वा-ताल्वोष्ठ-कण्ठ क्लोमशोषं पिपासामतिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।' ( च वि ५ )

( ii ) 'उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्यो मरणं च।' ( सु शा. अ. ९ )

२ 'औष्ण्यादामाद् भयात्पानादतिशुष्कान्नसेवनात्। अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात्॥' ( च. चि ५ )

३ 'उदकवहानां दुष्टानां कार्या तृष्णोपशमनी क्रिया' ( च वि. ५ )

४. 'बस्तिस्तु × × × × मूत्राधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा।' ( च सि. ९-४ )

५ 'उदकवहस्रोतः–क्ली -जलवहनाड्याम्। ते च द्वे तयोर्मूलं तालु क्लोम च।' ( वै. श. सि )

उदर रोग, शोथ, जलोदर, तथा तृष्णा की सम्प्राप्ति मे अम्बुवाही स्रोतो की दुष्टि का वर्णन प्राप्त होता है।[१]

उदकवह स्रोतो का मूल (प्रभव स्थान) तालु तथा क्लोम माना गया है। क्लोम शब्द की व्याख्या करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि क्लोम हृदय के समीप स्थित पिपासा स्थान है। क्लोम की गणना कोष्ठाङ्गो मे की गई है।

आयुर्वेद वाङ्मय मे प्रयुक्त क्लोम शब्द एक विवादास्पद अवयव है। इसका विचार करते हुए विचारको ने आधुनिक विज्ञान सम्मत निम्न अवयवो का ग्रहण किया है।-कुछ लोगो (म म गणनाथ सेन जी प्रभृति) के मत से क्लोम ट्रेकिया (Trachea) तथा कुछ लोगो के मतानुसार क्लोम अग्न्याशय (Pancreas) है। कुछ लोगो ने क्लोम शब्द से फुफ्फुस (दक्षिण) का भी ग्रहण किया है। एक विचारक क्लोम को 'सेरोब्रोस्पायनल कालम' भी कहते हैं। परन्तु मेरे विचार से शास्त्र में उपलब्ध वर्णनो के आधार पर ट्रेकिया तथा पैन्क्रिया ही क्लोम शब्द से अभिप्रेत हो सकता है। इस प्रसङ्ग मे भी क्लोम शब्द से ये उपर्युक्त दो अवयव ही अभिप्रेत सिद्ध होते हैं। मद्य के गुणो का वर्णन करते हुए कहा है कि मद्य आग्नेय तथा वायव्य गुण वाला होने से अम्बुवाही स्रोतो को सुखाता है जिससे तृष्णा उत्पन्न होती है।[२]

इन वर्णनो के आधार पर अम्बुवह स्रोत या उदकवह स्रोतें प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से तालु (Palate) क्लोम (Trachea & Pancreas) मे

---

१ (i) 'रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि सञ्चिताः।
प्राणाग्न्यपानान् सदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम्॥' (च. चि. १३)

(ii) 'पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि।' (सु नि ७ २२)। 'तद्वहानि-तोयवहानि' (डल्हण)

(iii) 'स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः। वर्धयेता तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ।' (च चि अ १३)

(iv) 'कफो रुणद्धि कुपितस्तोयवाहिषु मारुतम्।
स्रोतःसु स कफस्तेन पङ्कवच्छोष्यते ततः॥' (म. हृ नि. ६)
'कफः कुपितो जलवाहिषु स्रोतःसु यदा मारुतं रुणद्धि तदा स च कफस्तेन मरुता पङ्क इव शोष्यते।' (अरुणदत्त)

(v) पित्तं च वातश्च भृशं प्रवृद्धौ स्रोतांसि सदूषयतः समेतौ। यान्यम्बुवाहीनि शरीरिणां हि, स्रोतःस्वपां वाहिषु दूषितेषु, जायेत तृष्णाऽतिबला ततस्तु॥'
(सु उ अ. ४८)

२ 'मद्यस्याग्नेयवायव्यौ गुणादम्बुवहानि तु।
स्रोतांसि शोषयेयाता तेन तृष्णोपजायते॥' (सु. उ. ४७-५०)

प्रविष्ट होने वाली सभी रसवह स्रोतें ( Lympnatics ), धात्ववकाशों में स्थित जलाशय ( Water depots of tissues ), ग्रसनिका, मूत्र नलिका, तथा आन्त्र स्थित रसायिनियाँ ( Pharangeal, renal, mesentric and lymphatic vessels ) प्रतीत होती हैं। अर्थात् तरल का संवहन करने वाले ( Paths of circulating fluid or tubes of fluid circulation ) सब मार्गों का ग्रहण है।

## प्राणवह स्रोत

**प्राणवह स्रोतों का वर्णन**—प्राण संज्ञक वातवह स्रोत, प्राणोदानवह स्रोत इन संज्ञाओं द्वारा उपलब्ध होता है। चरक ने प्राणवह स्रोतों का मूल ( प्रभव स्थान ) हृदय तथा महा स्रोत बतलाया है और कहा है कि प्राणवह स्रोतें धातुओ के क्षय होने से, मलमूत्रादि के वेगो के संधारण से, रूक्ष पदार्थों के सेवन करने से, व्यायाम से, क्षुधा से तथा अन्य दारुण कर्मों से दूषित होती हैं और इनके विकृत होने पर अत्यधिक, रुक-रुक कर, थोड़ा-थोड़ा लगातार शब्द सहित उच्छ्वास की प्रवृत्ति होती है।[1]

चक्रपाणि दत्त ने अपनी व्याख्या मे कहा है कि ये स्रोतें प्राणसंज्ञक वायु का अभिवहन करती हैं। सामान्य रूप से तो वायु की सभी धमनियाँ ही स्रोत हैं।[2] सुश्रुत ने कहा है कि प्राणवह स्रोते दो हैं जिनका मूल हृदय तथा रसवाहिनी धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने पर आक्रोशन ( आर्तस्वर या रोदन ) विनमन ( विशेष नमन ), मोहन ( मोह को प्राप्त होना ), भ्रम, कम्प तथा मरणादि लक्षण होते हैं।[3]

इनके अतिरिक्त शोष की सम्प्राप्ति मे, हिक्का तथा श्वास की सम्प्राप्ति मे

---

१ ( i ) 'प्राणवहाना स्रोतसा हृदय मूल महास्रोतश्च, प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञान भवति, तद्यथा—अतिसृष्टमतिविद्ध कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्ण वा सशब्द शूलमुच्छ्वसन्त दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतासि प्रदुष्टानीति विद्यात्।'
( च. नि. ५ )

( ii ) 'क्षयात् सधारणाद् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च।
प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतास्यन्यैश्च दारुणै॥' ( च वि ५ )

२. 'प्राणवहानामिति प्राणसज्ञकवातवहानाम्। एतच्च प्राणाख्यविशिष्टस्य वायोर्विशिष्टस्रोत. सामान्येन तु वायो सर्व एव धमन्य इति न विरोध।' ( चक्र )

३ 'तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूल हृदय रसवाहिन्यश्च धमन्य.। तत्र विद्धस्याक्रोशन-विनमन-मोहन-भ्रमण-वेपनानि मरण वा भवति।' ( सु शा ९ )

प्राणवह स्रोतो की विकृति का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] प्राणवह स्रोतो की विकृति की चिकित्सा का उल्लेख करते हुए भी कहा है कि इनकी चिकित्सा श्वास की चिकित्सा के विधान से करनी चाहिये।[2]

इन उपर्युक्त वर्णनो के आधार पर प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से सम्पूर्ण श्वास प्रणालियाँ ( Respiratory tract ) प्राणवह स्रोतें प्रतीत होती हैं। रक्तवाहिनियां ( Arteries तथा Pulmunary veins ) भी प्राणवायु का अभिवहन करने से ( Oxygen carrier ) प्राणवह स्रोतो के अन्दर आ जाती हैं ( arteries conveying oxygen and nitrogen )।

## रसवह स्रोतें

**रसवह स्रोत का वर्णन**—रसवाहिनी नाली, रसवह धमनी तथा रसवर्त्म, इन शब्दो द्वारा शास्त्रो मे उपलब्ध होता है।

चरक ने रसवह स्रोतो का मूल ( प्रभव स्थान ) हृदय तथा दश धमनियाँ बतलाया है। सुश्रुत ने कहा है कि रसवह स्रोतें दो हैं और उनका मूल हृदय तथा रसवाहिनी धमनियाँ हैं। रसवह धमनियो के विद्ध होने पर शोष ( शरीर का सूखना ) तथा प्राणवह धमनियो के विद्ध होने पर जो लक्षण मरण आदि होते हैं वे सब लक्षण होते हैं।[3] चरक ने कहा है कि गुरु, शीत, अतिस्निग्ध

---

१ ( i ) 'य. ( अश. ) कण्ठमभिप्रपद्यते कण्ठस्तेनोद्ध्वस्यते स्वरश्चावसीदति, य प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वास-प्रतिश्यायश्च जायते × × × ' ( च. नि अ ६-४ )

( ii ) 'मारुत. प्राणवाहीनि स्रोतास्याविश्य कुप्यति।
उर स्थ कफमूद्धूय हिक्काश्वासान् करोति स. ॥' ( च. चि. अ. १७-१७ )

( iii ) 'प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः।
हिक्कां करोति संरुध्य··· ··· ··· ··· ··· ··· ॥' ( च चि १७-२७ )

( iv ) 'प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्ट. स्रोतांसि दूषयन्।
उर स्थ कुरुते श्वासमामाशयसमुद्भवम् ॥' ( अ. हृ. नि. ४ )

( v ) 'यदा स्रोतासि सरुध्य मारुत. कफपूर्वक.।
विष्वग्व्रजति सरुद्धस्तदा श्वासान् करोति स. ॥' ( मा नि. )
'स्रोतांसि इति हिक्कानिर्दिष्टप्राणोदानवहानि।' ( वि. र. )

२ ( i ) 'प्राणवहानां दुष्टाना कार्या श्वासिकी क्रिया।' ( च वि. ५ )

( ii ) 'प्राणाख्य वात वहन्ति यानि तानि प्राणवाहीनि।' ( अ. हृ शा. ३ अरुणदत्त. )

३ ( i ) 'रसवहाना स्रोतसा हृदय मूल दश च धमन्यः।' ( च. वि. अ. ५ )

( ii ) 'रसवहे द्वे, तयोर्मूल हृदय रसवाहिन्यश्च धमन्य। तत्र विद्धस्य शोष. प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च।' ( सु शा अ ९ )

तथा अतिमात्रा मे एव पथ्यापथ्य भोजन करने से तथा अधिक चिन्ता करने से रसवाहिनी स्रोतें दुष्ट होती हैं और उनके विकृत होने पर रस धातुप्रदोषज विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

**रस धातु प्रदोषज विकार**—भोजन मे अश्रद्धा, अरुचि, आस्य वैरस्य, भोज्य द्रव्यो के रस का ज्ञान न होना, हृल्लास, शरीर मे गुरुता का अनुभव, तन्द्रा, अङ्गमर्द, ज्वर, नेत्रो के सामने अँधेरा होना, शरीर का पाण्डुवर्ण हो जाना, स्रोतोरोध, क्लैब्य, सदन, अङ्गोका कृश हो जाना, अग्नि का नाश, तथा असमय शरीर मे झुर्रियो का पडना और बालो का सफेद हो जाना, ये लक्षण होते हैं।[2]

ज्वर की सामान्य सम्प्राप्ति मे, संतत ज्वर की सम्प्राप्ति मे तथा यक्ष्मा की सम्प्राप्ति मे रसवह स्रोतो की दुष्टि का वर्णन उपलब्ध होता है।[3] तृष्णा की सम्प्राप्तिमे भी कहा है कि रसवह स्रोतो को सुखाकर दोष तृष्णा उत्पन्न करते हैं।[4]

रसवह स्रोतो के उपर्युक्त वर्णनो से शरीरान्तर्गत उपलब्ध होने वाले सभी प्रवाही स्रोत ( Circulatory tract ) रसवह स्रोत प्रतीत होते हैं। हृदय

---

१. ( i ) 'गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रमश्नताम्।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात् ॥' ( च वि अ ५ )
( ii ) 'प्रदुष्टानां तु खल्वेषां रसवहस्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि विविधाशितपीतीये।
यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं प्रदुष्टानां धातुस्रोतसाम् ॥'
( च. वि अ. ५ )

२ 'अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता ।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः ॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशाङ्गता ।
नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च ॥
रसप्रदोषजा रोगाः··· ··· ··· ··· ··· ···।' ( च सू अ २८ )

३ ( i ) 'ज्वरसम्प्राप्तौ × × × रस-स्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय ॥' (च. नि १)
( ii ) 'स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥' ( च चि. ३-६३ )
( iii ) '× × × रसस्वेदप्रवाहिणाम्।
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम् ॥' ( सु उ. अ ३९ )
( iv ) 'कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु।' ( मा नि )
( v ) 'रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्द्धते ॥' ( च चि अ ८ )

४ 'रसवाहिनीश्च नाडीर्जिह्वामूलगलतालुक्लोम्न। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ।' ( च चि २८ )

से नि सृत तथा हृदय में प्रवेश करने वाली सिरा तथा धमनियाँ ( Veins & arteries ) तथा इनमें सम्मिलित होने वाली रसायिनिया ( Nutrient vessels, lymphatics ) सब रसवह स्रोतें हैं। आयुर्वेद वाङ्मय मे रस तथा रक्त धातु का भेद व्यापारिक है। रक्त का पोषक तथा आदि धातु रस है। रस धातु तुष्टि प्रीणन तथा रक्त की पुष्टि करता है।[1] शरीर का मोटा होना ( स्थौल्य ) तथा कृश होना रस की वृद्धि तथा क्षय पर निर्भर रहता है। रस धातु का अभिवहन करने के कारण ही इनका नाम 'रसवह स्रोत' है। रस धातु मे ही सभी धातुओं का उपादान रहता है अत. रस धातु सभी धातुओं का पोषक है और इसीलिये रस धातु को 'ओज' भी कहा है।[2]

## रक्तवह स्रोतें

रक्तवह स्रोतो के वर्णनार्थ शोणितवह स्रोत, रुधिरवह स्रोत, असृग्वह स्रोत तथा रक्तवाहिनी धमनी शब्द का प्रयोग आयुर्वेद की उपलब्ध संहिताओं मे प्राप्त होता है।

चरक ने शोणितवह स्रोतो का मूल (प्रभव स्थान) यकृत् तथा प्लीहा बतलाया है।[3] सुश्रुत ने कहा है कि रक्तवह स्रोतें दो हैं जिनका मूल यकृत्प्लीहा तथा रक्तवाहिनी धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने पर श्यावाङ्गता, ज्वर, दाह, पाण्डुता, शोणित का निकलना और रक्तनेत्रता उत्पन्न होती है।[4] चरक ने इनकी दुष्टि का कारण विदाही अन्नपान, स्निग्ध, उष्ण तथा द्रव पदार्थों का अधिक सेवन एव आतप तथा अग्नि का अधिक सेवन बतलाया है।[5] जब ये विकृत होती हैं तो रक्त प्रदोषज सभी विकार उत्पन्न होते हैं। जैसे—कुष्ठ, वीसर्प, पिडका, रक्तपित्त, असृग्दर, गुदपाक, मेढ्रपाक, मुखपाक, प्लीहाभिवृद्धि, रक्तज गुल्म, विद्रधि नीलिका, कामला, व्यङ्ग, विप्लु, नीलकालक, दद्रु, चर्मदल, श्वित्र, पामा, कोठ तथा रक्त मण्डल ये सब विकार रक्त प्रदोपज हैं।[6]

---

१. 'रसस्तुष्टिं प्रीणन रक्तपुष्टिं च करोति।' ( सु सू १५ )
'रस: प्रीणयति' ( डल्हण )
२ 'रसश्चौजस् समाख्यात,' 'ओज शब्देन रसोऽप्युच्यते' ( डल्हन )
३. 'शोणितवहाना स्रोतसा यकृन्मूल प्लीहा च।' ( च वि. ५ )
४. 'रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्य'।
तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता, ज्वरो दाह', पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च॥'
( सु शा अ. ९ )
५ 'विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजना चातपानलौ॥' ( च वि अ ५ )
६. '× × × × वक्ष्यन्ते रक्तदोपजाः ।

रक्त धातु का अभिवहन करने से इसकी संज्ञा रक्तवह स्रोत हुई है। शरीर में जिन मार्गों से रक्त का अभिवहन होता है वे सभी रक्तवह स्रोत हैं।[1] अर्थात् रक्तवाही नालियो ( Blood vessels ) को रक्तवह स्रोत कहते हैं। इनके अन्तर्गत रक्तवाही सिरायें ( Veins ) तथा रक्तवाही धमनियो ( arteries ) का ग्रहण होता है।

रक्तपित्त की सम्प्राप्ति मे तथा राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति मे रक्तवह स्रोतो की दुष्टि का उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

ये उपर्युक्त वर्णन स्पष्ट रूपेण संकेत करते हैं कि 'रक्तवह स्रोत से उन सभी रक्तवाहिनियों का भी ग्रहण है जो यकृत्, प्लीहा, मुष्क, योनिपथ आदि मे फैली हुई हैं ( Spleenic, portal portion of the circulatory tract, hepatic veins, blood vessels of the genital organs and vaginal orifice )। इनके अतिरिक्त फुफ्फुस मे व्याप्त रक्तवाहिनियाँ ( Pulmonary arteris and veins ), हृदय के पोषण के लिये हृदय-प्रदेश मे व्याप्त रक्तवाहिनियाँ (Coronary arteries and veins), प्रभृति सब रक्तवह स्रोत हैं।

---

कुष्ठ-वीसर्प-पिडका रक्तपित्तमसृग्दर ॥
गुद-मेढ्रास्य-पाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधि ।
नीलिका कामला व्यङ्ग पिप्लवस्तिलकालका ॥
दद्रुश्चर्मदल श्वित्र पामा कोठास्रमण्डलम् ।
रक्तप्रदोषाज्जायन्ते ..... .. ... ॥' ( च सू अ. २८ )

[1] 'शोणितवाहीनि स्रोतासि' ( च वि. अ ५ )
'शोणितं वहन्ति नयन्ति ये ते मार्गा ॥' ( चक्र )

[2] ( i ) 'यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणा लोहितवहाना स्रोतसा लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यामाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदेव लोहित दूषयति ।' ( च नि २-४ )
( ii ) 'प्लीहान च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते ।
स्रोतासि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥' ( च चि अ ४ )
( iii ) 'विलोमयक्ष्मणि—' × × × तथास्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्य' शोणित प्रच्यावयति ॥' (च नि अ ६)
( iv ) 'स्रोतासि रुधिरादीना वैषम्याद् विषम गता ।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातव ॥' ( च. चि अ ८ )
( v ) 'स्रोतसा सन्निरोधाच्च रक्तादीनाञ्च सक्षयात् ।
धातूष्मणा चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥' ( च. चि अ. २८ )

## मांसवह स्रोत

चरक ने मांसवह स्रोतो का मूल ( प्रभवस्थान ) स्नायु और त्वक् कहा है।[1] सुश्रुत ने कहा है कि मांसवह स्रोतें दो हैं और इनके मूल स्नायु, त्वक् तथा रक्तवाही धमनियां हैं। इनके विद्ध होने पर शोथ, मांस का सूखना, सिरा ग्रन्थियां तथा मृत्यु होती है।[2] चरक ने इनकी विकृतियो का कारण अभिष्यन्दि भोजन, स्थूल भोजन तथा गुरु भोजन बतलाया है। भोजन करने के बाद दिन मे सोने से भी मांसवह स्रोतें दुष्ट होती हैं और इनके दुष्ट होने पर मांस धातु प्रदोषज विकार होते हैं जैसे—अधिमांस, अर्बुद, चर्मकील, गलशालूक, गल-शुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गण्डमाला तथा उपजिह्विका।[3] इनके अतिरिक्त तृतीयक ज्वर की सम्प्राप्ति मे कहा है कि जब दोष मांसस्रोतोऽनुगत होते हैं तो तृतीयक ज्वर होता है।[4]

इन उपर्युक्त वर्णनो से मांस धातु के उपादानमय रक्त को अभिवहन करने वाली मांसपेशियो तथा त्वचा मे प्रसृत सूक्ष्म रक्तवाहिनियो तथा नाड़ी के प्रान्त भाग ( Capillaries and nerve endings of the muscular fibres and tissues ) मांसवह स्रोतो मे वर्णित प्रतीत होता है। यहाँ स्नायु जो मांसवह स्रोतो का मूल कहा गया है उससे मांसपेशियो का (Muscles and ligaments ) ग्रहण करना चाहिये। शास्त्रो मे स्नायु का जो वर्णन उपलब्ध होता है उससे भी मांसपेशियों का ही ग्रहण होता है जैसे—सुश्रुत ने कहा है कि मानव शरीर मे ९०० स्नायुयें हैं। ये चार प्रकार की होती हैं। इनमे कुछ प्रतानवती, कुछ वृत्त, कुछ पृथु ( चिपटी ) और कुछ सुषिरा होती हैं। शाखा तथा सर्वसन्धियो मे प्रतानवती स्नायुएं हैं और कण्डरायें ( Tenders ) सब वृत्त ( गोल ) होती हैं। आमाशयान्त, पक्वाशयान्त तथा वस्ति मे सुषिरा स्नायुएं होती हैं तथा पार्श्व, उर प्रदेश और पृष्ठ मे पृथु ( चिपटी ) स्नायुयें हैं। जिस प्रकार नौका सुबद्ध फलको ( तख्तो ) के बल से सब प्रकार के भार को जल में

---

१ 'मांसवहाना च स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च।' ( च वि अ. ५ )

२ 'मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्य, तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोष सिराग्रन्थयो मरणं च।' ( सु शा ९-१२ )

३ ( i ) 'अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा॥' ( च वि अ ५ )

( ii ) '× × × × शृणु मांसप्रदोषजान।
अधिमांसार्बुदं कील गलशालूकशुण्डिके॥
विद्यान्मांसाश्रयान्··· ··· ··· ·· ···।' ( च सू अ. २८ )

४. 'मांसस्रोतांस्यनुगतो जनयेत्तु तृतीयकम्।' ( च चि ३-६६ )

सहन करती है उसी प्रकार मानव भी शरीर सन्धियो के स्नायुओ द्वारा सुबद्ध होने से सम्पूर्ण शरीर भार का वहन करता है।[1]

स्नायुओं के आहत होने पर जिस प्रकार शरीर अकर्मण्य हो जाता है उस प्रकार अस्थि पेशियो, सिरा तथा सन्धियो के आहत होने पर नही होता। इसलिये शल्य चिकित्सक को स्नायुओ का ज्ञान उचित रूप मे होना आवश्यक है। मासपेशी सम्पूर्ण अवयव को कहते हैं और स्नायु मासपेशीगत कठोर प्रतानें हैं जिनमे मास आवद्ध रहता है। इसी प्रकार कण्डराओ का भी अन्तर्भाग स्नायुमय हैं।

## मेदोवह स्रोतें

मेदोवह स्रोत का वर्णन मेदोवह नाडी शब्द से भी उपलब्ध होता है। चरक ने मेदोवह स्रोतो का मूल दोनो वृक्को को तथा वपा वहन को वतलाया है।[2] चक्रपाणि दत्त ने कहा है कि उदर प्रदेश स्थित स्निग्ध वर्तिका अथवा तैल वर्तिका नामक अवयव को 'वपा वहन' कहते हैं। चक्रपाणि दत्त ने सुश्रुत का वचन उद्धृत कर वतलाया है कि दोनो वृक्क तथा कटी मेदोवह स्रोतो के मूल (प्रभव स्थान) हैं। परन्तु अतीन्द्रियार्थ दर्शिगम्य विषय होने से हम लोगों की बुद्धि इस विषय के ज्ञान मे नही समर्थ होती।[3] सुश्रुत ने कहा है कि मेदोवह स्रोतें

१ स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात् तास्तु सर्वा निबोध मे।
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा॥
प्रतानवत्य शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ।
वृत्तास्तु कण्डरा सर्वा विज्ञेया कुशलैरिह॥
आमपक्वाशयान्तेषु वस्तौ च शुषिरा खलु।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ॥
नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्त सन्धय स्मृता।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नरा॥
न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धय।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायु शरीरिणाम॥
य स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा।
स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम्॥' (सु शा अ ५)

२ 'मेदोवहस्रोतसा वृक्कौ मूल वपावहन च।' (च वि ५)

३ 'वपावहन वपा उदरस्था स्निग्धवर्तिका यामाहुर्जनास्तैलवर्तिकेति सुश्रुते तु 'मेदोवहाना मूल वृक्कौ कटी च।' इत्युक्त, तदत्रातीन्द्रियार्थदर्शिगम्ये नास्मद्विधाना बुद्ध्या। प्रभवन्ति।' (चक्र)

दो हैं जिनका मूल कटी तथा वृक्क हैं। इनके विद्ध होने पर स्वेदागमन स्निग्धाङ्गता, तालुशोष, स्थूलशोफता और पिपासा उत्पन्न होती हैं।[1] चरक ने इनकी दुष्टि का कारण अव्यायाम, दिवास्वप्न, मेदवर्धक पदार्थों का अधिक सेवन तथा वारुणी का अधिक सेवन बतलाया है और कहा है कि इनकी विकृति में वे सब विकार होते हैं जो मेदोधातु की दुष्टि से उत्पन्न होते हैं जैसे—प्रमेह के पूर्वरूप मे प्रोक्त सभी केश-जटिलत्वादि निन्दित लक्षण, अतिस्थौल्य, आयुर्ह्रास आदि लक्षण।[2]

मेदोवह स्रोतें मेद को अभिवहन करने वाली नालियाँ हैं। इनके दुष्ट होने पर मेद की भी दुष्टि होती है।[3] इन उपर्युक्त वर्णनो से शरीरस्थ मेदसञ्चय होने वाले अवयव ( Fat depot ) तथा वहाँ तक मेद को पहुँचाने वाली नाड़ियाँ मेदोवह स्रोतें प्रतीत होती हैं। शरीर मे उदर प्रदेश तथा नितम्ब मेदसञ्चय का प्रमुख स्थान है। अत. वपावहन से प्रत्यक्ष शरीर द्वारा संज्ञित 'ओमेन्टम' तथा कटि से नितम्ब का ग्रहण करना चाहिये। वृक्क से वृक्कशीर्षस्थ ग्रन्थि ( Supra renal gland ) प्रतीत होती है।

## अस्थिवह स्रोत

अस्थिवह स्रोतो का मूल ( प्रभवस्थान ) मेद तथा जघन है। द्रव रूप पोषक अस्थि धातु का अभिवहन करने से इसकी संज्ञा अस्थिवह स्रोत हुई है। व्यायाम, अति संक्षोभ, अस्थियों के अति विघट्टन से तथा वातल पदार्थों के अति सेवन से अस्थिवह स्रोतें दूषित होती हैं।[4] इनके विकृत होने से अध्यस्थि, अधिदन्त, दन्तभेद, दन्तशूल, अस्थिभेद, अस्थिशूल, विवर्णता, केश-लोम-नख-श्मश्रु के विकार होते हैं।[5]

---

१. 'मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटिर्वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च।' ( सु शा. ९ )

२ ( i ) 'अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेध्यानां चातिभक्षणात्।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्॥' ( च वि ५ )
( ii ) च सू अ. २८।

३ 'मेदोवहानि स्रोतांसि–मेदोवहनाख्य.' ( चक्र. )
'मेदोवहनाडीरोधादेव मेदोदुष्टिर्ज्ञेया।' ( चक्र. )

४. ( i ) 'अस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनं च।' ( च वि. ५ )
'अस्थ्यपि द्रवरूपमस्त्येव स्रोतोवाह्यमिति कृत्वा अस्थिवहानामित्युक्तम्।' (चक्र॰)
( ii ) 'व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात्॥' ( च. वि ५ )

५ 'अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजाः॥' ( च. सू. २८ )

## मज्जवह स्रोतें ( Medullary Canals, Marrow space )

मज्जा धातु का अभिवहन करने से इसकी संज्ञा मज्जवहस्रोत है। मज्जवह स्रोतो का प्रभवस्थान (मूल) अस्थियाँ तथा सन्धियाँ है। उत्पेषण, अति अभिष्यन्दि पदार्थों का सेवन, अभिघात, अति पीडन तथा विरोधि अन्नपान के सेवन से मज्जवह स्रोतें विकृत होती है।[1] इनके विकृत होने पर मज्जाधातु प्रदोषज विकार उत्पन्न होते हैं। जैसे—पर्वों ( छोटी-छोटी सन्धियो ) मे रुक्, भ्रम, मूर्च्छा, तमोदर्शन, स्थूलमूल वाले पोरो पर फुन्सियो का निकलना आदि लक्षण दीख पड़ते हैं।[2]

अस्थिवह तथा मज्जवह स्रोतो के उपर्युक्त वर्णन से अस्थियो के सुषिर ( छिद्र ) अस्थिवह तथा मज्जवह स्रोते प्रतीत होती हैं। कारण मेद और मज्जा दोनो का स्थान अस्थि सुषिर हैं। सुश्रुत ने कहा है कि अरणवस्थियो मे मेद तथा महदस्थियो मे मज्जा रहती है।[3]

## शुक्रवह स्रोतें

शुक्रवह स्रोतो को शुक्रवाही नाडी तथा रेतोवहा सिरा भी कहा है। चरक ने शुक्रवह स्रोतो का मूल ( प्रभव स्थान ) दोनो वृषण और शेफस् कहा है।[4] सुश्रुत ने कहा है कि शुक्रवह स्रोतें दो हैं जिनका मूल दोनो वृषण तथा दोनो स्तन हैं। यहाँ विद्ध होने से क्लीवता, शुक्र का देर से प्रसेक होना तथा शुक्र मे रक्त का आगमन होना है।[5] चरक ने इनकी विकृति का कारण अकाल योनिगमन, मैथुन का निग्रह तथा अति मैथुन एव शस्त्र, क्षार तथा अग्नि का सम्पर्क बतलाया है और कहा है कि इनकी विकृति होने पर विविधाशितपीतीयाध्यायोक्त

---

१ ( i ) 'मज्जवहाना स्रोतसामस्थीनि मूल सन्धयश्च।' ( च वि ५ )
( ii ) 'उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात्।
मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धाना च सेवनात्॥' ( च वि ५ )

२ 'रुक्पर्वणा भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा।
अरुषा स्थूलमूलाना पर्वजाना च दर्शनम्॥
मज्जप्रदोषात् ... ... ... ... ... ...।' ( च सू अ २८ )

३. 'मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति।' (सु शा ४-१२)

४ 'शुक्रवहाना स्रोतसा वृषणौ मूल शेफश्च। प्रदुष्टाना तु खल्वेषा रसादिवहस्रोतसा विज्ञानान्युक्तानि विविधाशितपीतीये यान्येव हि धातूना प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं प्रदुष्टाना धातुस्रोतसाम्।' ( च वि ५ )

५. 'शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूल स्तनौ वृषणौ च। तत्राविद्धस्य क्लीबता, चिरात्प्रसेको रक्तशुक्रता च।' ( सु. शा. अ. ९ )

शुक्र दोपज सभी विकार उत्पन्न होते हैं।[1] जैसे—क्लैव्य, अप्रहर्ष, अल्पायु तथा शेफस् का रूक्ष एवं विरूप हो जाना, शुक्र का गर्भाधान मे असमर्थ होना, गर्भाधान होने पर भी स्राव तथा पात हो जाना, अथवा उससे उत्पन्न सतान का विकृताङ्ग आदि होना लक्षण होते हैं।[2]

यद्यपि शुक्रवाही स्रोतो का मूल वृषण तथा शेफस् माना गया है तथापि सम्पूर्ण शरीर से शुक्र शुक्रवाही स्रोतो द्वारा वृषण मे स्पन्दित होता है और वहाँ से शेफस् मे नि सरणार्थ आता है।[3]

इस प्रकार शुक्रवह स्रोतो के उपर्युक्त वर्णन से प्रत्यक्ष शारीरविज्ञो द्वारा सज्ञित स्पर्मेटिक कौर्ड, एपिडिडिमस, वासडेफरेन्स, सेमिनल भेसीकल तथा कूपर्स एव पौरुष ग्रन्थि की सभी स्रोतो ( Effeerent ducts, Epididimus, bas difference, Ejatculatory ducts ) का ग्रहण हो जाता है।

## पुरीषवह स्रोतें

पुरीषवह स्रोतो का वर्णन वर्चोवह स्रोत, विड्वह स्रोत तथा मलवह नाड़ी इन शब्दो द्वारा उपलब्ध होता है।

चरक ने पुरीषवह स्रोतो का मूल पक्वाशय तथा स्थूल गुद कहा है।[4] सुश्रुत ने कहा है कि पुरीषवह स्रोतें दो हैं जिनका मूल पक्वाशय और गुदा हैं। इनके विद्ध होने पर आनाह, दुर्गन्धता तथा ग्रथितान्त्रता होती है।[5] चरक ने इनकी विकृति का कारण मल के वेगो का रोकना, अत्यशन, अजीर्ण तथा

---

१ 'अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात् ।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा ॥' ( च वि ५ )

२ 'शुक्रस्य दोपात्क्लैब्यमप्रहर्षणम् । रोगी वा क्लीवमल्पायुर्विरूप वा प्रजायते ॥
न चास्य जायते गर्भ पतति प्रस्रवत्यपि । शुक्र हि दुष्ट सापत्य सदार बाधते नरम् ॥'
( च. सू. अ २८ )

३ ( i ) 'स्रोतोभि स्यन्दते देहात् समन्ताच्छुक्रवाहिभि. ।' ( च. चि १५ )
( ii ) 'रेतोवहा· सिराश्च' ( च सि ९–४ ) 'शुक्रवहस्रोत ' ( चक्र )
( iii ) 'शुक्रवाहिनी नाडी' ( च सि ९–४ )
( iv ) 'शुक्रप्रापण्यो नाड्य ' चक्र ( च वि. ५–१९ )

४ 'पुरीषवहाना स्रोतसा पक्वाशयो मूल स्थूलगुद च । प्रदुष्टाना तु खल्वेषामिद विशेषविज्ञान भवति, तद्यथा—कृच्छ्रेणाल्पाल्प सशब्दशूलमतिद्रवमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्त दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतासि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।' ( च वि ५ )

५ 'पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूल पक्वाशयो गुद च । तत्र विद्धस्य आनाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च ।' ( सु शा ९ )

अध्यशन बतलाया है। इनके अतिरिक्त दुर्बलाग्नि तथा कार्श्य भी पुरीषवह स्रोतो को विकृत करता है। इनके विकृत होने पर कष्टपूर्वक अल्प मात्रा मे शब्द और शूल के साथ अतिद्रव अथवा अति ग्रथित अथवा अत्यधिक मल (पुरीष) की प्रवृत्ति होती है।[1]

छर्दि के उपद्रव मे मलवह स्रोत मे अवरोध उत्पन्न होता है तथा पुरीषज उदावर्त की सप्राप्ति मे भी मलवह स्रोतो की दुष्टि का वर्णन प्राप्त होता है।[2]

इन उपर्युक्त वर्णनो से पुरीषवह स्रोत से महा स्रोत (Elimentary canal) का वह भाग जिनमे आमान्न का परिपाक होता है (Small intestines) तथा स्थूलान्त्र (Large intestines) का ग्रहण होता है।

## मूत्रवह स्रोत

मूत्रवह स्रोतो का वर्णन मूत्रस्रोत तथा मूत्रवह नाडी इन शब्दो द्वारा उपलब्ध होता है। चरक ने कहा है कि मूत्रवह स्रोतो का मूल (प्रभव स्थान) बस्ति तथा वंक्षण है।[3] सुश्रुत ने मूत्रवह स्रोतो की सख्या दो वतलाते हुए कहा है कि इनका मूल वस्ति तथा मेढ्र है। इनके विद्ध होने पर आनद्धवस्तिता, मूत्रनिरोध, स्तब्धमेढ्रता होती है।[4]

चरक ने इनकी विकृतियो का कारण मूत्रित (मूत्रवेग युक्त) का उदकपान तथा भोजन के तत्काल वाद स्त्री सभोग और मूत्रवेग का निरोध वतलाया है। क्षीण तथा क्षत पुरुष के भी मूत्रवह स्रोतो मे विकृति सभव है।[5] इनके विकृत होने पर अत्यधिक, रुक-रुककर, थोड़ी-थोडी मात्रा में अनेक वार, गाढे तथा सशूल मूत्र की प्रवृत्ति होती है।

---

१ 'सधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात्तथा। वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्ने कृशस्य च॥' (च वि ५)

२ (i) 'पुरीषवहस्रोत —द्वौ' मलवहनाख्याम्। तस्य मूल पक्वाशयः स्थूलगुदश्च' (चरक) (वै. श सि)

(ii) 'विट्-स्वेद-मूत्राम्बुवहानि वायु स्रोतासि सरुध्य यदोर्ध्वमेति।' (च चि २०)

३ 'मूत्रवहाना स्रोतसा बस्तिर्मूल वङ्क्षणौ च। प्रदुष्टाना तु खल्वेषामिद विशेषविज्ञान भवति, तद्यथा—अतिसृष्टमतिबद्ध प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्ष्ण वा बहल सशूल मूत्रयन्त दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य स्रोतासि प्रदुष्टानि इति विद्यात्।' (च वि ५)

४. 'मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूल वस्तिर्मेढ्र च, तत्र विद्धस्य आनद्धबस्तिता मूत्रनिरोध स्तब्धमेढ्रता च।' (सु शा. ९-१२)

५ 'मूत्रितोदकभक्तस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात्। मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्यातिक्षतस्य च॥' (च वि. ५)

सुश्रुत ने इनका स्थान निर्देश करते हुए कहा है कि वस्तिद्वार के नीचे दक्षिण तथा वाम भाग मे मूत्रस्रोत हैं और इसी मार्ग से पुरुष का शुक्र भी निकलता है।[1] मूत्र-निर्माण का वर्णन करते हुए कहा है कि पक्वाशयगत मूत्र नाडियाँ, नदियाँ जिस प्रकार समुद्र को भरती रहती हैं, उसी प्रकार मूत्र (मूत्राशय) को सदा तर्पित करती (भरती) रहती हैं। इनके सहस्रो मुख अति सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते।[2] सिराओ (रक्तवाहिनियां) के द्वारा शरीर का जलीय मल भाग जब वस्ति मे लाया जाता है तब उसकी सज्ञा मूत्र होती है।[3]

मूत्र को बहाने वाली तथा शरीर से मूत्र को बाहर निकालने वाली नाली को मूत्रवह नाडी या मूत्रवह स्रोत कहते हैं। प्रमेह की सम्प्राप्ति मे मूत्रवह स्रोतो की विकृति का वर्णन उपलब्ध होता है। अश्मरी मे अश्मरी के द्वारा मूत्रवह स्रोतो के मुख बन्द हो जाते है ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है। मैथुनानन्तर शुक्र मूत्रपथ से बाहर निकलता है। मूत्रवाही स्रोतो मे शल्य के अटकने से मूत्राघात उत्पन्न होता है। तथा मूत्रमार्ग पर आघात होने से मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न हो जाता है। शर्कर-मेह मे तथा शनैर्मेह मे मूत्र स्रोतो में पीडा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार निरुद्ध प्रकश मे मूत्र स्रोत बन्द हो जाते हैं।[4]

---

इन उपर्युक्त वर्णनों से मूत्रनिर्मापक तथा मूत्रसंग्राहक एवं मूत्रनि.सारक सभी सूक्ष्म तथा स्थूल नाड़ियाँ यथा वृक्कस्थित मूत्रोत्सेक, गविनी, मूत्रप्रसेक प्रभृति का ग्रहण होता है। आधुनिक शारीर क्रियाविद द्वारा संज्ञित Urinary tract की सभी नालियो ( Tubuls ) और अवयवो का ग्रहण मूत्रवह स्रोत से होता है।

## स्वेदवह स्रोतें

स्वेदवह स्रोतो को बाह्यस्रोत भी कहा गया है। स्वेदवह स्रोतो का मूल ( प्रभवस्थान ) मेद तथा लोम ( रोम ) कूप हैं। जब ये विकृत होती हैं तो स्वेद का नहीं आना, अधिक आना, त्वक् का परुष ( रूक्ष ) हो जाना, अति श्लक्ष्ण ( चिकना ) हो जाना, अङ्गो मे परिदाह, लोम ( रोम ) हर्ष, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[1] इनकी विकृति का कारण चरक ने अतिव्यायाम, अतिसंताप, क्रमविपरीत शीत तथा उष्ण का सेवन, क्रोध, शोक तथा भय बतलाया है।[2]

ज्वर, तथा उदर रोग की सम्प्राप्ति मे स्वेदवह स्रोतो की विकृति का वर्णन उपलब्ध होता है।[3] स्वेदवह स्रोतो को स्वेदवह धमनी भी कहा गया है।[4]

---

( x ) 'यावदस्या' पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ।'

( xi ) 'मूत्रस्रोत प्रवृत्ता सा ( शर्करा ) सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ।'

( xii ) 'मणिचर्मोपनद्धस्तु मूत्रपोनो रुणद्धि च ।'
'निरुद्धप्रकशे ·· ······ ·· · ।' ( मा नि )

१ ( i ) 'स्वेदवहाना स्रोतसा मेदोमूल लोमकूपाश्च, प्रदुष्टाना तु खल्वेषामिद विशेषविज्ञानं भवति तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदन, पारुष्यमतिश्लक्ष्णताम्, अङ्गस्य परिदाह लोमहर्षञ्च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्रोतासि प्रदुष्टानि इति विद्यात् ।' ( च वि ५ )

( ii ) 'स्वेदवाहिषु दुष्टेषु पारुष्य लोमहर्षणम् ।
अतिस्वेदो न वा स्वेदो परिदाहश्च जायते ॥' ( च वि ५ )

२ 'व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् ।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥' ( च वि अ ५ )

३ ( i ) 'ज्वरसम्प्राप्तौ— × × × रसस्वेदवहानि स्रोतासि पिधाय ·· ·· ।' ( च वि १ )

( ii ) 'रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषा स्रोतासि संचिता ।
प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युदर नृणाम् ॥' ( च चि १३ )

( iii ) 'स्वेदस्तु बाह्येषु स्रोत स्तु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति ।' ( च. चि. अ. १३ )

४. ( i ) 'स्वेदवाहीनि स्रोतांसि—स्वेदवहा धमन्य. ।' ( चक्र'—च चि वि ५ )

इन उपर्युक्त वर्णनो से स्वेदवह स्रोते स्वेदग्रन्थियाँ तथा उनसे सम्बद्ध नालियाँ (Coiled tubuler sweat glands and thier ducts) प्रतीत होती हैं। ये ग्रन्थियाँ त्वचा के अन्दर सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हैं। इनका प्रभव स्थान मेद ( Fats ) तथा लोमकूप होने से ये भी ( Fat depot and hair folicles ) स्वेदवह स्रोतो के अन्तर्गत आ जाते हैं।

## ओजोवह स्रोतें

'ओज' को वहाने वाली ( अभिवहन करने वाली ) नालियो को ओजोवह स्रोत कहते हैं। ओज सम्पूर्ण शरीर धातुओ का सार धातु माना गया है।[1] रस तथा रक्त धातु को भी ओज कहा गया है।[2] प्रकृत श्लेष्मा का नाम भी 'ओज' है। आयुर्वेद वाङ्मय मे दो प्रकार के ओजो का वर्णन उपलब्ध होता है यथा—( १ ) पर ओज तथा ( २ ) अपर ओज। पर ओज का प्रमाण अष्ट विन्दु तथा अपर ओज का प्रमाण अञ्जलि कहा है। हृदय, रसवाहिनी धमनियाँ तथा रक्तवाहिनियाँ इसके स्थान माने गये हैं। इसका नाम 'वल' भी है। इसका वर्ण ईषत् पीत-रक्त तथा ईषत् पीत श्वेत कहा गया है। इसके निर्माण के सम्बन्ध मे कहा है कि जिस प्रकार भौंरे ( भ्रमर ) पुष्पो से मधु सचय कर मधु का निर्माण करते हैं उसी प्रकार शारीर धातुओ के परम तेज स्वरूप संगृहीत सार से इसका निर्माण होता है। यह शरीर मे रह कर शरीर को शक्ति, ऊर्जा तथा वल प्रदान करता है तथा नानाविध व्याधियो से शरीर की रक्षा करता है। यह शरीर मे व्याधिक्षमता ( व्याधि-कारण के होते हुए भी व्याधि को न होने देने की शक्ति ) तथा व्याधिविरोधकता उत्पन्न करता है।[3] इसका पृथक्

---

१ ( i ) 'ओजोवहा· शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्तत·।
येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिता· सर्वदेहिन·॥
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठति।
यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रस॥
सवर्तमान हृदय समाविशति यत्पुरा।
यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रितम्॥
यच्छरीररसस्नेह· प्राणा यत्र प्रतिष्ठिता।' ( च चि. सू ३० )

( ii ) 'तत्र रसादीनां शुक्रान्ताना धातूनां यत् पर तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव वलमित्युच्यते।' ( सु सू अ १५ )

२ 'तन्त्रान्तरे तु ओज शब्देन रसोऽप्युच्यते, जीवशोणितमप्योज·शब्देनामनन्ति केचित, ऊष्माणमप्योज शब्देनापरे वदन्ति।' ( डल्हण )

३ ( i ) 'तत् ( हृदयं ) परस्यौजस· स्थानम्' ( च सू ३० )
'परस्य श्रेष्ठस्य। एतेन द्विविधमोजो दर्शयति। परमपर च, तत्राञ्जलिपरिमा-

कोई स्रोत शरीर मे नही है, अपितु यह सर्वस्रोतश्वर है। इसकी विकृति से शरीर में विकार उत्पन्न होता है तथा इसके नाश से शरीर का नाश हो जाता है।[1]

## आर्त्तववह स्रोत

आर्त्तववह स्रोत को रक्तपथ भी कहा गया है। सुश्रुत ने आर्त्तववह स्रोत के सम्बन्ध मे कहा है कि इनकी सख्या दो है और इनका मूल ( प्रभवस्थान ) गर्भाशय तथा आर्त्तववाही धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने पर वन्ध्यात्व ( बांझपन ), मैथुनासहत्व तथा आर्त्तव का नाश हो जाता है।[2] गर्भाधान होने पर आर्त्तववाही स्रोतो के मार्ग-गर्भ से वन्द हो जाते हैं जिसके कारण गृहीतगर्भा को रज स्राव नही होता।[3]

इन उपर्युक्त वर्णनो से प्रत्यक्ष शरीरविदो द्वारा सज्ञित ओभीडक्ट ( Oviduct, fallopians and uterine tubes ) तथा फैलोपियन टीउव एवं गर्भाशय गत रक्तवाहिनियाँ ( Blood vesels of the uterus ) इन सवका आर्त्तववह स्रोत से ग्रहण होता है। फल स्रोतस् भी कही-कही इसकी सज्ञा हैं।

**योनि स्रोतस्**—से योनिमार्ग ( Vaginal orfice ) तथा गर्भाशय का ग्रहण है। योनिव्यापत् मे इसकी विकृति का वर्णन उपलब्ध होता है।[4]

**विपुल स्रोत**—काश्यपसंहिता मे गर्भाशय के लिये विपुल स्रोत का नाम आया है।[5]

---

णमपर, यदुक्तं—तावदेव प्रमाणं श्लैष्मिकस्यौजस ।' ( च शा ४ ),
'अल्पप्रमाण तु परं—प्राणाश्रयस्यौजस अष्टौ विन्दव हृदयाश्रिता' इति।
'अर्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिताः स्थानम्।' ( चक्र )
( ii ) 'प्राकृत तु बलं श्लेष्मा, स चैवौज. स्मृत काये।' ( च सू अ १७ )
( iii ) 'भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा सम्भ्रियते मधु।
तद्वदोजः स्वकर्मभ्यो गुणै सम्भ्रियते नृणाम्॥' ( च सू १७ )

१. 'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यात तन्नाशान्ना विनश्यति॥'

२. 'आर्त्तववहे द्वे, तयोर्मूल गर्भाशय आर्त्तववाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धाया बन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्त्तवनाशश्च।' ( सु शा ९-१२ )

३. 'गृहीतगर्भानामार्त्तववहाना वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण।' ( सु शा ४-२४ )

४. 'वायुर्मिथ्यास्थिताकारा योनिस्रोतसि सस्थित।' ( च चि अ ३० )

५ 'तेषामधस्ताद् विपुल स्रोत कुण्डलसस्थितम्।
जरायुणा परिवीत स गर्भाशय उच्यते॥' ( का शा ७४ )

योनिकर्णिका स्रोत—यह आधुनिक विज्ञान द्वारा संज्ञित पुडेन्टल क्लेफ्ट ( Puden tae cleft ) प्रतीत होता है।

## महास्रोतस्

चरक ने कहा है कि महास्रोत का नाम कोष्ठ भी है। यह शरीरमध्य, महानिम्न, आम-पक्वाशय, इन शब्दो द्वारा आयुर्वेद-वाङ्मय मे वर्णित है। इसको रोगो का आभ्यन्तर मार्ग माना गया है।[1] इसको प्राणवह स्रोतो का मूल ( प्रभव स्थान ) कहा है।[2]

कोष्ठ को 'कुक्षि' भी कहते हैं। यह हृदय के नीचे से आरम्भ हो कर वस्ति के ऊपर तक का भाग है।[3] कोष्ठ के अभ्यन्तर अनेक अवयवो की गणना की गई है जैसे—( १ ) आमाशय, ( २ ) अग्न्याशय, ( ३ ) पक्वाशय, ( ४ ) मूत्राशय, ( ५ ) रक्ताशय, ( ६ ) हृदय, ( ७ ) उण्डुक, ( ८ ) फुफ्फुस, ( ९ ) नाभि, ( १० ) क्लोम, ( ११ ) यकृत्, ( १२ ) प्लीहा, ( १३ ) दो वृक्क, ( १४ ) बस्ति, ( १५ ) पुरीषाधार, ( १६ ) उत्तरगुद, ( १७ ) अधरगुद, ( १८ ) क्षुद्रान्त्र, ( १९ ) स्थूलान्त्र, ( २० ) वपावहन।[4]

इन उपर्युक्त वर्णनो से 'महास्रोत' से शरीर के मध्य भाग मे स्थित सभी अवयवो का ग्रहण हो जाता है। शरीर के मध्य भाग मे तीन गुहायें हैं जैसे—( १ ) वक्षोगुहा, ( २ ) उदरगुहा और ( ३ ) वस्तिगुहा। वक्षोगुहा के अन्दर दो फुफ्फुस, एक हृदय तथा श्वास तथा अन्ननलिकायें हैं। उदरगुहा मे आमाशय, ग्रहणी, क्षुद्रान्त्र, उण्डुक, पक्वाशय, स्थूलान्त्र, उत्तरगुद, अधरगुद, यकृत्, प्लीहा, दो वृक्क, क्लोम तथा वपावहन हैं। वस्तिगुहा मे गर्विनी तथा मूत्राशय है। ये सब महास्रोत के ही अवयव हैं।

---

१ 'कोष्ठ पुनरुच्यते महास्रोत, शरीरमध्य, महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तर।' ( च सू अ. ११-४१ )

२ 'प्राणवहस्रोतसा मूलम्' ( च वि ५ )

३ 'स्वकुक्षौ हृत्याद्बस्तिपर्यन्ते।' ( वै श सि ) 'आमाग्निमूत्ररुधिरस्थानादौ।' यथा—स्थानान्यामाग्निपक्वाना मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुक फुफ्फुसाश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते।' ( सु चि अ २ )

४ ( I ) 'पञ्चदशकोष्ठाङ्गानि—तद्यथा—नाभिश्च, हृदय च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च, बस्तिश्च, पुरीषाधारश्च, आमाशयश्च, पक्वाशयश्च, उत्तरगुद च, अधरगुद च, क्षुद्रान्त्रञ्च च स्थूलान्त्र च, वपावहन चेति।' ( च शा अ ७ )

( II ) 'नाभि प्लीहा यकृत् क्लोम हृद्वृक्कौ गुदवस्तय।
क्षुद्रान्त्रमथ च स्थूलान्त्रमामपक्वाशयौ वपा॥
कोष्ठाङ्गानि वदन्ति शा' ...... ........ . ... .. ।' ( का शा. पे. ४६ )

गुल्म रोग की सम्प्राप्ति मे कहा है कि प्रकुपित वायु महास्रोत मे प्रवेश कर वायु के रौक्ष्य से कठोर हुए महास्रोत के विविध भाग मे ( स्वाभाविक मार्दव के न्यून हो जाने के कारण ) यथा हृदयप्रदेश, वस्तिप्रदेश, पार्श्वप्रदेश तथा नाभिप्रदेश मे पिण्डित हो अवस्थान करता है जिससे वहाँ गुल्माकार उसका ( वायु का ) स्वरूप हो जाता है और तब यह गुल्मरोग कहलाता है।[1] इसी प्रकार छर्दि के उपद्रव मे भी महास्रोत की विकृति का वर्णन उपलब्ध होता है।[2] सन्निरुद्ध-गुद मे भी महास्रोत की विकृति का वर्णन है।[3]

इन उपर्युक्त वर्णनो से महास्रोत से प्रत्यक्ष शारीरविदो द्वारा सज्ञित Thoraco-abdominal and pelvic cavity का ग्रहण प्रतीत होता है। पूर्वोक्त अन्नवह स्रोत, अन्ननलिका, अन्ननाडी, अन्नविपाकनाडी अर्थात् सम्पूर्ण Alimentary tract भी इसके अन्तर्गत आ जाता है।

## मनोवह स्रोतस्

चरक तथा सुश्रुत के स्रोतोऽधिकार मे वर्णित स्रोतो की गणना मे ( अर्थात् पूर्वोक्त चरक के १३ तथा सुश्रुत के ११ युग्म स्रोतो मे ) मनोवह स्रोतो का उल्लेख नही होने पर भी स्रोतोविमान मे तथा अन्यत्र अनेक रोगो की सम्प्राप्ति में मनोवह स्रोतो का तथा उनके विकृत होने का सकेत प्राप्त होता है। जैसे—'जिस प्रकार वात-पित्त-कफ के सर्वस्रोतश्चर होने से उनके स्रोतो का पृथक् वर्णन नही किया गया है उसी प्रकार अतीन्द्रिय मन के स्रोतो का भी जिनका

---

१ गुल्मसम्प्राप्तौ—'स प्रकुपितो वायुर्महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात् कठिनीभूतमाप्लुत्य पिण्डितोऽवस्थान करोति हृदि, वस्तौ, पार्श्वयोर्नाभ्या वा × × ×।' ( च. नि ३-७ )

रौक्ष्यात्कठिनीभूतमिति महास्रोतोविशेषणम्।' ( चक्र )

२ 'वायुर्महास्रोतसि सप्रवृद्ध , उत्क्लेश्य दोषास्तत ऊर्ध्वमस्यन्।
आमाशयोत्क्लेशकृता च मर्म प्रपीडयश्छर्दिमुदीरयेत्तु॥' ( च चि अ २० )
'महास्रोतसि इति कोष्ठे' ( चक्र )
'क्रुद्धो महास्रोतसि मातरिश्वा' इति वा पाठ।

३ ( i ) 'वेगसधारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रित।
निरुणद्धि महत्स्रोत- सूक्ष्मद्वारं करोति च॥'
'महास्रोतो गुदविवरम्' ( मधुकोष- ) ( सु नि १३-५५ )

( ii ) 'सर्वे वा रक्तयुक्ता वा महास्रोतोनुशायिन-।
ऊर्ध्वाधोमार्गमावृत्य कुर्वंत शूलपूर्वकम्॥
स्पर्शोपलभ्य गुल्माख्यमुत्प्लुत ग्रन्थिरूपिणम्।' ( अ हृ नि ११ )

स्थान शरीर के सभी चेतन अवयव हैं, वर्णन पृथक् रूप में नहीं किया गया है।' अर्थात् शरीर के सभी स्रोत मनोवह स्रोत के आश्रय हैं।[1]

मनोवह स्रोतो का वर्णन, संज्ञावह स्रोत, मनोबुद्धिवह सिरा, चेतनावह स्रोत, चित्तवह स्रोत, तथा धीवहस्रोत, इन संज्ञाओ से आयुर्वेद वाङ्मय मे प्राप्त होता है। माधवनिदान के मूर्च्छा प्रकरण मे विजयरक्षित ने कहा है कि 'सज्ञावह नाडी' इस शब्द से सज्ञावह सिरा, संज्ञावह धमनी तथा संज्ञावह स्रोत इन सबका ग्रहण समझना चाहिये। क्योकि इनके द्वारा ही मन इन्द्रियो को आदेश करता है।[2]

अनेक मानसिक व्याधियो मे मनोवह तथा सज्ञावह स्रोतो की विकृतता का वर्णन उपलब्ध होता है। निद्रा तथा स्वप्न के वर्णन मे कहा है कि जब सज्ञावह स्रोतें तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा के प्रभाव या आवरण से प्रभावित या आवृत्त होती हैं तो मनुष्य को अनवबोधिनी तामसी निद्रा उत्पन्न होती है।[3]

चरक ने दु स्वप्नो का वर्णन करते हुए कहा है कि जब अत्यन्त बली तीनो दोषो से मनोवह स्रोतें आवृत ( पूर्ण ) हो जाती हैं तब मनुष्य निद्रा-काल मे अनेक प्रकार के दारुण स्वप्नो को देखता है।[4] चक्रपाणि दत्त इसकी व्याख्या करते हुए यह तथ्य स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि मनोवह स्रोतो का पृथक् वर्णन नही किया गया है तथापि सम्पूर्ण चेतन शरीर इसका अयन ( मार्ग ) होने से शरीर के सम्पूर्ण स्रोत ही इसके आश्रय हैं ऐसा समझना चाहिये। विशेष रूप से मन का आश्रय हृदय होने से हृदयाश्रित दश धमनियाँ ही मनोवह स्रोत हैं।[5]

---

१ 'वात पित्त-श्लेष्मणा पुन• सर्वशरीरचराणा सर्वाणि स्रोतास्ययनभूतानि। तद्वद् अतीन्द्रियाणा पुनः सत्त्वादीनां केवल चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूत च तदेतत् स्रोतसा प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्।' ( च वि ५ )
'मनोवहानि स्रोतासि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि तथापि मनस.' 'केवल चेतनावच्छरीर-मयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतासि गृह्यन्ते।' ( चक्र' )

२ 'सज्ञावहनाडीशब्देन शिरा-धमनी स्रोतसा ग्रहणमित्याहु•, यतस्तैर्मन इन्द्रियादेशं प्राप्नोति।' ( मधुकोष मा नि. )

३. 'तत्र यदा सज्ञावहानि स्रोतासि तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा समवत्यनवबोधिनी। ( सु शा ४ )

४ 'मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभि
स्रोतसा दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे॥' ( अ हृ अ. ५ )

५ मनोवहानामित्यादि। मनोवहानि- स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि तथापि मनस• 'केवल चेतनावच्छरीरमयनभूतम्।' ( च वि ५ ) इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतासि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभि-धीयन्ते।' ( चक्र )

निद्रा का वर्णन करते हुए सुश्रुताचार्य कहते हैं कि निद्रा तो वैष्णवी अर्थात् शरीर का पालन करने वाली है। इसको 'पाप्मा' भी कहते हैं, क्योंकि इस काल में शरीर के सभी शुभ व्यापार बन्द हो जाते हैं। यह निद्रा स्वभाव से ही सभी प्राणियो को आक्रान्त करती है। जब संज्ञावह स्रोत तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा के प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं तब तामसी नामक अनवबोधिनी निद्रा उत्पन्न होती है। यह निद्रा प्रलय काल मे होती है। तमोभूयिष्ठ पुरुषों को दिन तथा रात मे निद्रा आती है। रजोभूयिष्ठ पुरुषो को अनिमित्त अर्थात् बिना किसी कारण के अथवा अनियमित रूप मे निद्रा आती है। सत्त्वभूयिष्ठ पुरुषो को अर्धरात्रि में निद्रा आती है। जिन पुरुषो का श्लेष्मा क्षीण होता है तथा जिनमे वायु का बाहुल्य होता है तथा जिन्हें कोई मानसिक तथा शारीरिक अभिताप (कष्ट) होता है उन्हें निद्रा नही आती।[1]

मानसिक व्याधियो मे मनोवह तथा संज्ञावह स्रोत विकृत होते हैं जैसे—

(१) उन्माद मे—मनोवह स्रोतों को स्वप्रकोपणों से प्रकुपित दोष आवृत कर उन्माद को उत्पन्न करते हैं।[2] इत्यादि

(२) अतत्त्वाभिनिवेश मे—रजोगुण तथा मोह से आक्रान्त मनुष्य के दोष हृदय मे प्रविष्ट कर मनोवह तथा बुद्धिवह सिराओ को दूषित कर 'अतत्त्वाभिनिवेश' नामक रोग को उत्पन्न करते हैं।[3]

(३) मूर्च्छा मे—वातादि दोषो से जब सज्ञावह नाड़ियाँ पिहित हो जाती

---

१. 'निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा सम्भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले, तमोभूयिष्ठानामहःसु दिवासु च भवति रजोभूयिष्ठानामनिमित्तम्, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे, क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति।' (सु. शा. ४)

२ (i) 'तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा, बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥' (च. चि. अ. ९)

(ii) × × × 'मनोवहानि स्रोतांसि आवृत्य जनयन्त्युन्मादम्।' (च. नि. अ. ७)

(iii) 'हत्वा मार्गान् मनोवहान् × × × उन्मादं कुर्वते।' (अ. हृ. उ. ६)

३ 'हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः।
दोषाः सदूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः॥
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते।
× × × × ×
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम्॥' (च. चि. १०)

हैं अर्थात् जब उनमे दोषों के भर जाने से अवरोध उत्पन्न हो जाता है तब मूर्च्छा उत्पन्न होती है।[1]

(४) (i) अपस्मार मे—संज्ञावह स्रोतों में जब दोष व्याप्त हो जाते हैं तब अपस्मार उत्पन्न होता है। (ii) हृदयाश्रित संज्ञावह स्रोतो मे दोषो के व्याप्त होने पर जब मन का आघात होता है तब अपस्मार उत्पन्न होता है।[2]

मनोवहस्रोतो के उपर्युक्त वर्णनो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव शरीर मे मानसिक व्यापारो को सम्पन्न करने वाले सभी केन्द्र, मार्ग तथा तन्तुयें ( Pathways through which mind operates, Psycho cortical center & Psycho-cortical routes ) मनोवह स्रोत है।

## इन्द्रिय-प्राणवह स्रोत

चरक संहिता इन्द्रिय स्थान के नौवें अध्याय मे कहा है कि मानव शरीर के शिर प्रदेश मे इन्द्रियो तथा इन्द्रिय-प्राणवह स्रोत सूर्य की किरणो के समान संश्रित हैं।[3] अन्यत्र भी शिर को उत्तमाङ्ग कहा है तथा उसमे मन तथा इन्द्रियो का अधिष्ठान माना है।[4] आधुनिक शारीर क्रियाविद् भी शिर को सभी कर्मण्य अवयवो का अर्थात् ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो का केन्द्र मानते है। मस्तिष्क संज्ञावह ( Sensory ) तथा चेष्टावह ( Motor ) क्षेत्रो मे बुद्धीन्द्रियो ( Sense organs ) तथा कर्मेन्द्रियो ( Motor organs ) के केन्द्र हैं। ये सभी अवयव आयुर्वेद-वाङ्मय मे प्रोक्त इन्द्रिय-प्राण-संज्ञक स्रोत प्रतीत होते हैं। ( Cranial nerves & Cerebro spinal nerves )

---

१ 'संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।
मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः · · ··· · ॥' ( सु उ. अ. ४६ )

२ ( i ) 'संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः ।' ( सु उ. अ. ६१ )
( ii ) 'हते सत्त्वे हृदि व्याप्ते संज्ञावाहिषु खेषु च ।' ( अ हृ उ ३-७ )
( iii ) 'रजोमोहावृतात्मानः' 'स्नासक्तचेतनावाहिस्रोतोरोधसमुद्भवाः ।
मदमूर्च्छायसंन्यासा यथोत्तरबलोत्तराः ॥' ( अ हृ नि ६ )

३. 'शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि ।' ( च सि ९-४ )

४ 'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥' ( च सू १७ )

## मर्मसंज्ञकस्रोत

चरक सिद्धि स्थान मे 'मर्मसञ्ज्ञकस्रोतो' का उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ कहा है कि सूर्य की किरणो के समान यह सम्पूर्ण शरीर 'मर्मसञ्ज्ञक' स्रोतो से व्याप्त है।[1] चक्रपाणि दत्त ने इसकी टीका मे कहा है कि यद्यपि स्रोतो में मर्मत्व नहीं है तथापि 'स्रोतोमर्म' शब्द से सिरामर्मों का तथा मर्मों की पोषण करनेवाले स्रोतो का ग्रहण करना चाहिये।[2]

## स्वरवहस्रोत

स्वर अभिवहन करनेवाली धमनियो को स्वरवहस्रोत कहते है। स्वरवहस्रोत चार हैं। दो से भाषण करते हैं तथा दो से शब्द की उत्पत्ति होती है।[3] इन स्वरवहस्रोतो में जब विकृति होती है तब ६ प्रकार की स्वर-विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।[4] स्वरवहस्रोत कण्ठ मे स्थित हैं।

उदानवायु के वेग से कण्ठस्थित स्वरतन्त्रियो मे कम्पन होता है जिससे स्वर की उत्पत्ति होती है। ये स्वर पुन स्थान तथा प्रयत्न के भेद से वर्ण (अक्षर) का रूप धारण करते हैं। वर्णो के सयोग से शब्द तथा शब्दो के समूह से वाक् (वाक्य) प्रवृत्ति होती है। वर्णोत्पत्ति के आठ स्थान हैं तथा इनके उत्पादन मे दो प्रकार के प्रयत्न होते हैं। उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, ओष्ठ, नासिका और तालु ये आठ स्थान हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर दो प्रकार के प्रयत्न हैं। पुन बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्न के भी अनेक भेद हैं। इन उपर्युक्त स्थानो तथा प्रयत्नो के भेद से स्वर नानाविध वर्ण का रूप धारण कर भाषण तथा गीत आदि की सृष्टि या प्रवृत्ति करते हैं।[5]

---

१ × × × 'बहुभिश्च तन्मूलैर्मर्मसंज्ञकैः स्रोतोभिर्गभनमिव दिनकरकरैर्व्याप्तमिदं शरीरम्।' (च सि. अ ९-४)

२ 'नहि स्रोतसा मर्मत्वमस्ति, किंवा स्रोतोमर्मशब्देन सिरामर्मग्रहण किंवा मर्मसम्बद्धानि मर्मपोषकाणि वा स्रोतांसि मर्मसंज्ञकानि स्रोतांसि।' (चक्र)

३. 'स्रोत सु स्वरवहेपु चतुर्षु यदुक्त सुश्रुते—'द्वाभ्या भाषते द्वाभ्या घोष करोति' इति। भाषणघोषणयोरल्पत्वमहत्त्वाभ्यां भेद.। (चक्रः)

४ 'स्रोत सु ते स्वरवहेपु गता प्रतिष्ठा हन्यु स्वर भवति चापि हि षड्विध स॥' (सु उ अ ५३)

'स्वरवहेपु स्रोत'सु—शब्दवाहिनीपु धमनीपु, ते वातादय गताः प्राप्ता.।' (डल्हण)

५. (i) 'उदानस्य वाक् प्रवृत्ति. प्रयत्नोर्जाबलवर्णादि कर्म च।' (चरक)

(ii) 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर कण्ठ शिरस्तथा।
जिह्वामूल च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥'

(iii) 'प्रयत्नो द्विधा—बाह्यो आभ्यन्तरश्च। (पाणिनि-शिक्षा)

इन उपर्युक्त वर्णनो से कण्ठ तथा कण्ठ स्थित स्वरतन्त्रियाँ ( Larrynx and Vocal cords ) स्वरवहस्रोत प्रतीत होती हैं।

## शब्दवहस्रोत

स्रोतो की गणना प्रकरण मे पूर्वोक्त स्वरवहस्रोतो का तथा वक्ष्यमाण शब्दवहस्रोतो का उल्लेख नही प्राप्त होता। परन्तु इनकी विकृतियो का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे—

बाधिर्य रोग की सम्प्राप्ति मे कहा है कि जब प्रकुपित वायु स्वयं अथवा श्लेष्मान्वित हो शब्दवहस्रोतों को आवृत कर स्रोतो मे स्थित हो जाती है तब बाधिर्य को उत्पन्न करती है।[1] पुन. उत्तरतंत्र अध्याय २० मे कहा है कि 'वही कफानुगत वायु शब्दवह सिराओ को आवृतकर स्रोतो मे स्थित हो जाती है और जब उसकी तत्काल चिकित्सा नही की जाती तो बाधिर्य उत्पन्न हो जाता है।'[2] इसी प्रकार प्रणाद की सम्प्राप्ति मे भी शब्दवह स्रोतो की विकृति का वर्णन उपलब्ध होता है।[3]

ये उपर्युक्त वर्णन स्पष्ट कर देते है कि यहाँ ( इस प्रकरण मे ) शब्दवह स्रोत, अथवा शब्दवह सिरा अथवा शब्दवह नाडी से प्रत्यक्ष शारीर-क्रियाविदो द्वारा सम्मित श्रवणयन्त्र के विविध अवयव ( Auditory passage, meatus तथा filaments of the cochlear nerves आदि ) हैं।

शब्दवह स्रोत से स्वरयन्त्रो का भी कहीं कहीं ग्रहण हुआ है। जैसे—मूक, मिन्मिन तथा गद्गद रोगो की सम्प्राप्ति मे प्रोक्त शब्दवह स्रोतो की विकृति का वर्णन। सुश्रुत ने कहा है कि जब कफ के साथ वायु शब्दवह धमनियो को आवृत करता है तो मूक, मिन्मिन तथा गद्गदवाक्त्व उत्पन्न करता है।[4]

**कर्णस्रोत—** की विकृतियो पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि

---

१. 'यदा शब्दवहं स्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते॥' ( सु नि १-८३ )

२ स एव शब्दानुवहा यदा सिरा· कफानुयातो व्यनुसृत्य तिष्ठति।
तदा नरस्याप्रतिकारसेविनो भवेत्तु बाधिर्यमसंशयं खलु॥' (सु उ अ. २० ८)

३ यदा तु नाडीषु विमार्गमागत, स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति।
शृणोति शब्दान् विविधांस्तदा नर, प्रणादमेनं कथयन्ति चामयम्॥'
( सु उ अ २०-७ )

४ 'आवृत्य सकफो वायुर्धमनी शब्दवाहिनीः।
नरान् करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिनगद्गदान्॥' ( सु. नि १-८५ )

आधुनिक शारीर-क्रियाविदो द्वारा संज्ञित श्रवणपथ (Auditory passage) कर्णस्रोत से अभिप्रेत है।[1]

**नासास्रोत**—की विकृतियो के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि नासास्रोत से आधुनिक प्रत्यक्ष शारीर-क्रियाविदो द्वारा संज्ञित नासापथ ( Nasal meatus ) अभिप्रेत है।[2]

**कण्ठस्रोत**—से स्वरनाली ( Laryngial passage ) का बोध होता है।[3] इसे कण्ठनाडी भी कहते हैं।

**मुखस्रोत**—से मुखकुहर ( Buccal cavity ) का ग्रहण प्रतीत होता है। क्योकि ऊर्ध्वश्वास मे इसकी विकृति का वर्णन करते हुए कहा है कि मुखस्रोत श्लेष्म से आवृत हो जाता है।[4]

**उरःस्रोत**—अन्नजा हिक्का तथा अभिन्यास ज्वर मे उर स्रोत की विकृति का वर्णन उपलब्ध होता है।[5] अन्नजा हिक्का मे ग्रासागत अन्नपान से वायु कोष्ठ मे जब रुकती है तो उस वायु को निकालने के लिये हिक्का रूप प्रयत्न होता है। अन्नपान के पुन. सुव्यवस्थित हो जाने पर यह हिक्का स्वयमेव शान्त हो जाती है। अत इस प्रकरण मे प्रोक्त उर स्रोत से अन्ननलिका का जो भाग उर प्रदेश मे है उससे अभिप्रेत है। परन्तु अभिन्यास ज्वर मे प्रोक्त उर स्रोत भिन्न है।

## पञ्चकर्म

काय-चिकित्सकों ने पञ्चकर्म के प्रधान कर्मो मे ( १ ) वमन, ( २ ) विरेचन, ( ३ ) शिरोविरेचन, ( ४ ) निरूह और ( ५ ) अनुवासन का ग्रहण किया है। पञ्चकर्म शोधन चिकित्सा का मुख्य कर्म है।

---

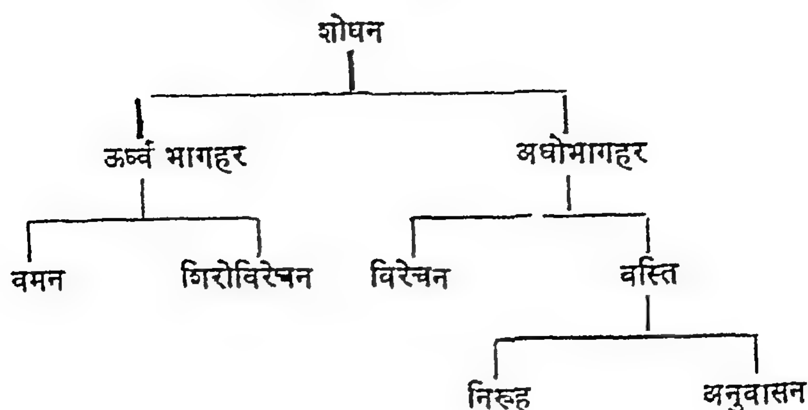
१ ( i ) 'कर्णस्रोत स्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान्।' ( मा नि )
( ii ) 'कफेन कण्डू- प्रचितेन कर्णयोर्भृश भवेद् स्रोतसि कर्णसंस्थिते।'
( iii ) 'विशोषिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा नृणा भवेत् स्रोतसि कर्णगूथक।'
( सु उ अ. २० )

२. ( i ) 'नासास्रोतोगता रोगास्त्रिंशदेकश्च कीर्तित।' ( सु उ. अ २२ )
( ii ) 'स्रोत-पथे यद्विपुल कोशवच्चार्बुदं भवेत्।'
( iii ) शोफस्तु शोफविज्ञाना नासास्रोतोन्यवस्थिता.।'
( iv ) 'घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन गाढ प्रतप्त परिशोषिते च।'
( v ) 'आमलिङ्गान्वित श्लेष्मा घन- खेपु निमज्जति।' ( मा नि )
'खेपु—नासारन्ध्रपु।' ( वि र )

३ कण्ठस्रोत —कण्ठनाड्या, कण्ठनाड्या वा।' ( वै श सि )

४ ( i ) 'श्लेष्मावृतमुखस्रोता.।' ( च. चि १७-४९ )

५ ( i ) 'उर स्रोतः समाविश्य कुर्याद्धिक्का ततोऽन्नजाम्।' ( च चि. १७-४० )
( ii ) त्रयः प्रकुपिता दोपा उर स्रोतोऽनुगामिनः।' ( मा. नि अभिन्यासज्वरे )




**वमन कल्प**—वामक द्रव्यो की कल्पना होने से इसकी सज्ञा वमन कल्प हुई है। चरक ने ३५५ वामक योगो की कल्पना कल्पस्थान मे की है। इनमे मदनफल (मैनफल) के १३३ योग, जीमूतक (देवदाली) के ३९ योग, इक्ष्वाकु (कटुकालाबु) के ४५ योग, धामार्गव (कटुतरोई) के ६० योग, कुटज (कोडैया) के १८ योग तथा कृतवेधन (तरोई) के ६० योगो का वर्णन है।[1]

**विरेचन कल्प**—विरेचन द्रव्यो की कल्पना होने से इसकी संज्ञा विरेचन कल्प हुई है। चरक ने २४५ विरेचक योगो का वर्णन इस प्रकरण मे किया है। इनमे श्यामात्रिवृत् (काली डालवाली तथा रक्त डालवाली निशोथ) के ११० योगो का (५५+५५), चतुरङ्गुल (अमलतास) के १२ योगो का, तिल्वक के १६ योगो का, महावृक्ष (स्नुही) के २० योगो का, सप्तला-शङ्खिनी के ३९ योगो का तथा दन्ती द्रवन्ती के ४८ योगो का वर्णन है।[2]

इस प्रकार वमन तथा विरेचन कल्पो मे ६०० योगो का वर्णन उपलब्ध होता है। शरीर-मल के विरेचन करने के कारण दोनो की सज्ञा विरेचन भी होती है। इसी लिये 'षड्विरेचनशतानि' अर्थात् ६०० विरेचन होते हैं ऐसा कहा गया है।[3]

इन उपर्युक्त वमन तथा विरेचन योगो के ६ आश्रय होते हैं यथा—(१) क्षीर, (२) मूल, (३) त्वक्, (४) पत्र, (५) पुष्प तथा (६) फल। इनकी पाँच प्रकार की कषाय-कल्पना होती है, जैसे—(१) कल्क, (२) शृत, (३) शीत, (४) फाण्ट और (५) कषाय। इन कषायो की पाँच योनियाँ

---

१. च. सूत्र-स्थान अ० ४-४; २. च. सूत्र स्थान अ० ४-४,
३. 'शरीरमलविरेचनादुभय विरेचनसंज्ञा लभते।' (च क ३)

होती हैं यथा—( १ ) मधुरकषाय, ( २ ) अम्लकषाय, ( ३ ) कटुकषाय, ( ४ ) तिक्तकषाय और ( ५ ) कषाय कषाय।[1]

इन उपर्युक्त वमन तथा विरेचन द्रव्यो का प्रयोग यथादोष निम्नलिखित अनुपानो से करें। जैसे—सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, धान्याम्ल, फलाम्ल, दध्यम्ल आदि के अनुपान से वातविकार मे, मृद्वीका, आमलक, मधु, मुलेठी, फालसा, फाणित, क्षीर आदि के अनुपान से पित्त विकार मे और मधु, गोमूत्र तथा कषाय आदि की भावना देकर तथा आलोडित कर कफविकार मे प्रयोग करें। ( च अ १-१२ )

**मदन कल्प**—वमन द्रव्यो मे मदनफल ( मैनफल ) को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यह उष्णवीर्य, तीक्ष्ण सूक्ष्म, व्यवायी तथा विकाशी होता है। इसकी उत्पत्ति मे अग्नि-वायु महाभूत अधिक होते हैं। अत यह 'ऊर्ध्वभाज' कहा गया है। इनके १३३ कल्पो मे—९ कषाय योगो का, ८ मात्रा योगो का, ५ दूध तथा घृत पाको का २ फाणित तथा चूर्ण योग, १ नस्य का, ६ वर्तिक्रिया का, लेह, मोदक तथा उत्कारिका के ६० योगो का तथा ३२ शष्कुली और अपूप के योग तथा १० राग—षाडव योगो का वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

**ग्राह्य मदन फल**—सामान्यत. औषध द्रव्य देश-काल-गुण-भाजन सम्पद् वीर्य तथा बलावान से ही अपनी क्रियाओ को सम्पन्न करने मे समर्थ होते हैं। अत इनका आपूर्ण रसवीर्य होना तथा प्रशस्त देशोत्पन्न, कालोत्पन्न होना परमावश्यक है। इनका सग्रह भी प्रशस्तकाल मे ही होना चाहिये। जाङ्गलदेश का औषध श्रेष्ठ माना गया है। इनके शाखा और पत्र का सग्रह वर्षा तथा वसन्त ऋतु मे, मूल का सग्रह शिशिर ऋतु मे, त्वक्, कन्द तथा क्षीर का ग्रहण शरद् ऋतु मे, सार का ग्रहण हेमन्त ऋतु मे, पुष्प तथा फल का ग्रहण जिस ऋतु मे निकलते हो उसमे करना चाहिये। ग्रहण करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि ग्राह्य द्रव्य आतप, अग्नि, जल से विकृत न हुए हो तथा क्रिमिजग्ध न हो, उनके गन्ध, वर्ण, रस-स्पर्श प्रभाव आदि अक्षुण्ण हो।[3]

मदनफल का सग्रह वसन्त-ग्रीष्म के मध्यकाल मे पुष्य, अश्विनी, मैत्र तथा मृगशिरा नक्षत्र मे करना चाहिये। मदनफल पकने पर पाण्डुवर्ण का हो जाता है। अत पक्व मदनफल का जो छिद्रयुक्त न हो, हरा न हो, क्रिमिजग्ध न हो, सडा न हो, छोटा न हो सग्रह करें।[4]

---

१ च सू अ ४-३, च क अ १-२८, २०, ३०,
२. च क अ १-१३, च क अ १-५,
३ च क अ. १-७, ९, १०, १३,
४ च य १-१३,

उपर्युक्त विधान से सगृहीत मैनफलो को कुशपुटो मे बांधकर उसके ऊपर गोबर का लेप कर दे और उन्हें जौ की भूसी, उडद, शालि चावल, कुलथी तथा मूंग इनमे मे किसी एक की ढेर ( राशि ) मे आठ रात तक रख दे। तदनन्तर जब वे मृदु तथा मधुगन्धी हो जांय तो उन्हे निकाल कर सुखा ले। सूख जाने पर उनके दाने छुडा ले। इन दानो को घी, दही, मधु तथा मासरस मे मलकर पुन सुखा ले। सूखने पर नये कलश मे जिसमे आकण्ठ वालु भरा हो, रखकर उन्हे बन्दकर मन्त्रादि से रक्षाविधान कर सिकहडी पर लटका सुरक्षित करे। पुन इनका यथाविधि प्रयोग करे।

आजकल अनेक प्रकार के पात्र वस्तुओ की सुरक्षा के लिये प्राप्त होते हैं अत. उनका व्यवहार यथायोग्य करे।

**मैनफल के ९ कषाय योग**—( १ ) यष्टिमधु, ( २ ) कोविदार, ( ३ ) कर्बुदार, ( ४ ) नीप, ( ५ ) विदुल, ( ६ ) बिम्बी, ( ७ ) शणपुष्पी, ( ८ ) सदापुष्पी और ( ९ ) प्रत्यक्पुष्पी इन नौ द्रव्यो के कषाय मे से किसी एक के कषाय में मुष्टि प्रमाण मैनफल के दानो को अभिषिक्त कर रात भर छोड़ दे। प्रात काल उन्हें मल कर छान ले और उस कषाय मे मधु तथा सैंधव मिलाकर सुखोष्ण कर शराव-प्रमाण मे पीवे।

यहाँ इस बात का ध्यान रखे कि छर्दनीय रोगी को आवश्यकतानुसार २ या ३ दिन स्नेहन, स्वेदन यथाविधि कर लेना चाहिये। स्नेहन तथा स्वेदन के बाद ग्राम्य, आनूप तथा औदक मासरस, क्षीर, दधि, मास, तिल तथा शाकादि से समुत्क्लेशित करना आवश्यक है।

इन उपर्युक्त नौ द्रव्यो से नौ योग कषाय के बनते हैं।

**मैनफल के ८ मात्रायोग**—मैनफल का तीन भाग करे, इसमें से २ भाग को कोविदार आदि के कषाय से २१ बार क्षारविधि के अनुसार परिस्रावण करें। कोविदारादि आठ द्रव्यो का कषाय पृथक्-पृथक् परिस्रावण विधि से प्रयोग करें। जिस कषाय से मैनफल के दो भागो का परिस्रावण करे उसी कषाय से मैनफल के तीसरे भाग के कल्क को हरीतक्यादि-प्रमाण मात्रा मे प्रयोग करें। इस प्रकार इसके हरीतक्यादि मात्रा से आठ योग हो जाते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यह औसत-मात्रा है। मात्रा दोष-बलादि के अनुसार घटती-बढती रहेगी। ( १ ) कोविदार, ( २ ) कर्बुदार, ( ३ ) नीप, ( ४ ) विदुल, ( ५ ) बिम्बी, ( ६ ) शणपुष्पी, ( ७ ) सदापुष्पी और ( ८ ) प्रत्यक्पुष्पी ये आठ द्रव्य कोविदारादि से गृहीत होते हैं।

इन उपर्युक्त कषायो मे से किसी एक वा दो को अञ्जलि प्रमाण मे लेकर

उसे मलकर बलवान् श्लेष्म-प्रसेक, ग्रन्थिज्वर, उदररोग, तथा अरुचि मे
यथायोग्य पिलावे।

**पय ( क्षीर ) तथा घृत आदि के पाँच प्रयोग**—( १ ) क्षीरपाक
विधि से मैनफल को सिद्ध कर अधोग रक्तपित्त तथा हृदय के दाह मे पिलावे।
इस सिद्ध क्षीर का ( २ ) दही जमावे, पुन उस दही का ( ३ ) उत्तरक ( सर )
बनावे और उसका प्रयोग छर्दि, तमक और प्रसेक मे करे। पुन उसी दूध की
( ४ ) मलाई का प्रयोग पित्त प्रकोप मे तथा पतले कफ से उपदिग्ध, उर, कण्ठ
और हृदय के विकार मे करे। पाँचवाँ प्रयोग उक्त क्षीर से नि सृत नवनीत का
करे। इस नवनीत को मैनफल के कषाय तथा कल्क से यथाविधि सिद्ध कर ले।

**नस्य का १ योग**—( १ ) मैनफल के दानो को फलादि कषाय से
पृथक्-पृथक् २१ बार भावना देकर पुष्प-धूलि के समान बना ले और इस
चूर्ण से बडे तालाव मे उत्पन्न बडे कमल पुष्प को सायकाल अवचूर्णित कर दे।
रात भर बीत जाने पर प्रात काल उस अवचूर्णित कमलपुष्प को निकाल
ले। सुकुमार पुरुष जिनके कफ तथा पित्त उत्क्लिष्ट हो गये हो और जो औषध
द्वेषी हो उन्हे हरिद्रा, कृशरा, क्षीर, यवागू, इनमे किसी एक को सैंधव, गुड़
तथा फाणित मिलाकर आकण्ठ पिलाकर उक्त पुष्प को सुँघावे। इसके सुँघने से
वमन होता है।

नोट—फलादि कषाय मे मैनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज,
कृतवेधन, ये ६ द्रव्य हैं।

**फाणित तथा चूर्ण के २ योग**—( १ ) भल्लातक-विधान से परिस्रुत फल
पिप्पली ( मैनफल ) के स्वरस को पकावे। जब वह फाणित के समान हो जाय
अर्थात् रवा बन जाय तो उसे चाटे। ( २ ) अथवा उसे धूप मे सुखा कर
उसका चूर्ण बना ले और जीमूतक आदि कषाय से कफस्थानगत पित्त मे
पिलावे। इन दोनो के प्रयोग से वमन होता है। इस प्रकार इसके दो
योग हुए।

**वर्त्तिक्रिया के ६ योग**—( १ ) मैनफल, ( २ ) जीमूतक, ( ३ ) इक्ष्वाकु,
( ४ ) धामार्गव, ( ५ ) कुटज और ( ६ ) कृतवेधन, इन ६ द्रव्यो के कषाय से
मैनफल के दानो के चूर्ण को पका कर ( पृथक्-पृथक् ) ६ प्रकार की वर्त्तियाँ
बनावे और इनका प्रयोग यथावश्यक यथाविधान वमनार्थ करें।

वर्त्तिक्रिया के लिये चूर्ण से चतुर्गुण कषाय का ग्रहण करें और उसका
पाक उस समय तक करें जब तक वह इतना गाढा न हो जाय जिससे वर्त्ति बन
सके। यहाँ भी मधु-सैंधव का प्रयोग लेहवत् करना चाहिये।

**मैनफल के २० लेहयोग**—मैनफल के चूर्ण को (१) आरग्वध, (२) वृक्षक, (३) [illegible], (४) पाठा, (५) [illegible], (६) [illegible], (७) मूर्वा, (८) [illegible], (९) [illegible], (१०) [illegible], (११) [illegible], (१२) [illegible], (१३) गुडूची, (१४) [illegible], (१५) [illegible] ([illegible]), (१६) पिप्पली, (१७) [illegible] (१८) [illegible] (१९) [illegible] तथा (२०) [illegible] ([illegible]), [illegible] के क्वाथ से यथाविधि लेह बनावे। इस प्रकार सिद्ध लेहों का यथावश्यक वमनार्थ प्रयोग करें।

**मैनफल के २० उत्कारिका योग** (१) [illegible], (२) [illegible], (३) [illegible], (४) [illegible], (५) [illegible] (६) [illegible] (७) [illegible], (८) [illegible], (९) [illegible], (१०) [illegible] (११) [illegible], (१२) [illegible], (१३) [illegible], (१४) [illegible], (१५) [illegible], (१६) [illegible], (१७) [illegible], (१८) [illegible], (१९) [illegible] और (२०) अशोकरोहिणी, इन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में मैनफल के चूर्ण का प्रक्षेप देकर यथाविधि उत्कारिका बनावे। इनमें से यथावश्यक यथायोग्य प्रमाण में वमनार्थ प्रयोग करें।

**मैनफल के २० मोदक योग**—उपर्युक्त (उत्कारिका के योगार्थ उक्त) २० द्रव्यों में से ही किसी एक द्रव्य के क्वाथ में मैनफल के चूर्ण का यथाविधि पाक कर मोदक बना ले मोदक बनावें। पृथक्-पृथक् इन क्वाथों से २० मोदक के योग तैयार हो जाते हैं। इनका यथावश्यक उपयुक्त मात्रा में वमनार्थ प्रयोग करें।

**मैनफल के १६ अपूप योग**—तिल तथा शालि तण्डुलों को मैनफल के स्वरस तथा कषाय में भावित कर, उनसे निर्मित आटे को उपर्युक्त मैनफल तथा अन्य पन्द्रह द्रव्यों के कषाय में घोलकर यथाविधि अपूप बनावे और उनका यथावश्यक वमन के लिये प्रयोग करें।

**मैनफल के १६ शष्कुली योग**—तिल तथा शालि चावल को मैनफल के स्वरस तथा कषाय में भावित करें और उनका पिसान (आटा) बना ले। पुनः मैनफल के कषाय में आटे को सानकर शष्कुली बनावे और वमनार्थ उसका प्रयोग करें। इसी प्रकार उक्त आटे को (१) सुमुन, (२) सुरस, (३) कुठेरक, (४) काण्डीर, (५) कालमालक, (६) पर्णासक, (७) क्षवक (८) फणिज्झक, (९) गृञ्जन, (१०) कासमर्द, (११) भृंगराज, (१२) पोटा, (१३) इक्षुवालिका, (१४) कालङ्कतक, (१५) दण्ड और (१६)

एरका के कषाय से पृथक्-पृथक् यथाविधि शष्कुलि बनावे और उनका यथायोग्य वमनार्थ प्रयोग करे।

**मैनफल के १० राग षाडवादि योग**—मैनफल के चूर्ण को (१) वदरषाडव, (२) वदरराग, (३) वदरलेह, (४) वदरमोदक, (५) वदरोत्कारिका, (६) वदरतर्पण, (७) वदरपानक, (८) वदरमासरस, (९) वदरयूष तथा (१०) वदरमद्य, इनमे से किसी एक के योग से वमनार्थ देवे। इससे सम्यक् वमन होता है।

**मदनफल के पर्याय**—मदन, करहाट, राठ, पिण्डीतक, फल तथा श्वसन ये पर्याय हैं।

**जीमूतक कल्प**—गरागरी, वेणी, तथा देवताडक ये जीमूतक के पर्याय हैं। यह त्रिदोषघ्न होता है। ज्वर, श्वास, हिक्का आदि विकारो मे विविध औषधो की कल्पना से यथायोग्य इसका व्यवहार होता है। इसके कल्प फल तथा पुष्प मे आश्रित हैं। इनके ३९ कल्पो का वर्णन चरक कल्पस्थान मे उपलब्ध होता है। क्षीरपाक मे ६, मदिरामण्ड मे १, अन्य योग १२, आरग्वधादि कषाय के ७, वर्त्ति के ८ योग, जीवकादि के ४ योग तथा घृत के १ योग होते हैं।

**जीमूतक के ६ क्षीर योग**—सुभूमिजात, आपूर्ण रसवीर्य, प्रशस्त जीमूतक के (१) पुष्पो से यथाविधि क्षीर सिद्ध कर उसका प्रयोग वमनार्थ करे। (२) उत्पन्न मात्र फल से यथाविधि क्षीर सिद्ध कर वमनार्थ पिलावे। (३) जब फलो मे रोम आ जाय तो उनसे यथाविधि क्षीर सिद्ध कर उसकी मलाई का प्रयोग करे। (४) पुन इस प्रकार सिद्ध दूध का दही बनाकर (दधिसर) वमनार्थ प्रयोग करे। (५) जब जीमूतक के फल खूब पक कर हरित पाण्डुवर्ण के हो जाँय तो उनसे क्षीर सिद्ध कर वमनार्थ प्रयोग करे। (६) पुन उपर्युक्त फल को सुखाकर चूर्ण बना ले और उस चूर्ण को १ शुक्ति प्रमाण मे दूध के साथ वमनार्थ पिलावे।

**मदिरा-मण्ड का १ योग**—कफज अरोचक, कास, पाण्डुरोग तथा राजयक्ष्मा मे पक्व जीमूतक फल को (चूर्ण को) सुरामण्ड मे मल कर सवानार्थ २४ घण्टा रख दे और उसे छान कर यथाविधि प्रयोग करे।

**जीमूतक फल के अन्य १२ योग**—पूर्वोक्त कोविदारादि आठ द्रव्यो तथा मुलेठी, गुडूची, निम्ब तथा कुटज, इन १२ द्रव्यो के योग से पृथक्-पृथक् बारह कल्प बनावे और उनका यथावश्यक वमनार्थ प्रयोग करे। यहाँ भी पक्व जीमूतक फल का यथाविधि ग्रहण करे। ये भी कषाय योग ही हैं। जीमूतक फल के चूर्ण को उक्त कषाय मे अभिषिक्त कर पीवे।

**आरग्वधादि कषाय के साथ जीमूतक के ७ योग**—आरग्वधादि सात द्रव्यो के कषाय से पक्क जीमूतक फल के ७ कल्प बनावे और उनका यथावश्यक वमनार्थ प्रयोग करे। आरग्वधादि के अन्दर ( १ ) आरग्वध ( २ ) कुटज, ( ३ ) स्वादुकण्टक ( विकङ्कत ) ( ४ ) पाठा, ( ५ ) पाटला, ( ६ ) गुञ्जा और ( ७ ) मूर्वा का ग्रहण करें। ये कषाय, पित्त, श्लेष्म तथा ज्वर से आक्रान्त रोगियो मे वमनार्थ प्रयुक्त होते हैं।

**वर्तिक्रिया के ८ योग**—सुपक्क जीमूतक फल दो भाग लेवे और इसे कोविदार आदि पूर्वोक्त आठ द्रव्यो के पृथक्-पृथक् कषाय में २१ बार परिस्रावित करे। पुन उसी कषाय से जीमूतक फल के तीसरे भाग को पीसकर कोल प्रमाण मात्रा में उक्त कषाय के अनुपान से वमनार्थ प्रयोग करे। इस प्रकार इनके ८ योग वन जाते हैं।

**जीवकादि के ४ योग**—( १ ) जीवक, ( २ ) ऋषभक, ( ३ ) इक्षु तथा ( ४ ) शतावरी के रस से तथा कषाय से सुपक्क जीमूतक-फलो के चार कल्पना कर ४ योग वनावे और इसका यथावश्यक वमनार्थ प्रयोग करे।

**जीमूतक घृत के १ योग**—यथाविधि भावित जीमूतक क्षीर से निकाले हुए घृत को मैनफल आदि के कषाय तथा कल्क से यथाविधि घृतपाक करे और उसका प्रयोग वमनार्थ करे। यह श्रेष्ठ वामक घृत माना गया है।

**इक्ष्वाकु कल्प**—लम्बा, कटुकालावु, तुम्बी तथा पिण्डफला ये इक्ष्वाकु के नाम हैं। इसका वमनार्थ प्रयोग कास, श्वास, विष, छर्दि तथा ज्वर से आक्रान्त एव कफकर्षित व्यक्तियों के लिये होता है। इसके ४५ योगो का वर्णन चरक कल्प स्थान ३ मे है। क्षीरपाक मे ८, सुरामण्ड, मस्तु तथा तक्र के ३, नस्ययोग १, पललयोग १, तैलयोग १, फलों के वर्धमान ६ योग, घृत का १ योग, मुलेठी आदि के कषाय के ९ योग, वर्तिक्रिया के ८ योग, लेह के ५ योग, मन्थ के १ योग तथा मासरस के १ योग हैं।

**क्षीरपाक का ८ योग**—( १ ) इक्ष्वाकु के अपुष्पित 'प्रवाल ( डाल ) को मुष्टिप्रमाण ( प्रदेशिनी मूल पर्यन्त कृत मुष्टि प्रमाण ) लेकर एक प्रस्थ दूध में ( क्षीरपाक विधान से ) सिद्ध करे। इस सिद्ध दूध को पित्तोद्रिक्त कफज्वर मे वमनार्थ पिलावे। ( २ ) इक्ष्वाकु के पुष्प के योग दूध मे यथाविधि पेया सिद्ध करे और वमनार्थ पिलावे। ( ३ ) इक्ष्वाकु के फल से यथाविधि दूध में पेया सिद्ध कर वमनार्थ प्रयोग करे। ( ४ ) रोमयुक्त इक्ष्वाकु के फल से सिद्ध दूध की सन्तानिका का प्रयोग वमनार्थ करे। ( ५ ) पुन उक्त सिद्ध दूध का दधिसर बनाकर वमनार्थ प्रयोग करे। ( ६ इक्ष्वाकु के फल का स्वरस निकाल कर

उसमे तिगुना दूध डालकर सिद्ध करे। इस सिद्ध दूध का प्रयोग उर स्थित कफ, स्वरभेद तथा पीनस मे वमनार्थ करे। ( ७ ) इक्ष्वाकु फल के भीतरी मज्जा से यथाविधि क्षीर सिद्ध करे और इसका दधि जमा कर वमनार्थ सकफ, कास, श्वास मे पिलावे। ( ८ ) बकरी के दूध मे इक्ष्वाकु-बीज को डालकर सिद्ध करे और उसका प्रयोग वमनार्थ विष, गुल्म, उदर, ग्रन्थि, गण्डमाला तथा श्लीपद रोग मे करे।

**सुरामण्ड मस्तु तथा तक्र के ३ योग**—( १ ) सुपक्व इक्ष्वाकु जो हरित्पाण्डु वर्ण का हो गया हो उसको सुरामण्ड मे मलकर वमनार्थ पिलावे। ( २ ) इक्ष्वाकु-फल के मज्जा को मस्तु मे मलकर पाण्डु, कुष्ठ तथा विष से पीडित रोगी को वमनार्थ पिलावे। ( ३ ) इस प्रकार इक्ष्वाकु फल-मध्य से सिद्ध तक्र मे मधु तथा सैंधव लवण मिलाकर पिलावे।

**इक्ष्वाकु के नस्य योग**—( १ ) सपुष्प इक्ष्वाकु की डाल को सुखाकर चूर्ण कर ले और उसे उसके फल-स्वरस से भावित कर ले। पुन इस चूर्ण को माला पर अवचूर्णित कर दे और उस माला को सूँघावे। इसके सूँघने से ही वमन होता है।

**इक्ष्वाकु के पलल योग**—इक्ष्वाकु के फल मध्य ( मज्जा ) को गुड तथा पलल के साथ वमनार्थ सेवन करे।

**इक्ष्वाकु के तैल तथा घृत योग**—यथाविधि इक्ष्वाकु-फल के कल्क से सिद्ध तैल तथा घृत का यथावश्यक प्रयोग वमनार्थ करे।

**इक्ष्वाकु के वर्धमान ६ योग**—इक्ष्वाकु के ५० बीजो से आरम्भ कर क्रमश १० बढाते हुए सौ बीजो तक मैनफलादि क्वाथ से वमनार्थ पिलावे। इस प्रकार इसके मात्रा भेद से ६ योग बन जाते हैं।

**इक्ष्वाकु के ९ कषाय योग**—( १ ) यष्टिमधु, ( २ ) कोविदार, ( ३ ) कर्बुदार, ( ४ ) नीप, ( ५ ) विदुल, ( ६ ) बिम्बी, ( ७ ) शणपुष्पी, ( ८ ) सदापुष्पी और ( ९ ) प्रत्यक्पुष्पी इन नौ द्रव्यो के पृथक्-पृथक् कषाय से इक्ष्वाकु का सेवन वमनार्थ यथावश्यक करे।

**इक्ष्वाकु के ८ वर्तिक्रिया योग**—उपर्युक्त कोविदार से प्रारम्भ कर ८ द्रव्यों के कषाय से पृथक्-पृथक् ८ प्रकार की वर्तियो का मैनफल के समान प्रस्तुत करे और उनका प्रयोग यथावश्यक वमनार्थ करे।

**इक्ष्वाकु के ५ लेह योग**—बृहत्पञ्चमूल ( बिल्व, गम्भार, पाटला, अग्निमन्थ, श्योनाक ) के मूल के कषाय से पृथक्-पृथक् पाँच लेहो को बनावे। कल्कार्थ तुम्बी बीज एक अञ्जलि प्रमाण लेवे। अर्थात् उक्त कल्क को अष्टगुण

कषाय मे पकावे और चतुर्थांश रहने पर छान ले। पुन इस कषाय मे चतुर्थांश फाणित ( राब ) मिलावे तथा प्रक्षेपार्थ महाजालिनी, जीमूतक, कृतवेधन, तथा कुटज इनके चूर्ण को डालकर तथा एक भाग घृत डालकर यथाविधि लेह सिद्ध करे। इनका यथायोग्य वमनार्थ प्रयोग करे।

**इक्ष्वाकुमन्थ के योग**—( १ ) कफज्वर, कास, कण्ठ रोग तथा अरुचि मे तुम्बी-स्वरस से भावित सत्तुओ का मन्थ वमनार्थ पीवे।

**इक्ष्वाकु मांसरस के योग**—( १ ) इक्ष्वाकु-फल की मज्जा के कल्क को मासरस के साथ वमनार्थ गुल्म, मेह, तथा प्रसेक इन विकारो मे पिलावे। इसमे सम्यक् सुखपूर्वक वमन होता है और वान्त पुरुष दौर्बल्य का अनुभव नही करता।

**धामार्गव कल्प**—कर्कोटकी, कोठफला, महाजालिनी, तथा राजकोषातकी ये धामार्गव के पर्याय है। इनके कल्प का वमनार्थ प्रयोग गर ( विष ), गुल्म, उदररोग, कास, श्लेष्माशयस्थित वात, कण्ठवक्त्रस्थ कफ तथा कफ-सञ्चय से उत्पन्न व्याधियो मे होता है। जो रोग स्थिर तथा गुरु होते हैं उनमे भी वमनार्थ इनका प्रयोग होता है।

**धामार्गव के प्रयोज्यांश**—इनके फल, पुष्प तथा प्रवाल ( डाल ) का यथाविधि संग्रह करना चाहिये। इनके ६० योगो का वर्णन चरक कल्प स्थान मे प्राप्त होता है जिनमे ९ पल्लवो ( पत्तो ) मे, ४ क्षीरपाक मे, १ सुरासव मे, २० कषायो मे, १० कल्क मे, १२ शकृद्रस मे, १ अन्न मे, १० नस्य मे १० लेहो मे तथा १ घृत मे।

**धामार्गव के पल्लवों के ९ योग**—धामार्गव के पल्लवो का स्वरस निकाल सुखाकर गुलिका बना ले। इस गुलिका को यथावश्यक उपर्युक्त कोविदार आदि ८ औषधों के तथा मुलेठी के कषाय से वमनार्थ सेवन करे।

**धामार्गव क्षीर पाक के ४ योग**—जीमूतक-कल्प मे निर्दिष्ट पुष्पादि के योग मे ४ क्षीरपाक का निर्माण करे और उन्हे यथावश्यक वमनार्थ प्रयोग करे।

**धामार्गव का सुरासव योग**—पूर्वोक्त विधान से सुरासव मे मलकर धामार्गव का वमनार्थ प्रयोग करे।

**धामार्गव के २० कषाय योग**—बीज निकालते हुए धामार्गव के फल मे गुड भर दे और रात भर छोड दे। प्रात काल उसे मुलेठी तथा कोविदार आदि पूर्वोक्त आठ औषधो के कषाय से वमनार्थ पिलावे। इसी प्रकार वक्ष्यमाण जाती आदि ११ औषधो के कषाय मे वमनार्थ उक्त धामार्गव फल का सेवन करावे इस प्रकार इनके २० योग कषाय के भेद से होते हैं।

**धामार्गव कल्क का १ योग**—धनिया तथा तुम्बुरु के यूष से धामार्गव का कल्क बनाकर वमनार्थ पिलावे।

**शकृद्रस के १२ योग**—धामार्गव का चूर्ण कर बेर प्रमाण वर्ति बना ले और इसको अञ्जलि प्रमाण गोबर के रस से प्रयोग करे। इसी प्रकार पृषत्, ऋष्य, कुरङ्ग, गज, उष्ट्र, अश्वतर, आविक, श्वदंष्ट्र, खर, खड्ग, चतुरष्ट्र इन ११ पशुओ के शकृद् रस से धामार्गव की वर्त्ति का वमनार्थ प्रयोग करे।

**धामार्गव के अन्न का १ योग**—भात के साथ धामार्गव के चूर्ण को छर्दि तथा हृद्रोग की शान्ति के लिये वमनार्थ प्रयोग करे।

**धामार्गव का १ नस्य योग**—धामार्गव के चूर्ण को उसके स्वरस से भावना देकर उसे कमल के फूल पर अवचूर्णित कर दे और रोगी को मासरस, दूध तथा यवागू आदि खूब पिलाकर उक्त फूल को सूँघने के लिये देवे। उसके सूँघने मे वमन होता है।

**धामार्गव लेह १० योग**—(१) जीवक, (२) ऋषभक, (३) शतावरी, (४) आत्मगुप्ता, (५) वीरा, (६) काकोली, (७) श्रावणी, (८) मेदा, (९) महामेदा और (१०) मधूलिका, इन दश औषधो के पृथक्-पृथक् चूर्ण का प्रक्षेप देकर धामार्गव क्वाथ और शर्करा तथा मधु मिलाकर यथाविधि लेह तैयार करे। हृद्दाह, कास तथा पित्तोष्ण सहित कफविकार मे सुखोदक के अनुपान से वमनार्थ इनका प्रयोग करे।

**धामार्गव-घृत का १ योग**—धामार्गव से यथाविधि सिद्ध क्षीर से घी निकाले और उसे मैनफलादि के कषाय कल्क से यथाविधि सिद्ध करे। इस घृत का वमनार्थ प्रयोग करे।

**कुटज कल्प**—वत्सक, शक्र, वृक्षक, गिरिमल्लिका, बीजक, इन्द्रयव, कलिङ्ग ये कुटज के नाम हैं। इनके दो भेद प्राप्त होते हैं (१) पुमान्, तथा (२) स्त्री। पुमान् (पुरुष जाति) के पत्र चिकने, फल बडे तथा पुष्प श्वेत होते हैं। स्त्री जाति के पुष्प अरुण वर्ण तथा फल छोटे होते हैं। दोनों के गुण प्राय समान हैं। यह रक्तपित्त तथा कफविकार को नष्ट करता है। सुकुमार पुरुष के लिये इसके योगो का वमनार्थ प्रयोग निरापद होता है। हृद्रोग, ज्वर, वातरक्त, वीसर्प आदि रोगो मे इसका वमनार्थ प्रयोग प्रसिद्ध है। इसके १८ वमन योगो का वर्णन चरक कल्प स्थान मे प्राप्त होता है। कषाय मे ९, चूर्ण मे ५, जल के साथ ३ तथा कृशरा के १ योग होते हैं।

**वत्सक के ९ कषाय योग**—प्रशस्त काल मे इन्द्रयव के आपूर्ण रस-वीर्य फलो का संग्रह कर शुष्क कर ले। पुन. इनके चूर्ण को मुलेठी तथा कोविदार

आदि आठ औषधों के कषाय से पृथक्-पृथक् भावना देकर ९ योग तैयार करे और इनका यथायोग्य वमनार्थ पित्तश्लेष्म-निर्हरण के लिये करे। मात्रा अन्तर्नखमुष्टिप्रमाण उक्त कषाय मे अवलोडित कर।

**वत्सक चूर्ण के ५ योग**—इन्द्रयव के चूर्ण को आक के दूध मे ८ दिन तक भावना दे और उसका प्रयोग वमनार्थ करे। इसी प्रकार जीवक के कषाय से भावना देकर प्रयोग करे। जीमूतक फल, इक्ष्वाकु और जीवन्ती, क्वाथ से भावना देकर वमनार्थ प्रयोग करे।

**वत्सक के ३ सलिल योग**—सरसो, मुलेठी तथा लवण जल मे इन्द्र जौ का वमनार्थ प्रयोग करे।

**वत्सक कृशरा योग**—वत्सक को कृशरा ( खिचरी ) मे डालकर वमनार्थ प्रयोग करे।

**कृतवेधन कल्प**—क्ष्वेड, कोशातकी, मृदङ्ग फल, ये कृतवेधन के नाम हैं। यह अत्यन्त कटु, तीक्ष्ण तथा उष्ण होता है। इसका प्रयोग गम्भीर व्याधियो मे वमनार्थ होता है। यह कुष्ठ, पाण्डुरोग, प्लीहा, शोथ, गुल्म तथा गरविष आदि विकारो मे वमनार्थ प्रयुक्त होता है। अन्य कल्पो के समान क्षीरपाकादि तथा सुरा मे इसके पुष्पादि का व्यवहार होता है। चरकसंहिता कल्प स्थान (छठे अध्याय) मे इसके ६० योगो का वर्णन उपलब्ध होता है। क्षीरपाक मे ४, सुरा मे १, क्वाथ मे २२, पिच्छा मे १०, घृत मे १, वर्तिक्रिया मे ६, लेह मे ८, मासयोग मे ७ तथा इक्षुरस मे १ योग हैं।

**क्षीरपाक के ४ योग**—कृतवेधन के पुष्प, फल, लोमश फल, आदि के योग से यथाविधि (जीमूतक के समान) क्षीर, सन्तानिका, दधि, दधिसर आदि की कल्पना करे और उनका वमनार्थ प्रयोग करे।

**कृतवेधन के सुरा योग**—जीमूतक कल्पोक्त विधान से ही कृतवेधन के सुरा योग की भी कल्पना करे और उसका वमनार्थ प्रयोग करे।

**कृतवेधन के २२ क्वाथ योग**—मधुक, कोविदार आदि नौ द्रव्यो के योग से मैनफल के समान शुष्क तथा जीर्ण कृतवेधन के १ वा २ फलो का यथाविधि क्वाथ बना ले और उनका यथाबल वमनार्थ प्रयोग करे। मदन कल्पोक्त आरग्वधादि तेरह औषधो के योग से यथाविधि १३ क्वाथ बनावे और उनका प्रयोग यथावश्यक वमनार्थ करे। इस प्रकार इसके २२ योग होते हैं—( १ ) आरग्वध, ( २ ) वृक्षक ( इन्द्र जौ ), ( ३ ) स्वादु कण्टक, ( ४ ) पाठा, ( ५ ) पाटला, ( ६ ) शार्ङ्गेष्टा, ( ७ ) मूर्वा, ( ८ ) सप्तपर्ण, ( ९ ) नक्तमाल, ( १० )

पिचुमर्द, ( ११ ) पटोल, ( १२ ) सुषवी और ( १३ ) गुडूची ये तेरह द्रव्य हैं।

**कृतवेधन के दश पिच्छायोग**—शाल्मलीमूल आदि दश औषधो के चूर्ण से यथाविधि दश कृतवेधन के पिच्छा की कल्पना करें और उनका यथावश्यक वमनार्थ प्रयोग करे।( १ ) शाल्मलीमूल, (२) शाल्मलक ( शाल्मलीभेद ), ( ३ ) भद्रपर्णी ( गम्भारी ), ( ४ ) एलापर्णी ( नागवला ) ( ५ ) उपोदिका, ( ६ ) उद्दालक, ( ७ ) धन्वन ( ८ ) राजादन ( क्षीरणी ) ( ९ ) उपचित्रा ( दन्ती ) और ( १० ) गोपी इन दश औषधियो का ग्रहण होता है।

**कृतवेधन घृत का १ योग**—यथाविधि कृतवेधन साधित दूध से मक्खन निकाले और उसे मैनफलादि कषाय से यथा विधि मदनफलघृत के समान घृत सिद्ध करें और वमनार्थ उसका प्रयोग करे।

**कृतवेधन के ६ वर्तिक्रिया योग**—मदन कल्पोक्त विधि से कृतवेधन चूर्ण की ६ वर्त्ति क्रियाओ का निर्माण करे। ( १ ) मैनफल, ( २ ) जीमूतक, ( ३ ) इक्ष्वाकु, ( ४ ) धामार्गव, ( ५ ) कुटज और ( ६ ) कृतवेधन इन ६ औषधो के पृथक् पृथक् क्काथ से कृतवेधन चूर्ण का पाक करे। जब वह इतना घन हो जाय कि वर्त्ति वनने लगे तो उसे उतार कर वर्त्ति वना यथा विधि वमनार्थ प्रयोग करे।

**कृतवेधन के ८ लेहयोग**—५० कोशातकी को कोविदार के रस मे ( क्काथ में ) मैनफलादि औषधो के कल्क के साथ पकावे, जब वह लेहवत् सिद्ध हो जाय तो उतार ले। इस कल्प मे कोशातकी का १ भाग तथा अन्य मैन फलादिको का आधा भाग लेना चाहिये। कोविदार आदि ८ औषधो के पृथक् पृथक् कषाय से इनका ८ योग वनावे और यथावश्यक इनका वमनार्थ व्यवहार करे।

**कृतवेधन के ७ मांस योग**—मैनफलादि ७ कषायोमे आनूपमास को पृथक् पृथक् पकावे। मास का प्रमाण इस मे कोशातकी के तुल्य होगा। इस कोशातकी तुल्य प्रमाण मास को कोशातकी कषाय मे सिद्ध कर उसमे सेंधा नमक मिलाकर वमनार्थ पिलावे।

**कृतवेधन का इक्षुरस योग**—इक्षुरस के साथ कोशातकी चूर्ण को सिद्ध कर वमनार्थ पिलावे।

इस प्रकार—१३३ मदनफल-कल्प के योग, ३९ जीमूतक-कल्प के योग, ४५ इक्ष्वाकु-कल्प के योग, ६० धामार्गव-कल्प के योग, १८ वत्सक ( कुटज ) कल्प के योग तथा ६० कृतवेधन कल्प के योग, सब मिलकर ३५५ वामक योगों

का वर्णन निदर्शनार्थ किया गया है। बुद्धिमान् वैद्य आवश्यकतानुसार इनसे अधिक योगो की कल्पना भी कर सकते हैं।

वमनार्थ प्रयोज्य औषधो के विविध ग्राह्य अशो का ग्रहण तथा सग्रह काल—

१ शाखा ( डाल ) तथा पलाश ( पत्तो ) का सग्रह वर्षा तथा वसन्त ऋतु में करना चाहिये। अचिर प्ररूढ अर्थात् जो पुराने नही हो अर्थात् नयी डाल तथा पत्तो का ग्रहण करना चाहिये।

२ मूल ( जड ) का सग्रह ग्रीष्म तथा शिशिर ऋतु मे जब उनके पत्ते शीर्ण हो जायँ तब करना चाहिये। इनमे भी आग्नेय औषधो का ग्रीष्म मे तथा सौम्य औषधो का शिशिर मे सग्रह करना उचित है।

३ त्वक्, कन्द तथा क्षीर का सग्रह शरद् ऋतु मे करना श्रेयस्कर है।

४ सार भाग का सग्रह हेमन्त ऋतु मे करना उचित है।

५ पुष्प तथा फल का ग्रहण उन ऋतुओं में करना चाहिये जिनमे पुष्प तथा फल आते हैं और जब वे आपूर्ण रस वीर्य हो जाते हैं।

**श्यामा-त्रिवृत्कल्प**—विरेचन के लिये त्रिवृत् ( निशोथ ) सर्वश्रेष्ठ माना गया है। त्रिभण्डी, त्रिवृता, श्यामा, कूटरणा, सर्वानुभूति, सुवहा, ये सब इसके पर्याय हैं। यह रस मे कषाय तथा मधुर होती है। इसका विपाक कटु है यह रूक्ष होने से वायु का प्रकोप करती है तथा कषाय मधुर होने से पित्त को एवं कटु विपाक होने से कफ को भी शान्त करती है। परन्तु औषधो के योग से यह वात, पित्त, कफ तीनो दोषो को शान्त करती है तथा इसके विविध कल्प सब प्रकार के रोगो को नष्ट करते हैं।

त्रिवृत् दो प्रकार की होती है जैसे श्याम मूल ( जड ) वाली और अरुण मूल वाली। श्याम मूल वाली को श्यामा तथा अरुण मूल वाली को अरुणा कहते हैं। अरुण मूल वाली त्रिवृत् निरापद होती है और उसका प्रयोग सुकुमार, बालक, वृद्ध, मृदु कोष्ठवाले के लिये शुभ होता है। श्याम मूल वाली त्रिवृत् तीक्ष्ण विरेचक होने से तथा आशुकारी होने से कभी कभी मोह ( मूर्च्छा ) उत्पन्न करती है तथा धातुक्षय करती है। अपनी तीक्ष्णता के कारण हृदय तथा कण्ठ मे कर्षण पैदा करती है और दोषो का निर्हरण शीघ्र करती है। इसका प्रयोग बहुदोष वाले रोगी मे तथा क्रूरकोष्ठ पुरुषो मे करना चाहिये।

इन दोनो प्रकार के त्रिवृतो का यथा विधि संग्रह करना चाहिये। शुक्ल पक्ष में शुक्ल वस्त्र पहन कर सावधानी से गुणवान् भूमि मे उत्पन्न उभय प्रकार के त्रिवृतो का मूल निकालना चाहिये। तात्पर्य यह कि उक्त प्रकार की भूमि मे उत्पन्न निशोथ के ऐसे मूल को जो गहरे में हो तथा श्लक्ष्ण एवं सीधे जमीन में

गया हो निकाले और उसे सुप्रक्षालित कर उसका गर्भ भाग निकाल कर सुखा ले। स्निग्ध तथा स्विन्न पुरुष को इनके चूर्ण तथा विविध कल्पो ( योगो ) का यथावश्यक विरेचनार्थ प्रयोग करावे।

इनके ११० योगो का चरक कल्प स्थान सातवे अध्याय मे वर्णन उपलब्ध होता है। अम्लादि के योग से उनके ९ योग, सैंधवादि से इनके १२ योग, गोमूत्र से १८ योग, मुलेठी से २ योग, जीवकादि से १४ योग, दूध से (क्षीरपाक के) ७ योग, लेह योग ८, खांड से ४ योग, पानक आदि के ५ योग, ऋत्व-नुसार ६ योग, मोदक के ५ योग, घी और दूध के ४ योग, तर्पण चूर्ण योग २, मद्ययोग २, काञ्जिक के साथ २ योग तथा षाडवादि के १० योग बनते हैं।

**श्यामा तथा अरुणा के अम्लादि द्रव्यों** के साथ ९ योग बनावे। इनकी मात्रा शास्त्र मे अक्षप्रमाण अर्थात् ६ माशा लिखी हुई है। परन्तु श्याम मूला ३ माशा मे ही कार्य करती है। अम्लादि नौ द्रव्यो मे ( १ ) काञ्जी, ( २ ) गोमूत्र, ( ३ ) आवीमूत्र, ( ४ ) अजामूत्र, ( ५ ) महिषीमूत्र, ( ६ ) सौवीर, ( ७ ) तुषो-दक, ( ८ ) प्रसन्ना और ( ९ ) त्रिफला का ग्रहण होता है। इनसे पृथक्-पृथक् शृत ( क्वाथ ) बनाकर प्रयोग करे।

**सैंधवादि के साथ १२ योग**—( १ ) सैंधव, ( २ ) सौवर्चल, ( ३ ) काल लवण, ( ४ ) विड् लवण, ( ५ ) सामुद्र लवण, ( ६ ) औद्भिद लवण, ( ७ ) साम्भर लवण, ( ८ ) रोमक लवण, ( ९ ) औसर, ( १० ) पाटेयक, ( ११ ) पाशुज तथा ( १२ ) वालुक लवण; इन १२ लवणो का ग्रहण होता है। इन लवणो के साथ सोठ तथा द्विगुण मात्रा मे त्रिवृच्चूर्ण का ग्रहण करे और उष्ण जल से विरेचनार्थ सेवन करावे।

**गोमूत्र से १८ योग**—( १ ) पिप्पली, ( २ ) पिप्पलीमूल, ( ३ ) मरिच, ( ४ ) गजपिप्पली, ( ५ ) सरल, ( ६ ) किलिम, ( ७ ) हीग, ( ८ ) भारंगी, ( ९ ) तेजोवती, ( १० ) नागरमोथा, ( ११ ) हैमवती, ( १२ ) पथ्या (हरीतकी), ( १३ ) चित्रक, ( १४ ) रजनी ( हरिद्रा ), ( १५ ) स्वर्णक्षीरी, ( १६ ) अज-मोदा, ( १७ ) सोठ और ( १८ ) वच, इन १८ द्रव्यो मे से किसी एक द्रव्य को त्रिवृत् से आधा भाग लेकर गोमूत्र के साथ पृथक् पृथक् विरेचनार्थ पिलावे।

**मुलेठी के २ योग**—मुलेठी तथा शर्करा के साथ पृथक् पृथक् अर्धभाग त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर जल के साथ पीवें। इससे सुखपूर्वक विरेचन होता है।

**जीवकादि से १४ योग**—( १ ) जीवक, ( २ ) ऋषभक, ( ३ ) मेदा, ( ४ ) श्रावणी, ( ५ ) कर्कटा शृगी, ( ६ ) मुद्गपर्णी, ( ७ ) माषपर्णी, ( ८ ) महाश्रावणी, ( ९ ) काकोली, ( १० ) क्षीरकाकोली, (११) इन्द्रा (तालमखाना),

( १२ ) गुडूची, ( १३ ) क्षीरविदारी और ( १४ ) अर्कपुष्पी, इनके योग से त्रिवृत् का सेवन यथाविधि विरेचनार्थ करे।

**क्षीर आदि से ७ योग**—( १ ) दूध ( गोदुग्ध ), ( २ ) मांसरस, ( ३ ) इक्षुरस, ( ४ ) काश्मरीरस, ( ५ ) द्राक्षास्वरस, ( ६ ) पीलुस्वरस तथा ( ७ ) घृत के योग से पृथक् पृथक् त्रिवृत् का सेवन यथावश्यक विरेचनार्थ करे।

**लेह के आठ योग**—( १ ) त्रिवृच्चूर्ण को मिसरी, मधु और घी मे मिला कर चाटे। ( २ ) अजमोदा, वंशलोचन, विदारीकन्द, खांड और त्रिवृत्, इनके चूर्ण को मधु और घी के साथ चाटने से सम्यक् विरेचन होता है। सन्निपात ज्वर, स्तम्भ, दाह तथा तृष्णा से पीड़ित रोगी मे यह अच्छा लाभ करता है। ( ३ ) श्यामा-त्रिवृत् के कषाय तथा कल्क के योग मे खाँड देकर यथाविधि लेह सिद्ध करे और उसे एक अक्ष प्रमाण मे विरेचनार्थ चटावे। ( ४ ) मधु और खाण्ड की चासनी बना कर उसमे त्रिवृत् चूर्ण, तेजपत्र तथा मरिच चूर्ण का प्रक्षेप देकर यथा विधि लेह सिद्ध करे और सिद्ध होने पर उसे किसी मिट्टी के पात्र मे अथवा काँच पात्र मे सुरक्षित रखे। यह योग अमीरो के लिये है। इसका उचित मात्रा मे विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( ५ ) ईख का रस १ कुडव लेकर उसमे द्राक्षा, पीलु, फालसा, मिसरी और मधु आधा कुडव प्रमाण मे देकर त्रिवृच्चूर्ण के साथ यथाविधि लेह सिद्ध करे। इस लेह को उत्सन्न पित्त वाले सुकुमार पुरुषो के लिये विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( ६ ) पिप्पली, सोठ, यवक्षार, श्यामा और त्रिवृत् के चूर्ण को मधु के साथ चाटे। यह कफ प्रकृति वाले पुरुष के लिये अच्छा विरेचन है। ( ७ ) मातुलुङ्ग, अभया ( हरीतकी ), आँवला, श्रीपर्णी, बेर और दाडिम इनके स्वरस को तैल मे भूँजे और उसमे सहकार, कैथ की मज्जा तथा त्रिवृच्चूर्ण का प्रक्षेप देकर यथा-विधि लेह सिद्ध करे। ( ८ ) दालचीनी, तेजपत्र, नागकेसर, एला इनके चूर्ण को त्रिवृच्चूर्ण के साथ मिलाकर मधु के साथ उचित मात्रा मे विरेचनार्थ चटावे।

**पानकादि के पाँच योग**—उपर्युक्त लेह के विधान से ही ( १ ) पानक, ( २ ) रस, ( ३ ) यूप, ( ४ ) मोदक तथा ( ५ ) रागषाडव की कल्पना करे और उनका कफ प्रधान रोगो मे यथायोग्य आवश्यकतानुसार विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**तर्पण चूर्ण योग**—( १ ) भृङ्ग तथा एलायची के साथ त्रिवृत् और खांड मिलाकर उसमें दाडिम स्वरस डाल सत्तु के योग से तर्पण की कल्पना करे। इसी प्रकार ( २ ) नीली, त्रिवृत् तथा खाण्ड के साथ पूर्वोक्त विधान से दाडिम रस डालकर सत्तु के योग से तर्पण बनावे। यह तर्पण वात, पित्त और कफ

से उत्पन्न रोगो मे जिनकी अग्नि मन्द हो, जो सुकुमार हो उन्हे विरेचनार्थ पिलावे। यह योग निरापद है।

**मोदक के पाँच योग**—(१क) खांड, त्रिफला, श्यामा, त्रिवृत, पिप्पली तथा मधु इनके योग से यथाविधि मोदक बनावे। यह मोदक सन्निपात ज्वर तथा ऊर्ध्व रक्तपित्त को शान्त करता है। (१ख) ३ शाण त्रिवृत् तथा त्रिफला और दालचीनी ३ शाण; विडङ्ग, पिप्पली, यवक्षार ये भी ३ शाण; इनका चूर्ण बनावे और मधु तथा घी के योग से इन्हे चाटे अथवा गुड़ के योग मे मोदक बनाकर विरेचनार्थ प्रयोग करे। यह उत्तम शोधन है और इसमें किसी परिहार की आवश्यकता नही। यह मोदक गुल्म प्लीहोदर, श्वास हलीमक, अरुचि, तथा अन्य कफ वात जन्य रोगो मे लाभदायक है। (२) **कल्याणक गुड**—विडंग, पिप्पलीमूल, त्रिफला, धनिया, चित्रक, मरिच, इन्द्रयव, अजवायन, पिप्पली, गजपिप्पली, पाँचो लवण, अजमोदा, इनमे से प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष प्रमाण लेवे। तिल तैल तथा त्रिवृत्चूर्ण आठ पल लेवे। आँवले का रस १ प्रस्थ लेवे और गुड आधा तुला लेकर यथाविधि मन्दाग्नि पर पकावे और सिद्ध हो जाने पर उदुम्बर प्रमाण मात्रा में विरेचनार्थ सेवन करे। इसके प्रयोग मे भी किसी प्रकार के आहार-विहार का परहेज नही है। इसके सेवन से मन्दाग्नि ज्वर, मूर्च्छा, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, अनिद्रा, गात्रशूल, कास, श्वास, भ्रम, क्षयरोग, कुष्ठ, अर्श, कामला, पाण्डु, गुल्म, मेह, उदररोग, भगन्दर, ग्रहणी विकार-प्रभृति सभी रोग शान्त होते हैं। इसका व्यवहार सब ऋतुओ मे प्रसिद्ध है। (३) **अभयाद्य मोदक**—व्योष (त्रिकटु), दालचीनी, तेजपत्र, नागर मोथा, एलायची, विडग, आँवला, अभया (हरड) ये सब समभाग लेवे और दन्ती द्विगुणा लेवे, त्रिवृत् का आठ भाग लेवे, खांड ६ भाग लेवें और इन सबका चूर्ण कर १ पल मधु मे यथाविधि गुलिका बनावे। इस गुलिका या मोदक को प्रात काल शीतलजल के अनुपान से विरेचनार्थ सेवन करे। यह मोदक मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, वमन, कास, श्वास, भ्रम, क्षय, ताप, पाण्डुरोग, मन्दाग्नि, मे विरेचनार्थ प्रशस्त है। सब प्रकार के विष विकार मे यह श्रेष्ठ विरेचन माना गया है। (४) हरड, आँवला, अरण्डी का बीज, दो प्रस्थ की मात्रा मे लेवे और १ पल त्रिवृत् चूर्ण मिला कर इनसे यथाविधि दश मोदक बनावे। यह अमीरो के लिये श्रेष्ठ विरेचन है। (५) त्रिवृत, हेमवती (स्वर्णक्षीरी), श्यामा, नलिनी, गजपिप्पली, पिप्पलीमूल, नागरमोथा, अजमोदा, दुरालभा, इनमे से प्रत्येक १ कर्ष लेवे, सोठ १ पल और गुड २० पल की मात्रा में लेवे, इनका चूर्ण बनाकर विधिवत् उदुम्बर फल प्रमाण मात्रा मे मोदक

बनावे। इस मोदक को हींग, सौवर्चल, त्रिकटु, अजवायन, विडग, जीरा, वच, अजगन्धा, त्रिफला, चाभ, चित्रक, धनिया, तुम्बुरु, दाडिम, इनके चूर्ण मे लपेटे और इनका विरेचनार्थ प्रयोग करे। यह मोदक त्रिक, वक्षरण, हृदय, वस्ति, तथा कोष्ठ के विकारो मे अर्श, प्लीहा तथा शूलरोग मे लाभ करतो है। इसका प्रयोग हिक्का, कास, श्वास, अरुचि, कफ के विकार तथा उदावर्त रोग में प्रथम है।

**षड्ऋतु विहित योग**—( १ ) वर्षाऋतु मे विरेचन के लिये त्रिवृत्, कुटज बीज ( इन्द्रजौ ), पिप्पली, सोठ, इनके चूर्ण को द्राक्षा के स्वरस तथा मधु के साथ सेवन करे। ( २ ) शरदृऋतु मे त्रिवृत्, दुरालभा, नागरमोथा, खाँड़, सुगन्धवाला, चन्दन, मुलेठी, सातला ( स्नुही ) के चूर्ण को द्राक्षा के क्वाथ के साथ विरेचन के लिये सेवन करे। ( ३ ) हेमन्तऋतु मे विरेचनार्थ त्रिवृत्, चित्रक, पाठा, अजवायन, सरल, वच, तथा स्वर्णक्षीरी का कल्क बनाकर उष्ण जल से सेवन करे। ( ४ ) ग्रीष्मऋतु मे विरेचन के लिये त्रिवृत् को तुल्य मात्रा मे खाँड लेकर जल से सेवन करे। ( ५ ) त्रिवृत्, त्रायन्ती, हपुषा, सातला, कटुरोहिणी, स्वर्णक्षीरी, इनके चूर्ण को गोमूत्र की भावना देकर सुखा ले। इसका प्रयोग सब ऋतुओ मे विरेचनार्थ प्रशस्त है। यह स्निग्ध पुरुषो के मल-दोष का निर्हरण करनेवाला अच्छा योग है। ( ६ ) त्रिवृत्, श्यामा, दुरालभा, इन्द्रजौ, गजपिप्पली, नीलिनी, त्रिफला, नागरमोथा, कुटकी, इन्हें चूर्ण कर विरेचनार्थ प्रयोग करे। इसे भी सभी ऋतुओ मे प्रयोग करे। इस अन्तिम दो का प्रयोग शिशिर और वसन्त मे कर सकते हैं।

**घृत के योग**—( १ ) त्रिवृत् के कल्क तथा घृत के तुल्यभाग कांजी तथा त्रिवृत्कषाय से यथाविधि घृत सिद्ध करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( २ ) श्यामा और त्रिवृत् की जड के कल्क तथा कषाय और आँवले रस के साथ यथाविधि घृत सिद्ध कर विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( ३ ) श्यामा तथा त्रिवृत् के कषाय से यथाविधि सिद्ध घृत का प्रयोग विरेचनार्थ करे। ( ४ ) त्रिवृत् के कषाय से सिद्ध क्षीर मे घृत निकाले और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**तर्पण चूर्ण योग**—( १ ) त्रिवृत्, त्रिफला, दन्ती, सप्तला, त्रिकटु, सेंधा-नमक, इनका चूर्ण कर एक सप्ताह आँवले के रस से भावना देवे। इस चूर्ण को यूष मे तर्पण विधि के अनुसार देवे। ( २ ) पुन. उक्त चूर्ण को मास रस के साथ तर्पण विधि के अनुसार प्रयोग करे।

**मद्य योग**—( १ ) सनखमुष्टि प्रमाण त्रिवृन्मूल का चूर्ण लेवे और उसे १ द्रोण जल मे पकावे। जब पादशेष रह जाय तो उसे छान ले और उसमें १ तुला गुड डालकर स्निग्ध घट मे रखे। इस क्वाथ को घट मे रखने के पूर्व

घट को मधु, पिप्पली और चित्रक से प्रलिप्त कर ले। इस प्रकार इस घट के मुख को बन्द कर एक मास तक सन्धानार्थ छोड दे। पश्चात् इसे निकाल कर छान ले और विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( २ ) इस उपयुक्त सधित अरिष्ट के किण्व से त्रिवृत् क्वाथ को सधित कर यथाविधि सुरा का निर्माण भी कर सकते हैं और उसका प्रयोग विरेचनार्थ कर सकते हैं। ये योग ग्रहणी, पाण्डुरोग, गुल्म तथा शोथ को नष्ट करते हैं।

**काञ्जिक योग**—( १ ) श्यामा तथा त्रिवृत् मूल के क्वाथ मे जौ को पकावे। पुन. जौ का कुल्माष बनाकर उक्त क्वाथ मे डाल कर धान्यराशि मे रख सधान करे। जब सम्यक् संधान ६ दिनो मे हो जाय तो निकाल कर यथाविधि विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( २ ) मनुष जौ को भून कर उसका चूर्ण बना ले और उस चूर्ण को श्यामा त्रिवृत् के क्वाथ मे डाल कर यथाविधि तुषोदक सिद्ध करे। इस तुषोदक को विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**त्रिवृत् के षाडवादि योग**—मदन फल कल्पोक्त विधि से १० षाडवादि योग की कल्पना करे। इसमे ( १ ) वदर षाडव, ( २ ) राग, ( ३ ) पानक, ( ४ ) लेह, ( ५ ) मोदक, ( ६ ) उत्कारिका, ( ७ ) तर्पण, ( ८ ) मद्य, ( ९ ) मास रस तथा ( १० ) यूष की कल्पना है।

**चतुरङ्गुल कल्प**—आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक, प्रग्रह, कृतमाल, कर्णिकार, तथा अवघात चतुरङ्गुल के पर्याय हैं। इसके कल्पो का विरेचनार्थ प्रयोग ज्वर, हृद्रोग, वातरक्त, उदावर्त मे निरापद है। यह मृदुविरेचन है अत सर्वाधिक पथ्य माना गया है। यह मधुर तथा शीतल होता है। अनपायी होने से इसका प्रयोग बालक, वृद्ध, सुकुमार, क्षतरोगी, क्षीण रोगी मे प्रशस्त है।

**इनकी संग्रह-विधि**—आरग्वध ( अमलतास ) के फलो को जब आपूर्ण रस वीर्य हो जायँ अर्थात् सुपक्व हो जायँ तो तोडकर बालू के ढेर मे गाड दे और सात रात के बाद उन्हे निकाल कर धूप मे सुखा ले। सूख जाने पर उनकी मज्जा को निकाल कर स्वच्छ तथा पवित्र भाण्ड मे या काँच के बोइयाम में सुरक्षित करे।

चरक-कल्प स्थान मे इसके १२ योगो का वर्णन उपलब्ध होता है। इनमे द्राक्षारस के साथ १ योग, सुरा के साथ १ योग, सीधु के साथ १ योग, दही के साथ १ योग, आँवलो के रस के साथ १ योग, सौवीर के साथ १ योग, त्रिवृत्-कषाय के साथ १ योग, बिल्वकषाय के साथ १ योग, लेह का १ योग, अरिष्ट का १ योग तथा घृत के २ योगो का वर्णन है।

( १ ) दाह तथा उदावर्त में द्राक्षास्वरस के साथ आरग्वध मज्जा का

विरेचनार्थ प्रयोग करे। इसका प्रयोग ४ वर्ष के वालक से प्रारम्भ करना चाहिए। ४ वर्ष से कम उम्र के वालक को नही देना चाहिये। ४ वर्ष से १२ वर्ष तक के वालक के लिये इसकी मात्रा १ अञ्जलि है।

( २ ) आरग्वध मज्जा का प्रयोग सुरामण्ड के साथ, ( ३ ) कोल ( वेर ) से सिद्ध सीधु के साथ, ( ४ ) दधिमण्ड के साथ, ( ५ ) आँवले के स्वरस के साथ, ( ६ ) अथवा उसका शीतकषाय वनाकर यथावश्यक करना चाहिये। ( ७ ) त्रिवृत् के कषाय के साथ आरग्वध मज्जा के कल्क का प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिये। ( ८ ) इसी प्रकार विभीतक कषाय के साथ उसमे लवण तथा मधु मिलाकर विरेचनार्थ प्रयोग कर सकते हैं।

( ९ ) आरग्वध की मज्जा का कषाय वनाकर उसमे त्रिवृत् चूर्ण का प्रक्षेप कर गुड मिलाकर यथाविधि लेह सिद्ध करे और उसका प्रयोग विरेचनार्थ करे।

( १० ) आरग्वध मज्जा से यथाविधि क्षीर सिद्ध कर उससे घृत निकाले और उस घृत को पुन. आरग्वध मज्जा के कल्क तथा आँवले के रस से यथाविधि सिद्ध करे और इस घृत का यथावश्यक विरेचनार्थ प्रयोग करे।

( ११ ) इसी प्रकार उक्त आरग्वध सिद्ध क्षीर मे नि सृत घृत को दशमूल, कुलथी और यव के कषाय से तथा श्याम त्रिवृत् के कल्क से यथाविधि सिद्ध कर विरेचनार्थ प्रयोग करे।

( १२ ) दन्ती के क्वाथ मे १ अञ्जलि आरग्वध की मज्जा को डालकर गुड़ का प्रक्षेप दे। घट मे रख उसका मुख वन्द कर १५ दिन तक सन्धान करे। इस प्रकार सधित अरिष्ट का विरेचनार्थ यथावश्यक प्रयोग करे।

**तिल्वक कल्प**—दृढबल ने तिल्वक को लोध्र कहा है। वृहत्पत्र तथा तिरीटक भी इसके पर्याय मे कहा है। इस तिल्वक का वर्णन चरक सूत्र स्थान मे भी विरेचनार्थ आया है। लोध्र का गुण ग्राही है अत विरेचन कर्म वाला तिल्वक लोध्र कैसे हो सकता है, यह चिन्त्य है। चक्रपाणिदत्त ने लोध्रभेद कह कर इसका समाधान किया है परन्तु मेरे विचार से तिल्वक लोध्र नही। विहार मे तिलका नाम का एक वृक्ष उपलब्ध होता है जिसका त्वक् विरेचनार्थ प्रयोग में आता है। सभव है वही तिल्वक हो। अन्तर्वल्कवर्जित इसके मूल त्वक् का ग्रहण करना चाहिये।

इसके १६ योगो का वर्णन चरक कल्प स्थान मे प्राप्त होता है। दही आदि से ५ योग, सुरा का १ योग, सौवीर का १ योग, अरिष्ट का १ योग, काम्पिल्लक का १ योग, २ लेह योग तथा घृत के ४ योगो का वर्णन है।

**दही के पाँच योग**—उक्त प्रकार से सगृहीत तिल्वकमूल त्वक् का ३ भाग करे और उनका चूर्ण बनावे। दो भाग चूर्ण को षड्गुण जल देकर २१ बार स्रवण विधान से चुलावे। पुन तृतीय भाग को उसके कषाय से भावना देवे। पुन: उसको दशमूल के क्वाथ मे भावना देवे और सुखा लेवे। इस चूर्ण को विरेचनार्थ (१) दहीतक्र, (२) सुराभद्र, (३) गोमूत्र, (४) आमलकी स्वरस, (५) वदर सीधु के अनुपान से पाणितल प्रमाण मे यथावश्यक प्रयोग करे।

(६) **सौवीर योग**—मेढाश्रृंगी, हरड़, पिप्पली, चित्रक, इनके क्वाथ मे जौ का सन्धान कर सौवीर बनावे और इस सौवीर के योग से अञ्जलि प्रमाण तिल्वक-मूल त्वक्-कल्क का विरेचनार्थ प्रयोग करे।

(७) तिल्वक कषाय को एक पक्ष सचित कर उससे यथाविधि सुरा तैयार करे और उस सुरा के योग से तिल्वक का विरेचनार्थ प्रयोग करे।

(८) **अरिष्ट योग**—दन्ती तथा चित्रक को १ आढक प्रमाण लेकर १ द्रोण जल मे पकावे। क्वाथ तैयार हो जाने पर उसमे १ तुला गुड़ तथा अञ्जलि प्रमाण तिल्वक का प्रक्षेप देकर यथाविधि अरिष्ट तैयार करे। इस अरिष्ट का विरेचनार्थ प्रयोग करे। यह मद्यपायियो के लिये उत्तम योग है।

(९) काम्पिल्लक कषाय से तिल्वक चूर्ण को १० वार भावित करे और इस सुभावित चूर्ण को काम्पिल्लक कषाय से विरेचनार्थ प्रयोग करे।

(१०) चतुरङ्गुल कल्प विधान के अनुसार तिल्वक का भी लेह तैयार करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे।

(११) इसी प्रकार त्रिफला कषाय के योग से मधु तथा फाणित मिलाकर तिल्वक का लेह बनावे। यह लेह श्रेष्ठ विरेचन है।

(१२) तिल्वक के कषाय से ही घी तथा खाण्ड डालकर तिल्वक् कल्क का लेह तैयार करे और विरेचनार्थ प्रयोग करे।

(१३) त्रिवृत् तथा तिल्वक के आठ-आठ सनखमुष्टि ग्रहण करे और उसे एक द्रोण जल मे सिद्ध करे। जब पाद शेष (चतुर्थांश) रह जाय तो उससे १ प्रस्थ घी (गोघृत) को विल्व प्रमाण तिल्वक कल्क, तथा गोमूत्र और लवण के साथ यथाविधि सिद्ध करे। यह घृत श्रेष्ठ विरेचन है।

(१४) उक्त विधान के अनुसार ही तिल्वक कल्क, तथा लवण और गोमूत्र के योग से यथाविधि घृत सिद्ध करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे।

(१५) चतुरङ्गुल (अमलतास) के कल्प विधान के अनुसार दो घृत योगो को यथाविधि सिद्ध करे और उनका प्रयोग विरेचनार्थ यथावश्यक करे।

**सुधाकल्प**—सभी विरेचनो मे सुधाकल्प को तीक्ष्णतम माना गया है। इसका कल्प दोष तथा मलो के सघात को तोडता है। इसके प्रयोग से दु साध्य विभ्रम उत्पन्न होता है। अत मृदु कोष्ठ रोगियो मे इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। अल्पदोषसचय मे तथा उपक्रममार्गान्तर दोषो मे भी इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

सुधाकल्प का प्रयोग —पाण्डुरोग, उदररोग, गुल्मरोग, कुष्ठ, दूषीविष, श्वयथु, मधुमेह, दोष-विभ्रान्तचित्त, तथा इस प्रकार के अन्य रोगो पर करना चाहिये। उचित प्रमाण मे इसके यथाविधि प्रयोग से दोषो के महान् सचय भी शीघ्र दूर हो जाते हैं। यह सुधा ( महावृक्ष या स्नुही ) दो प्रकार की होती है। एक अल्प कण्टक ( कांटेवाली ) और दूसरी बहुकण्टक ( अधिक कांटेवाली )। इनमे बहु-कण्टक महावृक्ष ( सुधा ) अल्पकण्टक की अपेक्षा अधिक गुणकारी है। इस महा-वृक्ष के स्नुक् ( स्नुही ), गुडा, नन्दा, सुधा, निस्त्रिंशपत्रक ये पर्याय हैं। इन उपर्युक्त दोनो प्रकार की स्नुही को दो या तीन वर्ष के अन्तर से चीरकर दूध सग्रह शिशिर ऋतु के अन्त मे करे। यद्यपि त्वक् , कन्द तथा क्षीर के सग्रह का समानकाल शरदृऋतु माना गया है परन्तु सुधा के क्षीर के लिये यह अपवाद है ऐसा चक्र-पाणिदत्त ने कहा है।

चरककल्पस्थान मे सुधाकल्प के २० योगो का वर्णन उपलब्ध होता है। इनमे सौवीर आदि के ७ योग, पानकका १ योग, नस्य का १ योग, स्नेह का १ योग, घृत का १ योग, यूपादि के ३ योग, मासरस का १ योग, शुष्क मत्स्य तथा मास के २ योग, सुरा का १ योग, तथा पुन घृत के २ योग हैं।

**सौवीर आदि के ७ योग**—बिल्वादि बृहत् पञ्चमूल अथवा कण्टकारी के क्वाथ मे समप्रमाण सुधाक्षीर को डाल कर अग्नि पर चढा सुखा ले। इस सूखे हुए सुधाक्षीर को कोल प्रमाण मात्रा मे सौवीर आदि सात अनुपानो से विरेच-नार्थ प्रयोग करे। ( १ ) सौवीर, ( २ ) तुषोदक, ( ३ ) आमलकस्वरस, ( ४ ) सुरा, ( ५ ) दधिमण्ड, ( ६ ) मातुलुङ्गस्वरस तथा ( ७ ) बेर के दाने।

पानकयोग—( ८ ) त्रिकटु, त्रिफला, दन्ती, चित्रक, त्रिवृत् इनको स्नुहीक्षीर से भावित कर यथाविधि गुड के योग से पानक तैयार करे और उसका विरेच-नार्थ प्रयोग करे।

सर्पियोग—( ९ ) सातला ( चर्मकशा ), स्वर्णक्षीरी, त्रिवृत्, त्रिकटु इन द्रव्यो को यथा लाभ एक सप्ताह स्नुही के दूध से भावित करे और इनको घी के साथ विरेचनार्थ प्रयोग करे। पुन उक्त प्रकार से सुभावित द्रव्य को ( १० ) मास रस से कोल प्रमाण मात्रा मे विरेचनार्थ प्रयोग करे।

( ११ ) नस्ययोग—त्रिवृत्, आरग्वध, दन्ती, शखिनी, सातला, इन द्रव्यो को मम प्रमाण मे लेकर चूर्ण करे और इन्हे रात भर गोमूत्र मे रखकर दूसरे दिन धूप मे सुखा ले। इस प्रकार १ सप्ताह तक करे, वाद पुन इन्हें स्नुहीक्षीर से १ सप्ताह भावित करें और उन्हें धूप मे सुखा ले। इस सुभावित शुष्क चूर्ण को सुगन्धित पुष्पमालाओ पर छिडककर विरेचनार्थ रोगी को सुँघावे। इसके सूँघने से मृदुकोष्ठ पुरुष को शीघ्र विरेचन होता है।

( १२ ) लेह योग—श्यामात्रिवृत् का कषाय, स्नुही का क्षीर तथा घृत और फाणित के योग से यथा विधि लेह सिद्ध कर विरेचनाथ प्रयोग करे।

( १३ ) स्नुही क्षीर को यूष के योग से, ( १४ ) मासरस के योग से तथा ( १५ ) घृत के योग से विरेचनार्थ यथावश्यक व्यवहार करे।

( १६ ) शुष्क मास तथा ( १७ ) शुष्कमत्स्य को स्नुहीक्षीर से सुभावित कर विरेचनार्थ मासाहारी रोगियो को देवे। इससे सम्यक् विरेचन होता है।

( १८ ) सुरा के योग से स्नुही क्षीर का प्रयोग विरेचनार्थ करे।

( १९ ) चतुरङ्गुल कल्प के विधान से स्नुही क्षीर का दूध के योग से यथाविधि घृत सिद्ध करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( २० ) इस प्रकार आमलकी स्वरस के योग, दूध तथा स्नुही क्षीर से यथाविधि घृत सिद्ध करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**सप्तला शंखिनी कल्प**—सप्तला, चर्मसाह्वा, वहुफेनरसा, ये सप्तला के तथा शङ्खिनी, तिक्तला, यवतिक्ता, और अक्षिपीडक या अक्षपीडक ये शङ्खिनी के पर्याय हैं। इन दोनो का कल्प गुल्म, गरविष, हृद्रोग, कुष्ठ, शोथ तथा उदर रोगो मे विरेचनार्थ प्रयुक्त होता है। ये विकाशी, तीक्ष्ण तथा रूक्ष होने से कफ के विकारो मे विरेचनार्थ प्रशस्त हैं। शङ्खिनी के नातिशुष्क फलो का ग्रहण कर निस्तुष कर लेना चाहिये और सप्तला की जड का ग्रहण करना चाहिये।

चरक कल्प स्थान मे इनके ३९ योगो का वर्णन उपलब्ध होता है। इनमें १६ योग कषाय के, ६ तैलो के, ८ घृत के, ५ मद्य के, ३ लेह के, तथा १ काम्पिल्ल का योग हैं।

**कषाय के १६ योग**—सप्तला तथा शङ्खिनी के १ अक्ष प्रमाण कल्क को प्रसन्ना तथा लवण के साथ विरेचनार्थ हृद्रोग, कफ-वातोत्थ रोग तथा गुल्म मे प्रयोग करें। ( १ ) प्रियाल, ( २ ) पीलु, ( ३ ) कर्कन्धु, ( ४ ) कोल, ( ५ ) आम्रातक, ( ६ ) दाडिम, ( ७ ) द्राक्षा, ( ८ ) पनस, ( ९ ) खर्जूर, ( १० ) वदरामल, ( ११ ) परुषक, ( १२ ) मैरेय, ( १३ ) दधिमण्ड, ( १४ ) सौवीरक, ( १५ ) तुषोदक तथा ( १६ ) सीधु के साथ पृथक्-पृथक् विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**तैलों के ६ योग**—( १ ) विदारीगन्धादि गण के क्वाथ, दूध तथा सतला शङ्खिनी के कल्क तथा इसके अर्ध प्रमाण त्रिवृत् श्यामा के कल्क तथा दधिमण्ड के योग से यथाविधि तैल सिद्ध करे और विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( २ ) शङ्खिनी चूर्ण का दो भाग, तिल चूर्ण का दो भाग लेकर इनके कल्क से तथा हरीतकी के कषाय से यथाविधि तैल सिद्ध कर विरेचनार्थ प्रयोग करे। इसी प्रकार ( ३ ) अतसी, ( ४ ) एरण्ड, ( ५ ) सर्षप तथा ( ६ ) करञ्ज के तैल को यथाविधि सिद्ध कर विरेचनार्थ यथावश्यक प्रयोग करे।

**घृत के ८ योग**—( १ ) शङ्खिनी तथा सतला से यथाविधि क्षीरपाक कर उसमे घृत निकाले और इस घृत को उक्त दोनो द्रव्यो के कल्क तथा त्रिवृत् श्यामा के कल्क से यथाविधि सिद्ध करे और इस सिद्ध घृत को दूध के साथ विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( २ ) इसी प्रकार दन्ती द्रवन्ती के योग से, ( ३ ) अजशृगी-अजगन्धा योग से, ( ४ ) क्षीरिणी-नीलिका योग से, ( ५ ) करञ्ज और महाकरञ्ज योग से, ( ६ ) मसूर-विदला योग से, ( ७ ) प्रत्यकर्णी ( मूषाकर्णी ) के योग से ( ८ ) त्रिवृत् कल्क के योग से यथाविधि सप्तला शङ्खिनी के घृत को सिद्ध कर विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**मद्य के ५ योग**—दन्ती तथा द्रवन्ती कल्क विधान से सौवीर, और तुषोदक के साथ सप्तला शङ्खिनी का सधान कर ४ मद्य के योग तैयार करें। पुन: अजगन्धा-अजशृगी के कषाय के साथ सप्तला शङ्खिनी को सौवीर तथा तुषोदक के योग से संधान कर मद्य तैयार करे और विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**लेह के ३ योग**—तिल्वक लेह के विधान से सप्तला शङ्खिनी के यथाविधि ३ लेह तैयार करे और विरेचनार्थ उनका प्रयोग करे।

इसी प्रकार काम्पिल्लक और सुरा के साथ सप्तला शङ्खिनी का १ योग विरेचनार्थ तैयार करे।

**दन्ती-द्रवन्ती कल्प**—उदुम्बरपर्णी, निकुम्भ, तथा मुकुलक ये दन्ती के पर्याय है। चित्रान्यग्रोधी, मूषिकाह्वया, मूषिकपर्णी, उपचित्रा, शम्बरी, प्रत्यक् श्रेणी, सुतश्रेणी, दन्ती तथा रण्डा या चण्डा इन पर्यायो से द्रवन्ती कही जाती है।

इन उपर्युक्त दन्ती तथा द्रवन्ती की स्थिर ( सारवाली ) मोटे हाथी के दांत के समान श्याम तथा ताम्र वर्ण की जडो का सग्रह करे।

चरकसहिता कल्पस्थान मे इनके ४८ योगो का वर्णन उपलब्ध होता है। दही आदि के ३ योग, प्रियाल आदि के ५ योग, मासरस के ३ योग, स्नेहो के ३ योग, लेह के ६ योग, चूर्ण का १ योग, ईख का १ योग, मूग तथा मासरस के ३ योग, यवागू आदि से ३ योग, उत्कारिक, मोदक मद्य, दन्तीकषाय मे

सिद्ध तेल, चूर्ण, मोदक, इनके एक-एक योग, आसव के ५ योग, सौवीर, तुषोदक, सुरा के एक-एक योग, काम्पिल्ल तथा घृत के ५ योग हैं।

दन्ती तथा द्रवन्ती के मूल को पिप्पली तथा मधु के कल्क से लिप्त कर उन्हें कुश मे लपेट देवे और उस पर मिट्टी का लेप देकर आतप मे सुखा कर अग्नि से स्विन्न करे। ऐसा करने मे उनका विकाशी गुण नष्ट हो जाता है जिससे उनका प्रयोग विरेचनार्थ निरापद हो जाता है।

दन्ती तथा द्रवन्ती दोनो तीक्ष्ण, उष्ण, आशुकारी, विकाशी तथा गुरु होने से पित्त तथा कफ को विलीन करती हैं और वायु को प्रकुपित करती हैं।

**दध्यादि के तीन योग**—दन्ती द्रवन्ती कल्क को अक्ष प्रमाण ( १ तोला ) मात्रा मे दधि, तक्र तथा सुरामण्ड के योग से यथावश्यक विरेचनार्थ पृथक्-पृथक् ग्रहण करे।

**प्रियालादि के ५ योग**—पुन ( १ ) प्रियाल, ( २ ) कोल, ( ३ ) बदर, ( ४ ) पीलु तथा ( ५ ) सीधु के योग से यथावश्यक दन्ती द्रवन्ती के उपर्युक्त कल्क का विरेचनार्थ प्रयोग करे। इन योगो का प्रयोग गुल्मरोग, उदररोग, तथा दोषो से अतिखिन्न पुरुषो मे करे।

**मांसरस के ३ योग**—( १ ) गो, ( २ ) मृग तथा ( ३ ) अजा के मास रस के साथ दन्ती द्रवन्ती का पृथक्-पृथक् प्रयोग विरेचनार्थ पाण्डु, कृमि कोष्ठ तथा भगन्दर रोगी मे करे।

**स्नेह के ३ योग**—( १ ) दन्ती द्रवन्ती के कल्क तथा कषाय से एव दशमूल के रस से यथाविधि घृत सिद्ध करें और उनका प्रयोग कक्षा, अलजी, वीसर्प और दाह मे विरेचनार्थ करे। ( २ ) इस प्रकार उक्त योग से ही यथाविधि तैल सिद्ध कर कफ तथा वात विकार मे विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( ३ ) शकृत् ( मल ), शुक्र, अधोवात के सङ्ग तथा वात विकार मे उपर्युक्त योग से चतु स्नेह सिद्ध कर विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**लेह के ६ योग**—( १ ) दन्ती तथा अजशृंगी के रस मे गुड़, मधु तथा घृत मिलाकर यथाविधि लेह सिद्ध करे और उसका प्रयोग दाह, सन्ताप तथा मेह रोग मे विरेचनार्थ करे। ( २ ) वात विकार, तृषा, ज्वर तथा पित्त विकार मे उपर्युक्त दन्ती को ही अजगन्धा के रस के साथ यथाविधि सिद्ध कर विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( ३ ) दन्ती-द्रवन्ती की जड को आंवले के रस मे तीन भाग दन्ती के कषाय और दो भाग फाणित देकर यथाविधि लेह सिद्ध करे।

( ४ ) उपर्युक्त विधि के अनुसार दशमूल के रस के योग से दन्ती द्रवन्ती का लेह तैयार करे और विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( ५ ) इसी प्रकार बहेडे के

रस के योग मे तथा ( ६ ) हरड़ के रस के योग मे यथाविधि दन्ती द्रवन्ती का लेह तैयार कर विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**चूर्णयोग**—( १ ) दन्ती तथा द्रवन्ती के बिल्व प्रमाण चूर्ण को उसी के रस मे भावना देकर सुखा ले और उसका प्रयोग अम्ल ( कांजी ) के साथ वातोत्थ गुल्म तथा कोष्ठबद्धता मे विरेचनार्थ करे।

**ईख के रस से दन्ती-द्रवन्ती का प्रयोग**—ईख को चीर कर उसे दन्ती द्रवन्ती के कल्क से लिप्त करे। पुन उसे स्विन्न कर विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**मुद्ग तथा मांस रस के ३ योग**—( १ ) दन्ती तथा द्रवन्ती के मूल को मूग के रस मे पकावे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( २ ) इसी प्रकार लावा के मांस रस मे दन्ती द्रवन्ती की जड़ डाल कर मास रस सिद्ध करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे। ( ३ ) वर्तक के मासरस मे दन्ती द्रवन्ती की जड डालकर मासरस तैयार करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**यवागू आदि के योग**—( १ ) दन्ती-द्रवन्ती के कषाय से यवागू, ( २ ) मास ( जाङ्गल ) रस और ( ३ ) माष ( उड़द ) का यूष तैयार कर विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**उत्कारिका का १ योग**—दन्ती द्रवन्ती का कषाय ३ भाग, मिसरी २ भाग और गोधूम चूर्ण १ भाग लेकर यथाविधि उत्कारिका पकावे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**मोदक के योग**—( १ ) उत्कारिका के द्रव्य से ही यथाविधि मोदक तैयार करे और विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**मद्ययोग**—( १ ) दन्ती-द्रवन्ती के कषाय से यथाविधि मद्य तैयार करे और विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**तैल योग**—( १ ) दन्ती-द्रवन्ती के कषाय तथा कल्क से यथाविधि तैल सिद्ध करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे।

**चूर्ण के योग**—( १ ) दन्ती, द्रवन्ती, मरिच, अजवायन, उपकुञ्चिका ( मंगरैला ), सोठ, स्वर्णक्षीरी, तथा चित्रक इनके चूर्ण को गोमूत्र मे सात दिन तक भावित करे। सूख जाने पर इस चूर्ण का पाणितल प्रमाण मे घृत के साथ विरेचनार्थ प्रयोग करे। इसका प्रयोग सब रोगो मे तथा सब ऋतुओ मे प्रशस्त है।

**मोदक योग**—( १ ) चित्रक तथा दन्ती प्रत्येक १ पल, हरड २० नग, त्रिवृत् तथा पिप्पली २ कर्ष, गुड़ आठ पल, इनके योग से यथाविधि मोदक तैयार करे और उसका विरेचनार्थ प्रयोग करे। इसको 'अगस्त्यमोदक' कहते

है। यह मोदक सब प्रकार के विकारो मे विरेचनार्थ प्रयुक्त होता है। इसके प्रयोग मे कोई परहेज आवश्यक नही।

**आसव के ५ योग**—( १ ) दन्ती २ पल तथा द्राक्षा आधा प्रस्थ, इनका क्वाथ बनाकर यथाविधि संधान करें और इनका प्रयोग पित्तज कास तथा पाण्डु रोग मे विरेचनार्थ करे। ( २ ) दन्ती के कल्क की समान मात्रा मे गुड़ लेकर शीतल जल के साथ विरेचनार्थ सेवन करें। यह योग श्रेष्ठ कामलाहर है। ( ३ ) श्यामा तथा दन्ती के रस मे गुड मिलाकर तथा पिप्पली, मैनफल और चित्रक के कल्क से लिप्त घट मे सधान करे। यह अरिष्ट वात, कफ के रोग तथा प्लीहा, पाण्डु और उदर रोग मे लाभ करता है। ( ४ ) दन्ती द्रवन्ती कषाय मे अजगन्धा के योग से यथाविधि सधान कर अरिष्ट तैयार करे। ( ५ ) इस प्रकार उक्त कषाय मे अजशृंगी के योग से गुड़ मिलाकर सधान करें। ये गौडारिष्ट सुख विरेचक हैं।

( १ ) दन्ती-द्रवन्ती के चूर्ण, कषाय तथा उडद के दाल एवं किण्व के योग से यथा विधि मदिरा तैयार करें और उसका प्रयोग कफ विकार, गुल्म रोग अग्निमान्द्य तथा पार्श्व और कटिग्रह मे करें। ( २ ) अजगन्धा के कषाय के योग से दन्ती-द्रवन्ती का सौवीरक और ( ३ ) तुषोदक तैयार करे और उसका यथावश्यक विरेचनार्थ प्रयोग करें। ( ४ ) तिल्वक कल्प के समान दन्ती-द्रवन्ती की सुरा तैयार करें और विरेचनार्थ प्रयोग करें।

**घृत के योग**—( १ ) दन्ती तथा ( २ ) द्रवन्ती मूल के कल्क तथा क्वाथ से पाँच प्रकार के घी यथा विधि सिद्ध करे और उनका यथा योग्य विरेचनार्थ प्रयोग करें। ( ३, ४ ) गुड और लवण के योग से दन्ती-द्रवन्ती के कल्क को घृत मे सिद्ध कर नानाविध भक्ष्य तैयार कर विरेचनार्थ प्रयोग करें। ( ५ ) सम प्रमाण मे गुड़ के साथ दन्ती का कल्क मिलाकर घी के साथ विरेचनार्थ प्रयोग करें। यह उत्तम कालाहर विरेचन है।

इस प्रकार चरक कल्पस्थानोक्त ३५५ वमन योगो का तथा २४५ विरेचन योगो का वर्णन निदर्शनार्थ किया गया है।

## मान परिभाषा

६ ध्वसी = १ मरीचि
६ मरीचि = १ सर्षप ( रक्तसर्षप )
८ सर्षप = १ तण्डुल

२ तण्डुल = १ धान्यमाष ( धान्यमाष के सम यव[1] )

४ धान्यमाष या यव = १ अरिष्टका

४ अरिष्टका = १ माषक, हेम धान्यक = १ माशा ।

३ माषक = १ शाण = ¼ तोला ।

२ शाण = द्रक्षण, कोल, वदर = ½ तोला ।

२ द्रंक्षण = १ कर्ष, सुवर्ण, अक्ष, विडालपदक, पिचु, पाणितल, तिन्दुक, कवलग्रह = १ तोला ।

२ कर्ष = १ पलार्ध, शुक्ति, अष्टमिका = २ तोला ।

२ पलार्ध = १ पल, मुष्टि, प्रकुञ्च, चतुर्थिका, विल्व, षोडशिका आम्र = ४ तोला ।

२ पल = १ प्रसृति, अष्टमान = ८ तोला ।

२ प्रसृति = १ कुडव, अञ्जलि = १६ तोला ।

२ कुडव = १ माणिका = ३२ तोला ।

२ माणिका = १ प्रस्थ = ६४ तोला ।

४ प्रस्थ = १ आढक पात्र ।

८ प्रस्थ = १ कंस ।

४ कंस = १ द्रोण, अर्मण, नल्वण, कलश, घट, उन्मान ।

२ द्रोण = १ सूर्प, कुम्भ ।

२ सूर्प = १ गोणी, खारी, भार । ३२ सूर्प २१ वाह ।

१०० पल = १ तुला ।

**कुछ अवधेय बातें**—इन उपर्युक्त योगो के नामकरण मे इस तथ्य का ध्यान रखना आवश्यक है कि जो द्रव्य जिस प्रधान द्रव्य के साथ मिलता है उसके नाम से वह योग कहलाता है ।

सुरादि द्रव्य मैनफल आदि प्रधान द्रव्यो के गुणभूत द्रव्य हैं क्योकि दूसरे लोग जैसे राजा का अनुसरण करते हैं वैसे ये सुरा आदि प्रधान द्रव्यों के गुणों का अनुसरण करते हैं । इन गुणभूत द्रव्यो का विरुद्ध वीर्य भी प्रधान द्रव्यो का बाधक नहीं होता । यदि प्रधान और गुणभूत द्रव्यो का वीर्य समान हो तो उनका सयोग क्रिया मे अधिक समर्थ होता है और इस प्रकार का योग इष्ट है । तथापि इष्ट, वर्ण, रस, स्पर्श, और गन्ध के लिये तथा रोग की चिकित्सा के लिये विरुद्ध-वीर्य द्रव्यो का प्रयोग भी आवश्यक होता है ।[2]

द्रव्यों के वलवर्धनार्थ स्वरसो की भावना दी जाती है । अत अच्छी प्रकार

---

१ 'धान्यमाषद्वयं यव.' पाठ अशुद्ध है । शुद्ध पाठ 'धान्यमाषसमो यवः' है चरक के अनुसार १ पल ४ तोला के बराबर होता है । कर्ष = १ तोला ।

२. च. क अ १२—४३, ४४, ४५, ४६ ।

भावना दिया हुआ थोड़ा भी द्रव्य अधिक कार्य करनेवाला होता है। इसलिये द्रव्यो (वमन तथा विरेचन द्रव्यो) को तुल्यवीर्य वाले द्रव्यो के स्वरस तथा काय से भावना देनी चाहिये। सयोग, वियोग, काल तथा सस्कार की युक्ति से अल्प द्रव्य का भी महान् कार्य को सिद्ध करना तथा प्रभूत द्रव्य का भी अल्प कार्य करना समव होता है। अत यथावश्यक उक्त विधान से द्रव्यो को अधिक कार्यकर तथा अल्प कार्यकर बनाना चिकित्सको का कर्त्तव्य है।[1]

उपर्युक्त ६०० योगो का वर्णन निदर्शन मात्र है। बुद्धिमान वैद्य अपनी आवश्यकतानुसार सहस्रो तथा लक्षो योगो का निर्माण कर सकता है। औषध द्रव्यो मे अनेक कल्पनाओ की योग्यता होने से ही योगो की सख्या असख्य कही गई है।[2]

यथा स्थान तीक्ष्ण तथा मृदु विरेचनो का सकेत किया गया है अत तीक्ष्ण तथा मृदु विरेचन का अभिप्राय यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है—

**तीक्ष्ण विरेचन के लक्षण**—जो विरेचन या निरुह सुखपूर्वक, शीघ्र, अतिवेग से बिना रुकावट के प्रवृत्त होता है तथा गुदा प्रदेश में अधिक पीड़ा, या ग्लानि नहीं उत्पन्न करता, आँतो मे किसी प्रकार का क्षत नहीं करता, हृदय प्रदेश मे किसी प्रकार की रुजा उत्पन्न किए बिना अशेष दोषो का निर्हरण करता है उसे तीक्ष्ण विरेचन कहते हैं।[3]

जल, अग्नि तथा कीटो से अदूषित, देश तथा काल के गुणो से युक्त, अधिक मात्रा मे प्रयुक्त तथा तुल्य वीर्य वाले द्रव्यो से भावित विरेचन औषध, सम्यक् स्नेह तथा स्वेद से उपपन्न पुरुषो मे तीक्ष्ण कर्म वाला होता है।[4]

**मध्य विरेचन के लक्षण**—उपर्युक्त गुणो से तथा मात्रा से कुछ हीन औषध सम्यक् स्निग्ध तथा स्विन्न पुरुषो मे प्रयुक्त होने पर मध्यम कार्य करनेवाला होता है।[5]

**मन्द विरेचन के लक्षण**—इसी प्रकार मन्दवीर्य, मात्रा मे हीन, असमान वीर्यवाली औषधियो मे सयुक्त तथा मन्द वेगवाली औषध रूक्ष पुरुष मे मृदु कार्य करती है।[6]

ये मध्य तथा मृदु विरेचन औषध सम्पूर्ण दोषो का निर्हरण नही करती। अत बलवान् पुरुषो में तथा बली रोगो मे यह अशोधन होती हैं। अत. इनका प्रयोग मध्य दोषो मे मध्य बलवाले पुरुष के लिये तथा अल्प दोषो मे अल्प बलवाले पुरुषो के लिये यथावश्यक करना श्रेयस्कर है।[7]

१ च क. अ १२—४७, ४८। २ च क अ १२—४९, ५०।
३ च क अ. १२—५१, ५२। ४ च क अ १२—५३, ५४।
५. च. क अ १२—५५। ६. च क अ १२—५६। ७ च. क अ. १२—६५।

# त्रिदोष परिशिष्ट

आयुर्वेद की अशेष अट्टालिका दोष धातु और मल विज्ञान की भित्ति पर ही अवलम्बित है। इसके गर्भविज्ञान ( Embriology ), शरीररचना विज्ञान (Anatomy), शरीरव्यापार विज्ञान (Physiology), शरीर विकृति विज्ञान ( Pathology ) तथा चिकित्सा विज्ञान ( Medicine ) की मूल धारणा इन उपर्युक्त 'दोष धातु मल विज्ञान' पर ही आधारित है। जिस पुंबीज तथा स्त्रीबीज से गर्भ शरीर का प्रथम अणु ( देहाणु–Cell ) निर्मित होता है उनका भी घटक ये वात, पित्त, तथा कफ ही हैं।[1] आयुर्वेदज्ञों ने शारीरिक अशेष द्रव्यों को ( १ ) दोष वर्ग, ( २ ) धातु वर्ग तथा ( ३ ) मल वर्ग, इन तीन वर्गों में विभक्त कर समझने तथा समझाने का सफल प्रयास किया है। दोष वर्ग में संक्षेप से वात, पित्त तथा कफ का ग्रहण किया जाता है। धातु वर्ग में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात द्रव्य गृहीत होते हैं। मल वर्ग में विट, मूत्र, स्वेद, नख, रोमादि का ग्रहण है। इन तीनों वर्गों में भी दोष वर्ग अर्थात् वायु, पित्त और कफ ये तीन द्रव्य अधिक क्रियाशील ( शक्ति सम्पन्न ) हैं। ये तीनों अविकृत रहें तो शरीर का धारण करते हैं।[2] शरीर धारण करने से ये 'धातु' भी कहलाते हैं। ये जब विकृत होते हैं तो शरीर को दूषित करके नाना विध विकारों से युक्त करते हैं और प्रतिकार के अभाव में नष्ट भी कर देते हैं।[3]

ये वात, पित्त, कफ, बाह्य वायु या शरीर से निःसृत होने वाली वायु, वमन में निकलने वाला पित्त तथा ष्ठीवन में निष्ठ्यूत कफ नहीं हैं। ये पाञ्चभौतिक शारीर द्रव्य हैं और प्राणि शरीर के मूल घटक हैं। यही कारण है कि इन्हें धातु भी कहते हैं। इनके बिना शरीर की स्थिति संभव नहीं। शरीर में इनका

---

१. ( i ) 'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम् ।' ( सु. सू. अ. १५ )
( ii ) 'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः ।' ( सु. सू. २१ )
( iii ) नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात् ।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥' ( सु. सू. अ. २१-४ )
२. ( i ) 'वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।' ( च. सू. अ. १ )
( ii ) 'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः ।' ( अ. हृ. सू. अ. १ )
( iii ) 'मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च ।' ( अ. हृ. सू. अ. १ )
( iv ) 'विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ।' ( अ. हृ. सू. अ. १ )
३ ( i ) 'ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति ।
विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति ।' ( च. वि. अ. १८ )
( ii ) 'शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात् ।
वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ॥' ( शा. पू. अ. ५ )

साम्य आरोग्य का और वैषम्य रोग का हेतु होता है। ये शरीर को धारण करने से 'धातु' तथा शरीर को दूषित करने से 'दोष' कहलाते हैं। शरीर को मलिन करने के कारण इनकी सज्ञा 'मल' भी है। इस प्रकार ये तीनो शारीर द्रव्य अवस्था विशेष से धातु, दोष और मल तीनो सज्ञाओ को प्राप्त होते हैं।

त्रिदोष की उत्पत्ति उस विशिष्ट पाञ्चभौतिक सगठन से होती है जिससे चेतन-
सृष्टि सम्पन्न होती है। चेतनसृष्टि मे पञ्चभूतो के अतिरिक्त छठी चेतना धातु
( आत्मा ) भी मिली रहती है। अत सामान्य चेतनाविहीन जड जगत् की
अपेक्षा इसका भौतिक सगठन रचना और क्रिया की दृष्टि से कुछ विशेष प्रकार
का होता है। त्रिदोष की उत्पत्ति का मूल यह विशिष्ट सगठन ही है। क्योकि
इसमे सक्रिय रूप से भाग लेने वाले तीन ही भूत प्रधान हैं। विभाजनादि रूप
गति वायु के, पाकादि रूप सताप अग्नि के तथा सश्लेषणादि रूप आलिङ्गन जल के
कार्य हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक सचेतन पाञ्चभौतिक द्रव्य मे
चाहे वह परमाणु रूप ( Cell ) हो अथवा स्थूल धात्वादि रूप हो, ये त्रिदोष
विद्यमान रहते हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने इसीलिये कहा है कि वात, पित्त
और श्लेष्मा ( कफ ) ही देह की उत्पत्ति मे तथा स्थिति मे कारण हैं।[1]

शरीरारम्भक शुक्र ( पुबीज ) और आर्तव ( स्त्रीबीज ) जो स्वय एक
सचेतन पाञ्चभौतिक देहाणु ( Cell ) हैं, उनमे ये त्रिदोष पहले से ही विद्यमान
रहते हैं। इसका समर्थन आयुर्वेद के उस वर्णन से प्राप्त होता है जहाँ कहा
गया है कि शरीरारम्भक शुक्र और आर्तव मे जो दोष उत्कट रहते हैं उसी के
अनुसार प्रकृति का निर्माण होता है।[2] ये दोष ही शुक्रार्त्तव सयोग स्वरूप प्रथम
गर्भाणु ( Embryonic cell ) मे क्रियाशील होकर विभजन ( Mitosis )
पक्ति ( Metabolism ), सश्लेषण ( Cohesion ) आदि क्रियाओ के द्वारा
असख्य भौतिक या त्रिधात्वात्मक देह परमाणुओ ( Cells ) का निर्माण करते
हैं जो आगे चलकर स्वभाव वा सस्कारानुवृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न रस-
रक्तादि धातुओ तथा अवयवो ( अङ्ग-प्रत्यङ्ग, कोष्ठाङ्गादि ) के रूप मे व्यवस्थित
हो जाते हैं। पुन ये वातादि दोष इन्ही को अधिष्ठान बनाकर शरीर के विभिन्न
व्यापारो का सम्पादन करते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद वाङ्मय मे रचना,

१ 'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतव । तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभि. ॥' ( सु सू अ २१ )

२ शुक्रशोणितसयोगे यो भवेद्दोष उत्कट. ।
प्रकृतिर्जायते तेन··· ··· · · ··· ··· ··· ॥' ( सु सू अ ४ )

क्रिया तथा विकृतियो का वर्णन और उनकी चिकित्सा का वर्णन दोषपरक उपलब्ध होता है।

प्राणि शरीर मे इनका ज्ञान तीन रूपो मे होता है। जैसे (१) शारीर, द्रव्य के रूप मे अर्थात् घटक के रूप मे, (२) यन्त्र या तन्त्र के रूप मे तथा (३) व्यापार के रूप मे। इन तीनो स्वरूपो के ज्ञानार्थ इनकी निरुक्ति का ज्ञान आवश्यक है। सुश्रुताचार्य ने कहा है कि 'वा गति गन्धनयो' इस धातु से 'वात', 'तप-सन्तापे' इस धातु से 'पित्त' और श्लिष-आलिङ्गने' इस धातु से 'श्लेष्मा' ये तीन सज्ञायें बनी हैं।[1]

अर्थात्—गति, ज्ञान, प्राप्ति, उत्साह इन अर्थों को रखने वाले 'वा' धातु से 'वात' शब्द की निष्पत्ति होती है। व्याकरण के अनुसार भी गत्यर्थक धातु प्राप्ति तथा ज्ञानार्थ के बोधक हैं। सुतरा शरीर मे जिससे गति, ज्ञान तथा प्राप्ति ये तीन कार्य सम्पन्न होते हैं वे वात-द्रव्य है। गन्धन शब्द का कोषो मे सूचन तथा उत्साह दो अर्थ प्राप्त होते है। अत इन दो अर्थो का साधक द्रव्य भी वात ही है। इसी प्रकार 'तप सन्ताप' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। सुतरां शरीर मे सम्यक् ताप जिससे उत्पन्न होता हो वह पित्त द्रव्य है। ताप का कार्य शरीरोष्मा को उत्पन्न करने के अतिरिक्त पाक, परिवर्तन, परिणमन तथा परावर्तन भी है। अत इन सभी क्रियाओ का नायक 'पित्त' है। 'श्लिष-आलिङ्गने' से श्लेष्मा शब्द की उत्पत्ति होती है। आलिङ्गन का अर्थ सयोग है। सुतरा शरीरावयव मे जिससे संयोग उत्पन्न हो वह द्रव्य 'श्लेष्मा' है। ये तीनो (वात, पित्त और कफ) सूक्ष्म तथा स्थूल दो रूपो मे शरीर मे पाये जाते हैं। सूक्ष्म अतीन्द्रिय होने मे कर्मानुमेय होता है। स्थूल का प्रत्यक्षीकरण होता है। इनमे भी वायु सदा सूक्ष्म (अमूर्त्त) होने से कर्मानुमेय ही है।

पाञ्चभौतिक शारीर वात के घटको मे वायु तथा आकाशभूत का बाहुल्य रहता है। रजोगुण विशिष्ट होने से इसका स्वभाव राजस होता है। इसी प्रकार पाञ्चभौतिक शारीर पित्त के घटको मे तेज (अग्नि) भूत का आधिक्य तथा सत्त्वगुण बहुल होने से स्वभाव सात्त्विक होता है। पाञ्चभौतिक कफ के घटको में पृथ्वी और अप् भूत का आधिक्य तथा तमोबहुल होने से स्वभाव तामस होता है।[2]

---

१ 'तत्र 'वा गतिगन्धनयो' इति धातु, 'तपसन्तापे', 'श्लिष-आलिङ्गने' एतेषा कृद्विहितै प्रत्ययै वात., पित्त, श्लेष्मा इति च रूपाणि भवन्ति।' (सु सू अ २१)

२. (१) वाय्वाकाशधातुभ्या वायु, आग्नेय पित्त, अम्भ पृथिवीभ्या श्लेष्मा।' (अ स. सू. अ २०)

प्राणि-शरीर के सबसे सूक्ष्म अवयव की संज्ञा आयुर्वेद वाङ्मय मे 'देह परमाणु' है। ये परमाणु संज्ञक भूत नही अपितु शरीर के परम अणु अर्थात् सबसे सूक्ष्म अवयव हैं। आधुनिक विज्ञान मे इसे 'सेल' संज्ञा दी गई है। ये असंख्येय हैं।[1] इनमे भी वात, पित्त और कफ विद्यमान हैं। ये चेतन द्रव्य हैं। आधुनिक विज्ञान भी इन्हे सजीव सूक्ष्म द्रव्य मानता है। ये भी खाते-पीते हैं। इनमे गति ( Movement ), आवश्यक वस्तुओ की प्राप्ति तथा सजीव होने के कारण ज्ञान भी है। अतएव इनका साधक उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार 'वात' है। इन देह परमाणुओ मे ( Cells ) जीवन का दूसरा साक्षी ताप भी रहता है। आधुनिक शारीर क्रिया के अनुसार ९७ से ९८½ डिग्री फा० तक के तापमान मे ये स्वस्थ रहते हैं। ९५ डिग्री फा० तथा उससे न्यून ताप मे अथवा ११० डिग्री फा० से अधिक ताप मे इनकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार इन देहाणुओ ( Cells ) को स्वस्थ रखने के लिये जो ताप उनके अन्दर होता है उसका साधक पित्त है। इसी प्रकार इनके सूक्ष्म अवयवो को परस्पर मिलाकर ( सश्लेषण कर ) आवरक, केन्द्रक आदि का निर्मापक द्रव्य श्लेष्मा है। इन सूक्ष्म अवयवो की भाँति ( इनसे निर्मित ) स्थूल अवयवो मे भी सर्वत्र गति, ताप और श्लेषण ( सयोग ) विद्यमान है। अत शरीर के सूक्ष्मतम अवयवो से लेकर स्थूल अवयवो मे भी वात, पित्त, कफ की सत्ता सिद्ध होती है।

आधुनिक विज्ञान गति तथा ज्ञान के लिये शरीर स्थित नाडियो-वात सूत्रो ( Nerves ) को, ताप के लिये शरीर मे होने वाली रासायनिक प्रक्रियाओ ( Bio-chemical activities ) को, तथा सश्लेष के लिये शरीर के भिन्न भिन्न द्रव्यो को उत्तरदायी मानता है।

उपर्युक्त आधुनिक विचार निर्दोष नही प्रतीत होता, क्योंकि नाडी या वात-सूत्र ( Nerves ) के विद्यमान रहते हुए भी मृत शरीर मे तथा वाताहत अङ्गो मे गति नही होती। इसके अतिरिक्त वातसूत्र ( Nerve ) रहित देहपरमाणु ( Cell ) मे भी गति होती है। अतएव सूत्र के साथ गति का अन्वय व्यतिरेक नही है किन्तु आयुर्वेदोक्त वायु के साथ गति का अन्वय व्यतिरेक सिद्ध है। जिस प्रकार वहिर्जगत् मे विद्युद्वाहक ताम्रसूत्र द्वारा शब्द का देशान्तर गमन होता है उसी प्रकार शारीर वातसूत्रो ( Nerves ) द्वारा गति का सञ्चार होता

( ॥ ) 'वात –रजोवहुल एव च'। ( सु नि अ १ )
'पित्तं × × सत्त्वगुणोत्तरम् ॥' ( शा सू अ. ५ )
'कफ × × × तमोगुणाधिक ॥' ( शा सू अ. ५ )

१ 'शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन सख्येया भवन्ति अति बहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च। ( च शा ७ )

है। तात्पर्य यह कि शरीर स्थित वातसूत्र वात के सञ्चार के लिये है और चूँकि वात का सञ्चार इनके द्वारा होता है अत गति, प्राप्ति तथा ज्ञान के भी ये स्थूल दृष्ट्या द्वार माने जाते हैं।

पित्त मे अग्निभूत की प्रधानता है। इसके द्वारा रूप का आविर्भाव तथा ताप की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद वाङ्मय मे स्पष्टरूपेण कहा है कि अग्नि ही पित्त मे रहकर अपना कार्य करती है।[१] पित्त का कार्य ताप की उत्पत्ति और शरीर मे विविध पाको का सम्पादन है। पाक के द्वारा ही द्रव्यो का परिणमन तथा परावृत्ति होती हैं। इन्ही क्रियाओं को आधुनिक वाङ्मय मे रासायनिक या जीवित शरीर मे होने से जीव-रासायनिक क्रिया ( Chemical and Biochemical activities ) कहते हैं। जिस क्रिया द्वारा कारण के व्यक्त गुण कार्य में व्यक्त होते हैं उसको भौतिक मिलन ( Physical combination ) कहते हैं और जिस क्रिया द्वारा कारण के अव्यक्त गुण भी कार्य मे व्यक्त होते हैं उसको रासायनिक मिलन ( Chemical combination ) कहते है। रासायनिक मिलन द्वारा 'अलीक' पदार्थों की उत्पत्ति नही हो सकती। क्योंकि ऐसे होने पर कार्य-कारण व्यवस्था का ही कुठाराघात हो जाता है। आधुनिक विज्ञान जिसको रासायनिक मिलन कहता है, आयुर्वेद वाङ्मय मे उसको 'पाक' कहा गया है। शरीर मे पाक प्रक्रिया केवल पित्त द्वारा ही सम्पन्न होती है। इस पाक क्रिया के लिये ताप की आवश्यकता होती है। अतएव 'रासायनिक क्रिया द्वारा ताप की उत्पत्ति होती है' ऐसा कहना भ्रमावह है। वास्तव मे पित्त के द्वारा ताप की उत्पत्ति होती है और उस ताप द्वारा पाक क्रिया ( रासायनिक परिवर्तन ) होती है यह विचार ही युक्तियुक्त है।

श्लेष्मा का संश्लेषण या संयोग कर्म है कर्मानुमेय। जैसे लकडी के प्रत्येक रेशे ( सूक्ष्म कण ) को परस्पर मिलाकर कठिन लकड़ी मे परिणत करनेवाला गोंद ( निर्माण ) का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता उसी प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो के संयोग ( संश्लेषण ) का सम्पादक श्लेष्मा भी कर्मानुमेय है। इसको प्रज्ञानेत्र से ही देखा जा सकता है। शरीर मे संश्लेषण ( Cohesion ) और उदक कर्म ( Body water ) का सम्पादन श्लेष्मा ( कफ ) के द्वारा ही होता है।

इस प्रकार आयुर्वेद का त्रिदोष सिद्धान्त इतना व्यापक है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणि शरीर ( Microbes ) से लेकर मानवशरीर पर्यन्त मे यह हर प्रकार ( रचना तथा व्यापार उभय दृष्टि से ) चरितार्थ होता है। आयुर्वेद के आचार्यों ने इसका उपयोग वनस्पतियो, वृषभो, अश्वो तथा गजो की शरीर-रचना तथा

१. 'अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गत कुपिताकुपित शुभाशुभानि करोति।' (च सू अ १२)

व्यापार को बतलाने मे भी किया है। निष्कर्ष यह कि जीवन ( Life ) के सभी स्वरूपो ( Phenomena ) का वर्णन आयुर्वेद इस त्रिदोष के द्वारा करता है। साराश यह कि ये वात, पित्त तथा कफ प्राणि-शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो देहपरमाणुओ (Cells) मे विद्यमान हैं और शरीर के सभी स्रोतो द्वारा इनका संचार होता है ( सर्वशरीरचरा· )। ये सभी शारीरिक तथा मानसिक ( Bodily and mental ) व्यापारो को सम्पन्न करते हैं।[1]

वायु के १४१ प्रकृत कर्मों तथा ८३२ विकृत कर्मों या लक्षणो पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी कर्मों का तथा विकृत लक्षणो का आधुनिक विज्ञान द्वारा वर्णित वात सस्थान ( Nervous system ) के कर्मों तथा विकृतियो से समन्वय किया जा सकता है। मानव शरीर के प्रकृत व्यापारो को ( Physiological function ) हम निम्न चार विभागो मे विभक्त कर सकते हैं।

( १ ) नाडी पेशीय व्यापार ( Neuro-muscular Physiology )

( २ ) श्वसन व्यापार, रक्तानुधावन व्यापार, पचन व्यापार और अभिस्रवण ( Physiology of respiration, circulation, digestion and Secretion )

( ३ ) धात्वग्नि व्यापार ( Metabolism ), नि स्रोतस ग्रंथि व्यापार ( Function of ductless gland ) और प्रजनन व्यापार ( reproduction )

( ४ ) वात सस्थान तथा इन्द्रिय व्यापार (Physiology of nervous system and Special senses ).

उपर्युक्त आधुनिक सभी व्यापारो का सुन्दर समन्वय वात, पित्त तथा कफ के व्यापारों से किया जा सकता है। जैसे—

( १ ) **प्राणवायु**—सभी निम्नलिखित व्यापारो का सम्पादक है :—

( क ) मानस व्यापार ( mental function )[2]

( ख ) सभी इन्द्रियो का उद्योजक (Function of Special senses)[3]

( ग ) हृदय, फुफ्फुस तथा अन्ननिगिरण व्यापार ( Function of heart, lungs & deglutition )[4].

---

१. 'वातपित्तश्लेष्माणा पुन· सर्वशरीरचराणा सर्वाणि स्रोतासि अयनभूतानि।' ( च वि ५-९ )

२ नियन्ता प्रणेता च मनस ।' ( च सू १२ )

३. 'सर्वेन्द्रियाणामुद्योजक·।' ( च सू १२ )

४. 'सोऽन्न प्रवेशयत्यन्न· प्राणाश्चाप्यवलम्बते।' ( च सू १२ )

( २ ) **उदान वायु**—वाणी का प्रवर्त्तक है। यह वर्णों ( अक्षरो ) की उत्पत्ति मे सहायक है तथा शब्दो की सृष्टि करता है।[1] ( Responsible for speech )

( ३ ) **समान वायु**—अग्नि को सन्धुक्षित कर पचन व्यापार मे सहायक होता है। ( Responsible for digestion of food )[2].

( ४ ) **अपान वायु**—मल, मूत्र, शुक्र, आर्त्तव, गर्भ, को बाहर निकालता है। ( Responsible for excretion of urine, stool, semen, menstrual blood and foetus )[3]

( ५ ) **व्यान वायु**—( क ) रस रक्त सवहन ( Circulatory function ) ( ख ) चेष्टाप्रवर्त्तन ( Locomotion ) तथा ( ग ) सज्ञा प्रवर्त्तन ( Sensation ) के लिये उत्तरदायी है।[4]

इसी प्रकार पित्त शरीर मे होने वाली सभी रासायनिक प्रक्रियाओ के लिये उत्तरदायी है। शरीर के उन तत्त्वो का जिनसे नानाविध पाक या परिवर्तन होता है ( Enzymes, hormones and digestive secretions ) तथा ऊष्मा की उत्पत्ति होती है सबका उत्तरदायी पित्त है।

( १ ) **पाचक पित्त**—पचन प्रणाली मे नि स्रुत होने वाले पाचक रस, धातुओ मे स्थित पाचक तत्त्व, ( digestive secretions, enzymes of the tissues and cells ) सभी पाचक पित्त के ही अवान्तर रूप हैं।

( २ ) **रञ्जक पित्त**—आमाशय, यकृत् तथा प्लीहा स्थित रक्त निर्मापक तत्त्व है। ( Represents the haematopoeti principles in the stomach, lever and spleen )

( ३ ) **साधक पित्त**—अनेक प्रकार के नि.स्रोतस ग्रन्थियो का अवान्तर रूप है। ( Represents the different hormones ).

( ४ ) **भ्राजक पित्त**—त्वचा मे स्थित त्वक् को भ्राजिष्णुता ( प्रभा, या कान्ति ) प्रदान करने वाला तथा उष्ण रखनेवाला एव वर्ण प्रदान करने वाला तथा अभ्यङ्गादि का पाचन करने वाला तत्त्व है। ( Represents the

---

१ ( i ) 'प्रवर्त्तको वाच ।' ( ii ) 'प्रयत्नोर्जाबलवर्णादि कर्म च ।' (च सू अ १२)

२ 'समीरणोऽग्ने ।'

३ 'क्षेप्ता बहिर्मलाना शुक्रार्त्तव-शकृन्मूत्र गर्भनिष्क्रमणक्रिय' ।' (अ हृ सू अ १२-४)

४ 'रसवहनोद्धन ' 'व्यानेन निक्षिप्त सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ।'

(च सू अ १२, च. चि अ १५)

( ii ) प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम ।

( iii ) 'श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूल बहिरन्त स्पर्शहेतुर्वायुरेव त्वगाश्रित ।'

substance in the skin regulation, the surface temperature, absorption of oils and ointments andcomplexion)

( ५ ) **आलोचक पित्त**—दृष्टिगत रूप ग्रहण मे सहायक रोडोप्सीन ( Rhodopsin ) तथा वीजुअल पर्पुल ( Visual purple ) नामक द्रव्य है।

कफ का सामान्य कर्म शरीर मे सश्लेषण ( Cohesion ) तथा उदक कर्म ( body water ) है।

( १ ) **क्लेदक कफ**—अन्ननलिका ( पचन प्रणाली ) मे स्रावित होनेवाला अन्न के सवानो मे सहायक तथा पचन व्यापार मे सहायक जलीय स्राव है। ( Represents the mucus secretion of the digestive tract, which lubericates it and helps to break down the particles of food for easy digestion )

( २ ) **बोधक कफ**—मुख मे स्रवित होनेवाला कफ है जो जिह्वा को तर कर उसके रसबोधन मे सहायक होता है। ( mucus secretion of the mouth ).

( ३ ) **श्लेषक कफ**—अस्थि सधियो मे स्रवित होनेवाला तथा सधियो को क्लिन्न रखनेवाला कफ है। ( Synovial fluid ),

( ४ ) **तर्पक कफ**—मस्तिष्क को तर रखनेवाला ( Corebrospinal fluid ) कफ है।

( ५ ) **अवलम्बक कफ**—यह उरच्छदा कला ( Plural ) तथा हृदयच्छदा कला ( Pericardial ) के मध्य मे स्थित द्रव प्रतीत होता है। श्वसन प्रणाली को तर रखने वाला कफ ( Mucus secretion of respiratory tract ) अवलम्बक कफ प्रतीत होता है।

ये उपर्युक्त दोष ( वात, पित्त, कफ ) पाञ्चभौतिक शारीर द्रव्य हैं। इनका अविनाभाव ( अपृथक् भाव ) सम्बन्ध क्षुद्रजीवपिण्ड ( microcosm ) अर्थात् क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य तक है। वनस्पतियाँ भी सजीव सृष्टि हैं अत वात-पित्त-कफ का सम्बन्ध इनमे भी है। इस प्रकार वानस्पतिक सृष्टि से लेकर मानव सृष्टि तक का अपृथक् भाव सम्बन्ध इन दोषो से है। भारतीय साहित्य मे वृक्षायुर्वेद वनस्पतियो की और गवायुर्वेद (गौतम सहिता), अश्वायुर्वेद ( शालिहोत्र सहिता) और हस्त्यायुर्वेद ( पालकाप्य सहिता ) पशुओ की सृष्टि, स्थिति, विकृति तथा चिकित्सा का वर्णन करते हैं।

ये दोष सूक्ष्म रूप मे शरीर ( प्राणी–शरीर ) के सगठन मे दो रूपो मे विद्यमान रहते हैं। जैसे ( १ ) सामान्य या व्यापक रूप मे ( General ) और

(२) विशिष्ट अर्थात् अव्यापक (Special) रूप में। सामान्य रूपेण ये प्राणी शरीर के प्रत्येक देहाणु (Cell) में विद्यमान रहते हैं और प्रत्येक देहाणु का व्यापार इनसे ही सम्पन्न होता है। इनमें भी वायु का प्रधान कर्तृत्व है, पित्त और कफ भी वायु द्वारा अनुप्राणित हो अपने कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इसीलिये आयुर्वेद वाङ्मय में पित्त और कफ को पङ्गु कहा है और मेघ तथा वायु की उपमा से समझाया गया है।[1] यद्यपि देहाणुओं (Cells) में वायु की स्थिति का अङ्गुल्या निर्देश कठिन है तथापि देहाणुओं के केन्दुक (Nucleus of the cell) में गुणकर्मों द्वारा इसकी स्थिति का संकेत कर सकते हैं। वात सूत्राणु या नाड्यणु (Nerve cell) में स्थित वात द्रव्य ही उनमें स्पन्दन या वेग (Impulse) उत्पन्न करता है तथा उसका कार्य सम्पन्न करता है। अतः नाडियों का स्पन्दन या वेग (Nerve impulse) वात या वायु नहीं है अपितु उसका उपादान कारण है। इसी प्रकार देहाणुओं (Cells) में स्थित एनजाइम (enzymes) नामक द्रव्य जो रासायनिक व्यापारों का सम्पादक है पित्त है। आयुर्वेद वाङ्मय में इसका वर्णन 'धात्वग्नि' संज्ञा से किया गया है। प्रत्येक देहाणु के भौतिक तथा रासायनिक संघटक (Physical and chemical components) द्रव्य कफ के ही अवान्तर रूप हैं। इस प्रकार कफ द्रव्य अपेक्षाकृत सूक्ष्म, पित्त सूक्ष्मतर तथा वात सूक्ष्मतम द्रव्य है। आयुर्वेद में वायु को इसीलिये सदा सूक्ष्म अतीन्द्रिय अमूर्त्त तथा कर्मानुमेय कहा है। पित्त तथा कफ के स्वरूप का तथा सूक्ष्म और स्थूल भेदों तथा परिमाणों का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

(२) **विशिष्ट रूप** (Special)—इनके स्थान तथा कर्मों के अनुसार स्वरूप तथा गुण कर्मों का वर्णन एवं प्रकारों का वर्णन आयुर्वेद वाङ्मय में उपलब्ध होता है। जैसे वात पाँच प्रकार का स्थान कर्मानुसार होता है। ये पाँचों प्रकार के वायु आधुनिक शारीर क्रिया की दृष्टि से सम्पूर्ण वात संस्थान (Nervous systems) के कर्मों का सम्पादन करते हैं (Central, peripheral and autonomic)। जैसे—(१) मानस व्यापार (mental function), (२) इन्द्रिय व्यापार (Function of special senses) हृदय व्यापार (Cardiac function) (३) श्वसन तथा निगरण व्यापार (Respiration and deglutetion), इनका सम्पादक प्राण वायु है। उदान वायु वाणी का प्रवर्तक है (Regulates speach), समान वायु पचन व्यापार का (Digestion) अपान वायु

१. 'पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥' (शा० अ ५)

मलनि सारक व्यापार का ( Excretion ) और व्यान वायु सभी प्रकार की चेष्टाओ का ( Vasomotor, moter and sensory functions ) प्रवर्त्तक हैं । इत्यादि । इसी प्रकार पाँचो प्रकार के पित्त तथा पांचो प्रकार के कफ जिनका सकेत पहले किया जा चुका है अपने-अपने स्थानो मे अपने-अपने कर्मो का सम्पादन करते हैं ।

## वात धातु तथा वात दोष

प्रकृत अवस्था मे स्थित वात देह धारक होने से धातु कहलाता है।[1] शरीर के सम्पूर्ण गत्यात्मक (चेष्टात्मक), ज्ञानात्मक, तथा सूचनात्मक एव उत्साहात्मक प्रकृत व्यापार या स्वस्थ व्यापार धात धातु द्वारा सम्पन्न होते हैं । जैसे—

**वात के प्रकृत व्यापार—**

( १ ) उत्साह—( ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो को कार्यक्षम बनाने लिए के मन को उत्साहित करना ) ।

( २ ) उच्छ्वास—( श्वासलेना—Inspiration )

( ३ ) नि श्वास—( श्वासछोडना—Expiration )

( ४ ) चेष्टा—( अविकृत शारीर क्रियायें—Normal movements of the body ).

( ५ ) समधातु गति ( समपरिमाण मे रसादि पोषक धातुओ का पोष्य धातुओ मे पहुँचाना ) ।

( ६ ) गतिमान मलो का सममोक्ष ( अर्थात् मूत्र पुरीष स्वेदादि वहिर्मुख त्याज्य पदार्थों का योग्य काल और प्रमाण में शरीर से बाहर निकालना ) ।[2]

( ७ ) मनको विषय ग्रहण मे प्रवृत्त कराना, मानसिक व्यापारो का नियमन करना, मर्व इन्द्रियो को अपने-अपने विषय मे प्रवृत्त करना, सभी इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किए हुए विषयो को ज्ञानकेन्द्र तक और उसके द्वारा आत्मा को पहुँचाना, शरीर के सर्वधातुओ और अवयवो की रचना करना, शरीर का सधान करना, अग्नि (पाचक रस तथा अन्य अग्नि-कर्म सम्पादक रसो) का प्रेरण ( उचित काल और मात्रा मे स्राव ) करना, शरीर मे आवश्यकता से अधिक क्लेद ( आर्द्रपदार्थ ) का शोषण करना, सूक्ष्म तथा स्थूल स्रोतो का निर्माण करना, गर्भाकृति का निर्माण करना, हर्ष उत्पन्न करना,[3] दोष, धातु

---

१. ( i ) 'धातवो देहधारणात्' । ( शा पू. अ २ )
( ii ) 'धारणाद् धातव' ।' ( अ स सू. अ. २० )

२. च सू. अ १९-४९ ।

३ च. सू अ. १२-८ ।

-तथा मलो को यथा स्थान पहुँचाना और उनको सम प्रमाण मे रखना, तथा सम्पूर्ण शारीरिक अविकृत क्रियाओ के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना प्रकृत वात (धातु) के व्यापार हैं।[१]

इस वायु को प्राणधारियो के आयु का बल (रक्षक) और विधाता (रचयिता) कहा गया है। इस सम्पूर्ण विश्व को भी वायु शब्द से सज्ञित किया गया है तथा इसे प्रभु कहा है।[२] स्वतन्त्र नित्य तथा विभु होने के कारण इसे स्वयम्भू तथा भगवान् शब्द से भी सज्ञित किया गया है।[३]

इस वात धातु के पाच प्रकारो का वर्णन आयुर्वेद वाङ्मय मे प्राप्त होता है जिनका सकेत पहले कर चुके है। उन्ही का यहाँ विस्तार से वर्णन किया जायगा।

**(१) प्राणवायु के स्थान तथा अविकृत (प्रकृत) कर्म**—मूर्धा (शिर और मस्तिष्क), उर (छाती मे स्थित फुफ्फुस श्वासनलिका, हृदय तथा अन्ननलिका) कण्ठ, कर्ण, जिह्वा, मुख और नासिका, ये प्राणवायु के स्थान हैं। थूकना, छीकना, उद्गार, श्वासोच्छ्वास, आहार को आमाशय मे पहुँचाना, हृदय का कार्य सम्पादन, बुद्धीन्द्रिय तथा मनका धारण करना ये अविकृत प्राणवायु के कार्य हैं।[४]

**(२) उदानवायु के स्थान तथा अविकृत (प्रकृत) कर्म**—नाभि, उर (छाती) कण्ठ और नासिका ये उदान वायु के स्थान हैं। बोलना, गाना तथा वर्ण (अक्षर) इनकी प्रवृत्ति तथा सृष्टि एव एतदर्थ प्रयत्न (बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्न) बल, धृति, स्मृति तथा मनोबोधन ये सब उदान वायु के कर्म हैं।[५]

---

१ सु नि. अ १-७, १०

२ 'वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः॥' (च चि अ २८)

३ 'स्वयम्भूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः।
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात् तथैव च॥' (सु नि १)

४ (i) 'स्थानं प्राणस्य शीर्षोरःकर्णजिह्वास्यनासिका।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादिकर्म च॥' (च चि अ २८)

(ii) वायुर्यो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणाश्चाप्यवलम्बते॥' (सु नि अ. १)

(iii) 'तत्र प्राणो मूर्द्धन्यवस्थितः, कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियमनोधमनीधारणष्ठीवन-
क्षवथूद्गारप्रश्वासोच्छ्वासान्नप्रवेशादिक्रियः।' (अ स सू २०)

५ (i) 'उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्ति प्रयत्नोर्जोबलवर्णादि कर्म च॥' (च चि अ. २८)

(ii) 'उदान उरस्यवस्थितः कण्ठनासिकानाभिचरो वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जोबलवर्ण-
स्रोतःप्रीणनधृतिस्मृतिमनोबोधनादिक्रियः।' (अ सं. सू, २०)

**( ३ ) समान वायु के स्थान तथा अविकृत ( प्रकृत ) कर्म**—स्वेदवाही, दोषवाही, और जलवाही स्रोत तथा कोष्ठ, अन्तरग्नि या पाचकाग्नि के समीप में स्थान ( आमाशय पक्वाशय और पच्यमानाशय ) ये सब समान वायु के स्थान है। समानवायु जठराग्नि की सहायता करके अर्थात् पाचक रसो का स्राव कराकर आहार का पाचन कराता है तथा आहार से सारभाग ( अन्नरस ) तथा किट्ट ( पुरीष और मूत्र ) का विभाजन ( पृथक् करण ) कराता है।[1]

**( ४ ) अपान वायु के स्थान तथा अविकृत ( प्रकृत ) कर्म**—पक्वाशय ( वृहदन्त्र तथा मूत्राशय ) गर्भाशय मेढ्र आदि अपान वायु के स्थान हैं। मल, मूत्र, शुक्र, आर्तव और गर्भ का आवश्यकतानुसार धारण तथा निष्कासन करना इनका प्रधान कर्म है।[2]

**( ५ ) व्यानवायु के स्थान तथा अविकृत ( प्रकृत ) कर्म**—व्यान वायु का प्रधान स्थान हृदय है। वह हृदय से सम्पूर्ण शरीर मे सचार करने वाला तथा रससवहन ( रक्तभिसरण ) कर्म करने वाला है। गति, प्रसारण, आक्षेप, उत्क्षेप, निमेष, उन्मेष आदि क्रिया तथा स्वेद का स्राव ( विसर्जन ) करने वाला है।[3]

---

( iii ) 'उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तम'।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते॥' ( सु नि. अ १ )

१. ( i ) 'स्वेदो दोषाम्बुवाहीनि स्रोतासि समधिष्ठित।
अन्तराग्नेश्च पार्श्वस्थ समानोऽग्निबलप्रद॥' ( च चि अ २८ )

( ii ) 'आमपक्वाशयचर· समानो वह्निसङ्गत·।
सोऽन्नं पचति तज्जाश्च विशेषान्विविनक्ति हि॥' ( सु नि १ )

( iii ) 'समानोऽन्तराग्निसमीपस्थस्तत्सन्धुक्षण· पक्वामाशयदोषमलशुक्रार्त्तवाम्बु· वह स्रोतोविचारी तदवलम्बनान्नधारणपाचनविवेचनकिट्टाधोनयनादिक्रिय·। ( अ स सू अ २० )

२ ( i ) 'वृषणौ बस्तिमेढ्र च नाभ्यूरू वक्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थ शुक्रमूत्रशकृत्क्रिय·॥' ( च चि अ. २८ )

( ii ) 'पक्वाधानालयोऽपान काले कर्षति चाप्ययम्।
समीरण· शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्त्तवान्यध·॥' ( सु नि अ १ )

( iii ) 'अपानस्त्वपानस्थितो बस्तिश्रोणिमेढ्रवृषणवक्षोरुचरो विण्मूत्रशुक्रार्त्तवगर्भ-निष्क्रमणादिक्रिय॥' ( अ स सू· अ २० )

३ ( i ) 'देह व्याप्नोति सर्व तु व्यान शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रिय· सदा॥' ( च. चि अ २८ )

( ii ) कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यत·।
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि॥' ( सु नि अ १ )

इस प्रकार प्राकृत ( अविकृत धातुरूप ) वात के शरीर की स्वस्थावस्था मे होने वाले कार्य, उनके पाच प्रकार तथा स्थान कर्मानुसार नाम का संक्षेप मे वर्णन किया गया है।

पाँचों वायु के स्थान तथा कर्म का सूचक कोष्ठक—

| नाम वायु | स्थान | कर्म |
|---|---|---|
| १—प्राणवायु | शिर | बुद्धीन्द्रिय मनोधारण, |
| | मूर्द्धा ( मस्तिष्क ) | ( प्रश्वासोच्छ्वास ) |
| | उर ( फुफ्फुस, श्वास-नलिका, हृदय ) | श्वास, प्राणावलम्बन |
| | | देहधारण, हृदय धारण |
| | कर्ण— | बुद्धीन्द्रिय |
| | जिह्वा— | धारण, |
| | अक्षि— | क्षवथु |
| | नासिका— | ष्ठीवन |
| | वक्त्र ( मुख ) आस्य | आहारादिकर्म, अन्न प्रवेशन |
| | अन्न नलिका | उद्गार |
| | कण्ठ— | |
| | हृदय | |
| २—उदानवायु | १ कण्ठ (स्वरयन्त्र स्वर तन्त्र ) | वर्णोच्चारण, वाक् प्रवृत्ति, भाषण गीतादि। |
| | २ नासिका | स्वरतन्त्रियो तथा कठादि |
| | ३ उर | आठ स्थानो मे आभ्य- |
| | नाभि | न्तर तथा बाह्य प्रयत्नो |
| | ( ४ शिर, ५ जिह्वामूल, | त्पादन, बलप्रदान, ओजो- |
| | ६ दन्त, ७ ओष्ठ, | प्रदान, स्रोत. प्रीणन, धी- |
| | ८ तालु ) ( पाणिनि ) | धृति-स्मृति मनोबोधनादि |
| | वक्त्र | |

(III) 'व्यानो हृदयवस्थित कृत्स्नदेहचर शीघ्रतरगतिः गात्रप्रसारणाकुञ्चनोत्क्षेपावक्षेपनिमेषोन्मेषजृम्भणान्नस्वादनस्रोतोविशोधनस्वेदासृक्स्रावणादिक्रियो योनौ च शुक्रप्रतिपादनो विभज्य चान्नस्य किट्टात् सार तेन क्रमशो धातूः स्तर्पयति।' ( अ स सू अ २० )

| | | |
|---|---|---|
| ३-समानवायु | स्वेदवह स्रोत<br>दोषवह स्रोतें, मलवह-स्रोते<br>अम्बुवह स्रोतें<br>अन्तराग्नि का पार्श्वस्थ देश ( आमाशय, पच्यमाना-शय, पक्वाशय ) जठर, कोष्ठ, नाभि<br>शुक्रवह स्रोतो विचारी<br>आर्त्तववह स्रोतो विचारी | स्वेद धारण<br>दोष धारण<br>अम्बु धारण<br>अग्नि सन्धुक्षण, अग्नि-बल प्रदान, अन्न धारण, अन्न विपचन, अन्न-मल-विवेक, किट्टाधोनयन स्रोतोवलम्बन<br>शुक्रधारण<br>आर्त्तवधारण |
| ४-अपानवायु | वृषण, वस्ति, मेढ, योनि, वक्षण, ऊरू, श्रोणि, नाभि, पक्वाधान, गुद, अन्त्र | शुक्रोत्सर्ग, आर्त्तव-गर्भ-निष्क्रमणकर्म उत्सर्ग या मल-मूत्र समारण |
| ५-व्यानवायु | हृदय<br>सम्पूर्ण शरीरगत अवयव— | रस-रक्त सवहन, पञ्चधा-चेष्टा गति (१) प्रसारण, (२) आकुञ्चन, (३) उत्क्षेप, (४) अवक्षेप, (५) गमनादि। आदि शब्द से निमेष, उन्मेष, जृम्भण, अन्नास्वादन। |
| | रसरक्तवह स्रोतें—( कोष्ठगत ) | पक्वान्न-रस से किट्ट भाग का पृथकरण कर सार भाग को पोषणार्थं धातुओ तक पहुँचाना। |
| | स्वेदवह स्रोत— | स्वेद स्रावण। |
| | योनि ( गर्भाशय ) स्रोते— | शुक्र को योनि मे पहुँचाना स्रोतोविशोधन |

उपर्युक्त वर्णनो से आधुनिक शारीरक्रिया द्वारा वर्णित नाडीसस्थान या वातसस्थान ( Nervous system ) के सम्पूर्ण कर्मो ( व्यापारो ) का सामञ्जस्य हो जाता है। इस तथ्य को और भी स्पष्ट करने के लिये उपलब्ध आयुर्वेद संहिता ग्रन्थो मे वर्णित अखिल वात कर्मो की सूची नीचे दी जाती है :—

**अप्रकुपित वायु के कर्म—**

१ (i) मन का नियन्ता तथा (ii) प्रणेता (च सू अ १२)
२ हर्ष और उत्साह की योनि (उत्पादक) "
३ हृदयधारण, (अ स सू अ. २०)
४ मनोधारण, "
५ इन्द्रियधारण "
६ वुद्धिधारण "
७ धमनीधारण "
८ धृतिवोधन "
९ स्मृतिवोधन "
१० मनोवोधन "
११ धीवोधन "
१२ मेधा "

[ ये (१–१२) सम्पूर्ण मानमव्यापार हैं जो प्राणवायु द्वारा सम्पन्न होते हैं। इनका केन्द्र मस्तिष्क (Brain) में है। ]

१३ इन्द्रियोद्योजक (च सू अ १२)
१४ इन्द्रियार्थों का वाहक "
१५ शब्द तथा स्पर्श की योनि "
१६ विषयो की सम्प्राप्ति (सु. नि १
१७ विषयो का धारण (अ. सं सू २०)
१८ निमेषोन्मेषकरण "

[ ये (१३–१८) सब इन्द्रिय व्यापार हैं जो प्राण वायु द्वारा सम्पन्न होते हैं। सभी इन्द्रियो का केन्द्र शिर (मस्तिष्क) मे है। ]

१९ तन्त्र यन्त्र धर (च. सू अ १२)
२० आयु की स्थिति का साक्षी
(अनुवृत्ति प्रत्ययभूत) "
२१ उच्छ्वास-निःश्वास (च सू अ १८)
२२ निष्ठीवन (च चि अ २८)
२३ क्षवथु "
२४ उद्गार "
२५ आहार कर्म "
२६ पूरण (सु. सू अ. १५)

२७ अन्न को आमाशय मे प्रवेश कराना ( सु नि अ १ )
२८ वेग प्रवर्तन ( अ स सू २० )
२९ जृम्भा ,,
३० निगरण ,,
३१ रक्तानुधावन ,,

[ प्राणवायु के ये ( १९–३१ ) व्यापार हृदय तथा फुफ्फुस के हैं। ये उत्तरा तथा अधरा ग्रैवेय नाडी शृङ्खल द्वारा सम्पन्न होते हैं। ( Superior and inferior cervical ganglion ) ]

३२ वाक् प्रवर्तन ( च चि अ २८ )
३३ आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रयत्न ,,
३४ ऊर्जा ,,
३५ बल ,,
३६ वर्ण-कर्म ( अक्षरोत्पत्ति ) ,,
३७ भाषण ( सु नि अ. १ )
३८ गीत ,,
३९ स्रोत प्रीणन ( स्वरस्रोत ) ( अ सं सू अ २० )
४० धी, धृति, स्मृति-मनोबोधन ,,

[ ये ( ३२–४० ) उदान वायु के कर्म हैं। ये कार्य वक्ष तथा कण्ठ मे स्थित स्वर यन्त्रो तथा स्वर तन्त्रियो द्वारा सम्पन्न होते हैं।]

४१ अग्नि को बल देना ( च चि अ २८ )
४२ विवेक ( अन्नरस और मल का ) ( सु नि अ १ )
४३ अन्न पचन ,,
४४ अन्न धारण ( अ स सू २० )
४५ अग्निसधुक्षण ,,
४६ दोष-मल-शुक्रार्त्तव-धारण ,,
४७ किट्टाधोनयन ,,

[ ये ( ४१–४७ ) सब समान वायु के कर्म हैं। यह कार्य आन्त्रस्थ सूर्य-मण्डल तथा उत्तरान्त्रिक नाडीशृङ्खला द्वारा सम्पन्न होता है। (Solar plexus and sup. mesentric ganglion) ]

**वात-दोष—**

अब विकृतावस्था मे शरीर मे उनके जो गुणरूप लक्षण और कर्म देखने मे आते हैं, जिनको देख या जानकर, यह वातविकार है ऐसा निदान किया जाता

है उसका वर्णन करते हैं। वात अपनी विकृतावस्था में शरीर को दूषित करता है। अतः इसकी संज्ञा दोष है। शरीर को मलिन करने से यह मल भी कहलाता है।

चरक ने ८० प्रकार के वात के नानात्मज विकारों का उल्लेख करते हुए कहा है कि रौक्ष्य, लाघव, शैत्य, वैशद्य, गति, अमूर्तत्व और अनवस्थितत्व, ये वायु के आत्मरूप ( गुणरूप लक्षण ) हैं। वायु इन गुण-रूप वाला होने से शरीर के तत्तदवयवों में स्थित हो ये कर्म करता है जैसे—( १ ) स्रंस ( अपने स्थान से विक्षिप्त चलित होना ), ( २ ) भ्रंश ( दूर हट जाना ), ( ३ ) व्यास (विस्तार), ( ४ ) संग ( रुकावट ), ( ५ ) भेद, ( ६ ) अवसाद, ( ७ ) हर्ष ( रोमहर्ष ), ( ८ ) तृषा, ( ९ ) कम्प, ( १० ) वर्त ( वर्तुलीकरण ), ( ११ ) चाल ( चला देना ), ( १२ ) तोद ( सूचीवेधन वात् पीडा ), ( १३ ) खरत्व ( कठोरता ), ( १४ ) शुष्क (सूखना), ( १५ ) शूल, ( १६ ) स्वाप (सुन्नता), ( १७ ) संकोच, ( १८ ) स्तब्धता, ( १९ ) खञ्जता, ( २० ) अरुणवर्णता, ( २१ ) वैरस्य आदि उत्पन्न करना। जहाँ ये लक्षण देखने में आवें, वहाँ यह वातविकार है ऐसा निश्चय करना चाहिये।[1] अन्य तन्त्रों में वात के विकारों के ( नानात्मज ) और भी कुछ विशिष्ट नाम पाये जाते हैं। इसी प्रकार प्रकुपित वात के कर्मों में भी कुछ अधिक विकारों का उल्लेख मिलता है। इन्हें एकत्र कर सूची के रूप में आगे दिया जायगा।

इन उपर्युक्त तथा वर्तमान लक्षणों या विकृतियों पर विचार करने से ये सब पूर्वोक्त दशविध वाततन्त्रों ( Nervous system ) के विकार में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इनका दिग्दर्शन भी आगे के कोष्ठकों में किया जायगा।

४८ दोष शोषण ( च सू अ. १२ )
४९ मलों को बाहर फेंकना "
५० मलों को ( मलमूत्रादि को ) सम्यक् रूप में निकालना (च सू अ १२)

---

१ 'सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षण, यदुपलभ्य तदवयव वा विमुक्तसन्देहा वातविकारानेवाध्यवस्यन्ति कुशला, तद्यथा—रौक्ष्य शैत्य लाघव वैशद्य गतिरमूर्तत्वमनवस्थितत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च वायोः कर्मण. स्वलक्षणमिदमस्य भवति त त शरीरावयवमाविशत ; तद्यथा स्रसभ्रंसव्याससङ्गभेदसादहर्ष तर्ष-कम्प-वर्त-चाल-तोद-व्यथा-चेष्टादीनि, तथा खर-परुष विशद-सुषिरारुण-वर्ण-कषाय विरसमुखत्व-शोष शूल-सुप्ति संकोचन-स्तम्भन-खञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि, तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत्।
( च. सू. अ २० )

५१ मल-मूत्र शुक्र को वाहर निकालना ( च चि. अ॰ २२ )
५२ आर्त्तव तथा गर्भ को ” ”
५३ शुक्र-मूत्रादि का धारण ”

[ ये ( ४८–५३ ) सब अपान वायु के कर्म हैं। अधरान्त्रीय नाड़ी शृंखलाओ द्वारा ये कार्य सम्पन्न होते हैं। ( Inferior mesentric ganglion ) ]

५४ चेष्टाओं का प्रवर्तन ( च सू अ १२ )
५५ उत्साह ”
५६ सर्वचेष्टा ( च सू अ १७ )
५७ गति-प्रसारण-आक्षेप ( च चि अ. २८ )
निमेषादि का उत्पादक ”
५८ प्रस्पन्दन ( सु सू. अ १५ )
५९ पञ्चधा चेष्टा, मासपेशियों की गति ( सु नि अ. १ )
६० शीघ्रतर गति ( अ नि सू २० )
६१ जृम्भण ”
६२ अन्नस्वादन ”
६३ स्रोतो विशोधन ”
६४ स्वेद स्रावण ”
६५ असृक् स्रावण ”
६६ योनि मे शुक्र को पहुँचाना ( अ नि सू २० )
६७ प्रयत्न ”
६८ ऊर्जा ”
६९ रस-रक्त-सवहन ”
७० अन्नरस के सार भाग को धातुओ में पहुँचाना ( अ नि सू. २० )
७१ सर्वशरीर धातुव्यूहकर ( च सू अ. १२ )
७२ सन्धानकर ”
७३ गर्भाकृतिकर्ता ”
७४ तन्त्रयन्त्रधर ”
७५ आयु का अनुवृत्ति करने वाला ”

[ ये ( ५४–७५ ) सव व्यानवायु के कर्म हैं। ये कार्य संज्ञावह तथा चेष्टावह नाड़ियो द्वारा सम्पन्न होते हैं। ( Sensory & Motor nerves ) (1) Vaso-motor function (2) Sensory function (3) Function of locomotive. ]

सामान्य रूप से वायु के अधोलिखित स्थान (शरीर मे) शास्त्रो मे कहे गये हैं :—

**सामान्य स्थान**—(१) वस्ति, (२) पुरीषाधान (पक्काशय), (३) कटि, (४) सक्थि, (५) पाद, (६) अस्थि, (७) श्रोत्र, (८) त्वक्, (९) श्रोणि (१०) गुदा, (११) अधोनाभि, (१२) मज्जा, विशिष्ट स्थान पक्काशय।

### वात के नानात्मज विकार

| | | |
|---|---|---|
| १ नखभेद (च सू २०) | २८ पार्श्वविमर्द (च सू २०) | ५५ वर्त्मसंकोच (च सू २०) |
| २ विपादिका ,, | २९ उदरावेष्ट ,, | ५६ तिमिर ,, |
| ३ पादशूल ,, | ३० हृन्मोह ,, | ५७ अक्षिशूल ,, |
| ४ पादभ्रंश ,, | ३१ हृद्द्रव ,, | ५८ अक्षिव्युदास ,, |
| ५ पादसुप्तता ,, | ३२ वक्षोद्धर्ष , | ५९ भ्रुव्युदास ,, |
| ६ वात खुड्डता ,, | ३३ वक्षोपरोध ,, | ६० शंखभेद ,, |
| ७ गुल्फग्रह , | ३४ वक्षतोद ,, | ६१ ललाटभेद ,, |
| ८ पिण्डिकोद्वेष्टन ,, | ३५ वाहुशोष ,, | ६२ शिरोरुक् ,, |
| ९ गृध्रसी ,, | ३६ ग्रीवास्तम्भ ,, | ६३ केशभूमि स्फुटन ,, |
| १० जानुभेद ,, | ३७ मन्यास्तम्भ ,, | ६४ अर्दित ,, |
| ११ जानु विश्लेष ,, | ३८ कण्ठोध्वंस ,, | ६५ एकाङ्गवात ,, |
| १२ ऊरुस्तम्भ ,, | ३९ हनुभेद ,, | ६६ सर्वाङ्गवात ,, |
| १३ ऊरुसाद ,, | ४० ओष्ठभेद ,, | ६७ पक्षवध ,, |
| १४ पांगुल्य ,, | ४१ अक्षिभेद ,, | ६८ आक्षेप ,, |
| १५ गुदभ्रंश ,, | ४२ दन्तभेद ,, | ६९ दण्डक ,, |
| १६ गुदार्ति ,, | ४३ दन्तशैथिल्य ,, | ७० श्रम ,, |
| १७ वृषणाक्षेप , | ४४ मूकता ,, | ७१ भ्रम ,, |
| १८ शेफस्तम्भ ,, | ४५ वाक्सङ्ग ,, | ७२ वेपथु ,, |
| १९ वंक्षणानाह ,, | ४६ कषायास्यता ,, | ७३ जृम्भा ,, |
| २० श्रोणिभेद ,, | ४७ मुखशोष ,, | ७४ हिक्का ,, |
| २१ विड्भेद , | ४८ अरसज्ञता ,, | ७५ विषाद ,, |
| २२ उदावर्त ,, | ४९ घ्राणनाश ,, | ७६ अतिप्रलाप ,, |
| २३ खञ्जता ,, | ५० कर्णशूल ,, | ७७ रौक्ष्य ,, |
| २४ कुब्जता ,, | ५१ अशब्द श्रवण ,, | ७८ पारुष्य ,, |
| २५ वामनत्व ,, | ५२ उच्चश्रुति ,, | ७९ श्यावारुणावभासता ,, |
| २६ पृष्ठग्रह ,, | ५३ बाधिर्य ,, | |
| २७ त्रिकग्रह ,, | ५४ वर्त्मस्तम्भ ,, | ८० अनिद्रा ,, |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| ८१ अनवस्थित-चित्तत्व | (च सू २०) | १०४ जिह्वास्तम्भ | (शा) | १२८ अन्त्रकूजन | (शा.) |
| ८२ वातगुल्फ | (का) | १०५ क्रोष्टुशीर्ष | ,, | १२९ वातप्रवृत्ति | ,, |
| ८३ विड्भेद | ,, | १०६ कलायखञ्ज | ,, | १३० सिरास्फुरण | ,, |
| ८४ कटिग्रह | (शा) | १०७ तूनी | ,, | १३१ सिरापूरण | ,, |
| ८५ पार्श्वशूल | ,, | १०८ प्रतितूनी | ,, | १३२ कार्श्य | ,, |
| ८६ हनुस्तम्भ | (अ स) | १०९ पादहर्ष | ,, | १३३ क्षिप्रमूत्रता | ,, |
| ८७ तालुभेद | ,, | ११० विश्वाची | ,, | १३४ स्वेदनाश | ,, |
| ८८ गद्गदत्व | (यो) | १११ अपबाहुक | ,, | १३५ दौर्बल्य | ,, |
| ८९ वाग्ग्रह | (का) | ११२ अपतानक | | १३६ बलक्षय | ,, |
| ९० अस्थिशूल | ,, | ११३ व्रणायाम | ,, | १३७ शुक्रातिप्रवृत्ति | ,, |
| ९१ दण्डापतानक | (शा) | ११४ अपतन्त्रक | ,, | १३८ शुक्रकार्श्य | ,, |
| ९२ ग्लानि | (यो) | ११५ अङ्गभेद | ,, | १३९ शुक्रनाश | ,, |
| ९३ अनिलग्रह | (का) | ११६ अङ्गशोष | ,, | १४० काठिन्य | ,, |
| ९४ वातकण्टक | ,, | ११७ मिन्मिनत्व | ,, | १४१ मुखवैरस्य | ,, |
| ९५ विड्ग्रह | ,, | ११८ अष्ठीला | , | १४२ आध्मान | ,, |
| ९६ हनुग्रह | ,, | ११९ प्रत्यष्ठीला | ,, | १४३ प्रत्याध्मान | ,, |
| ९७ श्वास | ,, | १२० अङ्गपीडा | ,, | १४४ शीतता | ,, |
| ९८ वन्ध्यात्व | ,, | १२१ अङ्गशूल | ,, | १४५ रोमहर्ष | ,, |
| ९९ बाह्याम | ,, | १२२ अङ्गसकोच | ,, | १४६ भीरुत्व | ,, |
| १०० शिरोग्रह | (शा) | १२३ अङ्गस्तम्भ | ,, | १४७ तोद | ,, |
| १०१ बाह्यायाम | ,, | १२४ अङ्गग्रह | ,, | १४८ कण्डु | ,, |
| १०२ अन्तरायाम | ,, | १२५ अङ्गविभ्रंश | ,, | १४९ प्रसुप्ति | ,, |
| १०३ खल्ली | ,, | १२६ बद्धविट्कता | ,, | १५० हक्क्षय | ,, |
| | | १२७ अत्युद्गार | ,, | | |

## प्रकुपित वात के कर्म

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १ स्रंश | (च सू अ २०) | ९ कम्प | (च सू अ २०) | १७ विशदता | (च सू अ. २० |
| २ भ्रंश | ,, | १० अवमर्द | ,, | १८ शुषिरता | ,, |
| ३ व्यास | ,, | ११ चाल | ,, | १९ अरुणवर्णता | ,, |
| ४ सङ्ग | ,, | १२ तोद | ,, | २० कषायमुखता | ,, |
| ५ भेद | ,, | १३ व्यथा | ,, | २१ विरसमुखता | ,, |
| ६ साद | ,, | १४ चेष्टा (विकृत) | ,, | २२ शूल | ,, |
| ७ हर्ष | ,, | १५ खरता | ,, | २३ सुप्ति या स्वाप | ,, |
| ८ तर्ष | ,, | १६ परुषता | ,, | २४ शोष | ,, |

२५ संकोच (च सू अ २०)
२६ स्तम्भ ,,
२७ खञ्जता ,,
२८ कार्श्य (का)
२९ वर्त ,,
३० उद्वेष्टन ,,
३१ दशन ,,
३२ भङ्ग ,,
३३ आध्मान ,,
३४ रौक्ष्य ,,
३५ स्फुटन ,,
३६ विमथन ,,
३७ क्षोभ ,,
३८ कण्ठध्वंस ,,
३९ भ्रमक ,,
४० विलपन ,,
४१ कर्णनाद (मधु)
४२ विषम परिणति ,,
४३ दृष्टिमोह ,,
४४ विष्यन्दन ,,
५४ उद्घटन ,,
४६ स्वप्न ,,
४७ निद्रानाश ,,
४८ ताडन ,,
४९ पीडन ,,
५० नमन (मधु)
५१ उन्नमन ,,
५२ विषाद ,,
५३ भ्रम ,,
५४ परिपतन ,,
५५ जृम्भण ,,
५६ रोमहर्ष ,,
५७ विक्षेप ,,
५८ आक्षेप ,,
५९ ग्रहण ,,
६० छेदन ,,
६१ वेष्टन ,,
६२ श्याववर्ण ,,
६३ विश्लेष ,,
६४ व्याध (अ हृ)
६५ पर्व संकोच (अ चि २८)
६६ पर्वस्तम्भ ,,
६७ अस्थिभेद ,,
६८ पर्वभेद ,,
६९ प्रलाप ,,
७० पाणिग्रह ,,
७१ पृष्ठग्रह ,,
७२ शिरोग्रह ,,
७३ पाङ्गुल्य ,,
७४ कुब्जत्व (अ चि २८)
७५ अङ्गशोष ,,
७६ गर्भनाश ,,
७७ शुक्रनाश ,,
७८ रजोनाश ,,
७९ शिरोहुण्डन ,,
८० नासाहुण्डन ,,
८१ अक्षिहुण्डन ,,
८२ जत्रुहुण्डन (च)
८३ ग्रीवाहुण्डन ,,
८४ मोह ,,
८५ बलोपघात (च सू १२)
८६ वर्णोपघात ,,
८७ सुखोपघात ,,
८८ आयुरुपघात ,,
८९ मनोव्याहर्ष ,,
९० सर्वेन्द्रियोपघात ,,
९१ गर्भ का अतिकाल-धारण ,,
९२ गर्भविकार ,,
९३ भय ,,
९४ शोक ,,
९५ दैन्य ,,
९६ प्राणोपरोध ,,

रसादि धातुओ, अवयवो तथा इन्द्रियो मे प्रकुपित वात के सस्तृत होने से उत्पन्न होने वाले विकारो की सूची —

### त्वगाश्रित प्रकुपित वात के विकार

१ त्वग्रूक्षता (च चि.२८)
२ त्वक्स्फोटन ,,
३ त्वक्सुप्तता ,,
४ त्वक्कृशता ,,
५ त्वक्कृष्णवर्णता ,,
६ त्वचस्तोद (च चि २८)
७ त्वग्विस्तार ,,
८ त्वक्सरागता ,,
९ पर्वरुजा ,,
१० त्वग्वैवर्ण्य (सु नि १)
११ त्वक्स्फुरण ,,
१२ त्वक्चुमचुमायन ,,
१३ त्वक्परिपोटन ,,

## मांसगत प्रकुपित वात विकार

१ अङ्ग गौरव (च चि अ २८)
२ अङ्गो मे अधिक तोद ”
३ दण्ड, मुष्टि से आहत के समान पीडा ”
४ अङ्गरुजा ”
५ अङ्गो की थकावट ”
६ सशूल ग्रथियां (सु नि. १)
७ सतोद ग्रथियां (अ. सं. नि १५)
८ भ्रम ”

## मज्जागत प्रकुपित वात विकार

अस्थिगत सभी विकार तथा —
१ अस्थिसौषिर्य (अ स नि १५)
२ स्तम्भता ”

## शुक्रगत प्रकुपित वात विकार

१ शुक्र का शीघ्र मोक्ष (च चि २८)
२ गर्भ ” ”
३ शुक्र का शीघ्र वन्ध ”
४ गर्भ ” ”
५ शुक्र तथा गर्भ विकार ”
६ शुक्र की अप्रवृत्ति (सु नि १)
७ शुक्र की विकृत प्रवृत्ति

## रक्ताश्रित प्रकुपित वात विकार

१ समंताप तीव्ररुक् (च चि २८)
२ वैवर्ण्य ”
३ कृशता ”
४ अरुचि ”
५ गात्र मे अरुसि ”
६ भुक्तान्नस्तम्भ ”
७ व्रण (सु नि १)
८ स्वाप (अ सं नि १५)
९ राग (अ स नि १५)
१० भ्रम ”

## मेद संस्तृत प्रकुपित वात विकार

१ अङ्गगौरव (च चि अ २८)
२ अङ्गो मे अधिक तोद ”
३ दण्ड तथा मुष्टि से आहत की भाँति पीडा ”
४ थकावट ”
५ मन्दरुक् व्रण या ग्रन्थियां (सु नि १)
६ सतोद ग्रन्थियां (अ स नि १५)
७ कर्कश ” ”
८ भ्रम ”

## अस्थिगत प्रकुपित वात विकार

१ अस्थिपर्वभेद (च चि २८)
२ सन्धिशूल ”
३ मासक्षय ”
४ बलक्षय ”
५ अनिद्रा ”
६ सतत रुक् ”
७ अस्थिशोष (सु नि १)
८ अस्थिभेद ”
९ अस्थिशूल ”
१० सक्थिशूल (अ स नि १५)

## स्नायुगत प्रकुपित वात विकार

१ वाह्यायाम (अ चि २८)
२ अन्तरायाम ”
३ खल्ली ”
४ कुब्जता ”
५ सर्वाङ्गरोग ”

६ एकाङ्गरोग ( अ चि २८ )
७ स्तम्भ ( सु नि १ )
८ कम्प ”
९ शूल ”
१० आक्षेप ”
११ गृध्रसी ( अ स नि १५ )

**सन्धिगत प्रकुपित वात विकार**

१ वातपूर्णदृतिस्पर्श शोथ ( च चि अ २८ )
२ सन्धियों के प्रसारण–कुञ्चन मे पीडा ”
३ तथा असामर्थ्य ( सु नि १ )

**आमाशयगत प्रकुपित वात विकार**

१ छर्दि ( सु नि. १ )
२ मोह ”
३ मूर्च्छा ”
४ पिपासा ”
५ हृद्ग्रह ”
६ पार्श्व-वेदना ”
७ हृदयरुजा ( च चि अ. २८ )
८ नाभिरुजा ”
९ उदर रुजा ”
१० उद्गार ”
११ विसूचिका ”
१२ कास ”
१३ कण्ठ-शोष ”
१४ अस्थिशोष ”
१५ श्वास ”
१६ कण्ठोपरोध ( अ स नि. १५ )

**सिरागत प्रकुपित वात विकार**

१ शरीर मे मन्द रुक् शोथ ( च चि . २८ )
२ शरीरशोष ( च चि २८ )
३ शरीरस्पन्दन ”
४ सिरासुप्ति ”
५ सिरातनुत्व ”
६ सिरा महत्व ”
७ सिराशूल ( सु नि. १ )
८ सिराओं का आकुञ्चन ”
९ सिरापूरण ”
१० सिराध्मान ( अ स नि. १५ )
११ सिरारिक्तता ”

**इन्द्रियगत प्रकुपित वात विकार**

१ इन्द्रिय वध ( अ. चि अ. २८ )

**पक्वाशयगत प्रकुपित वात विकार**

१ अन्त्रकूजन ( सु नि १ )
२ नाभिशूल ”
३ कृच्छ्रमूत्रता ”
४ कृच्छ्रपुरीषता ”
५ आनाह ”
६ त्रिक् वेदना ”
७ शूल ( च. चि अ २८ )
८ आटोप ”
९ मलरोध ( अ स नि. १५ )
१० अश्मरी ”
११ वर्ध्म ”
१२ अर्श ”
१३ पृष्ठग्रह ”
१४ कटीग्रह ”
१५ अवर काय मे कृच्छ्रोपद्रव ”

**कोष्ठगत प्रकुपित वात विकार**

१ मूत्रनिग्रह ( च चि. अ. २८ )

२ वर्चोनिग्रह (च. चि अ. २८)
३ भ्रम ,,
४ हृद्रोग ,,
५ गुल्म ,,
६ अर्श ,,
७ पार्श्वशूल ,,

### गुदाश्रित प्रकुपित वात विकार

१ विड्ग्रह (च. चि अ)
२ मूत्रग्रह ,,
३ वातग्रह ,,
४ शूल ,,
५ आध्मान ,,
६ अश्मरी ,,
७ शर्करा ,,
८ जङ्घारुक् ,,
९ ऊरुरुक् ,,
१० त्रिकरुक् ,,
११ पादरुक् ,,
१२ पृष्ठरुक् ,,

१३ जङ्घाशोथ (च चि अ)
१४ ऊरुशोथ ,,
१५ पादशोथ ,,
१६ पृष्ठशोथ ,,

### सर्वाङ्ग में प्रकुपित वात विकार

१ गात्रस्फुरण (च चि २८)
२ गात्रभञ्जन ,,
३ सन्धिवेदना ,,
४ सन्धिस्फुरण ,,
५ स्तम्भन (सु नि १)
६ आक्षेपण ,,
७ स्वाप ,,
८ शोफ ,,
९ शूल ,,
१० तोद (अ. स नि १५)
११ भेद ,,
१२ स्फुरण ,,
१३ भञ्जन ,,
१४ सन्ध्याकुञ्चन ,,
१५ कम्पन ,,

इन उपर्युक्त सभी वातविकारो का सम्बन्ध पूर्वोक्त दशविध नाडीसस्थान (Nervous systems) के विकृत व्यापारो से पूर्ण रूपेण स्थापित हो जाता है। अत आयुर्वेद वाड्मय मे वर्णित वातविकार आधुनिक विज्ञानसम्मत नाडीसस्थान के विकार प्रतीत होते हैं।

## पित्त-धातु तथा पित्त दोष

प्रकृत अवस्था मे शरीर को धारण करने के कारण पित्त भी धातु कहलाता है। शरीर के सम्पूर्ण रासायनिक कार्य या परिवर्तन (Biochemical activities and changes) अर्थात् पाक, परिणमन तथा परावृत्ति एव शरीर की प्रकृत ऊष्मा, यह सब पित्त धातु द्वारा सम्पन्न होता है। दर्शन, पक्ति (आहार द्रव्य का पाक तथा अन्नरस का धात्वग्नियो द्वारा पाक) पाचन, शरीर का स्वाभाविक ताप–ऊष्मा को बनाये रखना, भूख और खाने मे रुचि, तृषा, शरीर

की मृदुता, प्रभा शरीर का वर्ण और कान्ति, मेधा, रस का रञ्जन ( रक्त मे परिवर्तन ), शौर्य, हर्ष, मन की प्रसन्नता ये नव अविकृत पित्त के स्वाभाविक कर्म हैं।[1]

यह पित्त अपने (१) पाचक, (२) रञ्जक, (३) साधक, (४) आलोचक और (५) भ्राजक इन पाँच प्रकारो द्वारा शरीर के विविध स्थानो मे स्थित हो उपर्युक्त कर्मों का सम्पादन करता है।

( १ ) **पाचक पित्त**—आहारपाचक-पित्त का प्रधान स्थान आमाशय तथा पच्यमानाशय–( मुद्रिका द्वार से प्रारम्भ कर उण्डुक पर्यन्त, क्षुद्रान्त्र ) ग्रहणी हैं। इस स्थान मे रहकर वह ( पित्त ) अदृष्ट हेतुक-विशेषो से चतुर्विध ( अशित, पीत, लीढ और खादित ) अन्नपान को पकाता है, दोष, रस, मूत्र, तथा पुरीष को पृथक्करण ( योग्य ) करता है और अपने स्थान मे स्थित होकर शेष पित्त स्थानो का अग्नि कर्म से अनुग्रह ( बल प्रदान ) करता है। इस पित्त को पाचकाग्नि, जाठराग्नि या कायाग्नि भी कहते हैं।[2]

पाचक रसो का मुख्य स्थान क्षुद्रान्त्र है। इसको पच्यमानाशय तथा ग्रहणी भी कहते हैं। इसी स्थान मे षष्ठी पित्तधरा कला होती है यह स्थान आमाशय ( Stomach ) और पक्वाशय ( Large intestine या colon ) के मध्य मे स्थित है।

इस पाचकाग्नि के अतिरिक्त १२ अन्य अग्नियो का भी आयुर्वेद वाङ्मय मे वर्णन उपलब्ध होता है। ये पांच भूताग्नियाँ तथा सात धात्वग्नियाँ हैं। ये १२ अग्नियाँ भी पाचक पित्त के ही आवान्तर रूप हैं। पाँच भूताग्नियाँ आहार द्रव्य मे रहती हैं जो जाठराग्नि से सधुक्षित-बल हो अपना कार्य करती हैं। शेष सात धात्वग्नियाँ धातुओ मे स्थित हो अपना कार्य करती हैं। ये पाचकाग्नि के ही अश हैं जिनका सकेत 'कायचिकित्सा का क्षेत्र' नामक प्रकरण मे किया जा चुका है।

( २ ) **रञ्जक पित्त**—यकृत्, प्लीहा तथा आमाशय मे जो पित्त रहता है उसको रञ्जक पित्त कहा गया है। रञ्जक पित्त रस का रञ्जन कर रक्त मे परिणत करता है। सुश्रुत ने इसे रञ्जकाग्नि भी कहा है।[3]

( ३ ) **साधक पित्त**—साधक पित्त का स्थान हृदय है। यह बुद्धि ( निश्चयात्मक ज्ञान ) मेधा ( धारण-शक्ति ) अभिमान, आदि द्वारा जीवात्मा के अभिप्रेत मानसिक विषयो का साधन करनेवाला है। इसलिये इसको साधकाग्नि या साधक पित्त कहा गया है। आयुर्वेद वाङ्मय में हृदय को चेतना या

१ च सू अ १८, सु सू अ १५, अ स सू अ १९।
२ सु सू अ २१, वा सू अ १२, ने शा अ ४, अ स सू १९।
३ सु सू अ २१, वा सू अ १२, अ स सू २०।

जीवात्मा का स्थान माना गया है। और साधक पित्त का स्थान भी हृदय है। जीवात्मा की स्थिति का ज्ञान हृदय की गति से होता है। अतः जीवात्मा का अभिप्रेत हृदय की गति को अक्षुण्ण रखना है। यह कार्य इस साधक पित्त द्वारा सम्पन्न होता है। बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि मानस व्यापार भी स्वस्थ जीवात्मा के परिचायक हैं। ये व्यापार मस्तिष्क द्वारा सम्पन्न होते हैं। हृदय का व्यापार अक्षुण्ण रहने पर ये भी स्वस्थ रूप मे या प्रकृत रूप मे चलते रहते हैं। हृदय से मस्तिष्क के व्यापारो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। चरक सू अ ३० मे इसी अभिप्राय से हृदय को सभी मानस व्यापारो का प्रतिष्ठान बतलाया गया है।[1]

(४) **आलोचक पित्त**—आलोचक पित्त का स्थान नेत्र है। इसका कार्य रूप का ग्रहण करना है। नेत्रगोलक के आभ्यन्तरीय पटल ( दृष्टि पटल—Retina ) मे रूप ग्रहण का कार्य सम्पन्न होता है। रूप का आलोचन करने के कारण इसको 'आलोचकाग्नि' भी कहते हैं।[2]

(५) **भ्राजक पित्त**—भ्राजक पित्त का स्थान त्वचा है। यह त्वचा मे रह कर अभ्यङ्ग, अवगाह, लेप आदि क्रियाओ मे प्रयुक्त द्रव्यो का पाचन करता है तथा त्वचा को दीप्त तथा प्रभायुक्त बनाये रखता है। इसको भ्राजकाग्नि भी कहते हैं।[3]

सामान्य रूप से पित्त के निम्नलिखित स्थानो तथा कर्मों का उल्लेख प्राप्त होता है—

| स्थान— | | कर्म— |
|---|---|---|
| १ स्वेद | ( च सू २० ) | |
| २ रस | ,, | ऊष्मा (मात्रा तथा अमात्रा मे) (सु ) ओज, |
| ३ लसीका | ,, | |
| ४ रक्त | ,, | ऊष्मा (च ), |
| ५ आमाशय | ,, | क्षुधा (च ), तृषा (च ), रुचि, |
| ६ यकृत् | ( सु सू २१ ) | रञ्जन (सु ) (रसरञ्जन) |
| ७ प्लीहा | ,, | ,, |
| ८ हृदय | ,, | प्रसाद, (च ) मेधा (च ) शौर्य (सु ) हर्ष, |
| ९ दृष्टि | ,, | दर्शन, (च ) |
| १० त्वक् | ,, | देहमार्दव, प्रभा, (च ) प्राकृतवर्ण (सु ) |
| ११ पक्वामाशयमध्य | ,, | पक्ति (च ) |

१, २, ३. सु. सू. अ २१, वा. सू. अ. १२; अ. स. सू अ. २०।

## पित्त के स्थान कर्म निर्देशक कोष्ठक

| नाम पित्त | स्थान | कर्म |
|---|---|---|
| (१) पाचक पित्त | पक्वामाशय मध्य नाभिस्तनान्तर देश, जठर, ग्रहणी, रस रक्तादि धातुएँ | अन्न पान-पाचन, दोष-रस-मूत्र-पुरीष विवेक, शेषपित्त स्थानो को अग्नि कर्म से अनुगृहीत करना, भूताग्नियो को सवुक्षित करना, अन्नरस गत धातू-पादानो का पाक और प्रसाद तथा किट्ट भाग का पृथक् करना। |
| (२) रञ्जक पित्त | आमाशय, यकृत्, प्लीहा | रस-रञ्जन, राग (रस को रक्त मे परिणत करना) ओज। |
| (३) साधक पित्त | हृदय | अभिप्रार्थित मनोरथ-साधन, बुद्धि-मेधा-अभि-मान-उत्साह आदि अभि-प्रेतो का साधन |
| (४) आलोचक पित्त | दृष्टि | रूपग्रहण या रूपा-लोचन, दर्शन |
| (५) भ्राजक पित्त | त्वचा | अभ्यङ्ग, परिषेक-अवगाह-आलेपन आदि क्रियाओ का पाचन, प्रभा, वर्ण का प्रकाशन। |

### पित्त और अग्नि

आयुर्वेद वाङ्मय मे पित्त और अग्नि को अभेद माना गया है। उपलब्ध आर्ष ग्रन्थो मे जहाँ भी शरीर या देहाग्नियो का वर्णन है वे सब पित्त के ही अवान्तर रूप हैं। सुश्रुत ने इस प्रश्न को उपस्थित कर स्पष्ट रूप से यह निर्णय कर दिया है कि पित्त के अतिरिक्त शरीर मे कोई अन्य अग्नि नही है। पित्त के

आग्नेय होने तथा अग्नि के समान दहन, पचन आदि कर्मों के करने से यत्र तत्र आयुर्वेद वाङ्मय मे पित्त को ही 'अनल' या 'अग्नि' शब्द से सम्बोधित किया गया है।[1] चरक ने भी स्पष्ट किया है कि शरीर पित्त के अन्तर्गत हो अग्नि अपनी प्रकृत अवस्था मे शुभ तथा अप्रकृत ( विकृत ) अवस्था मे अशुभ कर्मों को करती है।[2] पित्त शब्द को निरुक्ति भी इसी तथ्य का समर्थक है।

## विविध प्रकार की अग्नियाँ

यह निर्णय हो जाने पर कि पित्त का ही अवान्तर रूप अग्नियाँ हैं, अग्नि के कार्यों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक विज्ञान ( शारीर क्रिया विज्ञान ) द्वारा वर्णित शरीर के एन्जाइम्स और हौर्मोन्स पित्त के ही प्रतिनिधि हैं। शरीर के प्रत्येक कायाणु ( Cell ) मे जो सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है, 'एन्जाइम' होता है। यदि इन एन्जाइमो के कर्मों तथा स्वरूपो को हम एक समुदाय के रूप मे ग्रहण करें तो प्रतीत होगा कि ये सामान्य पित्त तथा सामान्य अग्नि—विशेष रूपेण पाचक पित्त या पाचकाग्नि के ही स्वरूप या कर्म हैं।

आयुर्वेद वाङ्मय मे १३ अग्नियो का वर्णन उपलब्ध होता है जिनका सकेत कायाग्नि के वर्णन मे तथा 'कायचिकित्सा का क्षेत्र' इन प्रकरणो मे किया जा चुका है।

इन सम्पूर्ण अग्नियो को दो विभागो मे विभक्त कर सकते हैं जैसे—

( १ ) वे अग्नियाँ जो सम्पूर्ण शरीर मे पाक या परिवर्तन का कार्य करती हैं, यथा—(i) पाचकाग्नि, (ii) भूताग्नि, (iii) देहाग्नि, (iv) कायाग्नि, (v) धात्वग्नि और दोषाग्नि एव (vi) मलाग्नि।

( २ ) वे अग्नियाँ जो शरीर के किसी विशिष्ट अवयव मे स्थित हो पाक या परिवर्तन का कार्य सम्पन्न करती हैं। जैसे—(i) जाठराग्नि जठर या आँतो मे (ii) रञ्जकाग्नि-आमाशय, यकृत तथा प्लीहा मे, (iii) साधकाग्नि हृदय मे, (iv) आलोचकाग्नि-नेत्र मे तथा (v) भ्राजकाग्नि-त्वचा मे स्थित हो अपना कार्य सम्पन्न करती हैं।

आधुनिक शारीर क्रिया-विज्ञान ( Physiology ) अधोनिर्दिष्ट पाचक स्रावो को अन्न के विभिन्न घटको पर पाककर्म करने के लिये उत्तरदायी मानता है—

---

१ सु सू २१-९.
२ च. सू १२-११.

| पाचकस्राव | स्थान | एनजाइम | अन्नघटक | पाचन का अंश | परिणाम |
|---|---|---|---|---|---|
| लालास्राव (Saliva) | मुख (Mouth) | टायलीन | स्टार्च | किञ्चित् | डेक्स्ट्रीन |
| | | माल्टेज (?) | माल्टोज | आर्त ,, | माल्टोज |
| | | | | | ग्लुकोज |
| आमाशयिक रस (Gastric juice) | आमाशय (Sto mach) | पेप्सीन | प्रोटीन | अपूर्ण | प्रोटीओसेज |
| | | लायपेज | एमल्सीफायड वसा | अत्यल्प | पेप्टोन |
| | | | | | वसाम्ल |
| | | | | | ग्लायसरोल |
| अग्नि रस (Pancreatic juice) | अग्न्याशय (Pencrea) | ट्रीप्सीन | प्रोटीन | लगभग पूर्ण | पेप्टाइड्स |
| | | स्टीयेप्सीन | प्रोटीओसेज | | एमायनोएसिड |
| | | | पोलीपेप्टाइड्स | | वसाम्ल |
| | | एमालोप्सीन | वसा fats | (Nearly | ग्लायसरोल |
| | | माल्टेज | स्टार्च | complete) | डेक्स्ट्रीन |
| | | लायक्टेज | माल्टोज | ,, | माल्टोज- |
| | | इनवर्टेज(?) | लायक्टोज | ,, | ग्लुकोज |
| | | रेनीन | सक्रोज | पूर्ण | ग्लुकोज |
| | | एरेप्सीन | केसीन | ,, | ग्लाक्टोज |
| | | | सामान्य | ,, | ग्लुकोज |
| | | | पेप्टाइड्स | ,, | फ्रक्टोज |
| | | | | | पाराकेसीन |
| | | | | लगभग पूर्ण | एमायनोएसिड |
| आन्त्ररस (Intestinal juice) | आन्त्र (Intestine and Intestinal mucosa) अग्निधारा कला | एरेप्सीन | सामान्यपेप्टाइड्स | लगभग पूर्ण | एमायनोएसिड |
| | | एमायलेज | स्टार्च | ,, | डेक्स्ट्रीन |
| | | रेनीन | केसीन | पूर्ण | माल्टोज |
| | | | ट्रीप्सीन को | — | पाराकेसीन |
| | | एन्टेरोकीनोज | सक्रिय बनाता है | | — |
| | | लायपेज | वसा fats | लगभग पूर्ण | वसाम्ल |
| | | माल्टेज | माल्टोज | पूर्ण | ग्लायसरोल |
| | | लायक्टेज | लायक्टोज | ,, | ग्लुकोज |
| | | इनवर्टेज | सक्रोज | ,, | ,, |
| | | न्यूक्लिनेसेज | न्यूक्लिकएसिड | ,, | न्युक्लियोसाइड |

ये उपर्युक्त पाचक स्राव तथा तद्गत एन्जाइम्स पाचक पित्त के ही अवान्तर रूप हैं।

इनके अतिरिक्त देहाणुओ मे स्थित एन्जाइम्स ( Inter Cellular Enzymes ) भी पाचक पित्त के ही अंश हैं जिन्हे धात्वग्नि कहा गया है।

इसी प्रकार रञ्जक पित्त आधुनिक शारीरक्रियाविदो द्वारा वर्णित रक्तनिर्मापक तत्त्व ( Hemopoitic Principles ) हैं।

साधक पित्त पाकप्रक्रिया मे सहायक रक्त मे स्रवित होनेवाले हौर्मोन्स हैं तथा आलोचक पित्त दृष्टि मे ( Retine ) स्थित रोडोप्सीन और वीजुयल पर्पुल है।

भ्राजक पित्त त्वचा मे स्थित मेलेनिन आदि हैं।

**पित्तदोष**—जब ये पित्त प्रकुपित हो शरीर को दूषित तथा मलिन करते हैं तब दोष और मल कहलाते हैं। चरक ने पित्त के ४० नानात्मज विकारो का वर्णन करते हुए कहा है कि औष्ण्य, तैक्ष्ण्य, द्रवत्व, अनतिस्नेह, शुक्लारुणवर्जित अन्य वर्ण, विस्रगन्ध तथा कटु अम्ल रस और सरत्व, ये पित्त के आत्मरूप ( गुणरूप लक्षण ) हैं। पित्त इन गुणरूपो वाला होने से शरीर के तत्तदवयवो मे स्थित हो ये कर्म करता है जैसे—

( १ ) दाह ( शरीर मे जलन ), ( २ ) औष्ण्य ( शरीर मे सताप ), ( ३ ) पाक, ( ४ ) स्वेद, ( ५ ) क्लेद, ( ६ ) कोथ, ( ७ ) कण्डू, ( ८ ) स्राव, ( ९ ) राग, ( १० ) विस्रगन्ध, ( ११ ) शुक्ल तथा अरुण को छोड कर अन्य वर्ण, आदि।

जहाँ ये लक्षण देखने मे आवें वहाँ यह पित्तविकार है ऐसा निश्चय करना चाहिये।[1] अन्य तन्त्रो मे पित्त के नानात्मज विकारो का भी वर्णन इसी प्रकार प्रकुपित पित्त के वर्णन भी शास्त्रो मे उपलब्ध होते हैं। इन्हे एकत्र कर सूची के रूप मे आगे दिया जायगा।

---

१ 'सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षण, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहा पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशला, तद्यथा—औष्ण्य तैक्ष्ण्य द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ, सरत्व च पित्तस्यात्मरूपाणि, एवविधत्वाच्च पित्तस्य कर्मण स्वलक्षणमिदमस्य भवति त त शरीरावयवमाविशत, तद्यथा—दाहौष्ण्यराग-स्वेद-क्लेद-कोथ-कण्डु-स्राव-रागा यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्त्तन पित्तस्य कर्माणि; तैरन्वित पित्तविकारमेवाध्यवस्येत्।' ( च. सू. अ. २०।१७ १८ )

## पित्त के नानात्मज विकार

१ ओष (च सू २०)
२ प्लोष ,,
३ दाह ,,
४ दवथु ,,
५ धूमक ,,
६ अम्लक ,,
७ विदाह ,,
८ अन्तर्दाह ,,
९ अंशदाह ,,
१० उष्माधिक्य ,,
११ अतिस्वेद ,,
१२ अङ्गगन्ध ,,
१३ अङ्गावदरण ,,
१४ शोणितक्लेद ,,
१५ मांसक्लेद ,,
१६ त्वग्दाह ,,
१७ त्वगावदरण ,,
१८ चर्मदलन ,,
१९ रक्तकोठ ,,
२० रक्तविस्फोट ,,
२१ रक्तमण्डल ,,
२२ रक्तपित्त ,,
२३ हारितत्व ,,
२४ हरिद्रत्व ,,
२५ नीलिका ,,
२६ कक्षा (च सू २०)
२७ कामला ,,
२८ तिक्तास्यता ,,
२९ लोहितगतग-न्धास्यता ,,
३० पूतिमुखता ,,
३१ तृष्णाधिक्य ,,
३२ अतृप्ति ,,
३३ आस्यपाक ,,
३४ गलपाक ,,
३५ अक्षिपाक ,,
३६ गुदपाक ,,
३७ मेढ्रपाक ,,
३८ जीवादान ,,
३९ तम प्रवेश ,,
४० हरितनेत्रत्व ,,
४१ हारिद्रनेत्रत्व ,,
४२ हरितमूत्रत्व ,,
४३ हारिद्रमूत्रत्व ,,
४४ हरितवर्चस्व ,,
४५ हारिद्रवर्चस्व ,,
४६ अवयवसदन (अ सं सू २०)
४७ मांसावदरण ,,
४८ भ्रम (का सं)
४९ ज्वर ,,
५० अङ्गदाह ,,
५१ अङ्गशीरण ,,
५२ मांसपाक ,,
५३ मतिभ्रम (शा. प्र. ७)
५४ कान्तिहानि ,,
५५ कण्ठशोष ,,
५६ मुखशोष ,,
५७ अल्पशुक्रता ,,
५८ अङ्गपाक ,,
५९ क्लम ,,
६० अरति ,,
६१ पीतावलोकन ,,
६२ पीतदन्तता ,,
६३ शीतेच्छा ,,
६४ तेजोद्वेष ,,
६५ अल्पनिद्रता ,,
६६ कोथ ,,
६७ भिन्नविट्कता ,,
६८ अन्धता ,,
६९ उष्ण-उच्छ्वास ,,
,, मूल ,,
,, मूत्र ,,
७० पित्तनिःसरण ,,

## प्रकुपित पित्त के कर्म

१ दाह (च सू २०)
२ औष्ण्य ,,
३ पाक ,,
४ स्वेद ,,
५ क्लेद ,,
६ कोथ ,,
७ कण्डू (च. सू. २०)
८ स्राव ,,
९ राग ,,
१० पूतिगन्ध ,,
११ शुक्लारुणवर्णपत्र्म ,,
१२ अम्लरस ,,
१३ कटुरस (च सू २०)
१४ विस्फोट ,, (सुदान्तसेन मधुकोष)
१५ अम्लक (अम्लोद्गार) ,,
१६ धूमक (धूमोद्गार) ,,

| | | |
|---|---|---|
| १७ प्रलाप (च. सू. २०) | २३ विसरण (मधुकोष) | २९ कटुरसता (मधुकोष) |
| १८ स्वेदस्रुति (मधुकोष) | २४ अरति " | ३० अम्लरसता " |
| १९ मूर्च्छा " | २५ तृषा " | ३१ तिक्तरसता " |
| २० दौर्गन्ध्य " | २६ भ्रम " | ३२ पाण्डुरहिता-न्यवर्णता " |
| २१ दरण " | २७ अतृप्ति " | ३३ क्वथितत्व " |
| २२ मद " | २८ तम प्रवेश " | |

**रसादि धातुओं तथा अवयवों में संश्रित प्रकुपित पित्त के विकार (अ. सं. सू. १९)—**

त्वगाश्रित प्रकुपित पित्त के विकार—
१ विस्फोटक
२ मसूरिका

रक्ताश्रित प्रकुपित पित्त के विकार—
१ विसर्प
२ दाह

मांसगत पित्त के विकार—
१ मासपाक
२ मासप्रकोप

मेदस्थित पित्त के विकार—
१ सदाह ग्रन्थियाँ
२ स्वेदातिप्रवृत्ति
३ तृषा

स्नायुगत पित्त के विकार—
१ तृषा

अस्थिगत पित्त के विकार—
१ अत्यधिकदाह

मज्जगत पित्त के विकार—
१—हारिद्रनखता
२—हारिद्रनेत्रता

शुक्रगत पित्त के विकार—
१—पूतिशुक्रता
२—पीतावभास शुक्रता

सिरागत पित्त के विकार—
१—क्रोध
२—प्रलाप

कोष्ठगत पित्त के विकार—
१—मद
२—तृषा
३—दाह
४—सर्वदेहव्यापी पित्तरोग

**कफ धातु तथा दोष**—जिस प्रकार वात और पित्त अपनी प्रकृत अवस्था मे देह धारण करने मे धातु कहलाते हैं, कफ भी उसी प्रकार देह धारण करनेसे धातु कहलाता है। इस प्रकृत कफ को तो 'वल' और 'ओज' भी कहा गया है।[1] कफ शारीर अवयवो का सश्लेषण कर तथा उन्हें उदक कर्म से अनुगृहीत कर देह का धारण करता है। यह शरीर के अवयवो की अनेक विघ्न-बाधाओ से भी रक्षा करता है। इसीलिये इसको 'वल' तथा 'ओज' कहा गया है।

शरीर मे स्निग्धता, वन्धन ( अस्थि, सिरा, स्नायु आदि को बाँधे रखना ), स्थिरत्व ( शरीर को शिथिल न होने देना ), गौरव ( शरीर का स्वाभाविक गुरुत्व वनाए रखना ), वृषता ( स्त्रीगमन सामर्थ्य ), वल ( कार्यक्षमता तथा रोग-प्रतिरोधक और निवारण शक्ति ), क्षमा (सहिष्णुता), धैर्य (मन की अचञ्चलता),

[1] च सू. अ. १७।

अलोभ, शरीर की दृढता, उपचय ( शरीर की वृद्धि ), उत्साह, ज्ञान और बुद्धि ( निश्चयात्मक ज्ञान ), ये सब अविकृत कफ ( प्रकृत कफ ) के कार्य हैं।[1]

वात तथा पित्त के समान स्थान-कर्म के भेदसे कफ के भी पाँच प्रकारों का वर्णन शास्त्रों मे उपलब्ध होता है। जैसे—( १ ) क्लेदक, ( २ ) अवलम्बक, ( ३ ) बोधक, ( ४ ) तर्पक और ( ५ ) श्लेषक।[2]

१ क्लेदक कफ के स्थान तथा प्रकृत कर्म—क्लेदक कफ का प्रधान स्थान आमाशय ( का ऊर्ध्वभाग ) है। आमाशय चतुर्विध ( अशित, लीढ, पीत, खादित ) आहार का आधार है। आमाशय के क्लेदक श्लेष्म के जलीय गुणो ( स्निग्धता, द्रवता आदि ) के कारण आहार प्रक्लिन्न ( पतला ), भिन्नसंघात ( जिसकी कठोरता नष्ट हो गई है ऐसा ) और सरलता पूर्वक पचने योग्य हो जाता है। आमाशय में आहार की तथा आहार मे मिले हुए बोधक और क्लेदक कफ की मधुरता, पिच्छिलता, और प्रक्लेदिता से मधुर और शीतल कफ उत्पन्न होता है। वह आमाशयस्थित कफ अपने प्रभाव से शरीर के अन्य श्लेष्मस्थानों को ( शरीर मे स्थित अन्य श्लेष्माओ को ) उदककर्मणा अनुगृहीत करता है।

यहाँ आमाशय से मुख से प्रारम्भ कर आमाशय ( Stomach ) के ऊर्ध्व भाग तक का सब स्थान ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि मुख से ही चर्वित अन्न मे माधुर्य और प्रक्लेदित्व की उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है।[3]

२ अवलम्बक कफ का स्थान और प्रकृत कर्म—इसका स्थान वक्षःस्थल है। वक्षःस्थलनिवासी अवलम्बक कफ अपने स्नेहत्व-द्रवत्व-पैच्छिल्य आदि प्राकृत गुणो से त्रिकस्थान ( त्रिकस्थानोपलक्षित फुफ्फुस ) का तथा अन्नरस के साथ मिलकर हृदय का अवलम्बन करता है अर्थात् उसको अपने कार्य मे सक्षम बनाता है।[4] वाग्भट ने अवलम्बक कफ को अन्य कफो का अवलम्बन करने वाला कहा है।[5]

---

१ च सू अ १८। २ सु सू. अ १५।

३. 'तत्र आमाशय. पित्ताशयोपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात्तेजसश्चन्द्र इव आदित्यस्य, स चतुर्विधस्याहारस्याधार·। स च तत्रोदकैर्गुणैराहार· प्रक्लिन्नो भिन्नसंघात· सुखजरश्च भवति।

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतल.॥'

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणा श्लेष्मस्थानाना शरीरस्य चोदककर्मणानुग्रह करोति।' ( सु सू अ २१ )

४ 'उरःस्थस्त्रिकसंधारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बन करोति।' ( सु सू अ २१ )

५ 'कफधाम्नाञ्च शेषाणा यत् करोत्यवलम्बनम्। अतोऽवलम्बक श्लेष्मा।' ( वा. सू. अ. १२ )

३ बोधक कफ का स्थान तथा प्रकृत कर्म—बोधक कफ का स्थान जिह्वामूल और कण्ठ है। यहाँ रहकर यह अपने सौम्य गुणो से जिह्वा ( रसना ) को रसज्ञान कराने में सहायक होता है। यह कफ रसनेन्द्रिय को रसो का बोध कराता है इसलिये इसका नाम 'बोधक कफ' हुआ है।[1]

४. तर्पक कफ का स्थान और प्रकृत कर्म—तर्पक कफ का स्थान शिर कहा गया है। यह इस स्थान पर रह कर अपने स्नेहन तथा सन्तर्पण गुण से शिरस्थित समस्त इन्द्रियो ( के केन्द्रो ) का तर्पण करता है। यह मस्तिष्क, सुषुम्ना, तथा उनसे निकले हुए ज्ञानतन्तुओ ( Nerves ) का तर्पण करने के कारण 'तर्पक' कहलाता है।[2] यद्यपि मस्तिष्कगत नाडियाँ वातसस्थान या तन्त्र के अन्तर्गत हैं तथापि इनको अपने कार्य सम्पन्न करने के लिये साधक पित्त द्वारा ऊष्मा की तथा तर्पक कफ द्वारा स्नेहन और तर्पण की अपेक्षा रहती है।

५ श्लेषक कफ का स्थान तथा प्रकृत कर्म—श्लेषक कफ शरीर की सर्वसन्धियो में रहता है। यह वहाँ रहकर सधियो का सश्लेषण करता है तथा अपने स्नेहन गुण से उन्हे कार्यक्षम बनाता है।[3]

**उपर्युक्त कफ के स्थान तथा प्रकृत कर्मदर्शक कोष्ठक**

| नाम कफ | स्थान | प्रकृत कर्म |
|---|---|---|
| क्लेदक कफ | आमाशय का ऊर्ध्व भाग | ( i ) अन्नसघात क्लेदन<br>( ii ) शेष श्लेष्मस्थानो का उदक कर्म से अनुग्रह करना।<br>(iii) स्नेहन, क्लेदन, पैच्छिल्य ( अन्न को स्निग्ध, क्लिन्न तथा पिच्छिल बनाना ) |
| अवलम्बक ,, | उर.प्रदेश | ( i ) त्रिकावलम्बन<br>( ii ) हृदयावलम्बन<br>(iii) शेष कफस्थानो का अवलम्बन |
| बोधक ,, | जिह्वामूल (रसना) कण्ठ | रसबोधन |
| तर्पक ,, | शिर | इन्द्रियतर्पण |
| श्लेषक ,, | सर्वसन्धियाँ | ( i ) अस्थिसंधि सश्लेषण<br>( ii ) ,, स्नेहन |

१ 'जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग् रसज्ञाने वर्तते।(सु सू अ. २१)
२. 'शिर.स्थः स्नेहसन्तर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रह करोति॥'(सु सू अ २१)
३. 'सन्धिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति।' (सु. सू. अ. २१)

**कफदोष**—चरक ने कफ की नानात्मज व्याधियो का उल्लेख करते हुए कहा है कि स्नेह, शैत्य, शौक्ल्य, गौरव, माधुर्य, स्थैर्य, पैच्छिल्य, और मात्स्न्यं ये कफ के आत्मरूप ( गुणरूप लक्षण ) हैं। श्लेष्म अपने इन गुणरूप लक्षणो के कारण शरीरावयवो मे श्वैत्य, शैत्य, कण्डू, स्थैर्य, गौरव, स्नेह, सुप्ति, क्लेद, उपदेह, बन्ध, माधुर्य तथा चिरकारित्व उत्पन्न करता है। चिकित्सक इन विकारो को देख कर यह निश्चय करे कि यह रोगी श्लेष्म विकार से पीडित है।[1]

## कफ के नानात्मज विकार

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. तृप्ति | ( च सू अ २० ) | १८. उदर्द | ( च सू. अ. २० ) |
| २. तन्द्रा | " | १९ श्वेतावभासता | " |
| ३. निद्राधिक्य | " | २०. नेत्र मूत्र तथा वर्च (मल) का श्वेत होना | " |
| ४. गुरुगात्रता | " | २१. हृल्लास | ( का स ) |
| ५. स्तैमित्य | " | २२. मलाधिक्य | " |
| ६ आलस्य | " | २३ आमोत्पत्ति | " |
| ७. मुखस्राव ( प्रसेक ) | " | २४. मुखलेप | ( शा. प्र ७ ) |
| ८. मुखमाधुर्य | " | २५ श्वेतावलोकन | " |
| ९ श्लेष्मोद्गिरण | " | २६ शैत्य | " |
| १०. बलासक | " | २७ उष्णेच्छा | " |
| ११. अपक्ति | " | २८. तिक्तकामिता | " |
| १२. हृदयोपलेप | | २९ शुक्रबाहुल्य | " |
| १३ कण्ठोपलेप | " | ३०. बहुमूत्रता | " |
| १४ धमनी प्रतिचय | " | ३१ मन्दबुद्धित्व | " |
| १५ गलगण्ड | " | ३२ घर्घरवाक्यत्व | " |
| १६ अतिस्थौल्य | " | ३३. अचैतन्य | " |
| १७. शीताग्निता | " | | |

इन उपर्युक्त विकारो को देखकर चिकित्सक को निश्चय कर लेना चाहिये कि शरीर मे कफ का प्रकोप हुआ है।

## प्रकुपित कफ के कर्म

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. श्वैत्य | ( च सू अ २० ) | ४ स्थैर्य | ( च. सू. अ २० ) |
| २ शैत्य | " | ५. उत्सेध | " |
| ३ कण्डू | " | ६. गौरव | " |

१. च. सू. अ. २०-१८।

| | | | |
|---|---|---|---|
| ७ स्नेह | (च सू अ २०) | १७ काठिन्य | (सुदान्तसेन–मधुकोष) |
| ८ सुप्ति | ” | १८ मलाधिक्य | ” |
| ९ क्लेद | ” | १९ अपक्ति | ” |
| १० उपदेह ( उपलेप ) | ” | २० प्रसेक | ” |
| ११ बन्ध | ” | २१. शोथ | ” |
| १२ माधुर्य | ” | २२ निद्राधिक्य | ” |
| १३. चिरकारित्व | ” | २३ लवणरसत्व | ” |
| १४ तृप्ति | ( मुदान्तसेन–मधुकोप ) | २४ मधुररसत्व | ” |
| १५ तन्द्रा | ” | २५ आलस्य | ” |
| १६ स्तैमित्य | ” | | |

**रसादि धातुओं तथा अवयवों मे संश्रित प्रकुपित कफ के विकार—**

त्वग्गत कफ के विकार—

१. स्तम्भ ( त्वचा का )

२ श्वेताङ्गता

रक्तगत कफ के विकार—

१ पाण्डुरोग

मांसगत कफ के विकार—

१. अर्बुद

२. अपची

३ आर्द्रचर्म से अवनद्ध गात्र की प्रतीति

४. अतिगौरव

मेदोगत कफ के विकार—

१. स्थूलता

२ प्रमेह

अस्थिगत कफ के विकार—

१. अस्थिस्तब्धता

मज्जागत कफ के विकार—

१ शुक्लनेत्रता

शुक्रगत कफ के विकार—

१ शुक्रसचय

सिरागत कफ के विकार—

१. विबन्ध

२ अतिगौरव

३ स्तब्धगात्रता

स्नायुगत कफ के विकार—

१. सन्धिशूल

कोष्ठगत कफ के विकार—

१ जठरोन्नति

२ अरोचक

३. अविपाक

४ अन्य कफ के विकार

कफ शब्द का, निरुक्ति के अनुसार अर्थ है जल से निष्पन्न होने वाला पदार्थ।[1] आयुर्वेद वाङ्मय मे कहा है कि कफ शरीर का अपने उदककर्म से अनुगृहीत करता है। चूँकि यह अपने सश्लेषण गुण से देहाणुओं को परस्पर

---

१. 'केन जलेन फलति इति कफ.' ( शब्दस्तोममहानिधि )

संश्लिष्ट ( मिलाकर या संयोग करा कर ) शरीर के नानाविध अवयवो के निर्माण मे सहायक होता है अत इसको श्लेष्मा भी कहते है।

आधुनिक शारीर क्रिया के अनुसार प्राणि शरीर अनेक अवयवो तथा धातुओ से सघटित होता है और ये अवयव तथा धातु अनेक देहाणुओ ( Cells ) से सगठित होते हैं। देहाणुओ के स्वरूप और प्रकार के अनुसार अवयव तथा धातुएँ परस्पर भिन्न रूपवाले तथा भिन्न कार्य करनेवाले होते हैं। उदाहरण-स्वरूप यकृद् वृक्क का कार्य नही कर सकता, न वृक्क ही यकृत् का कार्य करने मे समर्थ हैं। इनके स्वरूप भी भिन्न होते हैं। परन्तु यकृत् तथा वृक्क के प्रत्येक देहाणु मे वे ही कार्य सम्पन्न होते है जो सामूहिक रूप मे यकृत् तथा वृक्क मे होते है। इन विविध अवयवो के देहाणुओ को संश्लिष्ट करना ( एकसाथ मिलाना ) श्लेष्मा का ही कार्य है। इसी प्रकार प्रत्येक देहाणु ( Cell ) को अवलम्ब प्रदान करना भी कफ का ही कार्य है। मानवशरीर मे या प्राणि शरीर मे सभी अवयवो का पोषण रक्त ( रस-रक्त ) द्वारा ही होता है।[1] तात्पर्य यह कि रक्त ( रस-रक्त ) मे ही सभी धातुओ के उपादान रहते हैं। रक्त इन उपादानो को शरीर के विभिन्न धातुओ तक तभी पहुँचाने मे समर्थ हो सकता है जब इनकी तरलता बनी रहे। इस तरल साम्य को बनाये रखना कफ का ही कार्य है। आयुर्वेद वाङ्मय मे इसी को 'उदककर्मणा अनुग्रह करना' कहा गया है। अर्थात् कफ शरीर के तरलसाम्य ( Liquid balance or Water balance ) को अक्षुण्ण रखता है। इसी से इसका नाम अवलम्बक है।

त्रिदोष पञ्चमहाभूत परिषद् मे त्रिदोष के सम्बन्ध मे हुए निर्णय निम्नलिखित प्रकार हैं —

( १ ) सर्वायुर्वेदकार्यमूलभूतत्वात् त्रिदोषज्ञान सप्रयोजनम्।

( २ ) वातादीना धातुत्वं दोषत्व मलत्व च अवस्थाविशेषेणाभिव्यज्यते। तच्च परस्पराविरुद्धम्।

( ३–४ ) सर्वप्राकृतकर्मसु सकर्तृत्वनियामकत्वे सति स्वातन्त्र्येण दूषण-शीलत्वम्। तच्च वातादिषु त्रिष्वेव नान्यत्र। तस्मात् त्रय एव दोषा.।

( ५ ) शक्तेर्द्रव्याधिष्ठितत्वेन स्वतन्त्रावस्थित्यभावात् वातादीना न शक्तित्व किन्तु द्रव्यत्वमेव।

( ६ ) पित्तकफयोरवस्थाभेदेन स्थूलत्व ( चक्षुरिन्द्रियग्राह्यत्वम् ) वायोस्तु पित्तकफापेक्षया सूक्ष्मत्व ( चक्षुरिन्द्रियाग्राह्यत्वम् ) अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च इत्य-भिधानात्। उपाधिनिष्ठस्य,तु वायोर्बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वमपि नील नभ इतिवत्।

---

१. 'धातूना क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते' ( सुश्रुत, सू० अ० १४ )

( ७ ) अदृष्टोपगृहीतानि पञ्चमहाभूतान्येव वातादीनामुपादानानि । तदुत्पत्तिक्रमस्तु चरके शारीरस्थाने चतुर्थाध्याये निर्दिष्टः । यथा—'तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते । स गुणोपादानकाले आन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते प्रलयात्यये सिसृक्षुः भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण अव्यक्तान् धातून् वाय्वादिकाश्चतुरः, तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकाश्चतुरः, सर्वमपि तु खल्वेतद् गुणोपादानमणुना कालेन भवति ।

( ८ ) वातादीनां स्वरूपं ( तन्मात्रविषयकधीविषयः ) चरकोक्तं वायोः 'रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिः अमूर्तत्वं' चेति वायोरात्मरूपाणि । पित्तस्य 'औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवम् अनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ पित्तस्यात्मरूपाणि' । श्लेष्मणस्तु—'स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यमार्त्स्न्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि' भवन्ति । गुणाः कर्माणि च ग्रन्थोक्तान्येव ।

( ९ ) वातादीनां प्रत्येकं पञ्चविधत्वं वास्तविकम् । तच्च स्थानकार्यभेदोत्पन्नः; कार्यस्वरूपभेदस्तु तन्निबन्धन एव ।

( १० ) रोगान् प्रति सदूष्याणां वातादीनां समवायिकारणत्वम् । सूक्ष्मरूपाणां तु निमित्तकारणत्वम् । रोगविशेषान् पूतिकीटादीनान्तु निमित्तकारणत्वम् । दोषदूष्यसम्मूर्च्छनायाश्च असमवायिकारणत्वम् । इति ।



# रोगी तथा रोग परीक्षा

मूल ग्रन्थ मे यत्र-तत्र आयुर्वेद की विशेषता दर्शाते हुए रोगी तथा रोग परीक्षा का सकेत किया गया है। अत. इस परिशिष्ट मे इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। आयुर्वेद शास्त्र का मूल उद्देश्य या कार्य चिकित्सा है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये रोगी तथा रोग की परीक्षा परमावश्यक है।

रोगी तथा रोग के सम्बन्ध मे अविकल ज्ञान के लिये आचार्यों ने साधनो के प्रसङ्ग मे अधोलिखित पाँच साधनो का निर्देश किया है। इन साधनो की अपर सज्ञा प्रमाण भी है—( १ ) प्रत्यक्ष, ( २ ) अनुमान, ( ३ ) आप्तोपदेश, ( ४ ) युक्ति और ( ५ ) उपमान।[1] युक्ति तथा उपमान का क्रमश. अनुमान तथा प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव कर शेष तीन प्रकार की परीक्षाओ पर ही अधिक बल दिया है।[2] रोगी परीक्षा मे पञ्चेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तथा प्रश्न का साक्षात् महत्त्व होने से इन्ही प्रमाणो को दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीन प्रकारो मे विभक्त कर दिया है।[3] अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण इनमे ही अन्तर्भूत हो जाता है।

आयुर्वेद वाङ्मय मे प्रतिपादित रोगो के सम्बन्ध मे विविध ज्ञातव्य भाव इन उपर्युक्त तीन—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा ही प्राप्त हो जाते हैं।

**रोगी तथा रोग परीक्षण में आप्तोपदेश का महत्त्व**—आप्त पुरुषो के वचन को आप्तोपदेश कहते हैं। इसकी दूसरी संज्ञा 'आगम' तथा 'ऐतिह्य' भी है। जिन पुरुषो का ज्ञान तथा वचन राग-द्वेष एवं उनके कारणभूत रजस् तथा तमस् से शून्य हो, अथवा जिनका ज्ञान नि संशय, शुद्ध, त्रिकालसिद्ध, तथा वस्तु के सम्पूर्ण विभागो से सम्बन्ध रखनेवाला हो तथा जिनका उपदेश चिकित्सक को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान कराने मे एव उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति मे

---

१. च त्रि अ ४। ३-१७, च त्रि अ ८। ३३, ३९-४२, ८३, च सू १२। ७, ८, च वि अ. ७। ३-८; सु सू. अ १-१६; सु सू अ. १०। ४, ५; अ. स सू २७, २३,

२ च वि अ ४। ३(१), ३. च चि अ. २५। २२,

सहायक हो अर्थात् शुभ एवं सुखद परिणाम का हेतु हो ऐसे पुरुषो के वचन या उपदेश को 'आप्तोपदेश' कहते हैं।[1]

आयुर्वेद का मूल वेद है अत प्रथम आप्तोपदेश वेद के वचन है। इनके अतिरिक्त अन्य वेदानुकूल शास्त्र यथा आयुर्वेद की आर्ष संहिताएँ, और सदसद्विवेकशील पुरुषो द्वारा निर्मित तथा शिष्टो द्वारा अनुमत एवं लोककल्याण कामना से प्रवृत्त शास्त्र भी आप्तोपदेश हैं।[2] रोगी की परीक्षा के समय आचार्य आदि से प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त रोगी का वृत्तान्त भी रोग-विनिश्चय मे सहायक होता है। अत इस आतुर तथा उसके अभिभावक के वचन को भी आप्त कह सकते हैं।[3]

चक्रपाणिदत्त ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि रोगपरीक्षा के समय प्रसिद्ध आप्तोपदेश का तो उपयोग होता ही है, साथ ही ग्रहणी की मृदुता, स्वप्नदर्शन प्रभृति के ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष से दुर्बोध रोग के सश्रय के स्थानादि के ज्ञानार्थ एव कोष्ठ की मृदुता-क्रूरता आदि के ज्ञान के लिये आतुर वचन तथा उसके अभिभावक के वचन रूप आप्तोपदेश का भी उपयोग होता है।[4]

आप्तोपदेश से निर्मल एव विचक्षण वुद्धि वाले महानुभावो के लिखित ग्रन्थ, लेख आदि का भी ग्रहण होता है। आप्तोपदेश द्वारा हमे यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक रोग का प्रकोपक कारण कौन हैं, उसका उत्पादक मूल दोष कौन है, उसकी विशिष्टता क्या है, अर्थात् रोगो के स्वरूप, सम्प्राप्ति आदि का ज्ञान आप्तोपदेश से होता है।

आप्तोपदेश के सम्वन्ध मे न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य का स्मरण इस स्थल पर आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होने वहुत ही व्यवहारोपयुक्त तथा आयुर्वेदोपजीवियो के लिये व्यवह्रियमाण तत्य का निरूपण किया है। आप्त का लक्षण देकर भाष्यकार कहते हैं— ऋष्यार्यम्लेच्छाना समान लक्षणम्, तथा च व्यवहारा प्रवर्तन्ते'—अर्थात् आप्त का जो लक्षण दिया गया है वह ऋषियो, आर्यों तथा म्लेच्छो सब पर समान रूप मे घटित होता है। लोक-व्यवहार मे

---

१. 'तत्राप्तोपदेशो नामाप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेव गुणयोगाद्यद्वचन तत् प्रमाणम्।' (च वि अ ८-४)

२ 'तत्राप्तागमस्तावद्वेद, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीत परीक्षकै प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्त शास्त्रवाद, स चाप्तागम, आप्तागमादुपलभ्यते दानतपोयज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्यभ्युदयनि श्रेयसकराणाति।' (च सू अ ११-२७)

३ 'व्याधिपरीक्षासमये ह्याप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते ग्रहणीमार्दवस्वप्नदर्शनादिप्रतिपत्तौ, तथा दुरधिगमस्थानसश्रयादिप्रतिपत्तौ, तथा कोष्ठमृदुदारुणत्वादिपरीक्षाया चातुरवचनरूपाप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियत इति दर्शयति।' (चक्र –च वि ४, ५)

४ च वि. अ. ४ ५ पर चक्र।

भी इन सभी को आप्त मानकर कार्य किया जाता है। आयुर्वेद के आचार्यों ने भी इस पथ का अनुसरण किया है। वे कहते हैं कि 'आयुर्वेद का पार सुतर (सरलता से तरा जा सके ऐसा) नही है। अत आयुर्वेद-जिज्ञासुओ को सावधान हो इसकी उपलब्धि के लिये अविरत उद्योग करना चाहिये। साथ ही इसका अनुष्ठान (व्यवहार मे उपयोग) भी करना चाहिये। पर अर्थात् दूसरे शास्त्र किंवा शत्रु भी यदि कोई सद्वृत्त की वात कहे तो उसे भी आप्त मानकर ग्रहण करना चाहिये। कारण, बुद्धिमान् पुरुषो के लिये समग्र विश्व ही गुरु (आचार्य) है।[1] ऐसे अनेक उद्धरण भारतीय साहित्य मे प्राप्त होते है जैसे पशु-पक्षियो को गुरु वनाकर दत्तात्रेय भगवान् ने अनेक ज्ञान प्राप्त किए।

आप्तोपदेश से प्राप्त होनेवाले रोगी तथा रोग सम्वन्धी ज्ञान—प्रत्येक रोग के प्रकोपण, योनि, समुत्थान, स्वरूप, अधिष्ठान, वेदना, सस्थान, तथा उसमे उत्पन्न होनेवाले शब्दसम्वन्धी, स्पर्शसम्वन्धी, रूपसम्वन्धी, रससम्वन्धी, गन्धसम्वन्धी उपद्रव तथा पचेन्द्रियो एवं प्रश्न द्वारा प्राप्य लक्षणादिको का ज्ञान उपदेश या आगम से होता है। इनके अतिरिक्त उस रोगविशेष का प्रतिकार—क्रियाक्रम तथा उपयोगी औषधो एव पथ्य-व्यवस्था का ज्ञान भी आप्तोपदेश से ही होता है।[2]

**प्रत्यक्ष**—आत्मा, मन, इन्द्रिय और उसके अर्थ (विषय) का साक्षात् सम्वन्ध होने पर तत्काल जो व्यक्त (सशयरहित और निश्चित) ज्ञान होता है उसे एव मन का अपने विषयो से सम्वन्ध होने पर स्वय मन को जो तत्काल ज्ञान होता है उमे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का अन्य वस्तु के ज्ञान मे प्रयोग होता है तो इसे प्रत्यक्ष परीक्षा या प्रमाण कहा जाता है। ज्ञान का साधन केवल मन है या मन सहित इन्द्रियाँ इस वात के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का हो जाता है। वाह्य प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष।

इस परीक्षा के अन्तर्गत प्रश्न तथा पञ्च इन्द्रियो द्वारा परीक्षण का ग्रहण होता है।

**प्रश्न द्वारा विज्ञेय भाव**—(१) देश, (२) काल, (३) जाति, (४) सात्म्य, (५) आतक समुत्पत्ति, (६) वेदना समुच्छ्राय, (७) वल,

---

१ च वि अ ८।४७

२ 'अत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्त —रोगमेकैकमेवप्रकोपणमेवंयोनिमेवमुत्थानमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेववेदनमेवमस्थानमेवशब्द स्पर्श रूप-रस-गन्धमेवमुपद्रवमेववृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवयोग विद्यात्, तस्मिन्निय प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते ॥' (च वि अ. ४-६)

( ८ ) अन्तरग्नि, ( ९ ) वात ( अधोवात ) की प्रवृत्ति अर्थात् अप्रवृत्ति, ( १० ) मूत्र की प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति, ( ११ ) पुरीष की प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति, ( १२ ) काल प्रकर्ष प्रभृति ।[1]

१. **श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य भाव**—आन्त्रकूजन, अगुली के पवा तथा अन्य सन्धियो मे स्फुटन ( चेष्टाकाल मे शब्द ), रोगी के विभिन्न प्रकार के स्वर, काल, हिक्का, श्वास आदि मे उत्पन्न शब्दो की परीक्षा श्रवणेन्द्रिय का विषय है। आधुनिक विज्ञान द्वारा आविष्कृत स्टेथिस्कोप ( Stethiscope ) का व्यवहार श्रवणेन्द्रिय की सहायता के लिये प्राणवह स्रोतो और उनके मूल अर्थात् हृदय तथा फुफ्फुस् मे उत्पन्न होनेवाले प्रकृत तथा विकृत शब्दो की परीक्षा मे किया जाता है।

इसी प्रकार धमनी ( रक्तवाहिनी ) मे यदि शल्य प्रविष्ट हो गया हो तो कुपित वायु शब्दसहित फेनयुक्त रक्त को प्रवृत्त करती हुई स्वय बाहर निकलती है। श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य इस शब्द के श्रवण से धमनीगत शल्य का अनुमान होता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी शरीर के विविध अङ्गो मे उत्पन्न होनेवाले प्रकृत तथा विकृत शब्दो की परीक्षा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होती है।[2]

२. **चक्षुरिन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य भाव**—रोगी के वय, प्राकृत वैकृत वर्ण, इन्द्रियो के अधिष्ठान, आकृति, शरीर तथा विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गो के प्रमाण, प्रभा, छाया, शरीर तथा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का उपचय-अपचय, बल ( उत्साह तथा व्यायाम शक्ति ), रोग के दृश्यमान लक्षण, आयु के लक्षण, शरीर के प्राकृत स्वरूप मे उत्पन्न परिवर्तन ( विकार ), पुरीष, मूत्र, वान्त द्रव्य एव रोगी के शरीर मे स्थित किंवा अन्यत्र स्थित रोगविषयक अन्य कोई चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ज्ञातव्य विषय—सबका चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है।[3]

चक्षुरिन्द्रिय के सहायतार्थ आधुनिक विज्ञान द्वारा अनेक यन्त्रो का आविष्कार हुआ है जैसे—अणुवीक्षण यन्त्र, रञ्जन किरण तथा नासावीक्षण, कर्णवीक्षण यन्त्र प्रभृति। इन सबका ग्रहण करना चाहिये। फुफ्फुस, हृदय, महास्रोत के विविध अवयव, यकृत्, प्लीहा, तथा अन्य शरीरस्थ अवयवो की परीक्षा रञ्जन क्रिया से सम्प्रति सुविदित है। अस्थिभाग तथा विविध अवयवो मे स्थित शल्यो की भी परीक्षा इससे सुलभ होती है।

३. **घ्राणेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य भाव**—रोगी के सर्वांग मे प्राप्त होनेवाला प्राकृत तथा वैकृत गन्ध एव मल ( पुरीष ), मूत्र, स्वेद, व्रणस्राव आदि के गन्ध, अरिष्ट लक्षणोक्त गन्ध, ये सब घ्राणेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य भाव हैं।[4]

---

१ सु सू अ १०, ( च वि. अ ४-७ )।

२. च. वि अ ४, सु सू अ १०। ३ च वि अ ४, सु सू अ १०।

४. सु. सू अ १०, अ, स सू २२, च चि अ ४, च चि अ २५।

४. स्पर्श द्वारा परीक्ष्य भाव—ज्वर, शोथ आदि रोगो मे शीत-उष्ण, श्लक्ष्ण-खर, मृदु-कठिन, स्तम्भ, स्पन्दन, प्रभृति प्रकृत तथा विकृत भाव स्पर्शेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य हैं। नाडी परीक्षा भी इसी के अन्तर्गत आती है।[1] इस परीक्षा की सहायता के लिये आधुनिक विज्ञान द्वारा आविष्कृत यन्त्र यथा तापमापक कांचशलाका ( Thermameter ) और व्यानमापक ( Sphigmomenometer ) आदि का भी उपयोग करना चाहिये।

५. रसनेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य भाव—रसनेन्द्रिय द्वारा शरीर के विविध निष्क्यूत तथा मूत्रादि के रसो की परीक्षा विहित होने पर भी इसका साक्षात् प्रयोग नही होता। प्रश्न तथा अनुमान द्वारा ही इसका ज्ञान होता है, जैसे—रोगी के मुख का स्वाद प्रभृति प्रश्न से तथा मूत्र मे पिपीलिका-परिसर्पण से शर्करा का आगमन, शरीर पर मक्षिकाओं के अधिक बैठने से शरीर के माधुर्याधिक्य का अनुमान होता है। आधुनिक विज्ञान द्वारा इस परीक्षा के सहायतार्थ अनेक प्रकार के भौतिक, रासायनिक तथा अणुवीक्षण परीक्षणो का आविष्कार हुआ है जिससे मूत्रगत तथा रक्तगत शर्करा का परीक्षण होता है। अपत्यपथ आदि स्रोतो से प्रकृत रक्त—जीवरक्त है या रक्तपित्त ( पित्तदूषित रक्त ) है इसकी परीक्षा भी अनुमान द्वारा काक, श्वान आदि के भक्षण तथा अभक्षण से होती है।

## देश-परीक्षा

'देश' शब्द से आयुर्वेद वाङ्मय मे दो भावो का ग्रहण होता है जैसे—( १ ) भूमि और ( २ ) आतुरशरीर।[2]

आयुर्वेदीय परीक्षकों ने भूमियो ( देशो ) की परीक्षा कर यह निर्णय किया है कि अमुक देश अमुक दोष प्रधान है और वहाँ के निवासियो को अमुक दोषजन्य व्याधियाँ या विकार सम्भव हैं। जैसे—जाङ्गल, आनूप तथा साधारण

[1] सु. सू. अ. १०, अ. स सू २२, च. वि अ. ४; च. चि. अ. २५।

[2] ( i ) 'देशस्तु भूमिरातुरश्च' ( च वि. अ ८।९२ )।

( ii ) 'देशस्त्रिविधो जाङ्गलानूपसाधारणभेदात् ॥' (सु सू अ. १०।५ पर डल्हण)

( iii ) 'भेषजमवचारयन् प्रागेव तावद्देशमातुरं परीक्षेत। कस्मिन्नयं देशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा। तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं विहारजातमिदमाचारजातमेतावद्बलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधो दोषः, एवंविध सात्म्यम्, इयं भक्तिरिमे व्याधयः, हितमिदमहितमिदमिति प्रायग्रहणेन।'

( च. वि अ. ८; अ. स. सू २३ )

( iv ) च. वि. ३।२१;

( v ) सु. सू. अ ३५।४२, च. सू अ. २५।४०.

तीन प्रकार के देशो का वर्णन उपलब्ध संहिताओ मे प्राप्त होता है। जाङ्गल देश में वर्षा न्यून होने से वह शुष्क होता है। अत वहाँ के निवासियो को वात-पित्त के प्रकोप मे होने वाले विकार अधिक होते हैं। इसी से इसे 'मरु' या 'धन्व' देश भी कहते हैं। यह देश कफप्रधान विकारो से पीडित रोगियो के लिये सुखद है। इमी प्रकार आनूप देश मे वृष्टि अधिक होने से कफज रोगो की अधिक सम्भावना रहती है। अत. यह देश वात-पित्तप्रधान रोगो से आक्रान्त पुरुषों के प्रवास के लिये हितकर होता है। साधारण देश मे वृष्टि आदि का स्वरूप मध्यम अर्थात् न अधिक न कम होता है। अत इस देश मे तीनो दोषो की समता रहती है। इस प्रकार प्रश्नपरीक्षा से रोगी के जन्मस्थान, निवास तथा रोगोत्पत्ति के देश का ज्ञान होता है जिसमे रोग के निदान मे सुविधा होती है अर्थात् सामान्य रूप से यह ज्ञान हो जाता है कि किस दोष के प्रकोप से होने वाले रोग की सम्भावना हो सकती है। इस ज्ञान के अनन्तर तदनुसार आवश्यक होने पर न्यूनाधिक काल के लिये देशत्याग ( स्थलपरिवर्तन, जल-वायु-परिवर्तन ) आदि की व्यवस्था की जा सकती है।

रोगी के जन्मस्थान, संवृद्धि-स्थान तथा रोगोत्पत्ति-स्थान का ज्ञान हो जाने पर उस रोगी तथा उसके अभिभावक से यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि उस देशविशेष का आहार-विहार, तथा आचार किस प्रकार का है और वहाँ के निवासियो का बल, सत्त्व, सात्म्य तथा भक्ति ( रुचि या व्यसन ) क्या होता है, उस देश के निवासियो मे कौन से दोष का प्रकोप और कौन से रोग विशेष रूप मे होते हैं। उस देश मे तथा वहाँ के होने वाले रोगो मे क्या आहार-विहार औषधादि हित ( उपशय ) होता है और क्या अहित ( अनुपशय ) होता है। इन सभी विषयो का ज्ञान देशपरीक्षा से होता है। तदनुसार दोष तथा रोग का विनिश्चय एव उसके प्रतिकार की व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त होता है। इनके अतिरिक्त उस देश का वहाँ के लक्षणो के आधार पर यह निश्चय करना होता है कि वह जाङ्गल देश है या आनूप या साधारण जिसमे तज्जन्य व्याधियो तथा दोषो का निर्णय हो सके।

देश-विशेष मे प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट आहार-विहार का ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। पश्चात् इसका भी ज्ञान आवश्यक है कि उक्त आहार-विहार का शरीर पर कैसा प्रभाव होता है। आयुर्वेद तथा इतर भारतीय साहित्य मे इनका वर्णन उपलब्ध होता है। उदाहरणस्वरूप चरक ने पिप्पली, क्षार और लवण के सद्गुणो का उल्लेख करते हुए कहा है कि वाह्लीक, सौराष्ट्र तथा सैंधव देश के निवासी दूध के साथ भी लवण का सेवन करते हैं। इत्यादि।[1]

---

१ च वि अ. १।१८।

देश-विदेश की रीति-नीति का विचार आज भी वह महत्त्व रखता है, क्योंकि देशान्तर के रोगी अथवा देशान्तर का प्रवास कर आये हुए रोगी के सम्बन्ध मे तत्तद्देशीय आहार-विहार तथा आचार का ज्ञान रोगनिदान तथा चिकित्सा व्यवस्था मे परम सहायक होता है।

देशभेद से रोगभेद के दो-एक उदाहरण विषय की विशदता के लिय आवश्यक हैं। प्राचीन काल से ही रोगो की भौगोलिक विशेषता का विचार हुआ है, जैसे—सुश्रुत ने कहा है कि सह्यप्रभवा नदियो का जल पीनेवाले को कुष्ठरोग, विन्ध्यप्रभवा नदियो का जल पीनेवाले को कुष्ठ और पाण्डुरोग, मलय-प्रभवा नदियो का जल पीने वाले को कृमिरोग, महेन्द्रप्रभवा नदियो का जल पीने वाले को श्लीपद तथा उदररोग, हिमवत्प्रभवा नदियो का जल पीनेवाले को हृद्रोग, श्वयथु, शिरोरोग, श्लीपद और गलगण्ड, उज्जयिनी आदि देशवासियो को अर्शरोग इत्यादि विशेष रूप में देखे जाते हैं।[1] इस तरह के संकेत अन्य आर्ष संहिताओ मे भी यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। जैसे चरक, काश्यप तथा वाग्भट आदि मे। इसी प्रकार विषमज्वर तथा कालाजार वङ्गाल तथा पूर्वी विहार मे विशेष पाया जाता है। नेपाल की तराई वाले चम्पारण के प्रदेशो मे श्लीपद तथा गलगण्ड अधिक देखा जाता है। अफ्रीका मे 'ब्लेक वाटर फीवर' नामक ज्वर का विशेष प्रादुर्भाव पाया गया है। इत्यादि।

भूमिवाचक देश शब्द के दो अर्थ गृहीत होते हैं, जैसे—( १ ) जाङ्गलादि भूमि और ( २ ) भूगोल आदि मे प्रसिद्ध भूमि।

देश से दूसरा अर्थ जो ग्रहण किया जाता है वह है आतुर ( रोगी )। आतुर ( रोगी ) चिकित्सा का 'कार्य देश' है।[2] कार्यदेश आतुर ( रोगी ) की त्रिविध अथवा षड्विध परीक्षा उसके प्रकृति, विकृति, सार, सहनन आदि दशविध ज्ञातव्य वस्तुओ के ज्ञान के लिये करनी पडती है। इसका विस्तृत वर्णन पृथक् किया जायगा। यहाँ प्रश्न द्वारा आतुरविषयक मुख्य ज्ञेय वस्तु उसका सत्त्व अर्थात् मनोवल है। इसका ज्ञान रोगी तथा उसके अभिभावक से प्राप्त होता है।

औषध-प्रयोग के लिये रोगी के सत्त्व—मनोवल की परीक्षा परमावश्यक है। सत्त्वसार ( मनोवली ) रोगियो मे उसके रोगारम्भक दोष के प्रमाणानुसार वलवान् औषध यथोचित मात्रा मे प्रयुक्त की जा सकती है अथवा शस्त्रोपचार

---

१. सु सू अ ४५-२१, च सू अ २७, का खि स्था २५।

२ ( i ) 'आतुरस्तु खलु कार्यदेश' ( च वि अ ८ )
'कार्यदेश इति कर्त्तव्यधातुसाम्याधार।' ( चक्र )
( ii ) 'तस्मादातुर परीक्षेत प्रकृतितश्च विकृतितश्च इत्यादि॥'

आदि क्रिया सुविधा से सम्पन्न हो सकती है। इसीलिये विवेकी चिकित्सक अल्प बलवाले आतुरो मे ऐसे औषधो का प्रयोग नही करते जो शरीर और मन मे ग्लानि उत्पन्न करनेवाले हो। उनमे सदा अल्पमात्रा मे मृदु औषधो का प्रयोग करते हैं। पुन शनैः शनैः उसकी मात्रा बढाते हैं। स्त्री, बाल, वृद्ध तथा सुकुमार प्रकृति के पुरुषों मे इसका ध्यान रखना परमावश्यक होता है। कारण इनका हृदय (मन) अत्यन्त मृदु ओर अगम्भीर होने से ये अल्प मात्र क्लेश से भी घबरा जाते हैं। अत ऐसे रोगियो को पूर्णरूपेण आश्वासन देकर चिकित्सा करनी होती है।

सत्त्व की असारता एव तद्विपरीत सत्त्वसारता का एक-एक प्रकारविशेष होता है, जिसे सत्त्वपरीक्षा मे सविशेष ध्यान रखना चाहिये। आचार्य पुनर्वसु ने इस दृष्टि से रोगियो के दो वर्ग बनाये हैं। जैसे—(१) लघुव्याधित और (२) गुरुव्याधित।[1]

(१) लघुव्याधित—उसे कहते हैं जो अल्पदोष वेदना आदि मे युक्त होने पर भी सत्त्व की असारता से अपने कष्टो को इस प्रकार प्रदर्शित करता है मानो उसकी व्याधि बहुदोष-वेदना आदि से युक्त हो। विवेकरहित चिकित्सक उसके इस बाह्यरूप को देखकर मोह मे पड जाता है और गुरुव्याधित समझकर बलवान् तथा प्रचुर मात्रा मे औषध का व्यवहार कर बैठता है, जिससे भयङ्कर हानि होती है।

(२) गुरुव्याधित—उसे कहते हैं जो अधिक दोष-वेदना आदि से युक्त होनेपर भी सत्त्वसार होने से उसकी उतनी परवाह नहीं करता तथा उस रूप मे व्याकुल नहीं होता। परिणामस्वरूप अविवेकी चिकित्सक इस बाह्यरूप को देखकर अल्पमात्रा मे तथा मृदु औषध का प्रयोग कर असफल होता है।

कार्यदेश रूप रोगी के विषय मे प्रश्न परीक्षा द्वारा दूसरा ज्ञातव्य विषय यह होता है कि रोगी को औषधियो का कौन सा कल्प (चूर्ण, स्वरस, वटिका, अवलेह आदि) अनुकूल होगा। अनेक व्यक्तियो को किसी विशिष्ट कल्प से द्वेष स्वभावतः होता है। अतः इसका ज्ञान अभीष्ट लाभ के लिये परमावश्यक है। आधुनिक चिकित्सक भी सम्प्रति इस तथ्य पर ध्यान देने लगे हैं।

## कालपरीक्षा

देशपरीक्षा का सक्षिप्त वर्णन कर अब प्रश्नपरीक्षा द्वारा ज्ञेय दूसरे विषय 'कालपरीक्षा' का वर्णन किया जाता है। काल के दो भेद हैं, जैसे—(१) नित्यग या सवत्सर किंवा ऋतुरूप और (२) आवस्थिक। आवस्थिक पुनः दो

१. च. वि. अ. ७।

प्रकार का होता है जैसे—( १ ) स्वस्थ पुरुष की बाल्यादि अवस्था और ( २ ) रोगी पुरुष की रोगारम्भादि कालावस्था।[1]

**नित्यग काल**—कालविदो ने भगवान् चन्द्र और आदित्य की गतिविशेष के अनुसार संवत्सर को दो विभागो मे विभक्त किया है, जैसे—( १ ) दक्षिणायन और उत्तरायण। दक्षिणायन मे चन्द्रमा के बली होने से इसको सौम्य या विसर्गकाल कहा है और उत्तरायण मे भगवान् सूर्य के बली होने से इसे आग्नेय अथवा आदान काल कहा है। इन उभयविध कालों मे प्राणिशरीर के बल का क्रमश आप्यायन अर्थात सौम्य गुणो की वृद्धि होने से बलवृद्धि और अपनयन अर्थात् आग्नेय गुणो की वृद्धि होने से बल का ह्रास होता है। पुन इन दोनों अयनो को ३-३ ऋतुओ मे विभक्त किया है। जैसे—वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म। पुन इनका वर्णन करते हुए कहा गया है कि विसर्ग और आदान के आदि और अन्त की ऋतुओ मे अर्थात् वर्षा और ग्रीष्म में प्राणियो के बल का ह्रास होता है और मध्य अर्थात् शरत् और वसन्त मे मध्यबल रहता है तथा अन्त की ऋतुओं अर्थात् हेमन्त और शिशिर में प्राणियो के बल की उत्तम रूप मे वृद्धि होती है। इन छहो ऋतुओ मे दोषो का स्वभाव से ही सचय, प्रकोप एव उपशम होता रहता है ( इनका वर्णन पहले मूल ग्रन्थ मे किया जा चुका है )। इस प्रकार दोषो के सचय, प्रकोप तथा प्रशम के ज्ञानार्थ इनकी जानकारी भी रोगी की परीक्षा मे परमावश्यक है। रोग किस ऋतु मे उत्पन्न हुआ तथा दिन की किस वेला ( प्रात, मध्याह्न अथवा साय ) मे इसकी प्रवृत्ति एव अभिवृद्धि होती है इत्यादि का ज्ञान रोगनिदान के लिये परमावश्यक है।

**आवस्थिक काल**—बाल, मध्य तथा वृद्ध के भेद से स्वस्थ पुरुष की अवस्था ( वय ) के मुख्य तीन विभाग किये गये हैं। बाल्यावस्था मे कफ दोष की प्रधानता, मध्यावस्था मे पित्त दोष की प्रधानता तथा वृद्धावस्था मे वायु की प्रधानता स्वभाव से ही रहती है। बाल्यावस्था पुन क्षीरप, क्षीरान्नाद, तथा अन्नाद के भेद से तीन प्रकार की और वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और परिहानि के भेद से मध्यावस्था ४ प्रकार की कही गयी है।[2] ज्वरादि रोगो के उदय ( प्रवृत्ति ), अभिवृद्धि तथा उपशम का काल रोगो का आवस्थिक काल है। दिन के प्रात, मध्याह्न, सायंकाल तथा ऋतुओ मे दोषो के स्वाभाविक

---

१. च वि. अ ८।

२. क्षीरप—१ वर्ष तक। क्षीरान्नाद—२ वर्ष तक। अन्नाद—३ से १६ वर्ष तक। वृद्धि—१७ से २० तक। यौवन—२१ से ३० तक। सम्पूर्णता—३१ से ४० तक। परिहानि—४१ से ६० तक।

सञ्चय, प्रकोप और उपशम का सकेत पहले कर चुके हैं। अतः ज्वरादि रोगो में इसका ज्ञान रोगनिदान तथा चिकित्सा-व्यवस्था मे परम सहायक होता है।

उपर्युक्त यह सभी ज्ञान रोगी तथा उसके अभिभावक से प्रश्न द्वारा ही प्राप्त होता है। इनका ज्ञान जिस प्रकार आतुर-परीक्षा एवं चिकित्सा के लिये आवश्यक है उसी प्रकार स्वास्थ्य-सरक्षण के लिये भी आवश्यक है।

बाल्यावस्था के क्षीरप आदि जो भेद किए गए हैं उनका भी उपयोग निदान-चिकित्सा की व्यवस्था मे होता है जैसे—क्षीरप ( स्तन्यवृत्ति ) बालक या क्षीरान्नाद बालक के विकारो मे माता तथा उसके स्तन्य की परीक्षा आवश्यक होती है। कभी-कभी माता को विकार स्वल्प होने पर भी कुमार के लघु तथा सुकुमार शरीर पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है। जैसे माता मे पित्त का प्रकोप स्वल्प रूप मे होने पर अर्थात् तज्जन्य सामान्य उष्णासहिष्णुता के होने पर भी बालक मे ज्वर, अतिसार प्रभृति पित्तज उपद्रवो का होना। माता को अरुचिमात्र होने पर भी शिशु मे प्रतिश्याय, कास, ज्वरादि का होना सम्भव है। रोग का कारण यदि स्तन्य प्रतीत हो तो माता की चिकित्सा आवश्यक होती है।

बालक सम्बन्धी ज्ञातव्य काल का एक प्रकार बालक का दन्तोद्भव काल भी है। अत प्रश्न द्वारा यह ज्ञान करना कि बालक के दांत तो नही निकल रहे हैं आवश्यक होता है। कदाचित् दन्तोद्भव ही बालक के ज्वर, अतिसार प्रभृति रोगो का कारण हो सकता है। कहा भी है कि 'दन्तोद्भेदो हि रोगाणां सर्वेषामेव कारणम्।' दन्तोद्भव के भी काल शास्त्रो मे वर्णित हैं। कई बार अस्थिसारहीन व्यक्तियो मे दन्तोद्भव विलम्ब से होता है। इसके विपरीत अस्थिसारवान् शिशुओ मे दन्तोद्भेद समय से पूर्व भी हो सकता है। प्रकृति के समान सार भी माता-पिता से ही अपत्य को प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप एक माता-पिता के बच्चो मे प्राय. दन्तोद्भव का काल समान देखा जाता है। अत. नियत काल आने पर भी शिशु को दन्तोद्भेद न हो तो उसके माता-पिता मे दन्तोद्भेद का काल प्रश्न द्वारा जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न द्वारा ज्ञेय काल के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—( १ ) श्वास, पामादि रोग की प्रवृत्ति, अभिवृद्धि का काल, ( २ ) विषमज्वर से पीडित व्यक्ति को ज्वरवेग की प्रवृत्ति, अभिवृद्धि तथा निवृत्ति का काल, ( ३ ) ज्वर की स्थिति का काल, ( ४ ) शूल तथा अन्य रुजाओ की प्रवृत्ति, अभिवृद्धि तथा निवृत्ति का काल; ( ५ ) आर्त्तव प्रभृति के काल, इत्यादि।

## जाति परीक्षा

जाति भी प्रश्न द्वारा विज्ञेय है। प्राचीन काल में व्यवसाय के जातिपरक होने से जाति द्वारा व्यक्ति के व्यवसाय का बोध होता था। परन्तु आजकल ऐसा कोई बन्धन नहीं रह गया है। अतः जाति का स्थान व्यवसाय ( Occupation ) ने ले लिया है। आयुर्वेद वाङ्मय में ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है कि कौन सा व्यवसाय करने वाला पुरुष सदा आतुर रहता है और उनके सदातुर रहने का अमुक कारण है। चिकित्सा व्यवसाय में यह ज्ञान परमोपयोगी होता है। च सि अ ११ में अग्निवेश ने आचार्य से प्रश्न किया है कि कौन पुरुष सदा रोगी रहते हैं। इसका उत्तर गुरु ने इस प्रकार दिया है—श्रोत्रिय ( वेदपाठी या कथावाचक ब्राह्मण ), राजसेवक, वेश्या तथा वैश्य सदा आतुर रहते है। इनके लिये आतुर होने का कारण निम्न प्रकार है :—

ये सब के सब अपने स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखते। समागत वेगो का धारण करते हैं तथा समय पर भोजन नहीं करते। विशेष रूप से द्विज ( ब्राह्मण ) वेदाध्ययन, व्रत, आह्निक ( दैनिक-पूजा ) क्रिया आदि में तल्लीन रहने से अपने शरीर के हित की परवाह नहीं करते। राजसेवक राजा के मन को प्रसन्न रखने के लिये सदा ही चिन्तित रहते हैं जिससे उनका चिन्तातुर शरीर सदा रोगी रहता है। वेश्या भी अपने प्रेमियों को प्रसन्न करने के लिये अपने शरीर की चिन्ता नहीं करती। इत्यादि। यह तो केवल निदर्शन मात्र है। अन्य भी पुरुष जो असमय पर मलविसर्जन, विहार और आहार के सेवन के स्वभाववाले होते हैं वे सभी सदा आतुर रहते हैं।[1]

आजकल अनेक प्रकार के व्यवसाय हो गए हैं अतः तत्तत् व्यवसाय में होने वाले रोगो का भी अवेक्षण उत्कृष्ट रूप से हुआ है। नाना प्रकार के स्थानों में कार्य करने वाले व्यक्तियों को नाना विध रोग ( बाह्य तथा आभ्यन्तर ) होते है, अतः इस विषय का अनुशीलन आधुनिक ग्रन्थो से करना चाहिये। आयुर्वेद के ग्रन्थो में भी यत्र तत्र इस प्रकार का संकेत प्राप्त होता है। इनका ज्ञान निदान चिकित्सा में पर्याप्त साहाय्य करता है।

---

१ 'अथाग्निवेशः सततातुरान्नरान् हितं च पप्रच्छ गुरुस्तदाह च। सदाऽऽतुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः ॥ द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निकक्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते। नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् परानुरोधात् बहुचिन्तनाद्भयात् ॥ नृचित्तवर्त्तिन्युपचार-तत्परा मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना। सदासनादत्यनुबन्धविक्रय-क्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः ॥ सदैव ते ह्यागतवेगनिग्रहं समाचरन्ते न च कालभोजनम्। अकालनिर्हारविहारसेविनो भवन्ति येऽन्येऽपि सदातुराश्च ते ॥' ( च सि ११ )

## सात्म्य परीक्षा

जाति के अनन्तर प्रश्न द्वारा विज्ञेय भाव सात्म्य है। जो आहार, विहार, औषध, देश, काल आदि जन्म से ही व्यक्ति के लिये सुखद अर्थात् अनुकूल—कोई हानि न पहुँचाने वाला हो अथवा जन्म से सात्म्य न होने पर भी अभ्यास वश अनुकूल (ओक सात्म्य) हो गया हो जैसे—अहिफेन, भांग, गांजा प्रभृति का सेवन, उन्हें सात्म्य कहते हैं। सात्म्य ज्ञान से रोग के साध्यासाध्य ज्ञान मे सहायता मिलती है। जैसे—घृत, दुग्ध, मासरस, षड्रसात्मक आहार आदि का आहार विधि विशेषायतन के अनुकूल सेवन करने वाले व्यक्ति को प्राय रोग नहीं होते और वे बलवान् होते हैं। यदि कभी कोई रोग हो भी गया तो वह सुसाध्य होता है। इसी प्रकार रूक्ष, कटु आदि सेवन करने वाले एक रसाभ्यासी व्यक्ति सदा आतुर रहते हैं और उनके रोग भी दुःसाध्य होते हैं। मद्य के व्यसनियो को पित्तप्रकोप सुलभ होता है अत उनमे यकृत्प्लीहा के रोग होने की अधिक सम्भावना रहती है। अफीमची को यदि अतिसार हो जाय तो कोई भी स्तम्भन द्रव्य विफल होता है अत उसकी चिकित्सा चिन्तनीय हो जाती है। धूम्रपान (बीड़ी-सिगरेट) के अभ्यासी को कासादि रोग प्राय होते है। चाय का अधिक सेवन करने वाले मनोविक्षेप, अनिद्रा, मन्दाग्नि तथा प्रमेह के शिकार बनते हैं। इत्यादि।

इस प्रकार रोग-परीक्षा मे सात्म्य का विचार परमावश्यक होता है। दोषभेद से भी सात्म्य का भेद होता है।

## आतंक समुत्पत्ति तथा काल प्रकर्ष

सात्म्य ज्ञान के अनन्तर प्रश्न द्वारा रोगी तथा उसके अभिभावक से आतक समुत्पत्ति अर्थात् रोग किस प्रकार और कब उत्पन्न हुआ इसका ज्ञान करना आवश्यक है। रोग के कारणविशेष का ज्ञान रोग विनिश्चय तथा प्रतिकार की व्यवस्था मे परम सहायक होता है। उदाहरण स्वरूप यदि कोई वातव्याधि का रोगी हो तो उससे यह ज्ञान प्राप्त करना कि वायु का प्रकोप किस प्रकार के आहार-विहार से हुआ—रूक्ष सेवन से, लघु सेवन से अथवा शीत द्रव्य के सेवन से इत्यादि। इस ज्ञान से रोग के बलविशेष की अंशाश कल्पना मे सहायता प्राप्त होती है। 'निदान परिवर्जन' चिकित्सा का मुख्य अङ्ग है अत इसी उपक्रम के लिये निदान का ज्ञान आवश्यक होता है। उदाहरण स्वरूप श्रमजन्य वात-प्रकोप मे विश्राम रात्रि-जागरण से उत्पन्न वातविकार मे दिवास्वप्न, रूक्ष पदार्थों के सेवन से उत्पन्न वातजन्य रूक्षता मे स्निग्ध द्रव्य की व्यवस्था समीचीनतर चिकित्सा सिद्ध होती है।

निदान ज्ञान के अनन्तर प्रश्न द्वारा यह भी जानना आवश्यक है कि किस कारणविशेष से रोग की अभिवृद्धि होती है तथा कौन-कौन लक्षण प्रव्यक्त होते हैं। रोग के क्रमिक विकास के साथ साथ रोग की अवधि (काल प्रकर्ष) का ज्ञान भी आवश्यक है। क्योंकि रोग जैसे-जैसे जीर्ण (दीर्घ कालिक) होते जाते हैं वैसे-वैसे वे दुःसाध्य भी होते जाते हैं। अतः रोगी में रोग के जितने भी लक्षण दृष्टिगोचर या उपलब्ध हों, उनकी अवधि का ज्ञान भी पृथक्-पृथक् होना आवश्यक है। कालक्रम के ज्ञान से यह निर्णय करने में सुविधा होती है कि उपलब्ध लक्षणों में कौन स्वतन्त्र और कौन परतन्त्र है तथा कौन रोग का अङ्गभूत लक्षण है और कौन उपद्रव है इत्यादि।

## वेदना समुच्छ्राय

रोगी जिन व्यथाओं को स्वय अनुभव करता है उन्हे 'वेदना' कहते हैं। वेदना के स्वरूप तथा स्थान का ज्ञान प्रश्न द्वारा ही होता है। स्वरूप तथा स्थान-ज्ञान से उसके उत्पादक दोषो के ज्ञान में सहायता होती है। जैसे—सूई चुभोने सी पीड़ा को तोद, फटने के समान पीड़ा को भेद, काटने के समान पीड़ा को छेद, भाला आदि भोकने की सी पीड़ा को शूल, स्पर्शनाश तथा झुनझुनाने सी पीड़ा को स्वाप या सुप्ति कहते हैं। ये पीड़ायें वातजन्य होती हैं। इसी प्रकार ओष (उष्णता की प्रतीति), चोष (चूसने की सी पीड़ा), दाह, अम्लक (खट्टी डकार आना) आदि पित्तजन्य और गौरव, स्तैमित्य, कण्डू आदि कफ जन्य पीड़ाएं हैं।

काल के प्रकरण में वेदना की अवधि, तथा क्रमिक विकाश के ज्ञान का संकेत कर चुके हैं। वेदना के स्वरूप में यह भी प्रश्न द्वारा जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि वेदना सतत होती है या कभी कभी, वेदना तीव्र है या मन्द; उदर मे वेदना हो तो उसका भोजन से सम्बन्ध इत्यादि।

## बल से परीक्षा

रोगी की शारीरिक तथा मानसिक शक्ति से उसके शरीर तथा मनोबल का ज्ञान होता है। इसका ज्ञान भी प्रश्न द्वारा ही उपलब्ध होता है। शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक श्रम करने की शक्ति (क्षमता) को बल कहते हैं। रोग के प्रतिकार करने की शक्ति (देह क्षमता) तथा औषधि के वीर्य (प्रभाव) ग्रहण करने की शक्ति को भी बल कहते हैं। बल की परीक्षा से रोग के साध्यासाध्य विचार में बहुत सहायता मिलती है। बल भी सहज और युक्तिकृत के भेद से दो प्रकार का होता है।[1]

---

१. च वि. अ. ८,

## अग्नि ( जाठराग्नि या अन्तराग्नि ) परीक्षा

जाठराग्नि या अन्तराग्नि अन्य सभी शारीराग्नियो का मूल कही गई है। यह दीप्त हो तो अन्य धात्वग्नियो तथा धातु-उपधातुओ का पोषण उचित रूप से होता है, जिससे बल स्थिर रहता है। रोगी की पाचन शक्ति जन्म से ही कैसी है। सम्प्रति पूर्वापेक्षया कुछ कमी या वेशी हुई है या नहीं इत्यादि का ज्ञान प्रश्न द्वारा ही होता है। प्रश्न द्वारा ही इस वात का ज्ञान होता है कि रोगी किस प्रकार के आहार द्रव्य को कितने काल मे पचा लेता है तथा किस प्रकार का आहार द्रव्य वह पचाने मे असमर्थ है। किस प्रकार के आहार द्रव्य से उसे मन्दाग्नि या विषमाग्नि के विकार हो जाते हैं इत्यादि। अग्नि और वल का सहसा नष्ट हो जाना अरिष्ट माना जाता है।

## कोष्ठ परीक्षा

तीन प्रकार के कोष्ठो का वर्णन शास्त्रो मे उपलब्ध होना है जैसे—( १ ) मृदु कोष्ठ ( २ ) मध्य कोष्ठ और ( ३ ) क्रूर कोष्ठ। इनका वर्णन मूल ग्रन्थ मे किया जा चुका है। चिकित्सा व्यवसाय मे विरेचन देने की प्राय आवश्यकता होती है। अत इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये कोष्ठ का ज्ञान परमावश्यक है। कुछ ऐसे पुरुष होते हैं जो स्वभाव से ही विरेचन को नहीं सहन कर सकते। साधारण विरेचन से भी उनमे मल का क्षय होकर दौर्बल्य आ जाता है। कई ऐसे होते हैं जिनमे दुर्बलता का अनुभव न होने पर भी मृदु विरेचन से भी अपेक्षा से अधिक मलप्रवृत्ति हो जाती है। ऐसे पुरुषो का कोष्ठ मृदु होता है। इनके विपरीत कई ऐसे होते हैं जिनको तीव्र विरेचन से भी अपेक्षित मलप्रवृत्ति नही होती। अथवा मल प्रवृत्ति होती ही नही। ऐसे व्यक्तियो का कोष्ठ क्रूर कहलाता है। इनके कोष्ठ को विरेचन के योग्य वनाने के लिये स्नेहपान तथा गुदवर्ति आदि का उपयोग किया जाता है। इन उभय विध कोष्ठो के मध्यवर्ती कोष्ठ को मध्यम कोष्ठ कहते हैं।

रोगी जव प्रथम वार चिकित्सक के समीप चिकित्सार्थ आता है तो कोष्ठो का ज्ञान प्रश्न द्वारा ही होता है। ये कोष्ठ प्राय प्रकृति और व्यवसाय के अधीन होते हैं। पित्त प्रकृति पुरुषो का कोष्ठ प्राय मृदु तथा वात प्रकृति पुरुषो का प्राय क्रूर होता है। इसी प्रकार शारीरिक परिश्रम करने वाले श्रमजीवियो का श्रमजनित वात के कारण कोष्ठ प्राय क्रूर होता है।

विरेचन देने के पश्चात् भी रोगी से प्रश्न द्वारा यह जानना आवश्यक होता है कि मल प्रवृत्ति कैसी हुई। मल प्रवृत्ति मे कोई कष्ट हुआ अथवा नही इत्यादि।

## मल प्रवृत्ति

मलो ( अधोवायु, ऊर्ध्ववायु, उद्गार, मूत्र, पुरीष, आर्त्तव ) की प्रवृत्ति तथा अप्रवृत्ति या हीन प्रवृत्ति का प्रथम ज्ञान भी प्रश्न द्वारा ही होता है। रक्तपित्त तथा प्रदर आदि रोगो मे वमन तथा गुह्य मार्ग से ( शिश्न, अपत्यपथ तथा गुदा से ) प्रवृत्त रक्त तथा पूय, शुक्र आदि की प्रवृत्ति अप्रवृत्ति का भी अन्तर्भाव इसी के अन्दर हो जाता है।

यद्यपि इन मलों की परीक्षा दर्शन आदि के द्वारा भी करनी पड़ती है तथापि प्रथम ज्ञान इनके सम्बन्ध मे प्रश्न द्वारा ही होता है। मलो के परीक्षण का वर्णन यथास्थल किया जायगा। यहां तो उनका संकेत मात्र करना ही पर्याप्त है।

## स्वप्न दर्शन

स्वप्नो के ज्ञान से रोगो की प्रकृति तथा विकृति दोनो के ज्ञान में सहायता मिलती है। जैसे वात प्रकृति पुरुष सदा अपने को आकाश मे उडने या एक वृक्ष से अन्य वृक्ष पर फांदने का स्वप्न देखता है। इसी प्रकार यक्ष्मा के पूर्व रूप मे रोगी सूखी नदियो मे तैरने, शुष्क पदार्थो के दर्शन, दावानल से वनो के दग्ध होने इत्यादि का स्वप्न देखता है इत्यादि। इनका ज्ञान भी प्रश्न द्वारा ही अर्थात् रोगी-तथा रोगी के अभिभावक से पूछकर ही होता है। स्वप्न दर्शन का ज्ञान रोग विनिश्चय तथा रोग के साध्यासाध्य निर्णय मे सहायक होता है। मनो-विश्लेषण के इस युग में स्वप्न ज्ञान द्वारा मानस रोगो की मूलग्रन्थि के ज्ञान और तदनुरूप चिकित्सा ने महत्त्व का स्थान ग्रहण किया है। सम्प्रति त्राटक ( हिप्नोटिज्म ) द्वारा गत जीवन की स्मृतियां ताजी करने का सफल प्रयत्न हुआ है। इस प्रयोग द्वारा अनेक जटिल रोगो का निदान तथा प्रतिकार सफलता से किया गया है।

## अभिप्राय

रोगी की रुचि का ज्ञान भी निदान चिकित्सा के लिये परमावश्यक है। किस रस, आहार या विहार में रोगी की अभिरुचि ( भक्ति ) है, रोगी पहले की अपेक्षा अब कितना अपने को अरोग ( सुखी ) अनुभव करता है, इत्यादि का ज्ञान प्रश्न द्वारा ही प्राप्त होता है। रोगी की भक्ति जिस रस मे होती है उससे विपरीत दोष दुष्टि का अनुमान होता है। कारण प्रकुपित हुए दोष अपने विपरीत गुण वाले आहार आदि के प्रति अभिरुचि तथा समान गुण वाले आहार आदि के प्रति द्वेष उत्पन्न करते हैं इत्यादि।

## मुख का स्वाद ( आस्यरस )

मुख का स्वाद कैसा है यह भी प्रश्न द्वारा ही रोगी से ज्ञात होता है। कफ के प्रकोप मे मुख का रस मधुर तथा कफ के विदग्ध होने पर लवण, पित्त के प्रकोप मे तिक्त या अम्ल और वायु के प्रकोप मे कषाय या विरस हो जाता है। विरस का तात्पर्य है किसी रस की प्रतीति न होना अर्थात् मुख का स्वाद फीका हो जाना। यह अवस्था इस कारण होती है क्योकि महास्रोत के विभिन्न स्थानो मे प्रकुपित हुए दोष प्रसृत होकर जब लाला ग्रंथियो मे आते हैं तब लाला के साथ मुख कुहर मे उनकी भी प्रवृत्ति होती है और उनका सम्पर्क जब रसना से होता है तब तदनुकूल मुख का स्वाद हो जाता है। प्रश्न द्वारा रोगी से मुख के रस का ज्ञान रोगारम्भक दोषोके विचार मे परम सहायक होता है।

**वैरस्य**—मुख की विरसता वातकृत होती है। वात प्रकोप मे रसनेन्द्रिय की दुष्टि से रसना को किसी भी रस का बोध नही हो पाता। इसी को आस्य वैरस्य या मुख वैरस्य कहते हैं। यह सुप्रत्यक्ष है कि कषाय रस तथा तिक्त रस के अतियोग से जिह्वा ( रसना ) रस ग्रहण मे प्राय असमर्थ हो जाती है। इसका कारण यह है कि उक्त रसो के अतियोग से बोधक कफ ( जिह्वा मूलस्थ ) का लेखन और क्षय हो जाता है जिससे किसी भी रस का बोध रसना को नही होता। तिक्त तथा कषाय रस दोनो ही वात वर्धक तथा वात प्रकोपक हैं। रसो का उक्त उदाहरण उपलक्षण मात्र है। किसी कारण से वृद्ध या प्रकुपित वात जब रसनेन्द्रिय मे स्थान सश्रय करता है तब तत्रस्थ बोधक कफ को सुखा कर रसो का ज्ञान शून्य कर देता है।

**मधुरास्यता और लवणास्यता**—कफ का स्वाभाविक रस मधुर है अत सामान्य रूपेण उसके प्रकोप या वृद्धि मे मधुरास्यता होती है पर कफ विदग्धावस्था में लवणास्यता उत्पन्न करता है।

**अम्लास्यता, कटुकास्यता तथा तिक्तास्यता**—पित्त का स्वाभाविक रस अम्ल है परन्तु वह अपक्कावस्था मे तिक्त तथा अतिपक्कावस्था मे कटु हो जाता है। अत अपने अवस्थानुसार वह मुख मे अम्लता, तिक्तता तथा कटुता उत्पन्न करता है।

## उपशयानुपशय

रोगी तथा रोगी के अभिभावक से प्रश्न द्वारा ही रोगी के पथ्य तथा अपथ्य ( स्वस्थावस्था में ) का ज्ञान होता है। इस ज्ञान से रोगी के प्रकृतिगत दोषो के विवेचन मे सहायता प्राप्त होती है। रोगाक्रान्त व्यक्ति को किसी प्रकार का

आहार, विहार, औषध, देश, काल, हितकर (सुखद) अथवा अहितकर (दु खद) होता है इत्यादि का ज्ञान रोगी, रोगी के स्वजनो तथा परिजनो से होता है। रुग्णावस्था मे भी रोग की वृद्धि तथा उपशम किस प्रकार के आहार विहार से होता है इसका ज्ञान भी प्रश्न द्वारा ही प्राप्त होता है जो रोग के आरम्भक दोष के विचार मे सहायक होता है।

## नक्षत्र

वाग्भट्ट ( अ स सू अ २२ ) ने साध्यासाध्यता के लक्षणो के प्रकरण मे ग्रह नक्षत्रो की अनुकूलता और प्रतिकूलता के विचार का भी सकेत किया है। अत. इसका ज्ञान भी रोगी तथा रोगी के अभिभावक से प्रश्न द्वारा ही सभव है। रोगी के जन्म का नक्षत्र तथा रोगोत्पत्ति का नक्षत्र ज्ञान एतदर्थ जानना आवश्यक होता है। इस विषय का विशेष ज्ञान किसी ज्योतिषी से प्राप्त करे।

## अनुमान द्वारा परीक्षा

युक्तिपूर्वक परोक्ष पदार्थों के ज्ञान का साधन 'अनुमान' कहलाता है। इस साधन द्वारा जो परीक्षा की जाती है उसे अनुमान से रोगी या रोग परीक्षा कहते हैं। युक्ति अनुमान की अनुग्राहिका होने से उसीके अन्दर आ जाती है। शरीर के ऐसे अनेक भाव या व्यापार हैं जिनके प्रकृत तथा विकृत स्वरूप का ज्ञान अनुमान से ही होता है। जैसे, समाग्नि, विषमाग्नि, मन्दाग्नि तथा अत्यग्नि का ज्ञान भुक्तान्न की जारण शक्ति द्वारा होता है। इसी प्रकार व्यायाम शक्ति से रोगी के बल का, मुख के रस से प्रकुपित दोष का, शरीर पर यूकाओ तथा मक्षिकाओ के अथवा मूत्र पर पिपीलिकाओ के परिसर्पण से, शरीर तथा मूत्र मे मधुर रस होने का और इनके विपरीत दशा से मधुर रस के अभाव का अनुमान होता है। शरीर के विविध द्वारो से निर्गत रक्त 'जीवशोणित' है या ( दोषो द्वारा ) विकृत इसका ज्ञान, पशु पक्षियो के आगे रखने से अर्थात् रक्त के प्रति उनकी प्रतिक्रिया से ( उसके शुद्ध और अशुद्ध का ) अनुमान किया जाता है।

इसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियो की प्रकृति विकृति का अनुमान उनके विषयो के ग्रहण ( सम्यक् और असम्यक् ) तथा अग्रहण से होता है। मन की प्रकृति विकृति का अनुमान इस बात की परीक्षा से होता है कि परीक्ष्य पुरुष किस विषय पर कितना काल और किस प्रकार उसमे तन्मय या तल्लीन होता है। सुखद ( हितकर ) विषयों या वस्तुओ में प्रवृत्ति या निवृत्ति एव दु खद ( अहितकर ) विषयो या वस्तुओ मे निवृत्ति या प्रवृत्ति को देखकर रोगी की बुद्धि की प्रकृति तथा विकृति का अनुमान होता है।[1]

---

१ अ. चि अ. ४;

रोगी की राजस प्रकृति ( रजोगुण ) की परीक्षा उसकी नारी आदि के प्रति आसक्ति तथा अनासक्ति और उसके तर तम भाव से अनुमान द्वारा ही सम्पन्न होती है। इन्द्रिय तथा मन के मोह ( मन्दता या मूढता ) का अनुमान इन्द्रिय तथा मन के स्वविषयो के ग्रहणसामर्थ्य से होता है। इसी प्रकार व्यवसाय से रोगी के विज्ञान का, अभिद्रोह से क्रोध का, दैन्य से शोक का, आमोद से हर्ष का, सन्तोष से प्रीति का, विषाद से भय का, अविषाद से धैर्य का, उत्साह से वीर्य ( पराक्रम ) का अथवा उत्थान ( शिश्न प्रहर्ष ) से वीर्य ( शुक्र ) का अथवा विषम घड़ी में भी कार्यानुष्ठान से वीर्य का, भ्रान्ति रहित देखकर उसके स्थिर मति ( अवस्थान ) का, अभिप्राय ( मांग ) से श्रद्धा ( इच्छा का ), विषयो के ग्रहण या धारण शक्ति को देखकर मेधा का, नाम ग्रहण शक्ति से संज्ञा का, स्मरण शक्ति से स्मृति का, निन्दित अथवा निषिद्ध कर्म करने मे लज्जासूचक आकृति को देखकर ह्री ( लज्जा ) का, अनुशीलन ( सतत सेवन ) से शील का, प्रतिषेध से द्वेष का, उत्तरकालीन फल को देखकर उपधि ( छल, कपट ) का, अलोभ ( लौल्य का अभाव ) से धृति का, निर्देश पालन से वश्यता का, काल, देश, उपशय, वेदना विशेष से वय, भक्ति, सात्म्य तथा व्याधि समुत्थान का, अपचार विशेष से दोष के प्रमाणविशेष का, अरिष्ट लक्षणो से आयु के क्षय का, कल्याणाभिनिवेश से शुभ फल ( उपस्थित श्रेय ) का, अविकार ( निर्मल विचार ) से अमल ( निर्मल ) सत्त्व ( मन ) का अनुमान होता है।[1]

व्याधियो के गूढ लक्षणो की परीक्षा उपशय तथा अनुपशय से की जाती है। अर्थात् जिस रोग के लक्षण व्यक्त हो उसका तो ज्ञान लक्षणो से हो ही जाता है, परन्तु जिसके लक्षण अव्यक्त अथवा गुप्त ( गूढ ) होते हैं उस रोग का अनुमान उपशय और अनुपशय द्वारा किया जाता है। जैसे—जानुशोथ से पीडित व्यक्ति को क्रोष्टुक शीर्षक है अथवा सधिवात, इसका निर्णय करने के लिये प्रथम गुग्गुलु के योगो का प्रयोग कर तथा उष्ण द्रव्यो का प्रयोग कर देखे। यदि इसके प्रयोग से उनके शोथ तथा वेदना मे वृद्धि हो तो समझे कि क्रोष्टुक शीर्षक है। क्योकि क्रोष्टुक शीर्षक वात और रक्त की दुष्टि से होता है। उष्ण द्रव्यो के प्रयोग से रक्त का प्रकोप होकर रोग के लक्षणो की वृद्धि होती है। ऐसी अवस्था मे रोग विनिश्चय कर वातरक्तहर गुडूची, एरण्डमूल आदि द्रव्यो की योजना करनी चाहिये।

इस प्रकार प्रकृति, सार, सहनन आदि की परीक्षा अनुमान द्वारा ही होती है। शल्य तथा शालाक्य सम्वन्धी विकारो मे भी अनुमान द्वारा अनेक परीक्षण किए जाते हैं जैसे—त्वचा या मास मे प्रविष्ट शल्यो की स्थिति का ज्ञान स्पन्दन,

---

१ च. वि. अ. ४,

घृत आदि प्रदेशों से पिया जाता है अर्थात् प्रविष्ट शल्य गला घृत के चूसने तथा पिघलने से होता है। जिस भाग की त्वचा का शेष समीपस्थ भाग की त्वचा की अपेक्षा शीघ्र सूख जाय, वहीं शल्य है ऐसा अनुमान करे, इत्यादि।[1] प्रविष्ट शल्य के कारण व्रणशोथ हो जाता है। उष्णता व्रणशोथ का एक धर्म है। शल्ययुक्त प्रदेश उष्ण होने से वहीं लेप किया हुआ पंक शीघ्र सूख जाता है तथा घृत पिघल जाता है।

अनुमान प्रकरण में हर्ष-शोक, रोष-विषाद, प्रसाद-अप्रसाद आदि मनो-विकारों का भी संकेत किया गया है। इन विकारों का रोग निर्णय में भी विशेष हानि होती है। अत्यधिक हर्ष भी कई बार मृत्यु का कारण देखा गया है। जैसे अकस्मात् अत्यधिक द्रव्य लाभ से उत्पन्न हर्ष के आवेग से मृत्यु जैसे परिणाम। इस प्रक्रिया से मनोविकारों से उत्पन्न शारीर मानस रोगों के होने की सम्भावना की जा सकती है। इन मनोभावों के निग्रह का परिणाम भी रोग होता है। जैसे ब्रह्मचर्य का पालन श्रेयस्कर होने पर भी युक्तियुक्त न होने से अर्थात् मन को दबाकर अत्यधिक इन्द्रिय संयम आदि से भी मन का क्षोभ होकर अनेक मानसिक विकारों की उत्पत्ति होती है। मनोभावों के निग्रह के परिणामों का अध्ययन प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड आदि ने सविशेष रूप से किया है। इस विषय का अध्ययन उनके रचित ग्रन्थों से किया जा सकता है। इसी प्रकार रोष, शोक आदि मनोभावों से किस प्रकार ग्रहणी आदि में क्षत आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, इनकी सम्प्राप्ति का अध्ययन आधुनिक ग्रन्थों की सहायता से किया जा सकता है।[2]

बालकों की रोग परीक्षा में अनुमान से पर्याप्त सहायता मिलती है। कारण बालकों की वाणी का विकास नहीं हुआ होने से वे स्वयं अपने कष्टों के ज्ञापक नहीं होते। उनकी विविध चेष्टाओं को देखकर ही वेदना विशेष का अनुमान करना पड़ता है। उनकी रोग परीक्षा का सामान्य नियम यह है कि शिशु यदि रोता हो तो उसे किस प्रकार की वेदना है इसे जानने का प्रथम प्रयत्न करे। रोदन जितने अधिक काल तक हो तथा उसकी जितनी तीक्ष्णता हो उसी प्रमाण में उसकी वेदना का अनुमान करे।[3]

---

१ सु सू अ १–१६,

२ च सू अ ११–३५ पर चक्रपाणि दत्त।

३. (१) 'बालकानामवचसां विविधा देहवेदना।
प्रादुर्भूता कथं वैद्यो जानीयाल्लक्षणार्थतः॥
इति पृष्टो महाभाग- काश्यपो लोकवृद्धये।
प्रोवाच वेदनास्तस्मै कारणैर्बालदेहजाः'॥ (का सं)

वाग्भट ने कहा है कि रोता हुआ बालक जिस स्थान को वार-वार स्पर्श करे तथा वह जिस शरीरावयव को स्पर्श करने से अधिक रोवे, उसी स्थान को चिकित्सक वेदना विशेष का स्थान समझे ।[1] पुन इसके निर्णय के लिये यत्न-पूर्वक उस स्थान की परीक्षा करे अर्थात् उस स्थान से सम्बद्ध स्रोतो सन्धियो आदि की परीक्षा करे ।[2]

शिशु को शिरोवेदना हो तो वह वार-वार शिर को पीटता है तथा आँखें मीचता है, रोता है । उसे किसी दशा मे भी चैन नही मिलता । कर्ण पीड़ा होने पर वह हाथो से कानो को वार-वार स्पर्श करता है तथा शिर को पुन. पुन हिलाता है । अरुचि, अरति तथा अनिद्रा से पीडित होता है । मुखपाक आदि मुखरोग से आक्रान्त होने पर उसे अत्यधिक लालास्राव होता है तथा स्तन द्वेष, अरति, व्यथा, पीए हुए दूध का वमन करता है तथा नाक से श्वास लेता है । कण्ठ या गले मे किसी प्रकार के विकार होने पर पीए हुए दूध का तत्काल वमन, कण्ठ से कफ का उद्गिरण, मन्दज्वर, अरुचि तथा ग्लानि आदि लक्षण प्रकट होते हैं । अविजिह्वा से पीडित होने पर लालास्राव अरुचि, ग्लानि, कपोल मे शोथ और व्यथा होती है तथा वालक सदा मुख को खोले रखता है । गलग्रह रोग होने पर ज्वर, अरुचि, मुख से स्राव तथा कण्ठ से अव्यक्त ध्वनि निकलती है । उदर शूल होने पर वह स्तन्य पान से द्वेष करता है अर्थात् स्तन निकट लाने पर भी वह मुख नही लगाता अथवा क्रोधवश उसे काटता है । उत्तान-लेटे हुए अङ्गो को मरोडता है । वस्ति तथा गुह्य प्रदेश मे पीडा होने पर मल मूत्र का सग ( अप्रवृत्ति ) तथा त्रास होता है और वालक चारो तरफ-देखता है ।

छर्दि के पूर्वरूप मे वार-वार उद्गार का आना, निद्रा तथा जृम्भा का आधिक्य—ये लक्षण होते हैं । हृदय मे पीडा होने पर वालक ओष्ठो को दाँत से काटता है, मुट्ठियाँ मीचता है तथा श्वास कष्ट से पीडित होता है । श्वास रोग मे बालक के वक्ष प्रदेश से शब्दयुक्त उष्ण श्वास निकलता है । आनाह होने पर वालक के नेत्र विशाल तथा स्तब्ध हो जाते हैं । उसे सन्धियो मे पीडा, अरति, क्लम, एव मूत्र, पुरीष और अधोवायु का सग हो जाता है । अर्श से पीडित वालक प्राय जन्म से ही कृश होते हैं तथा विबन्ध और शुष्क मल के साथ रक्त का निर्गम होता है । साथ ही गुदा को सदा खुजलाता रहता है । वालक यदि मूत्र-

( ११ ) 'शिशोस्तीक्ष्णमभीक्ष्ण च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥' ( अ हृ उ अ. २ )

१ 'स य स्पृशेद् भृश देश यत्र च स्पर्शनाक्षम ।
तत्र विद्याद् रुजम् • ॥' ( अ. हृ उ अ २ )

२ 'स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींश्च पश्येद् यत्नान्मुहुर्मुहु· ॥ ( मा. नि )

त्याग कष्टपूर्वक तथा रुक-रुक कर करता हो तथा कदाचित् मूत्र के साथ रक्त भी आता हो तो अश्मरी का अनुमान करना चाहिए। अरुचि, अरति, निद्रालुता तथा शरीर की पाण्डुता को देखकर बालक के शरीर मे आम दोष का अनुमान करना चाहिये। यदि बालक की नाभि के चारो ओर शोथ हो तथा उसके नख, नयन और वदन श्वेत हो, अग्नि मन्द हो गई हो, अक्षि कूट शोथयुक्त हो, उत्साह का ह्रास तथा रक्त की न्यूनता हो तो उसे पाण्डु रोग से आक्रान्त समझे। कामला से पीडित होने पर बालक के नख, नयन, वदन तथा त्वचा पीत वर्ण की-हो जाती है।

बालक की चर्या स्वस्थवृत्त के अनुसार हो तथा उसे सामान्यतः कोई रोग नही हो तो भी यदि वह रात को सोए नही और सहसा सोता-सोता चौंककर उठ जाता हो तथा उठकर रोने लगता हो तथा त्वचा पर रक्तबिन्दु व्याप्त हो तो उसे यूका, मत्कुण आदि से कष्ट समझे और उससे उसकी रक्षा का प्रयत्न करे। काश्यप सहिता मे इस प्रकार के अनुमान ज्ञेय बालको के कष्ट का सविस्तार वर्णन किया है।[1]

रोगी के बल प्रमाण विशेष ज्ञान के लिये निम्नलिखित दश विध परीक्षाओ का आश्रयण परमावश्यक है—

( १ ) प्रकृति, ( २ ) विकृति, ( ३ ) सार, ( ४ ) सहनन, ( ५ ) शरीर प्रमाण, ( ६ ) सात्म्य, ( ७ ) सत्त्व, ( ८ ) आहार शक्ति, ( ९ ) व्यायाम शक्ति, तथा ( १० ) वय, इनसे परीक्षा करें।[2]

**प्रकृति से रोगी की परीक्षा**—जन्म से ही अर्थात् शुक्र शोणित सयोग और उससे जीव ( सूक्ष्म शरीर ) का अनुप्रवेश होने के साथ ही प्रत्येक पुरुष के शरीर अर्थात् गर्भ शरीर की प्रकृति शुक्र शोणित गत दोषो के आधिक्यानुसार बनती है। पुन. प्रसवानन्तर प्रसूत शरीर की प्रकृति देश, काल, जाति, कुल, वय तथा प्रत्येक आत्मा के अनुसार अर्थात् पूर्वकर्म कृत कर्मों सहित शुक्र शोणित मे अवक्रमित सूक्ष्म शरीर के अनुसार पुन बनती है।[3] इस प्रकृति पर ही पुरुष के शरीर की पुष्टि, उसका स्वभाव, उसका आरोग्य अनारोग्य, उसका आहार-विहार, गति, उसका अग्निबल, उसकी त्वचा आदि का वर्ण, उसका वय, अन्य व्यक्तियो के प्रति उसका व्यवहार, कामशक्ति तथा उसकी सन्तति आदि अनेक बाते अवलम्बित होती हैं। प्रकृति जनित उक्त भावो में सर्वाधिक स्मरणीय तथा महत्त्व का विषय परीक्षा की दृष्टि से आरोग्य और अनारोग्य है।

---

१. 'आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च। अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥' ( च वि अ ४ )

२. च. वि अ. ८-८४, ३. च इ अ. १-५;

प्रकृत्यारम्भक दोष के अनुसार ७ प्रकार की देह प्रकृतियो तथा पुन. ७ प्रकार की मानस या महा प्रकृतियो का सकेत शास्त्रो मे प्राप्त होते हैं।[1] इनका वर्णन मूल ग्रन्थ मे किया जा चुका है। परीक्षण मे इन प्रकृतियो के ज्ञान का उपयोग यह है कि इससे रोग के साध्यासाध्य का विचार करने में सुविधा होती है तथा रोगी के वल ( शारीरिक, मानसिक तथा रोगक्षमता ) का ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रकृतियो के ज्ञान की अन्य उपयोगिता ये हैं कि प्रकृति की उत्पत्ति मे जो दोष आरम्भक होता है उसके प्रकोपक आहार-विहार से उस पुरुष मे उस दोष का प्रकोप शीघ्र होता है। अन्य दोषो के प्रकोपक कारणो का सेवन करने पर भी उनका प्रकोप उतना नही होता। जैसे वात प्रकृति पुरुष को वात प्रकोपणो से शीघ्र ही वातज रोगो की उत्पत्ति हो जाती है और वह अधिक कष्टदायी होता है। इसी प्रकार पित्त प्रकृनि पुरुष को पित्तल आहार-विहार से पित्तज विकार तथा कफ प्रकृति पुरुष को श्लेष्मल आहार-विहार से कफज रोग शीघ्र तथा अपेक्षाकृत अधिक कष्टप्रद होते हैं। इसका कारण यह होता है कि प्रकृत्यारम्भक दोष अपने विरोधी गुणो के द्वारा शेष दोषो के प्रकोपक कारणो के सेवन से सम्भावित प्रकोप को दवाए रहता है, अत सामान्यत इनर दोषो के प्रकोप से होने वाले रोग उस प्रकृति वाले पुरुष को पीडित नही करते। इतना ही नहीं, एक ही कारण जो स्वभावत दो दोषो को प्रकुपित करने वाला हो, उसका सेवन करने पर भी प्रकृति के उत्पादक दोष को ही सविशेष प्रकुपित करता है। शेष दोष को उतना नही प्रकुपित करता। जैसे अम्लरस का अतियोग समान गुण पित्त तथा कफ दोनो के वर्धक के रूप मे शास्त्र मे निर्दिष्ट है। परन्तु पित्त प्रकृति पुरुष मे यह पित्त की तथा कफ प्रकृति पुरुष मे कफ की ही सविशेष वृद्धि करेगा इत्यादि।

प्रकृत्यारम्भक दोष का प्रकोप सुलभ होने के कारण ही रोगी की साध्यासाध्यता के प्रकरण मे भी प्रकृति का विचार प्रधान रूप से किया जाता है। रोग का उत्पादक दोष यदि वही हो जो रोगी की प्रकृति का आरम्भक है तो वह रोग कृच्छ्रसाध्य तथा असाध्य होता है। इसके विपरीत होने पर रोग सुखसाध्य होता है। इस प्रकार प्रकृति का विचार रोग निदान मे तथा चिकित्सा मे उपयोगी होता है। प्रकृति का विचार रोगानुत्पत्ति मे भी इसी प्रकार सहायक होता है।

जिस व्यक्ति को अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है वह स्वस्थवृत्त का अनुशीलन करता हुआ अपनी दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या तथा ऋतुसन्धि चर्या को

---

१. र. वै मू अ १–मू ३१;

सम्यक् रूप मे पालन कर अपने प्रकृत्यारम्भक दोष को बढ़ने नही देता जिससे वह तज्जन्य रोगो से अपने को बचाने मे समर्थ होता है तथा उत्पन्न रोग के वल को नही बढने देता। साथ ही प्रकृत्यनुसार वाजीकरणो का सेवन कर वह अपनी व्यवाय शक्ति को परिणत वय पर्यन्त स्थिर रख सकता है तथा उचित रसायनो का सेवन कर अपनी आयु को दीर्घ, शरीर को स्थिर तथा इन्द्रिय को वार्धक्य मे भी सवल रखने मे समर्थ होता है। प्रकृति शब्द आयुर्वेद वाङ्मय मे विकृति के विरोधीभाव धातुसाम्य या स्वास्थ्य के लिये भी व्यवहृत होता है। परन्तु उपर्युक्त प्रकृति विषयक विवेचन आरोग्य सूचक नहीं अपितु शरीर का धर्म विषयक है। चरकाचार्य ने स्पष्ट रूपेण कहा है कि जिस पुरुष मे प्रकृत्यारम्भक तीनो दोष सम अवस्था मे हो—वातलादि सव प्रकृतियो मे पृथक्-पृथक् कहे प्रशस्त गुणो के समुदाय से जिस प्रकृति की रचना हो उसी को प्रकृति नाम देना चाहिये। तत्तद् गुणो से युक्त पुरुष को ही अनातुर (स्वस्थ) कहना चाहिये। शेष वातलादि को प्रकृति न कहकर विकृति ही कहना चाहिये। उनकी शरीर प्रकृति दोषानुवद्ध होती है ('दोषानुशयिता ह्येषा देहप्रकृतिरुच्यते।' च सू ७–४० ) परन्तु पुरुषो का स्वभाव ही विषमाहार विहार करने का होता है। अत सम प्रकृति पुरुष दुर्लभ होते हैं (न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तव सन्ति' च वि ६।१३)। अत वातल आदि को भी प्रकृति कहा जा सकता है। यही कारण है कि शास्त्र मे वातल आदि सज्ञा देह प्रकृतियो की उपलब्ध होती हैं। जैसे—'तैश्च तिस्र प्रकृतयो हीनमध्योत्तमा पृथक्। समधातु समस्तासु श्रेष्ठा, निन्द्या द्विदोषजा' (अ हृ सू १।१०) (विशेष वर्णन के लिये लेखक द्वारा रचित त्रिदोष तत्त्व विमर्श देखें)।

अर्थात् शुक्र शोणित सयोग कालीन उसमे स्थित दोषो के अनुसार ही तीन प्रकार की—हीन, मध्यम और उत्तम प्रकृतियाँ क्रमश वात, पित्त और कफ की, तथा समदोष की समधातु प्रकृति जो सवो मे श्रेष्ठ है, एवं निन्द्य द्विदोषज ३ प्रकार की—वात-पित्तल, वात-श्लेष्मल, पित्तश्लेष्मल प्रकृतियाँ वनती हैं।

वातल, पित्तल तथा श्लेष्मल इन तीनो प्रकृतियो मे श्लेष्म (कफ) प्रकृति पुरुष को आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने उत्तम कहा है। प्रकृतियो के लक्षणो की तुलना करने से भी विदित होगा कि कफ प्रकृति पुरुष के पास धन-सम्पत्ति, भृत्य, मित्र आदि उपभोग के साधन अधिक होते हैं, साथ ही शरीर वल सम्पन्न होने से वह इन साधनो का उपयोग भी सम्यग्रूपेण करने मे समर्थ होता है। दानशीलता, समविभाग रुचिता, शान्त स्वभाव आदि सद्गुण भी उसमे होते हैं। आयु भी उसकी दीर्घ होती है। वह मानस क्लेशो से भी वहुत पीडित नही होता। इस प्रकार उपभोग के साधनो तथा उपभोग की शक्ति के प्राचुर्य

से एव दीर्घ आयु होने से बहुकाल पर्यन्त वह सुखपूर्वक अपना जीवनोपभोग करता है। साथ ही उक्त दानशीलता आदि सद्‌गुणो के कारण त्यागपूर्वक उपभोग करने से आर्य-सस्कृति के अनुसार वह ( कफप्रकृति ) पुरुष सर्व प्रकृतियो मे उत्तम माना गया है।

द्विदोपज प्रकृतियो को निन्द्य इसलिये कहा है क्योकि, प्रकृत्युत्पादक एक दोप रोग उत्पन्न न करे ऐसी चर्या का अवलम्बन किया जाय तो वह चर्या इतर दोष की वृद्धि करने वाली सिद्ध होती है। यदि इस द्वितीय दोप को शान्त करने वाली चर्या रखी जाय तो वह प्रथम दोष को बढाती है। परिणामस्वरूप द्विदोष प्रकृतियाँ रोग उत्पन्न न करें, एतदर्थ कोई मार्ग सुगम नही होने से ( उपक्रम-विरोधी होने से ) इन्हें निन्द्य कहा है।

प्रकृति-परीक्षा के व्यावहारिक रूप को समझाने के लिये उदाहरणो द्वारा स्पष्ट करना आवश्यक है। जैसे—कास और श्वास-कष्ट हो तो विचार करना होगा कि कास और श्वास का अधिष्ठान उरस् है क्योकि यह कफ और वात का स्थान है। कास और श्वास सामान्यतया कफ तथा वात की वृद्धि से ही होते हैं और उष्ण आहार-औषध, तथा वमन एवं लघन-साध्य व्याधि हैं। परन्तु यही व्याधि पित्तप्रकृति पुरुष को हो तो उसमे कारण पित्त तो नहीं है इस बात की गवेषणा करनी चाहिये। उरस् कफ का स्थान होने से पित्तज कास-श्वास मे भी यत्किञ्चित् कफ का अनुबन्ध होता ही है। क्योकि प्रकुपित हुआ एक दोष सभी दोषो को प्रकुपित कर देता है।[1] अत पित्त के साथ कफ का अनुबन्ध होने पर भी अन्य रोगियो के समान इन्हें भी उक्त उष्ण औषध दी जायगी तो सम्भव है क्षणिक लाभ हो, परन्तु स्थायी लाभ तो पित्त को लक्ष्य बनाकर की गई चिकित्सा से ही सम्भव है। आहार मे भी दूध आदि शीत द्रव्य का उपयोग ही लाभप्रद होगा। इत्यादि।

इसी प्रकार प्रतिश्याय भी पित्तप्रकृति पुरुष को तथा पित्तदुष्टि से सम्भव है। प्रतिश्याय को भी सामान्यरूपेण कफ-वातप्रधान विकार माना गया है। यही कारण है कि लोकप्रचरित संज्ञा इसकी सर्दी तथा Cold है। परन्तु इसका भी पैत्तिक भेद होता है। इसमें इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि यदि पित्तज प्रतिश्याय में अथवा पित्तप्रकृति पुरुष के प्रतिश्याय मे यदि एक नासा मे दुष्टि विशेषरूप से हो तथा उस ओर के पुर. कपालगत वाताशय ( Frontal sinus ) मे दुष्टि पहुँच गई हो तो अर्धावभेद तथा सूर्यावर्त्त सदृश शिर पीडा सम्भव है। दुष्टि एक ही ओर के नासास्रोत और वाताशय मे होने से उसी ओर के ललाटार्ध मे पीडा होता है।

१. 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्।'

तथा प्रातःकाल शीतवायु होने से पित्त का प्रकोप नहीं होने पर पीडा शान्त रहती है परन्तु सूर्योदय होने पर ज्यो-ज्यो सूर्य की किरणें प्रखर होती जाती हैं वेदना भी प्रारम्भ होकर बढती जाती है और पुनः मध्याह्नोत्तर शनै. शनै. पीडा न्यून होने लगती है। ऐसे रोगियो मे प्रतिश्याय मे उपयोगी कोई भी औषध जो पित्त-प्रत्यनीक हो यथा गोदन्ती-मिश्रण, त्रिभुवनकीर्त्ति आदि शीघ्र लाभ करती हैं।

प्रकृतियो का विचार आयुर्वेद का अविच्छेद्य अङ्ग है। वृक्षायुर्वेद में भी प्रकृतियो का विचार किया गया है। 'शिवतत्त्व-रत्नाकर' तथा शार्ङ्गधर-कृत उपवन-विनोद में वृक्षो की प्रकृतियो का वर्णन उपलब्ध होता है। कामशास्त्र मे भी पुरुषो तथा स्त्रियो के शश-वृष, शङ्खिनी-पद्मिनी आदि भेद किये गये हैं। इनका प्रयोजन दर्शाते हुए यह कहा गया है कि प्रकृति ( स्वभाव ) की दृष्टि से किस प्रकृति का पुरुष किस स्त्री के लिये अनुरूप होगा, इसका विचार कामशास्त्र की दृष्टि से परम आवश्यक है। कारण—काम ( रति की इच्छा और शक्ति ) का प्रमाण न्यूनाधिक हो तो वह प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न कलह का बीज बन जाता है। प्रकृति का ज्ञान यह भी बतलाता है कि किस प्रकृति के पुरुष और स्त्री की जननेन्द्रिय ग्राम्यधर्म मे एक दूसरे की अधिक से अधिक पूरक हो सकती हैं।

पाश्चात्य देशो में सम्प्रति प्रकृति का अध्ययन पूर्ण सतर्कता से किया जा रहा है और इसके उपयोग का भी चिकित्सा-क्षेत्र मे अनेक आश्चर्यजनक परिणाम देखे गये हैं। आयुर्वेद का यह विज्ञान मानव-समाज के कल्याण मे परम सहायक प्रमाणित होगा ऐसी आशा की जाती है।

## सारतः परीक्षा

सार की परीक्षा रोगी के बल के प्रमाण का तारतम्य तथा आयु जानने के लिये की जाती है।[1] सार शब्द का अर्थ है विशुद्धतर रस आदि शारीर धातु।[2] आयुर्वेद मे इन विशुद्धतर शारीर धातुओ के परिचायक लक्षणो का वर्णन है। धातुओ का प्रकृति के समान ही दो प्रकार से विचार किया जाता है। एक उनके प्रमाण के रूप मे और दूसरा उनके सार के रूप मे। धातुओ के प्रमाण का विचार प्रत्येक पुरुष की अपनी अञ्जलि से करने का विधान है। सार की परीक्षा आर्ष अनुभवो के आधार पर निर्दिष्ट सार के लक्षणो से की जाती है।

आयुर्वेद वाङ्मय मे अधोनिर्दिष्ट परीक्षणीय आठ सारो का वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—( १ ) त्वक्सार अथवा रससार, ( २ ) रक्तसार, ( ३ ) मास

१. 'साराण्यष्टौ बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते।' ( च. वि. ८।१०२ )

२. 'सारशब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते।' ( च. वि. ८।१०२ पर चक्रः )

सार, ( ४ ) मेदःसार, ( ५ ) अस्थिसार, ( ६ ) मज्जसार, ( ७ ) शुक्रसार तथा ( ८ ) सत्त्वसार। आयु तथा सौभाग्य की दृष्टि से रससार आदि सत्त्वसार पर्यन्त सारो में उत्तर-उत्तर सार प्रकृष्ट माना गया है। अर्थात् रससार की अपेक्षा रक्तसार पुरुष बल, सौकुमार्य, धनाढ्यता आदि गुणो मे उत्तम है। इनमे भी एक से अधिक दो या तीन सारगुणो से युक्त पुरुष अधिक आयुष्मान् एव सौभाग्यवान् होता है। पहले कहा जा चुका है कि सारशब्द से धातुओ का प्रमाण अभिप्रेत नहीं, किन्तु उनकी शुद्धि एव तज्जनित बल, आयु आदि सौभाग्यसूचक गुण सारशब्द से अभिहित हैं। रोग-परीक्षा मे इसके उपयोग की व्याख्या करते हुए आचार्य ने अधोलिखित तथ्यो पर ध्यान आकृष्ट किया है।[1]

केवल शरीर के बाह्य रूप को देखकर किसी पुरुष को बलवान् कहना उचित नहीं है, क्योकि देखा जाता है कि विशाल तथा परिपुष्ट शरीर वाले पुरुष भी थोड़े ही क्लेश से उद्विग्न हो जाते हैं और अल्पकाय किंवा कृश शरीर पुरुष भी बड़े से बड़े कष्ट मे उद्विग्न नही होता। इसलिये ऐसा अनुमान करना कि चूंकि यह पुरुष कृश है अत दुर्बल होगा तथा यह विशाल शरीर वाला पुरुष बलिष्ठ ही होगा, सर्वथा सत्य नही होता। आचार्यों ने इस तथ्य को दर्शाने के लिये पिपीलिका का उदाहरण देकर समझाया है कि वह क्षुद्र-शरीर होती हुई भी अपने से कई गुणा अधिक भारवहन करने की शक्ति रखती है। इस तथ्य को समझने मे 'सारज्ञान' परम सहायक होता है।[2] सार-परीक्षा से चिकित्सक रोगी के बलमान-ज्ञान मे मोह को नही प्राप्त होता।

किसी धातु की विशुद्धि का नाम उस धातु की सारवत्ता है। तात्पर्य यह कि जो स्वरूप उस धातु का होना चाहिये वह उसमे विद्यमान हो। साथ ही उस सारवान् पुरुष में सार के शास्त्रनिर्दिष्ट गुण-कर्म भी दृष्टिगोचर होते हो। ऐसे पुरुष को सारवान् समझना चाहिये। जिस पुरुष मे जिस सार के लक्षण न हो या अल्प हो उस पुरुष को उस धातु की दृष्टि से असार या अल्पसार पुरुष कहते हैं। इन सारो की परीक्षा कर आचार्यों ने इन्हे तीन विभागो मे विभक्त कर दिया है जैसे—( १ ) सारवान् पुरुष, ( २ ) असार पुरुष तथा ( ३ ) मध्यसार पुरुष।

**१. त्वक्सार पुरुष के लक्षण**—त्वक्सार पुरुष की त्वचा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न और सूक्ष्म होती है। उसकी त्वचा पर लोम अल्प गम्भीर तथा सुकुमार होते हैं। त्वचा प्रभायुक्त होती है। वह सुखी, सौभाग्यवान्, ऐश्वर्यवान्,

---

१. सु सू ३५।१६, च चि अ ८,

२ 'कथ नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ्मुह्येदयमुपचितत्वाद् बलवान्, अयमल्पबल कृशत्वात्, महाबलोऽय महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति। दृश्यन्ते ह्यल्पशरीरा कृशाश्चैके बलवन्त। तत्र पिपीलिकाभारहरणवत् सिद्धि। अतश्च सारत परीक्षेत।' ( च चि अ. ८।११५ )

उपभोगवान्, बुद्धिमान्, विद्वान्, रोगरहित तथा आनन्द स्वभाव वाला एवं आयुष्मान् होता है।[1]

२ रक्तसार पुरुष के लक्षण—रक्तसार पुरुष के कर्ण, नेत्र, मुख, जिह्वा, नासा, ओष्ठ, पाणितल, पादतल, नख, ललाट तथा मेहन स्निग्ध तथा रक्तवर्ण के होते हैं और वह श्रीमद् ( शोभायुक्त ) तथा भ्राजिष्णु ( दीप्तिमान् ) होता है। रक्तसार पुरुष सुखी, मेधावी, मनस्वी, सुकुमार, अल्पबल, क्लेश के सहन मे असमर्थ, तथा धूप आदि उष्णता का असहिष्णु होता है।[2]

३. मांससार पुरुष के लक्षण—मांससार पुरुष के शंख, ललाट, कृकाटिका, नेत्र, गण्ड, हनु ग्रीवा, स्कन्ध, उदर, कक्षा, वक्ष, पाणि, पाद तथा सन्धि स्थिर-गुरु-शुभमांसोपचित होते हैं। वह क्षमाशील, धृतिमान्, तथा अलोभी होता है। धन, विद्या, सुख, आरोग्य, बल तथा दीर्घायु से युक्त होता है तथा वह सरल-स्वभाव होता है।[3]

४. मेदःसार पुरुष के लक्षण—मेदःसार पुरुष के वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दन्त, ओष्ठ, मूत्र, पुरीष तथा स्वेद स्निग्ध होते हैं तथा उनका शरीर बृहत् होता है। वह आयास-सहिष्णु, धनवान् तथा ऐश्वर्यवान् होता है। वह सुखी, दानशील, भोग करने वाला, सरल स्वभाव वाला तथा सुकुमार होता है।[4]

५ अस्थिसार पुरुष के लक्षण—अस्थिसार पुरुष के पार्ष्णि, गुल्फ, जानु, अरत्नि, जत्रु, चिबुक, शिर, पर्व, अस्थि, नख तथा दन्त स्थूल होते हैं। वह महान् उत्साही, क्रियावान्, क्लेश सहिष्णु, स्थिर तथा सार शरीर वाला एवं आयुष्मान् होता है।[5]

६. मज्जसार पुरुष के लक्षण—मज्जसार पुरुष का स्वर गम्भीर तथा वर्ण स्निग्ध होता है। उसके अङ्ग मृदु, सन्धियाँ दीर्घ तथा स्थूल एवं वृत्त होती हैं। वह बलवान्, सौभाग्यवान् तथा बड़े-बड़े नेत्रोंवाला होता है। मज्जसार पुरुष दीर्घायु, श्रुतभाज, वित्तभाज, विज्ञानभाज, अपत्यभाज तथा सम्मानभाज ( पात्र ) होता है।[6]

७. शुक्रसार पुरुष के लक्षण—शुक्रसार पुरुष सौम्य, सौम्यप्रेक्षी, क्षीरपूर्णलोचन के समान नेत्रोंवाला तथा प्रहर्ष-बहुल होता है। वह स्त्रीप्रिय, स्त्र्युपभोगी, बलवान् तथा सुखी होता है। उसके दाँत स्निग्ध, वृत्त, सम, संहत तथा शिखरयुक्त होते हैं। उसके स्वर तथा वर्ण प्रसन्न और स्निग्ध होते हैं। वह भ्राजिष्णु तथा महानितम्ब वाला होता है। वह धनवान्, ऐश्वर्यवान्, निरोग, सम्मानास्पद तथा पुत्रवान् होता है।[7]

---

१-५ च वि. अ. ८, का स सू. स्था० २८
६-७ च. वि अ. ८,

८. सत्त्वसार पुरुष के लक्षण—सत्त्वसार पुरुष स्मृतिमान्, भक्तिमान्, कृतज्ञ, प्राज्ञ, शुचि, महान् उत्साही, दक्ष, धीर, समरविक्रान्त योद्धा, त्यक्तविषादी, सुव्यवस्थित गति वाला, सुव्यवस्थित बुद्धि वाला, सुव्यवस्थित एवं गम्भीर चेष्टा वाला तथा कल्पनाभिनिवेशी होता है।[1]

सारवान् पुरुष के लक्षण—इन उपर्युक्त सभी सारगुणों से युक्त पुरुष अत्यन्त बलवान्, परमसुखी, क्लेशसहिष्णु, सभी प्रकार के कार्यों का आरम्भ पूर्ण आत्मविश्वास से करने वाला, परमकल्याणाभिनिवेशी, स्थिर तथा समाहित शरीर वाला, सुसमाहितगतिवाला, सानुनाद-स्निग्ध-गम्भीर तथा महान् स्वर वाला होता है। वह धनवान्, ऐश्वर्यवान् तथा सुखों का उपभोक्ता एवं सम्मानास्पद होता है। उसे जरा आदि विकार शीघ्र नहीं आते तथा वह दीर्घायु एवं प्रशस्तगुण पुत्रों वाला होता है।[2]

असार पुरुष इन लक्षणों से विपरीत लक्षण वाला होता है तथा मध्यसार पुरुष मध्यसार गुणों से युक्त होता है।

जिस प्रकार प्रकृतियों का निर्माण सहज तथा जातोत्तरकालीन विविध अवस्थाओं के प्रभाव से प्रभावित होकर होता है उसी प्रकार सार का निर्माण भी सहज तथा जातोत्तरकालीन आहार-विहार आदि धातु निर्मापक तत्त्वों पर निर्भर होता है। जिस मनुष्य में जिस धातु के विशुद्धि के घटक उत्कृष्ट होते हैं वह तद्धातुविशिष्ट-गुणयुक्त होने से तत्सारपुरुष होता है। ये सार रोगवश हीन भी होते हैं। जैसे पाण्डुरोगी 'निःसार' हो जाता है। पाण्डु रोग प्रधानरूपेण रक्ताल्पता तथा ओज-गुणों के अत्यधिक क्षय होने से रक्तसार के गुण तथा अन्य धातुओं के भी रक्ताल्पतावश क्षय होने से सार गुणों का ह्रास होता है।

रक्त में दोषों के प्रभाव से क्लेदाधिक्य (द्रवाधिक्य), पीतता तथा रक्तक्षय के अन्य लक्षण दृग्गोचर हों तो रक्तसारहीन या निःसार कह सकते हैं। पाण्डु रोग में प्राकृत वर्ण, बल, स्नेह आदि गुण अत्यधिक क्षीण हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य धातुओं के क्षीण होने पर भी निःसारता होती है।

## संहननतः परीक्षा

रोगि-परीक्षा में रोगी के बल आदि का निर्णय करने के लिये 'संहनन' की भी परीक्षा आवश्यक होती है। 'संहनन' का अर्थ है शरीर के मांसपेशी आदि दृश्य अवयवों एवं सूक्ष्म देह परमाणुओं का संघान या संगठन अथवा परस्पर संयोग-निविड।[3] संहति, संघात या संयोजना ये सब पर्यायवाची हैं।

१-२ च. वि अ ८,

३. 'संहननतश्च (परीक्षेत) इति। संहननं, संहतिः (संघात इति पाठान्तरम्) संयोजनमित्येकोऽर्थः।' (च. वि. अ. ८)

सहनन या सघात भेद से शारीर-शास्त्रियो ने तीन प्रकार के शरीर का वर्णन किया है जैसे—( १ ) सुसहत शरीर ( २ ) मध्यसंहत शरीर और ( ३ ) असंहत शरीर ।[1]

**सुसंहत शरीर के लक्षण**—जिस पुरुष की अस्थियाँ सम ( अर्थात् अस्थियो का जो स्वास्थ्योचित प्रमाण हो वैसी हो ), सूपचित ( अर्थात् उनका उपचयपुष्टि उचित रूप मे हुई हो ), सुविभक्त ( अर्थात् प्रत्येक अस्थि का जैसा सन्निवेश होना चाहिये वैसा हो ), अस्थि आदि की सधियाँ सुवद्ध तथा सुदृढ़ हो, मासपेशियो का सन्निवेश यथायोग्य हो तथा सूपचित हो ( अर्थात् शरीराव-यवो मे जहाँ जिस प्रकार मास धातु का प्रमाण होना चाहिये वह हो तथा वह योग्य स्वरूप वाला एव उसका जिस स्थान पर रहना स्वास्थ्योचित हो उसी स्थान पर स्थित हो ), रक्त भी उचित प्रमाण तथा स्वरूप मे हो, उसका संवहन भी जिस अवयव मे जिस प्रमाण मे होना चाहिये वैसा हो इत्यादि । ऐसे शरीर को 'सुसहत' ( उत्तम सवहन वाला ) कहते हैं । जिन पुरुषो का शरीर सुसंहत होता है वे वलवान् होते हैं । व्यायाम, श्रम, शीत-वात-आतप आदि को तथा रोग के आक्रमण तथा वल को सहन करने का सामर्थ्य उनमे उत्कृष्ट होता है ।

इसी प्रकार जिनका शरीर सुसहत नही होता, मध्यसहत होता है वे मध्य बल वाले तथा जिनका शरीर असहत होता है वे अधम वल वाले होते हैं ।[2]

## प्रमाणतः परीक्षा

रोगी दीर्घायु है अथवा मध्यमायु या अल्पायु इसकी परीक्षा भी परमावश्यक है । अत अन्य परीक्षणीय भावो की परीक्षा के पूर्व आयु की परीक्षा करनी चाहिये । आयु के उक्त त्रिविव भेदो के ज्ञान के लिये अङ्ग-प्रत्यङ्ग के प्रमाण तथा सार की परीक्षा की उपयोगिता विशेष है । इनमे सार की परीक्षा पहले कही जा चुकी है । अव प्रमाण का उल्लेख किया जायगा । आयु-ज्ञान के लिये इन सार तथा प्रमाण-परीक्षाओ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक भाव यथा अरिष्ट, दूत, शकुनादि हैं परन्तु इन दोनो का अधिक महत्त्व है ।[3]

---

१ च वि अ ८;

२ ( I ) 'समसुविभक्तास्थि, सुबद्धसन्धि, सुनिविष्टमासशोणित सुसहत शरीरम् । सुसहतशरीर × × ×वलवान्, मध्यसहतशरीर. × × ×मध्यवल, अल्प-सहतशरीर × ×अल्पवल. ।'

( II ) 'सहननतश्चेति—सहननम्-, सङ्घात सयोजनमित्यर्थ । तत्र समसुविभक्तास्थि सुसम्बद्धसन्धि सुनिविष्टमासशोणित सुसहत शरीरमुच्यते । तत्र सुसहतशरीरा वलवन्त., विपर्ययेणाल्पवला. प्रवरावरमध्यत्वात् सहननस्य मध्यवला भवन्ति ।'

३ 'विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारत- ।
परीक्ष्यायु: सुनिपुणो भिषक् सिद्ध्यति कर्मसु ॥' ( सु. सू. अ ३५।१७ )

शरीरावयवो के उत्सेध (ऊँचाई), विस्तार (चौडाई) तथा आयाम (लम्बाई) का प्रमाण शास्त्रों में स्वागुलियो (अपनी-अपनी अगुलियो) द्वारा बतलाया गया है। तात्पर्य यह कि यहाँ जिस पुरुष के विभिन्न अवयवो का प्रमाण लेना हो उसी पुरुष की अगुली का मध्य भाग लेना चाहिये। अर्थात् स्त्री का प्रमाण लेना हो तो उस स्त्री की अगुली एव बालक का लेना हो तो उस बालक की अंगुली का मध्य भाग लेना चाहिये।[1]

अङ्ग-प्रत्यङ्ग के प्रकृत प्रमाणो का निर्देश करने के पूर्व आयुर्वेद की दृष्टि इस विषय मे क्या है यह समझ लेना परमावश्यक है। अस्वास्थ्य की इन्द्रियो और मन की अप्रसन्नता का स्थान जिस प्रकार प्रमुख माना गया है उसी प्रकार आरोग्य की परीक्षा मे तथा आयु की परीक्षा मे भार तथा शरीर के विविध अवयवो के उत्सेध, विस्तार और आयाम के प्रमाणो का भी विशेष महत्त्व है। हमारे आचार्यो ने अविकल प्रयत्नो से शरीर के रचनात्मक और तदनुबद्ध क्रियात्मक साम्य की परीक्षा के लिये अगुलिमान का सिद्धान्त आविष्कृत किया है। अत. उसे पुन प्रकाश मे लाने के लिये उसका व्यावहारिक रूप स्थिर करना परमावश्यक है।

अंगुली से माप लेने के लिये किसी फीते पर प्रमेय पुरुष की मध्यमागुली के मध्यभाग का प्रमाण चिह्नित कर लेना चाहिये। पुनः उसे इञ्च या सेन्टीमीटर पर बैठा लेना चाहिये। पुन इन चिह्नित मापो से माप लेना सुविधायक हो जाता है।

मानव शरीर ६ अङ्गो मे विभक्त है यथा—अन्तराधि (कोष्ठ, शरीरमध्य या धर) एक, सक्थि (पैर) एव बाहु (शाखायें) चार, तथा ग्रीवा समेत शिर एक, इस प्रकार ये ६ अङ्ग कहलाते हैं। इनके अवयवो को प्रत्यङ्ग कहा जाता है। इन ६ अङ्गो के कारण ही शरीर 'षडङ्ग' कहलाता है।[2]

---

१ (i) 'शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलीप्रमाणेनोपदेक्ष्यते उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम्॥' (च वि अ ८।११७)

(ii) 'देह' स्वैरङ्गुलैरेव यथावदनुकीर्तित.।' (सु सू ३५।१४)

(iii) 'स्वैरङ्गुलैरित्यनेन नारीशरीर नार्यङ्गुलेन, पुरुषशरीर पुरुषाङ्गुलेन मेय, किञ्च बालशरीर बालाङ्गुलेन मेयमित्यपि सूचित ज्ञेयम्। स्वाङ्गुलोऽत्राङ्गुली मध्यदेशो माने ज्ञेय'। एतस्मिंश्च स्वाङ्गुलिमाने त्रियवमानताऽङ्गुलस्योक्ता न सङ्गता भवति।' (चक्रपाणि')

२. 'तत्राय शरीरस्याङ्गविभाग, तद्यथा-द्वौ बाहू द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधि., इति षडङ्गमङ्गम्।' (च शा अ ७-५)

## स्वाङ्गुली प्रमाण से अङ्ग प्रत्यङ्गों के माप[१]

| अङ्गावयव | उत्सेध | विस्तार | आयाम | परिणाह |
|---|---|---|---|---|
| पाद ( दोनों ) | ४ | ६ | १४ | |
| जंघायें ( जानु के नीचे ) | — | — | १८ | १६ |
| जानु ( दोनों ) | — | ४ | — | १६ |
| ऊरु ( दोनों ) | — | — | १८ | ३० |
| वृषण ( दोनों ) | — | — | ६ | ८ |
| शेफस् | — | — | ६ | ५ |
| भग | — | — | — | १२ |
| कटी | — | १६ | — | — |
| बस्तिशिर | — | १९ | — | — |
| उदर | — | १० | १२ | — |
| पार्श्व ( दोनों ) | — | १० | १२ | — |
| स्तनान्तर | — | १२ | — | — |
| स्तन पर्यन्त | — | २ | — | — |
| उरस् | १२ | २४ | — | — |
| हृदय ( हृद्यकुल ) | — | — | — | — |
| स्कन्ध ( दोनों ) | — | ८ | — | — |
| अंस ( दोनों ) | — | ६ | — | — |
| प्रबाहु (अंस से केहुनी तक) | — | — | १६ | — |
| प्रपाणी ( केहुनी के अध प्रदेश ) | — | — | १५ | — |
| हाथ ( दोनों ) | — | — | १२ | — |
| कक्षा ( दोनों ) | — | ८ | — | — |
| त्रिक् | १२ | — | — | — |
| पृष्ठ | १८ | — | — | — |
| शिरोधरा | ४ | — | — | २२ |
| आनन | १२ | — | — | २४ |
| आस्य ( मुख्य ) | — | ५ | — | — |
| चिबुक | — | ४ | — | — |
| ओष्ठ ( दोनों ) | — | ४ | — | — |
| कर्ण ( दोनों ) | — | ४ | — | — |
| अक्षिमध्य | — | ४ | — | — |
| ललाट | — | ४ | — | — |
| नासिका | — | ४ | — | — |
| शिर | १६ | — | — | ३२ |

१. ( क ) सु. सू. अ. ३५, ( ख ) च. शा. अ. ८; ( ग ) काश्यप संहिता सू. अ. २८;

सम्पूर्ण शरीर का दैर्ध्य ८४ अंगुल स्वांगुली-प्रमाण से होता है। विहित प्रमाण शरीर वाला पुरुष आयु, बल, वर्ण, ओज, सुख, ऐश्वर्य, धन तथा अन्य इष्टभावों से युक्त होता है। इससे हीन वा अधिक प्रमाण शरीर वाला पुरुष इससे विपरीत माना गया है अर्थात् अल्पायु, बल-वर्णादि से हीन तथा दुःखी होता है।[1]

सक्थि के गुल्फ (घुटने) से नीचे के भाग को पाद (Foot) कहते हैं। नख वाले भाग को छोडकर पाद के अंगुष्ठ तथा प्रदेशिनी (प्रथम) अंगुली प्रत्येक दो-दो अंगुल आयत (लम्बी) होती है। प्रदेशिनी से मध्यमा, मध्यमा से अनामिका तथा अनामिका से कनिष्ठिका अंगुली एक अंगुल का पञ्चम भाग (अर्धांगुल) न्यून होती है। पाद के कल्पित तीन भाग हैं—प्रपद या पादाग्र, अंगुली वाला भाग, पादमध्य अथवा पादतल तथा पार्ष्णि (एडी)। मर्म प्रकरण मे तल के भी मध्य भाग को तल हृदय कहा है। प्रपद और पादतल प्रत्येक चार अंगुल आयत (लम्बा) और पांच अंगुल विस्तृत (चौडा) होता है। (पाठान्तर मे प्रपद का विस्तार ६ अंगुल और पादतल का ५ अंगुल कहा है)। पार्ष्णि (एडी) पांच अंगुल आयत तथा चार अंगुल विस्तृत होती है। इस प्रकार नखरहित पादांगुष्ठ तथा प्रदेशिनी के दो अंगुल प्रपद और पादमध्य के चार-चार अंगुल एवं पार्ष्णि के चार अंगुल मिलकर चौदह अंगुल आयत (लम्बा) होता है। इसी प्रकार पाद, गुल्फ, जंघा और जानु इनमे प्रत्येक के मध्य का परिणाह (परिधि या घेरा) चौदह-चौदह अंगुल होता है।

जानु और गुल्फ के मध्य का भाग जङ्घा कहलाता है। उपर्युक्त आयाम तथा परिणाह का माप चरक के मतानुसार है। सुश्रुत ने जंघा का परिणाह चौदह अंगुल कहा है। परन्तु इस प्रकरण मे सुश्रुत ने भी इन्द्रवस्ति का परिणाह सोलह अंगुल बताया है। डल्हण ने इन्द्रवस्ति का अर्थ जंघा मध्य किया है। यह दो प्रकार का परिणाह-निर्देश चिन्त्य है। डल्हण ने इस मतभेद का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि चौदह अंगुल प्रमाण गुल्फ के ऊपर का तथा सोलह अंगुल प्रमाण जानु के नीचे समझना चाहिये। अतः उक्त विरोध का समाधान हो जाता है।

जानु की अधः संधि से प्रारम्भ कर कटि-संधि पर्यन्त सक्थि भाग ३२ अंगुल दीर्घ होता है। इस प्रकार जंघा और जानु का ऊर्ध्वभाग मिलकर सक्थि ५०

१. (i) सु. सू. अ ३५,
(ii) च. शा अ ८,
(iii) काश्यप संहिता सू. अ २८;

अंगुल होती है। इसमे ऊरु ( जघा, जानु के ऊर्ध्वभाग वंक्षण-सन्धि पर्यन्त ) जघा के समान आयाम का अर्थात् १८ अगुल आयत तथा मध्य मे ३० अगुल परिणाह का होता है।

वृषण ( अण्ड ) का विस्तार २ अंगुल और दैर्घ्य ६ अंगुल तथा परिणाह ८ अगुल होता है। सामान्यत: पुरुष का शिश्न ( शेफस् ) स्तब्ध न हो तो चार अंगुल दीर्घ और स्तब्ध ( उच्छ्राययुक्त ) हो तो ६ अगुल दीर्घ और पाच अंगुल परिणाह का होता है। स्त्री के भग का विस्तार सामान्यरूपेण १२ अगुल ( परिणाह ) होता है। हृदय २ अंगुल ( पाठान्तर ३ अंगुल ) विस्तीर्ण होता है। त्रिक से गुदास्थि से आरम्भ कर कटिकपाल के ऊर्ध्वभाग पर्यन्त ग्रहण करना चाहिए। नाभि और हृदय तथा हृदय और ग्रीवा के अन्तर बारह-बारह अगुल होते हैं। स्त्री की श्रोणि का प्रमाण १२ अगुल उत्सेध तथा २४ अगुल विस्तार में होता है। श्रोणि से दोनो ऊरु-सधियो के नीचे का तथा भग के ऊपर का प्रदेश ग्रहण होता है। स्त्री का उर ( छाती ) १८ अगुल विस्तीर्ण होता है।

बाहु के प्रत्यङ्गो का प्रमाण—अगुष्ठ २½ अगुल, प्रदेशिनी ४½ अगुल मध्यमा पाच अगुल, अनामिका ४½ तथा कनिष्ठिका २½ अगुल की होती है। अगुष्ठमूल और प्रदेशिनी अगुली का अन्तर पाच अगुल होता है। हस्ततल ६ अंगुल आयत और ४ अगुल विस्तीर्ण होता है। अस से नीचे कफोणि पर्यन्त प्रदेश १६ अगुल होता है। सुश्रुत ने 'असपीठ-कूर्परान्तरायाम' पद से इसे अभिव्यक्त किया है। पाठान्तर मे इसका प्रमाण २० अगुल है। इस प्रकार असपीठ से कूर्पर तक के प्रदेश के १६ अगुल तथा कूर्पर से मणिबन्ध तक प्रदेश के १६ अगुल मिलकर 'भुजा' का प्रमाण ३२ अगुल हो जाता है। मणिबन्ध तथा प्रकोष्ठ प्रत्येक का परिणाह ( घेरा ) १२ अंगुल होता है। मणिबन्ध उस प्रदेश का नाम है जहा आजकल घडी बाधी जाती है अर्थात् पाणि का मूल प्रदेश। मणिबन्ध के चार अगुल ऊपर का प्रदेश प्रकोष्ठ कहलाता है।

शिर के उत्सेध का अर्थ है पीछे की ओर ग्रीवा से ऊपर की ओर ऊँचाई। चरक के मत से मुख का विस्तार चार अगुल तथा सुश्रुत के अनुसार पाच अंगुल है। आनन के आयाम से चिबुक से ललाट पर्यन्त प्रदेश समझना चाहिये। खोले हुए मुख का अन्तर चार अगुल है। सुश्रुत ने अपाङ्ग ( नेत्र का बाह्य कोण ) तथा श्रवण का अन्तर पाच अगुल कहा है। प्रत्येक दन्त दो अगुल के उत्सेध का होता है। इनमे अर्धांश मासवेष्टित रहता है। दोनो नासापुटो का बहिर्भाग भी दो अंगुल विस्तार का होता है। सुश्रुत ने लिखा है कि एक नासापुट का प्रमाण १⅓ अगुल होता है। दोनो भौहो का अन्तर तथा दोनो नयनो का अन्तर प्रत्येक २ अङ्गुल का होता है।

केशान्त और मस्तक का अन्तर ग्यारह अगुल होता है। केशान्त का अर्थ है शखो के ऊपर स्थित वह स्थल जहा से केश प्रारम्भ होता है। मस्तक से अभिप्राय है मस्तक का मध्य विभाग जहा रोमावर्त्त ( रोमचक्र ) रहता है। मस्तक मे अवस्थित केशान्त का अन्तर दश अगुल होता है। अवटु शिर के पृष्ठ भाग को कहते है। इसका दूसरा नाम 'कृकाटिका' भी है। दोनो कर्णों के गर्त का अन्तर पीछे की ओर से चौदह अगुल है।

इस प्रकार प्रत्येक अवयव के यथोपलव्ध शास्त्रनिर्दिष्ट प्रमाण का पृथक् निर्देश किया गया है। सम्पूर्ण शरीर का उत्सेध ( ऊँचाई ) चरक के अनुसार ८४ अगुल अथवा अपने हाथ से ३½ हाथ तथा सुश्रुत के अनुसार १२० अगुल होता है। डल्हण ने कहा है कि सुश्रुतोक्त दैर्घ्य उस पुरुष का समझना चाहिये जो अपने पादाग्र पर खडा होकर अपने बाहुओ को ऊपर किये हो।[1] चक्रपाणि मे भी एकीय मत का उद्धरण दे इसका समर्थन किया है।[2]

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो प्रमाण विविध अङ्गो का यहा कहा गया है वह युवा पुरुष ( २५ वर्ष का ) तथा युवती स्त्री ( १६ वर्ष की ) का है। इस वय मे सभी रसादि धातुये परिपूर्ण हो जाती हैं जिसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक अङ्ग समुचितरूपेण उपचित हो गया होता है अर्थात् सम्पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

प्राचीन अभिलेखो से ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त अवयवो को किसी फीते या रस्सी से माप कर पुन अगुली से उनको मापा जाता था। क्योकि डल्हण अपनी व्याख्या मे लिखता है कि—'चतुर्दशांगुलीपरिणाहानीति परिणाहो वर्तुलता, चतुर्दशागुलमानरज्ज्वा वेष्टनमित्यर्थ ।'

ये उपर्युक्त प्रमाण स्त्री तथा पुरुष के दीर्घायु होने के लक्षण हैं तथा इन आवयविक प्रमाणो से युक्त पुरुष या स्त्री प्रभूत वलशाली, ओजस्वी, सुखी, ऐश्वर्यवान्, धनवान् तथा अन्य अभीष्ट वस्तुओ से सम्पन्न होता है। जिस पुरुष मे इन उपर्युक्त प्रमाणो से हीन या अधिक प्रमाण अङ्ग-प्रत्यङ्गो का हो ऐसे पुरुष इसके विपरीत आयु आदि मध्यम या अवर होते हैं।[3]

---

१ 'पादाग्रस्थितस्योर्ध्वबाहो. पुरुषस्य दैर्घ्यम' ( डल्हण सु सू अ ३७ )

२ 'अन्ये विस्तृतबाहुपुरुषायामं सविंशमङ्गुलशत वदन्ति' ( चक्र )

३ ( i ) तत्रायुर्बलमोज सुखमैश्वर्य वित्तमिष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ता प्रमाणवति शरीरे, विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा।' ( च वि अ ८ )

( ii ) शरीरमङ्गुलिपर्वाणि चतुरशीति । तदायामविस्तारसम समुच्यते। ( च वि अ ८ )

( iii ) सुश्रुते सविंशमङ्गुलिशतं पुरुषमुच्यते।

## सत्त्वतः परीक्षा

सत्त्व का अर्थ है 'मन' यह आत्मा के संयोग से जीवित शरीर का धारण, प्रेरण तथा नियमन करता है अतः इसे 'तत्रक' कहते हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीन मन के गुण हैं। इनमें सत्त्व गुण के प्रमाणानुसार मन का बल होता है। सत्त्व गुण के अतिरेक से ही पुरुष दुःख-सुख के कारणभूत परिस्थितियों में भी पड़ने पर ग्लानि तथा हर्ष को प्राप्त नहीं होता अर्थात् दुःख में विचलित नहीं होता तथा सुख में हर्ष का भी अनुभव नहीं करता। धीरता, निर्विकारता तथा निर्भयता सत्त्वगुण के उद्रेक से ही होता है। अतः रोगी की परीक्षा में 'सत्त्व' अर्थात् रोगी की मानसिक स्थिति की परीक्षा भी परमावश्यक है।[1]

मन में सत्त्वगुण का प्राधान्य हो तो उपर्युक्त उत्तम मनोबल होता है। रजोगुण का प्राधान्य होने पर मनोबल मध्यम तथा तमोगुण की प्रधानता से दुर्बल मन होता है। इस प्रकार सत्त्वादि की प्रधानता के भेद से मन तीन प्रकार का अर्थात् ( १ ) प्रवर सत्त्व, ( २ ) मध्य सत्त्व और ( ३ ) अवर सत्त्व होता है।[2]

सार के प्रकरण में सत्त्वसार द्वारा प्रवर सत्त्व का वर्णन किया जा चुका है। प्रवर सत्त्व या सत्त्वसार पुरुष कृशकाय होने पर भी बड़े बड़े अथवा भयंकर क्लेश को सहने में समर्थ होते हैं अर्थात् निज तथा आगन्तुक भयंकर व्याधियों में भी विकल नहीं होते। सत्त्वगुण की अधिकता से वे उसे अविकल हो अन्दर ही अन्दर सह लेते हैं। ऐसे पुरुषों को अल्पज्ञ चिकित्सक भ्रम से लघु व्याधित समझ लेते हैं और उचित प्रतिकार करने में असफल होते हैं।

मध्य सत्त्व पुरुष आरम्भ में पीडा से विकल हो उठता है परन्तु जब वह औरों को वेदना सहते देखता है तब उसे भी आत्मविश्वास होता है और पीड़ा को सहने में समर्थ हो जाता है। उसे इस बात का अनुभव होता है कि जब इस प्रकार की वेदना अन्य सहन कर सकते हैं तो वह भी सहन कर सकता है। अर्थात् दूसरे की सहन शक्ति को देख उसका मनोबल बढता है तथा उसके अन्दर धैर्य आता है।

हीन सत्त्व पुरुष न स्वयं धैर्य रखने में समर्थ होता न अन्य को ही धीरज बँधाने में सहायक होता। थोडा क्लेश से भी वह विकल हो उठता है। विशाल शरीर होते हुए भी उसे स्वल्पमात्र वेदना सह्य नहीं होती। अल्पमात्र कारण

---

१. ( i ) 'सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तन्त्रकम्, आत्मसंयोगात्' ( च. वि. अ. ८ )।
( ii ) सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम्। ( सु. सू. ३५ )

२. ( सु. सू. अ. ३५-३८ )

से भी उसके मन मे भय, शोक, लोभ, मोह और मान के वेग हो आते हैं। इनमें से किसी न किसी का आवेश उसमे अवश्य दृष्टिगोचर होता है। रौद्र, भयंकर, बीभत्स, विकृत या अरुचिकर प्रसग मे वह शीघ्र विचलित हो जाता है। किसी पुरुष के रक्तस्राव को देखकर वह विषाद, मूर्च्छा, भ्रम आदि से आक्रान्त हो गिर जाता है। कभी-कभी तो अल्प सत्त्व पुरुष किसी भयानक दुर्घटना को सुनते ही मूर्च्छित हो जाता है तथा उसकी मृत्यु भी हो जाती है। अत हीन सत्त्व पुरुषो को ऐसे प्रसग से सदा दूर रखना चाहिये।

इस प्रकार सत्त्व की परीक्षा रोग-निदान, औषध-व्यवस्था तथा निदान-परिवर्जन के लिये परमावश्यक है।

## सात्म्यतः परीक्षा

सात्म्य उसे कहते हैं जो जीवात्मा के लिये उपशय हो अर्थात् सुखावह हो। तात्पर्य यह कि जिस द्रव्य ( आहार तथा औषध द्रव्य ), देश, व्यायामादि विहार के सेवन से पुरुष को जीवन ( अनुवन्ध आयु ) मे सुख की प्राप्ति हो उसे उसके लिये सात्म्य या उपशय कहते हैं। इसके विपरीत जिसके सेवन से आयु मे दु ख का अनुभव हो वह उस पुरुष के लिये असात्म्य या अनुपशय होता है।[1] सुख-दु ख शब्द से यहाँ आयुर्वेद का प्रसिद्ध अर्थ आरोग्य और रोग ग्रहण करना श्रेयस्कर है।[2] तात्पर्य जिस आहार-विहार से पुरुष का स्वास्थ्य अक्षुण्ण वना रहे अर्थात् अनुत्पन्न रोग उत्पन्न न हो, उसका आरोग्य तथा वल स्थिर रहे तथा यदि वह रुग्ण हो तो उसके सेवन से रोग निवृत्त हो जावे उसे 'सात्म्य' कहते हैं।

स्वरूप भेद से यह सात्म्य अनेक प्रकार का होता है। जैसे—( १ ) देश सात्म्य, ( २ ) काल सात्म्य, ( ३ ) जाति सात्म्य, ( ४ ) ऋतु सात्म्य, ( ५ ) रोग सात्म्य, ( ६ ) स्वभाव सात्म्य, ( ७ ) सहज सात्म्य, ( ८ ) ओक सात्म्य इत्यादि।[3]

---

१ ( I ) 'सात्म्य नाम तद् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यार्थो हि उपशयार्थ। तत्त्रिविध प्रवरावरमध्यविभागेन-। सप्तविध तु रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च। तत्र सर्वरस प्रवरम्, अवरमेकरस मध्य तु प्रवरावरमध्यस्थम्।' (च.वि अ. १।२३)

( II ) 'सात्म्य नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते।' ( च वि अ ८।११ )

२ 'सात्म्यानि तु देशकालजाति-ऋतुरोगव्यायामोदकादि वा स्वप्नरसप्रभृतीनि प्रकृति विरुद्धान्यपि यान्यवाधकराणि भवन्ति।

यो रस कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः।

व्यायामजातमन्यद्वा तत्सात्म्यमिति निर्दिशेत्॥ ( सु सू. ३५, ३९, ४० )

३. 'सात्म्यतश्चेति—सात्म्य नाम तद्यत् सातत्येनोपयुज्यमानमुपशेते। तत्र घृतक्षीर-तैलमांसरससात्म्याः सर्वरससात्म्याश्च ये ते वलवन्त क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति।

**देश सात्म्य**—देश शब्द का व्यवहार आयुर्वेद वाङ्मय मे भूमि तथा आतुर-शरीर दोनों अर्थो मे होता है। अत. सात्म्य का विचार दोनो दृष्टियों से करना होगा। आतुर-शरीर के लिये सात्म्य द्विविध हो सकते हैं यथा—एक सम्पूर्ण शरीर के लिये तथा दूसरा अङ्ग विशेष के लिये जैसे—मधुर रस सम्पूर्ण शरीर के लिये सात्म्य है। क्योंकि इससे सभी धातुओं की वृद्धि होती है तथा सर्वशरीर की वृद्धि करता है। दूसरा ऐसा द्रव्य जो अङ्ग विशेष के लिये हितकर हो जैसे चक्षुष्य, केश्य, कण्ठ्य, हृद्य, इत्यादि द्रव्य। भूमि सात्म्य भी इसी प्रकार द्विविध हो सकता है जैसे सम्पूर्ण देश के लिये सात्म्य तथा देश-विशेष के लिये सात्म्य।

समुदाय रूप भूमि मे सात्म्य का उदाहरण यह है कि जाङ्गल के देश मे जो आहार और आचार प्रचलित होते हैं वे आनूप देश मे सात्म्य नही होते। आनूप देश मे प्रकृति आदि की दृष्टि से उष्ण-रूक्ष द्रव्य ही सात्म्य होते हैं। इसी प्रकार देश के किसी भाग का उदाहरण यह है कि वाह्लीक, चीन आदि प्रदेश मे माष गोधूम माध्वीक आदि सात्म्य होते हैं इत्यादि।

**काल सात्म्य**—काल दो प्रकार का होता है जैसे—परिणामी और आवस्थिक। परिणामी काल से दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु आदि का ग्रहण होता है। आवस्थिक मे बाल, युवा तथा वृद्ध का ग्रहण होता है। इन कालो मे दोषो के स्वाभाविक सचय-प्रकोप आदि होते रहते हैं। अत इसके अनुसार आहार-विहार के सात्म्य का विचार करना होता है। स्वस्थ वृत्त के विधान मे इसका वर्णन किया जा चुका है।

**ऋतु सात्म्य**—ऋतुचर्योक्त अन्न-पान तथा विहार आदि ऋतु सात्म्य कहलाता है।

**जाति सात्म्य**—मनुष्य जाति के लिये शालिधान्य, गोधूम आदि सात्म्य होते हैं। पशु-पक्षियो को तृण, पतग आदि सात्म्य होते हैं। अग्निपक्व अन्न-पान मनुष्यो का सात्म्य बन चुका है परन्तु पशुओ को अपक्व शस्य तृण आदि ही सात्म्य होता है इत्यादि।

**रोग सात्म्य**—जिस रोग मे जो वस्तु तथा आहार-विहार ( अन्न, औषध, उपचार ) सुखावह हो वह उस रोग से आक्रान्त पुरुष के लिये सात्म्य होता है।

सहज सात्म्य वह है जो जन्म से ही सुखावह होता है जैसे क्षीर ( स्तन्य ) नवजात बालको के लिये इत्यादि।

---

**स्वसात्म्याः** पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पक्लेशसहाश्चाल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति। व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबला सात्म्यनिमित्ता भवन्ति।' (च वि.अ. ८)

सात्म्यतः परीक्षा मे इन उपर्युक्त बातो का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस तथ्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि घृत, क्षीर, तैल, मांसरस सात्म्य पुरुष तथा सर्वरस सात्म्य पुरुष बलवान्, क्लेशसह और दीर्घायु होते हैं। रूक्ष द्रव्यो का अभ्यासी तथा एकरस-सात्म्य पुरुष अल्पबल, अल्प क्लेशसह तथा अल्पायु होते हैं। व्यामिश्र-सात्म्य पुरुष मध्यबल होता है। इत्यादि।[1]

## ओक सात्म्य

कई द्रव्य ऐसे होते हैं जो किसी व्यक्ति के लिये जन्म से ही विरुद्ध होते हैं। उनके सेवन से हानि निश्चित रूपेण होती है। परन्तु उनका निरन्तर सेवन करते रहने पर उसको कोई हानि नही पहुँचती अर्थात् वह अभ्यासवश सात्म्य हो जाता है जैसे—चाय, अफीम, भाँग, गाँजा, मदिरा आदि। अभ्यासवश इनकी बड़ी मात्रा भी कुछ हानि नहीं पहुँचाती। सात्म्य के इस प्रकार को 'ओक सात्म्य' कहते हैं। औषध-निर्धारण के लिये तथा रोग के अविकल ज्ञान के लिये इनका जानना परम आवश्यक होता है। जैसे— अहिफेन के अभ्यासी को यदि ग्रहणी या अतिसार हो जाय तो औषध रूप मे अहिफेन के योगो का प्रभाव नही होता। इसी प्रकार मद्यपी पर आसव तथा अरिष्ट का स्रोत-शोधन प्रभाव नही होता इत्यादि।

यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि अभ्यास से यदि किसी को कोई अहितकर वस्तु सात्म्य हो गयी तो वह उसके लिये सदा सेव्य नही होती। उसका भी परित्याग क्रमश करना चाहिये। सात्म्य वस्तु का सहसा त्याग अनर्थकारी होता है। अत अहित आहार-विहार यदि अभ्यास-वश सात्म्य हो गया हो तो भी उसका क्रमश त्याग करना उचित है और हित आहार-विहार का सेवन क्रमश अपनाना चाहिये।[1]

## व्यायाम-शक्तितः परीक्षा

शरीर को स्थिर करने के लिये तथा बल को बढाने के लिये जो चेष्टाये की जाती हैं उन्हें 'व्यायाम' कहते हैं। ये चेष्टायें शरीर साध्य तथा मनोऽनुकूल होती हैं। मनुष्य के भार-वहन आदि कर्मों को देखकर शरीर-बल का अनुमान किया जाता है। बल की परीक्षा का रोगि-परीक्षा मे बहुत महत्त्व है।[2]

---

१ 'उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नर । हित क्रमेण सेवेत . . .. .... ।' (च सू अ. ७·३६)

२ (i) 'बल व्यायामशक्त्या (विद्यात्)' (च वि अ ४)

(ii) 'शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी । देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥' (च. सू अ. ७-३१)

अनेक ऐसे रोग हैं जिनमे बल क्षीण होने पर वह रोग असाध्य माना जाता है जैसे—राजयक्ष्मा। शास्त्रों मे आप्त-वचन प्राप्त होता है कि राजयक्ष्मा के त्रिरूप, षड्रूप या एकादश रूप किसी भी भेद मे सम्पूर्ण लक्षण दृष्टिगोचर हो और साथ-साथ मास और बल भी क्षीण हो गया हो तो राजयक्ष्मा का रोगी प्रत्याख्येय हो जाता है परन्तु सभी लक्षणों के विद्यमान रहते भी यदि बल और मास का क्षय नही हुआ हो तो रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये।[1] इत्यादि

बल आरोग्य का कारण है। साथ रोगोत्पत्ति के पश्चात् बल प्रतिकार का भी हेतु बनता है।[2] शारीर धातु के दुर्बल हो जाने पर ही रोग दीर्घानुबन्धि (जीर्ण) होता है।[3]

**बल के प्रकार**—शारीर तथा मानस भेद से बल दो प्रकार का होता है। पुन ये दोनो बल (शारीर तथा मनोबल) तीन प्रकार का होता है। जैसे—(१) सहज बल, (२) कालज बल और (३) युक्तिकृत बल। इनमे 'सहज या प्राकृतिक बल' वह है जो जन्म मे ही प्रशस्त धातुओं के कारण होता है। वस्तुत मे कई पुरुष जन्म मे ही बली तथा कई जन्म मे ही दुर्बल देखने मे आते हैं। जो वयोविशेष तथा ऋतुविशेष के प्रभाव से बल उत्पन्न होता है उसे 'कालज बल' कहते हैं। तरुणावस्था मे तथा हेमन्त आदि ऋतुओं मे स्वभावत. अधिक बल होता है। 'युक्तिकृत बल' वह होता है जो मास, घृत आदि बृहण आहार, उचित विश्राम तथा व्यायामादि विहारों एव रसायन प्रयोगो से प्राप्त होता है।

'बल' का प्रयोग 'क्षमता' अर्थात् रोग-प्रतिकार शक्ति के अर्थ मे भी होता है। यह क्षमता शरीर को रोगाक्रान्त होने से बचाती है तथा रोग के उत्पन्न होने पर उसके प्रतिकार मे भी सहायता प्रदान करती है। रोगो की अनुत्पत्ति एव उत्पन्न रोगों के निवर्तन की दृष्टि से 'क्षमता' का ज्ञान तथा क्षमता उत्पन्न करने वाले आहार-विहारो का ज्ञान चिकित्सक के लिये परमोपयोगी है। आयुर्वेद वाङ्मय मे ऐसे वर्णनों की कमी नही है।

---

१ (i) सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैर्मांसबलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा॥ (च चि अ ८।४०)

(ii) 'अपरिक्षीणबलमांसशोणितो बलवानजातारिष्ट, सर्वैरपि शोषलिङ्गैरुपद्रुत. साध्यो ज्ञेय। बलवानुपचितो हि सहत्वाद् व्याध्यौषधिबलस्य कामं सुबहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव मन्तव्य'।' (च नि ६।१९)

२ (i) 'बलाधिष्ठानमारोग्यम्' (च चि ३।१४१)

(ii) 'बल ह्यल निग्रहाय दोषाणाम्' (च चि ३।१६६)

३ (चं. चि. अ ३।२९१)

तीन प्रकार के बलो की परीक्षा का विधान शास्त्रो मे चिकित्सा-सौकर्य के लिये तथा आतुर बल प्रमाण ज्ञान के लिये प्राप्त होता है जैसे—( १ ) प्रवर बल, ( २ ) मध्यम बल और ( ३ ) अवर बल ।[१]

## आहार-शक्तितः परीक्षा

बल तथा आयु का आधार आहार ही है । अत 'आहार-शक्ति की परीक्षा भी एक प्रमुख अङ्ग है । आहार शक्ति से अभ्यवहरण शक्ति तथा जरण शक्ति दोनो का ग्रहण होता है ।[१] रोगी की सर्वग्रह भोजन मात्रा कितनी है इसे देखकर उसकी अभ्यवहरण शक्ति का ज्ञान होता है अर्थात् आहार कुल मिलाकर कितनी मात्रा मे वह ले सकता है इस बात का ज्ञान होता है । आहार की सर्वग्रह मात्रा प्रकृति के अनुसार तथा विकृति के कारण भी हो सकती है । जैसे वात प्रकृति मनुष्य पेटू ( दन्दशूक ) होता है । वात प्रकृति मनुष्य को भूख लगी हो या नही, भोजन किया हो या नही किया हो, भुक्तान्न पचता हो या नही पचता हो पर भोजन सामग्री के देखते ही वह गीध के समान उस पर टूट पडता है । विकृतिवश जैसे—वातिक ग्रहणी, मधुमेह तथा स्थौल्य रोग मे रोगी की भोजन मात्रा अधिक हो जाती है । इत्यादि ।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी के अभ्यवहरण शक्ति से उसके जरण शक्ति का ज्ञान नही होता । कई पुरुषो की अभ्यवहरण शक्ति प्रवर या मध्य होती हैं । पर जरण शक्ति अवर होती है । जरणशक्ति अग्निबल पर निर्भर है । अत जरण शक्ति भी तीन प्रकार को होती है । जैसे—( १ ) प्रवर, ( २ ) मध्य और ( ३ ) अवर । दोषभेद से ४ प्रकार की अग्नियो का वर्णन किया जा चुका है । अभ्यवहरण शक्ति के समान ही प्रकृति तथा विकृति के कारण तीन प्रकार की जरण शक्ति भी देखी जाती है । जैसे पित्त प्रकृति वाले की जरण शक्ति अपेक्षाकृत अधिक, वात प्रकृति वाले की विषम तथा कफ प्रकृति वाले की मन्द होती है । विकृति जनक जैसे अत्यग्नि या भस्मक मे जरण शक्ति अत्यधिक होती है । इस प्रकार जरण शक्ति से अग्निबल का ज्ञान होता है ।

अग्निपरीक्षा से जाठराग्नि तथा धात्वग्नि दोनो का ग्रहण होता है । अत दोनो की जरण शक्ति की परीक्षा करनी चाहिये । अनेक रोगो मे जाठराग्नि की जरणशक्ति उचित रहने पर भी धात्वग्नि अल्पबल रहती है जैसे राजयक्ष्मा मे रोगी की जाठराग्नि अधिक बल होती है परन्तु धात्वग्नि न्यून बल होती है जिससे रोगी 'महाशन' अर्थात् अधिक भोजन करने पर भी 'क्षीयमाण' दुर्बल होता

१ व्यायामशक्तिश्चेति—'व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या परीक्ष्या, कर्मशक्त्या ह्यनुमीयते कर्मत्रैविध्यम् ।' ( च. वि अ. ८ )

जाता है। यही अवस्था प्रमेह मे भी होती है। इन विकारो मे जाठराग्नि के प्रवर रहने पर भी धात्वग्नि के दुर्वल होने से शरीर धातुओ की पुष्टि नही होती।

इस परीक्षा द्वारा रोगी के अग्निवल (जाठराग्नि तथा धात्वग्नि वल) की परीक्षा की जाती है जिससे रोगी के रोग निदान मे तथा चिकित्सा एव पथ्य-व्यवस्था मे सुविधा होती है। यदि रोगी की अभ्यवहरण शक्ति प्रवर (अधिक) हो और जरणशक्ति मध्यम या अवर (अल्प) हो तो उसकी आहार शक्ति भी मध्यम अथवा अवर जाननी चाहिए। अत आहार शक्ति की परीक्षा सामान्ये रूपेण अग्निवल पर निर्भर है। जिस पुरुष की अभ्यवहरणशक्ति न्यून हो जाती है और जरणशक्ति उचित रहती है उसे केवल दीपन औषधों का योग ही अपेक्षित होता है। परन्तु जरणशक्ति के न्यून होने पर पाचन औषधो का योग अपेक्षित होता है। यदि अभ्यवहरण और जरण दोनो शक्तियाँ अवर हों तो दीपन-पाचन औषधो का प्रयोग करना चाहिये। इत्यादि।

## वयस्तः परीक्षा

आतुर वल प्रमाण विशेष ज्ञान के लिये प्रोक्त दश-विध परीक्षाओ मे यह अन्तिम परीक्षा है। कालकृत शरीर की अवस्था को 'वय' कहते हैं। अवस्था आयु, वय, तथा उम्र पर्याय शब्द हैं। आयु का सार्थक एव शुद्ध प्रतिशब्द 'जीवनकाल' है। वर्तमान काल मे आयु का सर्वसामान्य प्रमाण शास्त्रो मे सौ वर्ष कहा गया है। परन्तु इस निर्दिष्ट आयु से न्यून तथा अधिक काल तक जीवित रहने वाले पुरुष भी मिलते हैं। शरीर की विभिन्न अवस्थाओ का निर्देश उपलब्ध शास्त्र मे इसी दृष्टिकोण से प्रतिपादित प्रतीत होता है। जैसे स्थूल रूपेण इसके तीन भेदो का वर्णन उपलब्ध होता है—(१) बाल, (२) मध्य और (३) वृद्ध। पुन: बाल के भी तीन उपभेद यथा (१) क्षीरप (२) क्षीरान्नाद और (३) अन्नाद प्राप्त होते हैं। मध्यमायु के चार उपभेद यथा—(१) वृद्धि, (२) यौवन, (३) सम्पूर्णता और (४) परिहाणि-वर्णित हैं। इसके पश्चात् वृद्धावस्था प्रारम्भ होती है। निम्न निर्दिष्ट कोष्ठक से इनके काल का भी परिज्ञान हो जायगा :—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| बाल्यावस्था १ से १६ वर्ष तक | क्षीरप १ वर्ष तक | क्षीरान्नाद २ वर्ष तक | | अन्नाद ३ से १६ वर्ष तक |
| मध्यमावस्था १७ से ६० वर्ष तक | वृद्धि १७ से २० वर्ष तक | यौवन २१ से ३० वर्ष तक | सम्पूर्णता ३१ से ४० वर्ष तक | परिहाणि ४१ से ६० वर्ष |
| वृद्धावस्था | ६१ से १०० वर्ष तक | | | |

बाल्यावस्था मे स्वभावत कफ की वृद्धि, मध्यमावस्था मे पित्त की तथा वृद्धावस्था मे वायु की वृद्धि होती है।[1]

रोगी-परीक्षा मे 'वय' का विचार अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण माना गया है। वयोऽनुकूल दोषो की वृद्धि के ज्ञान के अतिरिक्त चिकित्सा-निर्धारण तथा औषध की मात्रा का निर्धारण वय की अपेक्षा रखता है। अनेक ऐसे चिकित्सा कर्म हैं जो बाल तथा वृद्ध के लिए निषिद्ध हैं जैसे अग्नि कर्म, क्षार कर्म, वमन-विरेचन आदि[2]। बाल तथा वृद्ध को रिक्त कोष्ठ मे औषध देना मना है। निरन्न कोष्ठ मे औषध देने से ग्लानि तथा बलक्षय होता है।[3]

उपचारो में विशेषता के अतिरिक्त साध्यासाध्यता के विचार मे भी वयोभेद ज्ञान से साहाय्य प्राप्त होता है। सामान्य रूपेण तरुण के रोग साध्य तथा बालक और वृद्ध के रोग दु साध्य होते हैं। कुछ ऐसे भी रोग हैं जो बाल्यावस्था में सुखसाध्य और वृद्धावस्था मे प्राय असाध्य एवं युवावस्था मे कृच्छ्रसाध्य होते हैं जैसे ग्रहणी।[4] कुछ रोग बाल्यावस्था मे ही सुखसाध्य होते हैं जैसे अश्मरी।

**विकृतितः परीक्षा या रोग-बल-प्रमाण परीक्षा**—यद्यपि दश विध परीक्षा में इसका स्थान द्वितीय है तथापि इस परीक्षा का सम्बन्ध विशेष रूपेण रोग से है अत इसे पृथक् रोगबल प्रमाण परीक्षा मे वर्णन करना अभीष्ट हुआ है।

विकृति 'विकार' को कहते हैं। विकार का ही अपर नाम 'रोग' है। रोग की परीक्षा रोग के हेतु, दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल, बल, तथा लक्षणो से करने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि व्याधि के बल विशेष का ज्ञान इन उपर्युक्त हेत्वादि के ज्ञान बिना सभव नहीं। कारण जिस रोग के दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल और बल साम्य होते हैं तथा हेतु और लिङ्ग भी महान् होते हैं वह रोग बलवान् होता है। इसके विपरीत, रोग अल्पबल होता है।

---

१ च शा ६।२०; च वि ८।१२२, अ हृ शा ३।१०५,
अ स. शा. ८, अ हृ उ अ २।१, सु सू ३५।३२,

२. "अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत्।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् क्रिया पुन.॥" (सु सू ३५।३८)

३ "तद् बालवृद्धवनितामृदवस्तु पीत्वा।
ग्लानिं परा समुपयान्ति बलक्षयञ्च॥" (सु उ ६४।६७)

४ (i) "बालके ग्रहणी साध्या, यूनि कृच्छ्रा समीरिता।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मत धन्वन्तरेरिदम्॥" (माधवनिदान)
(ii) "एता भवन्ति बालाना तेषामेव च भूयसा।
आश्रयोपचयाल्पत्वाद ग्रहणाहरणे सुखा॥" (मा नि०)

इसी प्रकार दोष-दूष्य-आदि में से जब कोई समान तथा कोई असमान होते हैं तो व्याधि मध्यबल होती है।[1]

**निदानतः परीक्षा**—निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान, कारण तथा निदान ये शब्द पर्याय हैं अर्थात् समान अर्थ के बोधक हैं। रोग के उत्पन्न करने वाले हेतु का नाम निदान है। जैसे मिथ्या आहार-विहार ज्वर का तथा मृत्तिका भक्षण पाण्डुरोग का कारण अर्थात्-निदान है।[2]

रोग-परीक्षा की दृष्टि से ये निदान निम्नलिखित प्रकार के होते हैं :—

| निदानभेद— | उदाहरण— |
|---|---|
| १ सन्निकृष्ट निदान— | यथा दिन, रात एवं भोजन का आदि मध्य और अन्त क्रमशः कफ-पित्त और वात के प्रकोपक हेतु होते हैं। |
| २ विप्रकृष्ट निदान— | यथा हेमन्त में संचित कफ वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप कर कफज रोगों का कारण होता है। इत्यादि |
| ३. व्यभिचारी निदान— | वे होते हैं जो दुर्बल होने से तत्काल व्याधि उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। परन्तु अन्य सहाकारी निदानों के प्राप्त होने पर कालान्तर में रोगोत्पादक होते हैं। |
| ४ प्राधानिक निदान— | वे हैं जो अपनी उग्रता से शीघ्र ही दोषों का प्रकोप कर रोगोत्पादक होते हैं। जैसे—विष आदि। |
| ५ असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग— | इन्द्रियों के अर्थ अर्थात् विषयों का हीन, मिथ्या तथा अतियोग असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। ये रोग के कारण होते हैं। |
| ६. प्रज्ञापराध— | बुद्धि, स्मृति तथा धैर्य को छोड़ कर अयथार्थ ज्ञान से प्रेरित हो जो कार्य किया जाता है |

१. "विकृतितश्चेति विकृतिरुच्यते विकारः। तत्र विकारं हेतु-दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बल विशेषैर्लिङ्गतश्च परीक्षेत, नह्यन्तरेण हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः। यस्य हि व्याधेर्दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बलसाम्यं भवति, महच्च हेतुलिङ्गबलं, स व्याधिर्बलवान् भवति, तद्विपर्ययाच्चाल्पबलः मध्यबलस्तु दोषदूष्यादीनामन्यतमसामान्याद्धेतुलिङ्गमध्यबलत्वाच्चोपलभ्यते।" (च. वि अ. ८)

२. (मा. नि. निदानपञ्चक)

वह प्रज्ञापराध कहलाता है। इससे रोगोत्पत्ति होती है।

७ परिणाम— ऋतुओ के स्वाभाविक शीत, उष्ण तथा वर्षा आदि गुणो के अतियोग, मिथ्यायोग और हीनयोग को, परिणाम कहते हैं। इनसे भी रोगो की उत्पत्ति होती है।

८ दोषहेतु— वातादि दोषो के प्रकोपक कारणो को दोषहेतु कहते हैं। ये भी रोग के कारण हैं।

९ व्याधिहेतु— दोषनिरपेक्ष निश्चित रोग का उत्पादक हेतु व्याधि हेतु कहलाता है। जैसे मृत्तिका-भक्षण से पाण्डु रोग की, मक्षिका भक्षण से छर्दि रोग की उत्पत्ति होती है।

१० उभय हेतु— दोष और व्याधि दोनो के प्रकोपक तथा उत्पादक कारणो को-उभय हेतु कहा गया है।

११ उत्पादक हेतु— दोष तथा रोग को उत्पन्न करने वाले हेतु को उत्पादक हेतु कहते हैं। जैसे हेमन्त मे उत्पन्न मधुर रस कफ का उत्पादक होता है तथा मृत्तिका-भक्षण पाण्डु रोग का उत्पादक होता है।

१२ व्यञ्जक हेतु— जैसे हेमन्त ऋतु मे सचित हुआ कफ वसन्त ऋतु मे सूर्य सन्ताप से प्रकुपित होता है। यहाँ सूर्य का सताप कफ प्रकोप का व्यञ्जक हेतु है।

१३ बाह्य हेतु— आहार, विकार, काल, जीवाणु, आघात, कीटो के देशजन्य विष, विद्युत प्रभृति बाह्य हेतु हैं।

१४ आभ्यन्तर हेतु— शरीर मे स्थित वात-पित्त, कफ दोष तथा रस, रक्त आदि सप्त धातुएँ, मल, मूत्र, स्वेदादि मलो ( दूष्यो ) रोगो के आभ्यन्तर कारण माने गए हैं। ये दोष तथा दूष्य वैषम्य को प्राप्त होकर रोगोत्पादक होते हैं। अत ये आभ्यन्तर कारण हैं। सम्प्राप्ति की अशाश कल्पना के लिये तथा चिकित्सा मे निदान परिवर्जनार्थ निदानत परीक्षा की आवश्यकता होती है। इस परीक्षा से रोग के साध्यासाध्य विचार मे

मे साहाय्य प्राप्त होता है। यह 'विकल्प' सम्प्राप्ति का प्रधान विवेच्य विषय है। 'विकल्प' दोष-प्रकोप की अंशांश कल्पना का नाम है। इससे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि अमुक व्याधि मे अमुक दोष एकात्मना प्रकुपित हुआ है अथवा सर्वात्मना प्रकुपित हुआ है।[1]

निदान के अतिरिक्त पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति के द्वारा भी रोग की परीक्षा विभिन्न लक्ष्यो की सिद्धि के लिये करनी आवश्यक है। इनका वर्णन तथा रोग-परीक्षा मे इनकी उपादेयता का वर्णन मूलग्रन्थ में किया जा चुका है।

**दोषत परीक्षा**—रोग प्रतिकार के लिए रोगोत्पादक दोषो का ज्ञान परमावश्यक है। ये दोष जो समावस्था मे शरीर या देह के धारक तथा वृद्धि के कारण होते हैं वे ही विषमावस्था मे रोगो के उत्पादक होते हैं। विषमावस्था से इनके क्षय तथा वृद्धि का ग्रहण होता है। इनकी प्रकुपितावस्था भी विषमावस्था ही है। कई बार ये दोष वृद्ध होकर वात को आवृत कर भी रोगोत्पादक होते हैं। अत. रोगो की दोषतः परीक्षा परमावश्यक है।[2]

दोषत परीक्षा से अभिप्राय है दोषो के वैषम्यावस्था का ज्ञान प्राप्त करना। अमुक रोग का आरम्भक अमुक दोष है, अमुक दोष अनुबन्ध्य तथा अनुबन्ध रूप मे हैं, अमुक दोष क्षीण तथा वृद्ध है; अथवा अमुक दोष का आवरण वात दोष पर हुआ है, इत्यादि का ज्ञान इस परीक्षण द्वारा प्राप्त होता है।

**दूष्यत परीक्षा**—रस, रक्त आदि सात धातुओ, तथा पुरीष-मूत्र-स्वेदादि मलो को आयुर्वेद वाङ्मय मे दूष्य माना गया है। इनके अतिरिक्त ओज तथा उपधातुओ (आर्त्तव आदि) को भी परम्परया दूष्य माना गया है। दोषों की तरह ही इनकी वृद्धि तथा क्षीणावस्था एव दोषो द्वारा दूष्यावस्था रोगोत्पादक होती है। कभी-कभी ये दूष्य वायुओ को आवृत कर भी रोगो के उत्पादक होते हैं। मूल ग्रन्थ में इनके वृद्धि तथा क्षीण एवं आवरण के लक्षण कहे जा चुके हैं अतः उन लक्षणो द्वारा इनके क्षीण, वृद्धि तथा आवरण का ज्ञान रोग निदान मे तथा प्रतिकार की व्यवस्था मे परम सहायक होता है। रोग की साध्यासाध्यता के विचार मे भी इनसे पर्याप्त सहायता मिलती है।

प्रकृतित. परीक्षा, देशत. परीक्षा, तथा कालत. परीक्षा का वर्णन पहले

---

१. "दोषाणा समवेताना विकल्पोंऽशांशकल्पना।" (वा. नि. अ. १)

२ य एव देहस्य समा विवृद्धयै, त एव दोषा विषमा वधाय।' (अ. हृ. सू ११।४५)

किया जा चुका है। बलत परीक्षा का संकेत व्यायाम शक्ति परीक्षा के प्रकरण मे तथा सात्म्यतः परीक्षा का भी वर्णन इसी प्रकरण मे हो चुका है।

**लिङ्गतः परीक्षा**—जिन लक्षणो से रोग का परिचय होता है वह उस व्याधि या रोग का 'लिङ्ग' कहलाता है। अर्थात् व्याधि या रोग का स्वरूप लिङ्गी के समान है। आयुर्वेद के आर्ष ग्रन्थो मे सामान्यज तथा नानात्मज व्याधियो के प्रत्यात्म लक्षण वर्णित हैं। अत. इन लक्षणो के द्वारा रोग-का ज्ञान होता है। रोग-ज्ञान के पश्चात् लक्षणो के आधार पर ही रोगोत्पादक तथा रोगाधिष्ठित दोषो का भी ज्ञान प्रथमत. प्राप्त होता है। तदनन्तर निदानादि द्वारा उनकी सम्पुष्टि की जाती है। गूढ लिङ्ग व्याधियो मे उपशय तथा अनुपशय का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। पूर्वरूप से भाविव्याधि का तथा विशिष्ट पूर्वरूप से उनके आरम्भक दोषो का भी ज्ञान होता है। सम्प्राप्ति रोगाभिव्यक्ति की सम्पूर्ण व्यवस्था का ज्ञान कराती है। रोग की उत्पत्ति मे दोषो की विविध अवस्थाओ का, दोष, दूष्यो तथा अधिष्ठानो का एव स्रोतोविकृति का ज्ञान भी सम्प्राप्ति द्वारा ही प्राप्त होता है। सम्प्राप्ति द्वारा सख्या, प्राधान्य बल, काल तथा विकल्प ( अशाश कल्पना ) का ज्ञान प्राप्त करने मे चिकित्सक समर्थ होता है।

धातुगत व्याधियो का, व्याधियो की सामावस्था तथा निरामावस्था का, तरुणत्व तथा जीर्णत्व का, विभिन्न रोग-मार्गाश्रित व्याधियो का ज्ञान भी लक्षणो द्वारा प्राप्त होता है। इन विविध निदानसम्बन्धी भावो के ज्ञानान्तर रोग के साध्यासाध्य विचार मे भी लक्षणो से सहायता प्राप्त होती है। रोग प्रतिकार व्यवस्था मे भी लक्षणो का ज्ञान परम सहायक होता है। चिकित्सक लक्षणों के मृदुत्व तथा दारुणत्व के आधार पर तथा उनके प्राग्रूपात्मक तथा उपद्रवात्मक रूप के आधार पर उचित प्रतिकार की व्यवस्था मे सफल होता है।

वाग्भट्ट के शब्दो मे ही—"जो चिकित्सक दूष्य, देश, बल, काल, अग्नि, प्रकृति, वय, सत्त्व, सात्म्य, तथा आहार एव रोग की विविध अवस्थाएँ, इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का सम्यक् प्रकार से परीक्षा कर रोग के उत्पादक दोषों का तथा उनके प्रतिकार का निरूपण करता है वह चिकित्सा-कार्य मे कभी भी स्खलित नही होता।"[१]

---

[१] "दूष्य देश बल कालमनलं प्रकृतिं वय.।
सत्त्व सात्म्य तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधा.॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषा दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातु चित्॥" ( अ ह सू. १२ )

राजमार्तण्ड तथा वसवराजीयम् में 'अष्टस्थान परीक्षा' का वर्णन उपलब्ध होता है। योगरत्नाकर में भी इसका वर्णन है।[1] ये आठ परीक्ष्य स्थान ये हैं जैसे—( १ ) नाडी परीक्षा, ( २ ) मूत्र परीक्षा, ( ३ ) मल परीक्षा, ( ४ ) जिह्वा परीक्षा, ( ५ ) शब्द परीक्षा, ( ६ ) स्पर्श परीक्षा, ( ७ ) नेत्र परीक्षा और ( ८ ) आकृति परीक्षा।

चरक आदि आर्ष ग्रन्थो मे इन उपर्युक्त परीक्षाओ का पृथक् इस रूप मे वर्णन न होने पर भी सकेत किया गया है कि 'जव प्रकुपित हुए दोष शरीर में फैलते हैं तव वे जिन इन्द्रियो के सम्पर्क मे आते हैं उनकी क्रिया को विकृत या नाश करते हैं। परिणामस्वरूप वे इन्द्रियाँ विकृत या नष्ट होकर जीवन पर्यन्त स्थायी विकार का रूप धारण कर लेती हैं।"[2] अतः रोगी का वृत्त लेते समय इन इन्द्रियो की विकृतियो पर भी चिकित्सक को ध्यान देना चाहिये और उनकी परीक्षा भी करनी चाहिये। इत्यादि।

## १. नाड़ी परीक्षा

नाड़ी परीक्षा का चमत्कार, फलश्रुति, तथा महत्त्व आज भी लोकप्रसिद्ध है। यह परीक्षा वैद्यो की एक रहस्यमयी परीक्षा है जिसका प्रभाव अनेक परीक्षा सम्बन्धी आधुनिक यंत्रादि के आविष्कार होते हुए भी मानव समाज पर ( विशेषकर भारतीय मानव समाज पर ) अव भी है। इस विद्या का मर्म तपस्या, अध्ययन, अभ्यास, अनुभव तथा सद्गुरु की सेवा से ही प्राप्त होता है।

नाडी परीक्षा के आचार्यो ने कहा है कि जिस प्रकार वीणागत तारो की गति का ज्ञाता उस तार के स्पर्श से नाना प्रकार की राग-रागिणियो की अभिव्यक्ति मे समर्थ होता है उसी प्रकार नाडी स्पर्श ज्ञान मे चतुर ( कुशल ) चिकित्सक नाडी स्पर्श द्वारा नानाविध रोगो के ज्ञान तथा उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ होता है।[3]

हस्ताङ्गुष्ठ मूल मे जीव साक्षिणी जो रक्तवह धमनी है उनकी चेष्टा अर्थात् गति से कायचिकित्सक को सुख ( स्वास्थ्य-निरोगावस्था ) तथा दुःख

---

१ "रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दस्पर्शदृगाकृतीः ॥" ( राजमार्तण्ड तथा वसवराजीयम् )

२ "इन्द्रियाणि समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदा मलाः।
उपघातोपतापाभ्यां योजयन्तीन्द्रियाणि च ॥" ( च सू अ २८ )

३ "यथा वीणागता तन्त्री सर्वान् रागान्प्रभाषते।
तथा हस्तगता नाडी सर्वान् रोगान्प्रकाशयेत् ॥"

( अस्वास्थ्य-रोग ) का ज्ञान करना चाहिए ।[1] उपर्युक्त रक्तवह धमनी आधुनिक शारीर-क्रियाविदो का रेडियल आर्टरी ( Radial artery ) है। यद्यपि यहाँ कराङ्गुष्ठ मूल स्थित जीवसाक्षिणी धमनी का ही संकेत है परन्तु व्यवहार परम्परा से तथा अन्य तंत्रो मे इस सम्बन्ध मे उपलब्ध वर्णनो से ग्रैवेयक धमनी ( Cervical arteries ) तथा पादो के गुल्फान्तर धमनियो की भी एतदर्थ परीक्षा की जाती है। वैद्य परम्पराओ मे उपर्युक्त तीन स्थानो की धमनियो की परीक्षा स्पर्श द्वारा करने का प्रचलन है। सर्वाधिक हाथ की धमनियो अर्थात् कराङ्गुष्ठमूलगत धमनियो के परीक्षण का ही व्यवहार है। इस परीक्षा मे भी स्त्रियो के वामहस्तगत कराङ्गुष्ठमूल धमनी की तथा पुरुषो के दक्षिण हस्तगत-कराङ्गुष्ठमूल धमनी की परीक्षा का विशेष महत्त्व माना जाता है।[2]

नवम्यासी को स्वस्थ एव अस्वस्थ दोनो प्रकार के पुरुषो या स्त्रियो की नाडी देखने का अभ्यास सर्वप्रथम करना चाहिये। इस अभ्यास से प्रथम प्रकृतिस्थ ( Normal ) और अप्रकृतिस्थ ( Abnormal ) नाडी का ज्ञान होता है। स्पर्श द्वारा नाडी की विविध गतियो ( वेगो ), यति ( स्पन्दनो की समान्तरालता, विषमान्तरालता ), आकृति ( स्थूल और कृश ) तथा महति ( कोमलता या कठिनता ) का अनुभव करना पडता है। प्रकृतिस्थ नाडी की गति तथा यति-समा होती है। आकृति स्थूला या पुष्टा सामावस्था का तथा कृशा एव क्षीणा निरामावस्था का सूचक है। महति प्रकृतिस्थ नाडी की प्राय. कोमल होती है।

परीक्ष्य नाडी वास्तव मे रक्तवाही-धमनी है ( Artery )। रक्त का धमन ( Pulsation ) इसमे विविध प्रकार से होता रहता है। इस धमन का ही अनुभव चिकित्सक स्पर्श द्वारा करता है। इस प्रकार धमनी का रक्त-संचार जीवन पर्यन्त चलता रहता है जिससे इस को जीवसाक्षिणी भी कहते हैं। आधुनिक चिकित्सक स्पर्शद्वारा इसकी गति (Rate), ताल (Rhythm), यति ( Volume ) तति ( Tension ), वेग ( Force ), इन पाँच भावो का अनुभव करते हैं। प्राचीन काल मे आचार्यो ने इस पर अर्थात् नाड़ी-विज्ञान पर पर्याप्त सफल प्रयास किया है जिसका संकेत मात्र ही यहाँ सम्भव है।

---

१ (i) "करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः ॥" ( शा प्र ख )

(ii) प्रदर्शयेद्दोषनिजस्वरूप व्यस्त समस्त युगलीकृत च।
मूकस्य मुग्धस्य विमोहितस्य दीपः पदार्थानिव जीवनाडी ॥ ( आढ्यमल )

२ "प्रायः स्फुटा भवति वामकरे वधूना, पुंसा च दक्षिणकरे तदिय परीक्षा।"
( नाडी दर्पण )

विशेष ज्ञान के लिये रावणकृत नाड़ी विज्ञान तथा कणाद कृत नाड़ी-विज्ञान आदि का अध्ययन और सद्गुरु के तत्त्वावधान मे अभ्यास अपेक्षित है।

शार्ङ्गधर ने सक्षेप मे कहा है कि वात प्रकोप होने पर नाडी स्पर्श करने से जलौका तथा सर्प की गति धारण की हुई अनुभव से प्रतीत होती है। पित्त प्रकोप होने पर कुलिङ्ग ( गृहचटक ), काक तथा मण्डूक की गति धारण की हुई प्रतीत होती है। कफ के प्रकोप होने पर हस तथा पारावत की गति नाडी धारण कर लेती है।[1] इसकी व्याख्या करते हुए आढ्यमल ने स्पष्ट किया है कि जलौका तथा सर्प की गति से तिर्यग् गति का अभिप्राय है। क्योकि इनकी ( सर्प और जलौका की ) गति तिर्यग् होती है। इसी प्रकार काक-मण्डूक की उत्प्लवनपूर्वक होती है अर्थात् जिस प्रकार काक तथा मण्डूक कूद-कूद कर चलते हैं वैसा ही अनुभव नाडी की गति का स्पर्श द्वारा होता है। हस तथा पारावत ( परेवा-कबूतर ) की गति जिस प्रकार मन्द होती है उसी प्रकार श्लेष्म प्रकोप होने पर नाड़ी स्पर्श करने पर मन्द गति का अनुभव होता है। तीनो दोपो के प्रकोप होने पर लावा, तित्तिर और वटेर की गति का अनुभव नाडी स्पर्श द्वारा होता है। लावा, तित्तिर और वटेर की गति क्रमश परम चञ्चल, अनिश्चित तथा द्रुत होती है। दो दोपो के प्रकोप होने पर अर्थात् द्वन्द्वज या ससंगज विकारो मे गति कभी मन्द और कभी वेगवती होती है।[2] स्पर्श से नाडी की गति यदि स्थानच्युत प्रतीत हो अथवा रुक-रुक कर चलती हुई प्रतीत हो अथवा शीत और अत्यन्त क्षीण प्रतीत हो तो समझे कि वह मृत्यु का सूचक है।[3]

ज्वर से पीडित पुरुषो तथा स्त्रियो की नाडी स्पर्श करने पर सोष्ण वेगवती

---

१. ( i ) नाडी धत्ते मरुत्कोपे जलौकासर्पयोगतिम्।
कुलिङ्गकाकमण्डूकगति पित्तस्य कोपत ॥
हसपारावतगति धत्ते श्लेष्मप्रकोपत ।" ( शा प्र. ख )

( ii ) "जलौकासर्पयोस्तिर्यग्गतिरित्यभिप्राय तद्वत्तत्राऽपि। ××× काक-मण्डूकौ प्रसिद्धौ, एतेपामुत्प्लवनगतिरित्यर्थ । ×××× श्लेष्मप्रकोपात् हस-पारावतगति धत्ते। एतेन मन्दगतिवाहिनी भवतीत्यभिप्राय । यतो हंसपारावतयो-रपि मन्दगति स्यात।" ( आढ्यमल )

२. "लावतित्तिरवर्तीना गमन सन्निपातत ।
कदाचिन्मन्दगमना कदाचिद्वेगवाहिनी ॥
द्विदोपकोपतो ज्ञेया ........... ।" ( शा प्र )

३. "×××हन्ति च स्थानविच्युता।
स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी ॥
अतिक्षीणा च शीता च जीवित हन्त्यसशयम् ॥ ( शा. प्र. ख )

प्रतीत होती है। कामार्त्त तथा क्रुद्ध व्यक्ति की नाड़ी वेगवती और चिन्ता तथा भयार्त्त व्यक्ति की नाड़ी क्षीण गति प्रतीत होती है। इसी प्रकार मन्दाग्नि से आक्रान्त तथा क्षीण धातु पुरुष की नाडी मन्दतर होती है। रक्त प्रकोप मे नाडी भरी हुई ( पूर्ण ) गुरु एवं कोष्ण तथा साम ( आम सम्पृक्त ) नाड़ी अति-गुर्वी प्रतीत होती है। जिस पुरुष की अग्नि प्रदीप्त रहती है उसकी नाडी लघु एवं वेगवती होती है। क्षुधित पुरुष की नाडी चपल तथा तृप्त पुरुष की नाडी स्थिर गति प्रतीत होती है।[1] इत्यादि।

नाड़ी के स्थान तथा सख्या—जिस नाड़ी को वैद्यगण देखते हैं उसकी दूसरी सज्ञा 'जीवसाक्षिणी' है। प्राणी जीवित है इसकी परीक्षा नाड़ियो के स्पर्श से की जाती है। चिकित्सक दोनो हाथो की दो नाडियो ( Arteries—धमनियो ), पैरो की दो नाड़ियो ( धमनियो ), गले या कण्ठ की दो नाड़ियो ( धमनियो ) तथा नासा के समीप की दो नाडियो ( धमनियो ), आंख की दो धमनियों, कान की दो धमनियो, मेढ़ की दो तथा जिह्वा के समीपवर्त्ति दो धमनियो का स्पर्श कर जीवन की परीक्षा करते हैं। तात्पर्य यह कि इन स्थानो पर कही भी स्प द्वार रक्तगति का संचार अनुभव होने पर मनुष्य जीवित है इसका सकेत प्राप्त होता है।

इन उपर्युक्त स्थानो की नाडियो का स्पर्श मनुष्य की जीवित अवस्था का साक्षी है अत इन सब नाडियो को भी जीवसाक्षिणी कह सकते हैं। वस्तुत जीवित शरीर के विविध व्यापारो तथा विकारो का ज्ञान करागुष्ठमूल स्थित धमनी के स्पर्श से ही अनुभवी चिकित्सक को होता है जिसका सकेत पहले कर चुके हैं।

**नाड़ी परीक्षण विधि**—चिकित्सक अपने वायें हाथ से रोगी की केहुनी को उठाकर तथा अग्रबाहु को पूरी तौर से फैला दे। पुन. अपने दक्षिण हस्त की तीन अङ्गुलियो ( तर्जनी, मध्यमा, अनामिका ) से करागुष्ठमूलस्थित धमनी ( Radial artery ) की परीक्षा करे। इस परीक्षा मे सामान्यत: उक्त अङ्गुलियो से उक्त नाडी का साधारणत. तीन वार स्पर्श करे और छोडे।

---

१. 'ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत्।
कामक्रोधाद्वेगवहा क्षीणा चिन्ताभयप्लुता॥
मन्दाग्ने. क्षीणधातोश्च नाडी मन्दतरा भवेत्।
असृक्पूर्णा भवेत्कोष्णा गुर्वी सामा गरीयसी॥
लध्वी वहति दीप्ताग्नेस्तथा वेगवती मता।
सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती स्मृता॥
चपला क्षुधितस्यापि तृप्तस्य वहति स्थिरा।" ( शा. प्र वि )

स्पर्श भी अवस्था भेद से अनेक प्रकार का होता है जैसे—( १ ) परिमर्षन, ( २ ) आयमन ( ३ ) कुञ्चन, ( ४ ) प्रपीडन और ( ५ ) आस्फोटन। नाड़ी परीक्षा मे परिमर्षन, आयमन और प्रपीडन इन तीन स्पर्शों की ही यथावश्यक आवश्यकता होती है।

नाड़ी के स्पर्श, पीडन और मर्दन से उसके भीतर के प्राण-सचार का ठीक-ठीक बोध होता है। पुन स्पर्श द्वारा उपर्युक्त वात, पित्त तथा कफ की गतियो का अनुभव करना होता है।

सामान्य नियम अर्थात् वृद्ध वैद्य व्यवहार यह है कि करागुष्ठमूल स्थित धमनी के स्पर्श द्वारा प्रथम अगुली ( तर्जनी ) से वात की, मध्यमागुली से पित्त की और अनामिका से कफ की गति का अनुभव किया जाता है। अर्थात् वात की प्रधानता मे तर्जनी के नीचे वातगति का अनुभव, पित्त की प्रधानता मे मध्यमा के नीचे पित्त की गति का अनुभव और कफ की प्रधानता में अनामिका के नीचे कफ की गति का अनुभव सुव्यक्ततर होता है।

वात-पित्ताधिक्य मे नाड़ी की गति तर्जनी और मध्यमा के मध्य मे स्फुट होती है। वात और कफ के आधिक्य मे नाड़ी की गति अनामिका और तर्जनी के मध्य मे स्फुट ( अधिक स्पष्ट ) होती है तथा पित्त और कफाधिक्य में नाड़ी की गति मध्यमा और अनामिका के मध्य मे स्फुट होती है। तीनो दोषो का आधिक्य होने पर तीनो अगुलियो के नीचे नाड़ी की गति स्फुट होती है।[1]

**नाड़ी परीक्षा के लिये उपयुक्त काल**—सामान्य रूप मे प्रातःकाल नाडी परीक्षा का उपयुक्त काल माना गया है। वृद्ध वैद्य व्यवहार भी ऐसा ही है। चिकित्सक तथा आतुर को अपने नित्य कर्मो से निवृत्त होकर सुखपूर्वक बैठ कर सुखपूर्वक बैठे हुए रोगी की नाडी परीक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार

---

[1] अङ्गुलित्रितये स्पृष्ट्वा क्रमाद्दोषत्रयोद्भवम्।
मन्दा मध्यगतिं तीक्ष्णां त्रिभिर्दोषैश्च लक्षयेत्॥
वात पित्त कफ द्वन्द्व सन्निपातस्तथैव च।
साध्यासाध्यविवेकञ्च सर्वं नाडी प्रकाशयेत्॥
आदौ च वहते वातो मध्ये पित्त तथैव च।
अन्ते च वहते श्लेष्मा नाडिकात्रयलक्षणम्॥
वाताधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले।
पित्ते व्यक्ता मध्यमाया तृतीयाङ्गुलिगा कफे॥
तर्जनीमध्यमामध्ये वातपित्ताधिके स्फुटा।
अनामिकायां तर्जन्यां व्यक्ता वातकफे भवेत्॥
मध्यमानामिका-मध्ये स्फुटा पित्तकफाधिके।
अङ्गुलित्रितयेऽपि स्यात्प्रव्यक्ता सन्निपाततः॥"

दर्पण मे मुख स्पष्ट रूपेण दीखता है उसी प्रकार उक्त विधि से नाड़ी परीक्षा द्वारा रोग का ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है।[1]

**नाड़ी परीक्षा का अनुपयुक्त काल**—तैलाभ्यङ्ग के बाद, सो जाने पर, भोजनोत्तर, सद्यः स्नान के बाद, भोजन के मध्य मे, क्षुधा तथा तृष्णा होने पर एवं आतप सेवन के बाद और परिश्रम करने से थके हुए पुरुष की नाड़ी का ज्ञान सम्यक् रूप मे नही होता। मैथुन के बाद, मद्यपान के बाद, भाग आदि नशीली वस्तुओ के सेवन के बाद, तैरने के बाद भी नाडी का ज्ञान उचित रूप मे नही होता। अपस्मार तथा श्वास रोग मे भी नाड़ी की गति का ठीक से पता नही चलता।[2]

## मूत्र परीक्षा

मानव शरीर के मूत्रपथ से निकलने वाले जलीय मल की सज्ञा मूत्र है। आयुर्वेद वाङ्मय मे मूत्र जलीय या द्रव भुक्तान्न का मल माना जाता है। यह रक्त से नि सृत आप्य मल है जो मूत्रवह स्रोतो द्वारा छनकर वृक्को मे एकत्र होता है और वहां से गविनियो द्वारा वस्ति मे पहुँचता है तथा वस्ति से मूत्रपथ (शिश्नगत मूत्र नाली) द्वारा शरीर से बाहर निकलता है। मूत्र परीक्षा से मूत्र की विकृतियो का ज्ञान होता है जो मूत्रनिर्मापक यन्त्रो की विकृतियो का तथा अवस्थापाक एव धातुपाक की विकृतियो का बोधक होता है। आयुर्वेद वाङ्मय मे मूत्र परीक्षा का विधान निम्नलिखित प्रकारो मे वर्णित उपलब्ध होता है जैसे—(१) राशि, (२) वर्ण, (३) गन्ध, (४) धार, (५) वार, (६) रस, (७) धात्वंश, (८) पित्ताश, (९) कफाश तथा (१०) भुक्तान्नाश। इनके अतिरिक्त 'तैल बिन्दु परीक्षा' भी मूत्र की होती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान

---

१ "अरुणोदयवेलाया करस्याङ्गुष्ठमूलके।
सर्वरोगा प्रदृश्यन्ते दर्पणे वदन यथा॥
प्रातः कृतसमाचार कृताचारपरिग्रहम्।
सुखासीन सुखासीन परीक्षार्थमुपाचरेत्॥" (नाडीदर्पण)

२ "तैलाभ्यङ्गे च सुप्ते च तथा च भोजनान्तरे।
न तथा ज्ञायते नाडी यथा दुर्गतमा नदी॥
सद्यः स्नातस्य भुक्तस्य क्षुत्तृष्णातपसेविन।
व्यायामक्लान्तदेहस्य भूतावेशे च रोदने॥
सुन्दरीणा च सयोगे मद्यपाने मनिभ्रमे।
भङ्गादिभक्षणे वारिप्लवनाभ्यसनस्थिते॥
अपस्मारे श्वासरोगे नाडी सम्यङ् न बुद्ध्यते।" (नाडी दर्पण)

मे मूत्र की सभी परीक्षाओ को तीन विभागो मे विभक्त कर वर्णित किया गया है जैसे—( १ ) भौतिक परीक्षा ( Physical examination ), ( २ ) रसायनिक परीक्षा (Chemical examination ) और ( ३ ) अणुवीक्षणीय परीक्षा (Microscopic examination)। इनका वर्णन आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों मे ही देख लें। यहाँ आयुर्वेदीय परीक्षणों का ही संकेत किया जायगा।

मूत्रवह स्रोतो का मूल बस्ति तथा वंक्षण द्वय ( चरक के अनुसार ) एव शिश्न ( सुश्रुत के अनुसार ) हैं। मूत्रवह स्रोतो की दुष्टि होने पर मूत्र बहुत पतला ( अतिसृष्ट प्रवृत्ति ) प्रवृत्त होता है, अथवा बहुत गाढा ( अतिबद्ध ) प्रवृत्त होता है। इनके अतिरिक्त मूत्र का वर्ण आदि तत्तद दोषो के अनुसार हो जाता है। मूत्र की प्रवृत्ति भी थोड़ी-थोड़ी, बार-बार या प्रचुर-प्रमाण में होने लगती है। मूत्रप्रवृत्तिकाल मे कष्ट भी होता है। इत्यादि।

**मूत्र राशि**—दोष, धातु तथा मलो का प्रमाण बतलाते समय चरक ने कहा है कि मनुष्य शरीर मे मूत्र की औसत मात्रा ४ अञ्जली होती है।[1] अञ्जली के प्रमाण निर्देश मे कहा है कि जिस पुरुष के मूत्र आदि का माप लेना हो उसी की अञ्जली से मूत्र का मापना उचित है। फिर भी मान परिभाषा मे २ पल की प्रसृति और २ प्रसृति की एक अञ्जली माना है। आधुनिक मान मे पल की मात्रा ४ तोला अथवा ८ तोला ग्रहण होता है। अतः ४ तोला यदि पल का आधुनिक मान मानें तो ४ अञ्जली ६४ तोला होती है और यदि ८ तोला का पल मानें तो ४ अञ्जली १२८ तोला की होगी। आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञान मे मूत्र की औसत मात्रा १२०० से १५०० सी० सी० प्रतिदिन ( अहोरात्र मे ) वर्णित है जो ४० से ६० औंस के लगभग होती है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रोक्त मूत्रराशि का वर्णन आधुनिक से साम्य रखता है। मूत्र का ,न्यून तथा अधिक होना रोग का सूचक है। अनेक ऐसे रोगो का वर्णन शास्त्रो में उपलब्ध होता है जिनमें मूत्र की राशि न्यून या वृद्ध हो जाती है। जैसे—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, प्रमेह, शोथ, उदर विकार तथा ज्वर प्रभृति।

**मूत्र के वर्ण की परीक्षा**—मूत्र का वर्ण यद्यपि मनुष्य के आहार-विहार पर निर्भर है तथापि सामान्य रूपेण मूत्र ईषत्-पीताभ स्वच्छ (Straw colour ) स्वस्थ पुरुष का होना चाहिये। वायु के विकारो मे मूत्र पाण्डुर, पित्त के विकारो मे रक्त वर्ण तथा कफ के विकारों मे सफेन मूत्र एव सन्निपात

1. "चत्वारोऽञ्जलयो मूत्रस्य" च० शा० ७

मे कृष्ण वर्ण हो जाता है। इनके अतिरिक्त भी अनेक रोगो मे मूत्र मे वर्णभेद हो जाता है जिनका वर्णन शास्त्रो मे उपलब्ध होता है।[1]

मूत्र की वर्ण परीक्षा के अन्तर्गत ही तैल विन्दु परीक्षा का अन्तर्भाव है। इस परीक्षा मे मूत्र मे तैल के विन्दु किसी तृण या शलाका से डाल कर देखते हैं। मूत्र मे निक्षिप्त तैल विन्दु यदि लघुता के कारण फैल जाय (विकासित हो जाय) तो समझे कि रोग साध्य है और यदि तैल का विकाश नही हो तो रोग को कष्टसाध्य एवं यदि तैल तलस्थ हो जाय तो रोग को असाध्य समझे। पुन: यदि उक्त तैल विन्दु पूर्व की दिशा मे फैले तो समझे कि रोगी शीघ्र रोग-मुक्त होगा और यदि दक्षिण दिशा मे फैले तो समझे कि रोग धीरे धीरे अच्छा होगा। अगर मूत्र विन्दु का प्रसार उत्तर दिशा मे हो तो रोगी का रोगमुक्त होना निश्चित समझे। वात-विकारो मे उक्त निक्षिप्त तैल विन्दु फैल कर सर्पाकार होता है, पित्त के विकारो मे छत्राकार तथा कफज रोगो मे मुक्ता की आकृति धारण करता है।[2] इत्यादि। अन्यत्र भी कहा है कि वात से दुष्ट मूत्र नील तथा रूक्ष होता है, पित्त से दुष्ट मूत्र पीला, लाल तथा तैल के समान वर्ण वाला होता है, कफ दुष्ट मूत्र स्निग्ध, मासोदक समान तथा जल के समान होता है और रक्त-विकार मे स्निग्ध, उष्ण और रक्त वर्ण का मूत्र होता है। इत्यादि।

**मूत्र ग्रहण काल**—रात्रि के अन्तिम याम की चार घटिका मे त्याग किया हुआ मूत्र काच पात्र मे एकत्र करे और प्रात काल सूर्योदय होने पर उसकी परीक्षा करें। संग्रह के समय मूत्र की आद्य धारा को त्याग दे और बाद की धाराओ से नि:सृत मूत्र का सकलन करे। इस प्रकार सग्रह किया हुआ मूत्र रोग के कारणो को बतलाने मे सहायक होता है।[3] यह विधि आयुर्वेदीय

---

१. "वाते च पाण्डुर मूत्र सफेन कफरोगिण।
सन्निपाते च कृष्ण स्यादेतन्मूत्रस्य लक्षणम्॥" (चो र)

२ परीक्षा विधिवत्कार्या रोगिमूत्रस्य तत्त्वव।
- तृणेन दापयेत्तैलविन्दु तत्रातिलाघवात्॥
विकासित तैलमथाऽशु मूत्रे साध्य. स रोगा, न विकासित चेव। स्यात्कष्टसाध्यस्त-लगे त्वसाध्यो नागार्जुनेनैव कृता परीक्षा॥ पूर्वाशा वर्धते विन्दुर्यदा शीघ्र सुखी भवेत्। दक्षिणाशां ज्वरो क्षेत्रस्तथाऽऽरोग्य क्रमाद् भवेत॥ उत्तरस्या यदा विन्दो प्रसार सम्प्रजायते। अरोगिता तदा नून पुरुषस्य न सशय॥ (योगरत्नाकर)

३ (योगरत्नाकर—अष्टविधपरीक्षा)
चर्पटत —"नील च रूक्ष कुपिते च वायौ,
पीतारुण तैलसन च पित्ते।
स्निग्ध कफे पल्वलवारितुल्य,
स्निग्धोष्णरक्त रुधिरप्रकोपे॥

शास्त्रों में प्राप्त होता है। अर्वाचीन चिकित्सक परीक्षार्थ २४ घण्टे के मूत्र को संकलन कराते हैं। व्याधि विशेष में संकलन विधि में भेद होता है।[1]

उदाहरण स्वरूप विकृत वर्णों का कुछ निदर्शन संक्षेप में यहाँ दिया जाता है जैसे—

| विकृत वर्ण— | विकार— | ग्रन्थ संकेत |
|---|---|---|
| १ पीतवर्ण— | पित्तज्वर, पित्तज पाण्डु, कामला, हारिद्रमेह, इत्यादि | चरक |
| २ शुक्ल वर्ण— | कफज्वर, कफज पाण्डु, पिष्ट मेह, शुक्लमेह, | |
| ३ कृष्ण वर्ण— | सन्निपात ज्वर, वातज पाण्डु, वातज अर्श, काल मेह, | |
| ४. अरुण मूत्र— | वातज पाण्डु, | |
| ५ अच्छ मूत्र— | उदक मेह | |
| ६. उदकोपमम्— | ,, | |
| ७ शुक्राभ मूत्र— | शुक्लमेह | |
| ८ क्षारवर्ण— | क्षारमेह | |
| ९. नीलाभ मूत्र— | नीलमेह | |
| १० मसी निभमूत्र— | काल मेह | |
| ११. हरिद्रा सन्निभमूत्र— | हरिद्रा मेह | |
| १२ माञ्जिष्ठसलिलाभमूत्र | मञ्जिष्ठमेह | |
| १३ रक्ताभ मूत्र— | रक्तमेह | |
| १४ मज्जाभ मूत्र— | मज्जमेह | |
| १५ वसाभ मूत्र— | वसामेह | |

---

मातुलुङ्गरसाभास सौवीराभ जलोपमम्।
प्रपाकरहिताना च मूत्रं चन्दनसन्निभम्॥
अजीर्णप्रभवे रोगे, मूत्र तण्डुलतोयवत्।
नवज्वरे धूम्रवर्णं बहुमूत्रं प्रजायते॥
पित्तानिले धूम्रजपाभमुष्णं श्वेतं सफेनं श्लेष्मणि बुद्बुदाभम्। तच्छ्लेष्मपित्ते कलुषं सरक्तं जीर्णज्वरेऽसृक्समदृश च पीतम्॥ स्यात्सन्निपातादपि मिश्रवर्णं, तूर्णं विधिज्ञेन विचारणीयम्।' (योगरत्नाकरात्)

[1] निशान्त्ययामे घटिकाचतुष्टये, उत्थाप्य वैद्य किल रोगिणं च। मूत्र धृतं काचमये च पात्रे सूर्योदये तत्सततं परीक्षेत॥ तस्याऽऽद्यधारा परिहृत्य मध्यधारोद्भवं तत्परिधारयित्वा। सम्यक्परिज्ञाय गदस्य हेतुं कुर्याच्चिकित्सा सततं हिताय॥" (योगरत्नाकर)

**मूत्र की गंध परीक्षा**—प्राकृत मूत्र की गंध तद्गतद्रव्यों के अनुसार एक विशिष्ट रूप की होती है। जिसे 'मूत्रगंध' की संज्ञा दी गई है। अतः चिकित्सक को स्वस्थ पुरुष के मूत्र की गन्ध-परीक्षा का अभ्यास करना चाहिये। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना परमावश्यक है कि अनेक ऐसे भक्ष्य द्रव्य हैं जिनका तात्कालिक प्रभाव मूत्र की गन्ध पर पड़ता है अतः चिकित्सक को रोगी के मूत्र की परीक्षा करते समय उसके आहार का भी ऊहापोह करना चाहिये। रोगों के कारण भी मूत्र की गंध विकृत हो जाती है जैसे—उदकमेही का मूत्र निर्गन्ध होता है, क्षारमेही के मूत्र में क्षार की गंध आती है, कफज प्रमेह में मूत्र की गंध विस्र (आम—अपक्व 'द्रव' सम) होती है, रक्तमेह में रक्त की गन्ध, शुक्रमेह में शुक्र की गन्ध तथा वसामेह में वसा की गन्ध मूत्र में आती है। इत्यादि।

**धार (मूत्र की धार) परीक्षा**—यह परीक्षा रोगी से प्रश्न द्वारा की जाती है। रोगी से यह पूछना चाहिये कि मूत्रस्राव के समय मूत्र-प्रवर्तन एक धार में अथवा विभिन्न धार से होता है। धार के विभिन्न (विभक्त) होने का कारण मूत्रपथ में रुकावट (बाधा) है। यह विकार मूत्रपथ में व्रणशोथ, ग्रन्थि तथा शोथ के कारण सम्भव है। शनैर्मेह में मूत्र रुक-रुक कर प्रवृत्त होता है तथा अश्मरी या शर्करा से भी मूत्र रुक-रुक कर सशूल तथा निःशूल रूप में प्रवृत्त होता है। मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात में भी मूत्र की धारा में विकृति आ जाती है। हस्तिमेह में मूत्र की धारा अजस्र हो जाती है। इत्यादि।

**वार (मूत्र-प्रवृत्ति कितनी बार होती है इसकी) परीक्षा**—देश, काल, ऋतु तथा आहार-विहार के अनुसार प्रत्येक पुरुष औसत रूप में एक निश्चित वार से मूत्रत्याग करता है। अतः जिस रोगी के मूत्र के वार की परीक्षा करनी हो उसमें उसकी स्वस्थावस्था की मूत्रप्रवृत्ति की संख्या जान लेनी चाहिये।

अनेक ऐसे विकार हैं जिनमें मूत्रप्रवृत्ति अनेक वार में, अधिक वा न्यून मात्रा में होती है। जैसे उदकमेह, इक्षुमेह, शीत प्रसाद, मेह तथा क्षौद्रमेह में मूत्रप्रवृत्ति अनेक वार तथा अधिक मात्रा में होती है। शनैर्मेह, शर्करामेह तथा अश्मरी एवं अनेक मूत्रकृच्छ्र विकारों में मूत्र की मात्रा अधिक नहीं होती परन्तु वार में वृद्धि हो जाती है। अतः इसकी परीक्षा भी आवश्यक है।

**मूत्र के रस की परीक्षा**—मूत्र का स्वाभाविक रस क्षारीय लवण होता है। परन्तु अनेक ऐसे विकार हैं जिनमें मूत्र का रस बदल जाता है जैसे—इक्षुमेह, शीतप्रसाद मेह तथा क्षौद्रमेह में मूत्र का रस मधुर हो जाता है। क्षारमेह में तीक्ष्णक्षारीय तथा लवणमेह में अधिक नमकीन हो जाता है,

पित्तज प्रमेहो मे मूत्र का रस अम्ल तथा कटु हो जाता है। वातज प्रमेह मे 'कषाय रस' भी मूत्र हो जाता है इत्यादि। मूत्रगत माधुर्य की प्राचीन परीक्षा पिपीलिका-परिसर्पण द्वारा अनुमान से होता है। आधुनिक परीक्षण द्वारा रासायनिक विश्लेषण से सरलता से इसकी परीक्षा हो जाती है। अन्य रसो की परीक्षा के लिये भी भौतिक तथा रासायनिक परीक्षणो का विधान है। जैसे क्षार और अम्ल की परीक्षा लिटमस पेपर से किया जाता है। इत्यादि—

**आविलत्व तथा अनाविलत्व की परीक्षा**—प्रमेह के विकारो मे मूत्र के नानाविध आविलत्व का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे इक्षुमेह मे इक्षु के रस के समान, पिष्टमेह मे पिष्टोदक के समान, शुक्रमेह मे शुक्रमिश्र, तथा वसामेह मे वसाभ इत्यादि। आविलता के कारण, नानाविध शारीरद्रव्योपादान का मूत्र मार्ग से निःसरण, अन्न घटकों का परिपाक न होने से मूत्र मार्ग से ( उनका ) निःसरण, तथा अनेक रोगों के कारण दूषित तन्तु-विनष्ट दुष्टियों का मूत्र मे निःसरण एवं वृक्क वस्ति तथा मूत्रपथ के व्रणित होने पर उन मे व्रणस्राव का मूत्र के साथ निकलना आदि है। इनकी परीक्षा दर्शन, स्पर्श, भौतिक तथा रासायनिक परीक्षणों द्वारा होती है। उदाहरणार्थ कुछ ऐसी विकृतियो का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है—

( १ ) उदकमेह मे—'किञ्चिदाविलपिच्छिलम्',
( २ ) सान्द्रमेह मे—'सान्द्रीभवेत्पर्युषितम्',
( ३ ) सुरामेह मे—'सुरातुल्यमुपर्यच्छमधोघनम्'।
( ४ ) पिष्टमेह मे—'पिष्टवद्बहुल सितम्'।
( ५ ) शुक्रमेह मे—'शुक्राभ शुक्रमिश्र वा'।
( ६ ) लालामेह मे—'लालातन्तुयुत पिच्छिलम्'।
( ७ ) मज्जामेह मे—'मज्जाभ मज्जमिश्र वा'।
( ८ ) हस्तिमेह मे—'सलसीक विबद्ध वा'। इत्यादि—

इनके अतिरिक्त पित्त तथा कफ आदि भी मूत्र मे मिश्रित होकर आते हैं। विस्तृत वर्णन आकर-ग्रन्थ मे देखे।

**पुरीष परीक्षा**—पुरीष भी अन्न का ही मल है। यह मल पक्वाशय से गुदमार्ग द्वारा शरीर से बाहर निकलता है। प्रत्येक रोग मे प्राय इसके सामत्व और निरामत्व की परीक्षा करनी चाहिये। आंत के विकारो मे यह विशेष रूप से परीक्ष्य है। सामत्व तथा निरामत्व के अतिरिक्त इसकी भी राशि, वर्ण, गन्ध तथा संहतासंहत की परीक्षा रोग निदान मे तथा चिकित्सा मे उपादेय होता है। उदर-कृमियो के उपसर्ग होने पर मल मे क्रिमियो तथा उनके डिम्ब की परीक्षा की जाती है।

**साम पुरीष के लक्षण**—साम पुरीष जल मे देने पर गुरु होने से तलस्थ हो ( डूब ) जाता है। स्पर्श मे स्निग्ध तथा विलगन्धी होता है। यह परीक्षा तभी उचित होती है जब मल द्रव तथा अति कठिन नही हो तथा श्लेष्म से युक्त न हो।

**निराम पुरीष के लक्षण**—निराम पुरीष जल मे देने पर तैरता है। डूबता नही है। यह साम से विपरीत लक्षणो वाला होता है।[1]

सामान्यरूपेण स्वस्थ पुरुष का मल निराम, सुसहत तथा आम गन्ध रहित होना चाहिये। मल की मात्रा पुरुष के भोजन पर निर्भर करती है। अतः इसकी राशि-परीक्षा पुरुष के आहार-विहार तथा प्रकृति को देख कर ही करनी चाहिये। सामान्यरूपेण पुरीष का वर्ण धूसर होना चाहिये। परन्तु वर्ण भी आहार के अनुसार बदलता रहता है। सामिष तथा निरामिष भोजन करने वाले मनुष्यो के मल की राशि, गन्ध तथा वर्ण मे भेद होता है।

तन्त्रान्तरो मे दोषो के अनुसार मल की विकृतियो का भी वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—

रुद्रतन्त्र में—

'वातान्मले नु दृढता शुष्कता चापि जायते।
पीतता जायते पित्ताच्छुक्लता श्लेष्मतो भवेत् ॥
सन्निपाते च सर्वाणि लक्षणानि भवन्ति हि।
त्रुटितं फेनिल रूक्षं धूमल वातकोपत. ॥
वातश्लेष्मविकारे च जायते कपिश मलम्।
बद्ध सत्रुटित पीतश्यामं पित्तानिलाद्भवेत् ॥
पीतश्वेत श्लेष्मपित्तादीषत्सान्द्र च पिच्छिलम्।
श्यामं त्रुटित-पीताभं बद्धश्वेत त्रिदोषत. ॥
दुर्गन्ध शीतलञ्चैव विष्ठोत्सर्गो यदा भवेत्।
तदा जीर्ण मल वैद्यैर्दोषज्ञै परिभण्यते ॥
कपिल ग्रुटियुक्त च यदि वर्चोऽवलोक्यते।
प्रक्षीणमलदोषेण दूषित' परिकल्प्यते ॥
सित महत्पूतिगन्ध मल ज्ञेयं जलोदरे।
श्यामं क्षये त्वामवाते पीत सकटिवेदनम् ॥
अतिकृष्ण चातिशुभ्रमतिपीत तथारुणम्।
मरणाय मल किन्तु भृशोष्ण मृत्यवे ध्रुवम् ॥'

---

१ च चि अ १५.

अन्यच्च—

'वातस्य च मल कृष्ण तत पित्तस्य पीतविट् ।
रक्तवर्ण मल किञ्चिन्मल श्वेत कफोद्भवम् ॥
आम वा श्लेष्मज प्राहुर्मिश्रित द्वन्द्वज वदेत् ।
अपक्व स्यादजीर्णे तु पक्व स्वच्छमल भवेत् ॥
अत्यग्नौ पिण्डित शुष्क मन्दाग्नौ तु द्रवीकृतम् ।
दुर्गन्ध चन्द्रिकायुक्तमसाध्य मललक्षणम् ॥'

इनके अतिरिक्त प्रत्येक विकार मे यथासाध्य मल की विकृतियो का वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, तथा नानाविध अजीर्णो मे अथवा अधोग रक्तपित्त, नानाविध शूल रोग, अम्लपित्त ( अधोग ), पाण्डु रोग, कामला, शोथ, उदर रोग प्रभृति मे ।

**जिह्वा परीक्षा**—जीभ को पचन-प्रणाली के रोगो का परिचायक दर्पण माना जाता है । अनेक पचनसम्बन्धी विकारो मे इसमे विकृति आ जाती है । इसके अतिरिक्त ज्वरादि अन्य रोगो मे भी इसमे विकृति उत्पन्न होती है अत रोग निदान मे इसकी परीक्षा से पर्याप्त साहाय्य प्राप्त होता है । जिह्वा-परीक्षण मे उसकी स्थूलता, कृशता, वर्ण, चपटापन, नोकीलापन, खरता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, शुष्कता, आर्द्रता, अकुर, जिह्वापाक आदि की परीक्षा करते हैं ।

तन्त्रान्तर मे इसके परीक्षण का वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—

'जिह्वा शीता खरस्पर्शा स्फुटिता मारुतेऽधिके ।
रक्ता श्यामा भवत्पित्ते कफे शुभ्रार्द्रातिपिच्छिला ॥
कृष्णा सकण्टका शुष्का सन्निपाताधिके तु सा ।
मिश्रिते मिश्रिता ज्ञेया सर्वलक्षणवर्जिता ॥' ( योगरत्नाकर )

शास्त्रो मे जिह्वा का प्राकृतिक वर्ण रक्त तथा पद्म ( रक्तकमल ) के समान कहा है । जिह्वा कोमल तथा श्लक्ष्ण एव स्निग्ध स्वस्थ पुरुष की होती है । अनेक रोगो मे इसकी विकृतियो का वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—

( १ ) साकुरा जिह्वा, ( २ ) शीता जिह्वा, (३) रक्त जिह्वा, ( ४ ) श्यामा जिह्वा, ( ५ ) शुभ्रा जिह्वा, ( ६ ) पिच्छिला जिह्वा, ( ७ ) कृष्णा जिह्वा, ( ८ ) विरसा जिह्वा, ( ९ ) रक्तमासाकुरैरचिता जिह्वा, ( १० ) मत्स्यगधी जिह्वा, ( ११ ) खरस्पर्शा जिह्वा, ( १२ ) स्फुटिता जिह्वा, ( १३ ) म्लाना जिह्वा, (१४) प्रसुप्ता जिह्वा, ( १५ ) अवलिप्ता जिह्वा, (१६) पीता जिह्वा, (१७) बहला जिह्वा, ( १८ ) कर्कशा जिह्वा, ( १९ ) गुर्वी जिह्वा, ( २० ) सशोथा जिह्वा इत्यादि ।

**शब्द परीक्षा**—शब्द ( ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक ) की परीक्षा से शब्द को उत्पन्न करने वाले यन्त्रो की विकृतियो के साथ-साथ रोगी पुरुष के दौर्बल्य

का भी ज्ञान होता है। अनेक ऐसे रोग हैं जिनमें स्वरसाद, स्वरग्रह तथा स्वर की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। शब्द परीक्षा द्वारा रोगी के बलाबल का भी ज्ञान होता है। दुर्बल पुरुष की आवाज क्षीण होती है। शास्त्रों में भी शब्द परीक्षा का दोषपरक वर्णन उपलब्ध होता है जैसे—

'गुरुस्वरो भवेच्छ्लेष्मा स्फुटवक्ता च पित्तल ।
उभाभ्यां रहितो वात' स्वरतश्चैव लक्षयेत् ॥' ( योगरत्नाकर )

अर्थात् श्लेष्म प्रकृति पुरुष का स्वर गुरु ( भारी ) होता है और पित्तज पुरुष स्फुटवक्ता होता है। वात प्रकृति पुरुष उक्त दोनों दोषों से रहित होता है। इनके अतिरिक्त स्वर के कुछ विकारों का निदर्शनार्थ उल्लेख किया जाता है जिनकी परीक्षा शब्दत की जाती है।

| | | |
|---|---|---|
| ( १ ) स्वरक्षय | ( ६ ) कण्ठकूजन | ( ११ ) मिन्मिनत्व |
| ( २ ) स्वरसाद | ( ७ ) कण्ठध्वंस | ( १२ ) मूकत्व |
| ( ३ ) स्वरभेद | ( ८ ) वाग्ग्रह | ( १३ ) हृतवाक् |
| ( ४ ) स्वरग्रह | ( ९ ) वाक्सङ्ग | ( १४ ) कण्ठग्रह |
| ( ५ ) स्वरावरोध | ( १० ) गद्गदत्व | ( १५ ) क्षामस्वर |

इत्यादि—

**आकृति परीक्षा**—आकृति परीक्षा द्वारा अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों का ज्ञान होता है। मनुष्य की आकृति पर उसके शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों का प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जब खिन्न, दीन तथा अप्रसन्न होता है तब उसकी आकृति भी तदनुकूल हो जाती है। विषदोतां आदि की परीक्षा भी उसकी आकृति से होती है।

## दृक् ( नेत्र ) परीक्षा

नेत्र परीक्षा द्वारा नेत्र के विविध अवयवों के विकारों का तथा अन्य शारीर तथा मानस व्याधियों का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे अभिष्यन्द, पोथकी, अधिमन्थ, लिङ्गनाश, तिमिर आदि नेत्ररोगों का ज्ञान नेत्रपरीक्षण द्वारा होता है। कामला, पाण्डु आदि अनेक शारीर व्याधियों का तथा उन्माद अपस्मार आदि मानस व्याधियों का भी नेत्रपरीक्षण से ज्ञान होता है। अत चिकित्सक को सावधानमनसा नेत्र की आविलता, शूनता, साश्रुता, रक्तिमा, कण्डू तथा अन्य विकारों की परीक्षा करनी चाहिये। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये अंगुलियों का साहाय्य अपेक्षित होता है। जैसे अंगुलियों के सहारे नेत्रवर्त्मों को ऊपर तथा नीचे दबाकर उनके वर्ण ( धूसर, पीत, श्वेत, पाण्डु, हारिद्र, आदि ) की परीक्षा करना। नेत्रपक्ष्मों का अवलोकन तथा स्पर्श द्वारा

परीक्षा करनी चाहिये । नेत्रगोलक को भी सावधान होकर देखना चाहिये कि उनमे कोई विकृति है अथवा नही । शास्त्रों मे संक्षेपत निम्नरूपेण उनकी परीक्षा का विधान प्राप्त होता है .—

तथा च—

'रूक्षा धूम्रा तथा रौद्रा चला चान्तर्ज्वलत्यपि ।
दृष्टिर्यदा तदा वातरोग रोगविदो जगु. ॥
दीपद्वेषी च सन्तप्त पीत पित्तेन लोचनम् ।
जलार्द्र ज्योतिषा हीन स्निग्ध मन्द कफेन तत् ॥
द्वन्द्वा दोषे भवेन्मिश्रं तूण तूण विलोचनम् ।
श्यामवर्ण च निभुग्न तन्द्रामोह-समन्वितम् ॥
रौद्रं च रक्तवर्ण च भवेच्चक्षुस्त्रिदोषत ।
एक चक्षुर्यदा भीमं द्वितीय मिलित भवेत् ॥
त्रिभिर्दिनैस्तदा रोगी स याति यममन्दिरम् ।
ज्योतिर्विहीन सहसा रोगिणो यस्य लोचनम् ॥
ईषत्कृष्णं स नियत प्रयाति यमशासनम् ।
सरक्तं कृष्णवर्णं च रौद्रं च प्रेक्षते यदा ॥
इति लिङ्गैर्विजानीयात् मृत्युरेव न सशय ।
एकदृष्टिरचैतन्यो भ्रमन्स्फुटिततारक ॥
एकरात्रेण नियतं परलोकपथ व्रजेत् ।' ( योगरत्नाकर. )
नेत्रं स्यात्पवनाद् रूक्ष धूम्रवर्ण तथैव च ।
कोटरान्त प्रविष्ट च तथा स्तब्धविलोकनम् ॥
हरिद्राखण्डवर्णं च रक्तं वा हरित्त तथा ।
दीपद्वेषी सदाहं च नेत्र स्यात्पित्तकोपत ॥'
'चक्षुर्बलासबाहुल्यात् पर स्यात्सलिलान्तुतम् ।
तथा धवलवर्णं च ज्योतिर्हीन मलान्वितम् ॥'

उपर्युक्त नेत्र-परीक्षा का वर्णन सकेत मात्र है । विस्तृत परीक्षा के लिये इस विषय के विशिष्ट ग्रन्थ को देखना चाहिये ।

## स्पर्श परीक्षा

अष्टस्थान परीक्षा मे प्रोक्त स्पर्श-परीक्षा से स्पर्शनेन्द्रियाधिष्ठान त्वचा की परीक्षा अभिप्रेत है, पञ्चेन्द्रिय परीक्षान्तर्गत स्पर्श-परीक्षा नहीं । अत चिकित्सक को रोगी की त्वचा की परीक्षा करनी चाहिये । इस परीक्षा मे त्वचा की

रूक्षता-स्निग्धता, श्लक्ष्णता-कर्कशता, शोथयुक्त या प्राकृत, स्फुटित या प्राकृत, कण्डू तथा पिडिकाओ से युक्त, शीत-उष्ण आदि की परीक्षा की जाती है। इस परीक्षा मे हाथों की सहायता लेनी पडती है। हाथो के सहारे त्वचा का स्पर्श कर उक्त विकृतियो का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। दर्शन से भी त्वचा के वर्ण, पिडिकाओ आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।

'पित्तरोगी भवेदुष्णो वातरोगी च शीतल ।
श्लेष्मल स भवेदार्द्र स्पर्शतश्चैव लक्षयेत् ॥' ( योगरत्नाकर )

अर्थात् सामान्यरूपेण पित्तरोगी की त्वचा स्पर्श से उष्ण प्रतीत होती है। वातरोगी की त्वचा शीत तथा कफ रोगी की त्वचा आर्द्र प्रतीत होती है। इनके अतिरिक्त अनेक त्वग्विकार हैं जिनमे निम्नविकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं :—

त्वग्गतवात मे—त्वचा रूक्ष, स्फुटित, सुप्त, कृश, कृष्ण तथा विवर्ण हो जाती है।

त्वग्गतपित्त मे—त्वचा पर विस्फोट तथा मसूरिका निकल आती है।

त्वग्गतकफ मे—त्वचा श्वेत तथा स्तब्ध हो जाती है। इत्यादि।

इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के क्षुद्र रोग तथा कुष्ठ रोग मे भी त्वचा पर नानाविध विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

इन उपर्युक्त परीक्षाओ के अतिरिक्त भी अनेक इतर शारीर स्थान हैं जिनकी परीक्षा निदानार्थ आवश्यक होती है। जैसे—

१. **मुख की परीक्षा**—मुख की परीक्षा के अन्तर्गत मुख के अनेक अवयवो की परीक्षा भी आ जाती है। उदाहरणार्थ मुख की आकृति की म्लानता, शूनता, श्यावता, रक्तिमा, श्वेतता, पीतता तथा मुख पर क्लान्ति (थकावट आदि) का भाव। मुख के भीतर (मुख-गह्वर) की श्लेष्मल कला की स्थिति का भी सम्यक् प्रकार से निरीक्षण कर देखना चाहिये कि उसमे पिडिका, व्रण, विस्फोट या पाक आदि तो नही। यदि हो तो उसका अभिलेख करना चाहिये।

**ओष्ठ की परीक्षा**—दोनो ओठो का निरीक्षण करना चाहिये कि उनके वर्ण म कोई विकृति है कि नही। सामान्यत ओठो का वर्ण रक्त होता है। श्याव, कृष्ण, श्वेत, पीताभ आदि विकृत वर्ण हैं। ओठो मे विकार, स्फोट आदि की उपस्थिति भी अवेक्षणीय है।

**दन्त की परीक्षा**—दाँतो का स्वाभाविक वर्ण श्वेत होता है। अत उनमे मलिनतावश श्याव आदि वर्ण हो जाते हैं। अनेक रोगो मे भी दाँतो के वर्ण में भेद हो जाता है। इसके अतिरिक्त उनकी स्थिति की परीक्षा भी करनी

# शब्दानुक्रमणिका

इ

--->o<---